


DUE DATE SLIP**GOVT COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE



आमोयना

विजयदेव नारायण माही

॥ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

त्रै मासिक आलोचना

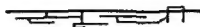
वर्ष ५ अङ्क १

पूर्णाङ्क १७

जनवरी, १९५६

वार्षिक मूल्य (२)

दस अङ्क का २)



◆ सम्पादनीय

— साहित्य और स्थान

अतिरिक्त न पत्रिका

१

रमाशंकर तिवारी

७

— प्रयोग, प्रगति और परम्परा

लक्ष्मीकांत वर्मा

१४

— दिल्ली उपवास में नये प्रयोग

मनजिलास भोवास्तव

३२

— यूगोस्लावियन साहित्य की वर्तमान

समस्या

स्वेतोजार पत्राविच

२०

◆ प्रस्तुत प्रश्न

— लेखक का उद्देश्य महत्वपूर्ण है

डॉ० राम्भूताप्रसाद

२१

— साहित्यिक 'अशलाशला' का प्रश्न

विजयदेव नारायण साहो

६२

— बीडानुष्ठापनमाला यत्नकर्ता

डॉ० हरद्वज बाहरी

७३

◆ अनुशीलन

— रामानन्दप्रणय म योग

डॉ० बदरीनारायण भोवास्तव

७४

◆ मूल्यांकन

— नया साहित्य नये प्रश्न

वत्सलसिंह

८२

— अतिमा आधुनिक और पुरातन

का सतुलन

बालकृष्ण राव

८३

— वर्तमान कविता में नये गीति-स्वर

डॉ० रामरत्न भट्टनागर

१६

— रीति, गीति और नई कविता

प्रयागनारायण त्रिपाठी

१०१

— मानस की 'रुस्ती' भूमिका

डॉ० कामिल बुरकै

१०५

— अनस्त पात्रों की घटनाहीन कथा

लक्ष्मीकान्त वर्मा

१०८

— पद्यन चेतना एक इष्टरूप

मोहन राकेश

११९

— संस्कृति-सम्पद और वैयक्तिक सम्पद

रामस्वरूप चतुर्वेदी

११८

— स्वदेशात्मक तत्त्वों की एकमुद्रता

शिवप्रसादसिंह

१२४

— नये समाज का उद्भव

डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल

१२८

— निरूपण नगण दृष्टिकोण का प्रतीक

गिरिजाकुमार माधुर

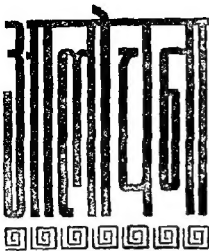
१३०

◆ परिचय

— समीक्षा प्रातः पुस्तकें

१४०

१४८



सम्पादकीय

दायित्व और स्वातन्त्र्य : अविच्छिन्न मूल्य

अतः सामाजिक दायित्व का अर्थ यह नहीं है कि समाज या व्यक्ति के मित्राण के प्रति क्या दायित्व है, बल्कि यह है कि व्यक्ति समाज की मूलभूत उपरान्वितों के प्रति क्या भाव रखता है या रखना चाहता है। फिर इसलिए भी यह व्यक्ति का दायित्व है कि वह अपनी इन प्रवृत्ति तथा व्यक्ति में उत्पन्न प्रवृत्ति पूर्वक अपने उद्देश्य के अनुकूल निश्चय तथा नियम करके कार्य करने वाला प्राणी है। इसी तर्क पर दायित्व से यह अपने आप सिद्ध हो जाता है कि दायित्व आरोपित कर्तव्य नहीं है। इसको यह करना है, ऐसा करना ही है, यह चाहे समाज के हित के लिए ही क्यों न हो—दायित्व नहीं है, विवशता है, नियतत्व है। इस प्रकार सामाजिक दायित्व का अर्थ है ऐकिक दायित्व, जिसके अन्तर्गत सामाजिक उपेक्षा निहित है। कहा गया है कि समाज रूप में व्यक्ति कभी परिवार के प्रति, भी पास पड़ोस के प्रति, कभी जाति विरादरी

के प्रति, कभी धार्मिक सम्प्रदाय के प्रति और कभी राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व की बात सोचता है। पर यह परिवार इसलिए है और इसी सीमा तक है कि वह हमारा है अर्थात् व्यक्ति से भिन्न उसकी स्वीकृति नहीं। इस भावनात्मक अभिप्राय के बिना व्यक्ति के लिए दायित्व का निर्वाह आरोपित रह जायगा और ऐसे आरोपित दायित्व के मध्य परिवार भले ही चलता रहे पर पारिवारिकता की परंपरा असम्भर हो जायगी। यही बात समाज के प्रत्येक रूप के विषय में समान रूप से लागू है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी उपलब्धि से सामाजिक उपलब्धि को निभाने नहीं मानता, याधारण स्तर पर अपने हितों और स्वार्थों से सामाजिक हित को अलग नहीं मानता। व्यक्ति की प्रगति इसीमें है कि वह सामाजिक समष्टि की गतिशीलता पर सके, उसका कल्याण यही है कि वह सामाजिक कल्याण में योगदान दे सके। साथ ही उसको इसका अनुभव भी न हो कि वह कुछ दे रहा है या पा रहा है, क्योंकि समाज उससे अविच्छिन्न है और वह समाज की पूर्णता है।

१६वें अंक का शेष

इन इस प्रश्न पर एक दूसरे दृष्टिकोण से

विचार करना भी अनिवार्य है। दायित्व का सवाल यकित्व का इलीनिफ है नि सामाजिक चेतना में वह सचेष्ट इकाई के रूप में उद्देश्य का आकाङ्क्षा करने में समर्थ है। सामाजिक अर्थ में दायित्व मात्र उपलब्धि है उस मर्यादा का, जो अपने आपमें कार्य कारण की अपेक्षा स्थिति ही अधिक है। उदाहरण के लिए साहचर्य, प्रेम, सहानुभूति अथवा सौम्य आदि ऐसे किसी भी दायित्व को जो सामाजिक कहा जा सकता है, वास्तव में मूल्य ही माना जाना चाहिए जो 'यक्ति की किसी अपेक्षा की अपने आपमें साधक प्रक्रिया है। जब तक दायित्व 'वास्तव के लिए समाज को देने की शक्त है अथवा समाज के लिए पाने की शक्त है, तब तक यह उसकी चेतन प्रक्रिया न होकर कार्य परिणाम के रूप में अधिक सगत ज्ञान पड़ता है। यदि शक्ति सहानुभूति रखना समाज के प्रति अपना दायित्व मानता है अथवा समाज व्यक्ति से सहानुभूति की माँग गतिविधि रूप में करता है, तो ऐसा ज्ञान पड़ता है सहानुभूति देना कृत्य है जो 'वास्तव को करता है' अर्थात् वह कुछ ऐसा है जो उससे अलग है। इस प्रकार का गतिविधि व्यक्ति की स्वकीय इच्छा का प्रतिफलन न होकर आरोपित कार्य की निष्ठा का सकेत मात्र होता है। दस्तुत सहानुभूति, प्रेम या कल्याण की भावना तथा वास्तव का स्वभाव बन सकतमी वह उसके दायित्व का सत्य रूप है। इस रूप में गतिविधि उसके वास्तविक स्वतंत्र अग्नि व्यक्ति है, क्योंकि उसकी अपनी स्वीकृति है। इसका अनुमान वह अलग आरोपित वस्तु के समान नहीं करता वह तो उसका अपनी प्रकृति, अपने स्वयं का अङ्ग बन जाता है।

× × ×

यहाँ से गतिविधि का प्रश्न एक ऐसी सीमा निर्धारित कर लेता है, जहाँ वह 'यक्ति के

यकित्व का अङ्ग नहीं बन जाता, वाम् उसके स्वातंत्र्य की धारणा भी करता है। यकित्व यदि निर्माण की स्थिति है तो दायित्व उस प्रक्रिया की निष्ठा है। पर इस निष्ठा को निर्धारित बौद्धिक करेगा ? इस निर्माण की प्रक्रिया का साक्ष्य बौद्धिक है, उसका सापेक्षता क्या है। इन प्रश्नों का उत्तर उत्तर की धारणा में अतर्निहित है। इस निर्माण की प्रक्रिया की सापेक्षता निश्चय ही मान्यता के रूप में जिस समाज की धारणा की गई है, उसीसे निर्धारित होती रही है, क्योंकि मानव मूल्यों की उपलब्धि इनका उद्देश्य है। अपनी निष्ठा करने की विवेक शक्ति के कारण यक्ति इसका साक्ष्य है। परन्तु दायित्व जब स्वयंभूत है, तब उसका निराकरण 'स्व' (Person) की अपनी प्रेरणा करेगी, किसी बाह्य आधार की अपेक्षा उसे नहीं होगी। यह स्वयंभूत वैयक्तिक स्वातंत्र्य के रूप में उद्घाटित होगा। इस विवेक स्वातंत्र्य से ही यक्ति अपनी परम्परा, अपने पक्षपातों, पूर्वग्रहों के बीच अपने दायित्व (स्वयंभूत के रूप में) के वास्तविक अर्थ का ग्रहण करता है। यहाँ स्वातंत्र्य का अर्थ है कि यक्ति अपने यकित्व में अन्तर्निहित मानवीयता को (मानव मूल्यों के अर्थ में) समस्त संस्कारों से मुक्त होकर अभिव्यक्त करता है और क्योंकि उसका यकित्व समस्त सामाजिक यकित्वों की समष्टि में ही गतिशील है, इस कारण इस स्वातंत्र्य के अंतर्गत अर्थ सभी वास्तविक स्वातंत्र्य का भाव समाहित है। प्रत्येक यक्ति का स्वातंत्र्य दूसरे के वैयक्तिक स्वातंत्र्य से इस प्रकार बाधित न होकर उसका पूरक एवं विद्व होता है और स्वातंत्र्य यक्ति के अपने स्वातंत्र्य के साथ दूसरों की वैयक्तिक स्वातंत्र्य की स्वीकृति भी है। इस प्रकार आंतरिक स्वयंभूत को अनुभूत सत्य के रूप में स्वातंत्र्य ही उपलब्ध करता है, इस कारण इसे मौलिक

मानव्य प्रतिमान (अर्थात् समाज के गत्यात्मक प्रतिमान) के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

इस बात को अधिक स्पष्ट रूप में सामने रखना अपेक्षित है। अनेक बार व्यक्तिवादी (Individualistic) स्वतन्त्रता और व्यक्ति (Person) स्वतन्त्रता को समान अर्थ में समझने का भ्रम किया जाता है।^१ पूँजीवादी 'परम्परा' ने अतर्गत 'व्यक्तिवादी' स्वतन्त्रता का विकास हुआ था, निरंकुश परिणामस्वरूप व्यक्तिगत महत्त्व का आग्रह बना है। इस स्वतन्त्रता में दूसरे अनेक व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का अपेक्षण भी सम्मिलित था। नये प्रतिमान के रूप में स्वीकृत व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ है समाज के प्रत्येक व्यक्ति की मुक्ति। इस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की मुक्ति में अपनी मुक्ति को पा सकेगा। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति यह प्रयत्न करने के लिये कि दूसरे व्यक्ति उपजा मत स्वीकार करें, उसके विचार को ग्रहण करें, उनका अनुसरण करें, अपना उसके प्रभाव में रहे,

उसका प्रयत्न होगा कि प्रत्येक दूसरा व्यक्ति स्वयं स्वतन्त्र रूप से सोच समझ सके, निर्णय ले सके, और स्वयं अपना व्यवहार निर्धारित करने में समर्थ हो सके। व्यक्ति अपने विचार में स्वतन्त्र है, उसकी प्रकट करने में उस सीमा तक स्वतन्त्र रहेगा, जिस सीमा तक दूसरों की विचार करने की पद्धति को क्षुण्णता न रहे। पर वास्तव में परिणत करने के पक्ष उसे दूसरों की इच्छाओं, आकांक्षाओं, विचारों तथा मान-नाम्ना का समान्य करना होगा, यद्यपि उसे दूसरा के व्यक्ति के स्वातंत्र्य की प्रान्धता करनी है। उल्टा जिस गतिशील समाज की स्थापना की गई है, उसमें समष्टिगत मानव के साथ वैयक्तिक स्वातंत्र्य की यह निश्चित स्थिति सहज है, क्योंकि दायित्व (स्वधर्म) के रूप में यह स्वतन्त्र मानवता का मौलिक प्रतिमान है, जिसमें विशेष की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार दायित्व और स्वातंत्र्य एक ही प्रक्रिया की (अथवा मूल्य की) दो स्थितियों भर हैं और उनके साथ 'वैयक्तिक' समाना उत्तना ही निरर्थक है जितना 'सामाजिक', वे एक दूसरे से अविच्छिन्न मूल्य हैं।

× × ×

१. बर्टन के अनुसार "व्यक्तिवाद (Individualism) एक सीमित मनुष्य है जो असंस्कृत, असामाजिक, अपने प्रेरणाश्रोत से या एक विशेष सामाजिक स्थिति के प्रति मानविक प्रवृत्ति के रूप में हमारे 'व्यक्ति' में उद्भूत हो जाती है और हमारे अपने स्वार्थों और सीमाओं की ओर झुकाव करती है। वैयक्तिकता (personalism) व्यक्ति का आन्तरिक धर्म है, विकासमुखी सज्जतात्मक प्रवृत्ति है जो स्वामी-प्रापक मानवीय मूल्यों को उनकी सम्पूर्ण पूर्णता में पहचानकर, उन्हें नाश के रूप में स्वीकार करके अपने व्यवहार को न्यायित करती है।"

अतः मैं साहित्यकार के दायित्व का प्रश्न आता है और इसके साथ ही उसके व्यक्तित्व तथा स्वातंत्र्य का प्रश्न भी मजिदित है। पूछा जा सकता है कि साहित्यकार के प्रश्न को इस प्रकार अलग क्यों रखा गया है। दायित्व के क्षेत्र में अपनी व्यक्तित्व की दृष्टि से उसका निश्चित महत्त्व क्या है? उसके महत्त्व के लिए यह देना कि साहित्य का प्रभाव क्षेत्र विस्तृत है, अधिक तर्क संगत नहीं है। इस दृष्टि से अब अनेक वित्त हैं (सामिक, सामाजिक तथा राजनीतिक नेता) जो बहुत बड़े जन समूह को प्रभावित और नियंत्रित करते हैं। पर इस प्रकार की व्यक्तिगत महत्ता के विषय में काफी

कहा जा चुका है। सामाजिक जीवन के अर्थ में साहित्यकार के व्यक्तित्व की समस्या व्यक्ति मात्र की समस्या से भिन्न नहीं मानी जा सकती। यह अपनी प्रकृति से ही व्यक्तिवादी महत्वाकांक्षा से पीड़ित नहीं होता, इस कारण उसमें शासक, अधिनायक अथवा नियता होने की सम्भावनाएँ नहीं रहती। पर साथ ही उनकी स्थिति विशिष्ट अवश्य है और उसके प्रभाव की यह विशेषता उसकी रचनात्मक प्रक्रिया की है। वह सामाजिक जीवन का भोक्ता है, साथ ही उसका स्रष्टा भी है और यहाँ से प्रश्न एक नवीन मोड़ लेता है। इसी स्थल से उसके दायित्व की यकनता और उसके स्वातन्त्र्य का अर्थ किञ्चित् बदलता है।

कहा गया है कि 'यदि महत्त्वपूर्ण होकर (शक्ति, प्रभाव अथवा प्रतिभा की दृष्टि से) समस्त समाज को शासित, महादित अथवा नियंत्रित करने का अधिकार चाहते हैं। वे वस्तुतः विवेक तथा धर्म से हीन हो रहते हैं, क्योंकि उनके लिए विविध विधानों का महत्त्व है, उनमें अपने मत को प्रतिपादित करने का आग्रह होता है और दूसरों को मनोमुगल प्रेरित करने की बाला विद्यमान रहती है परन्तु साहित्यकार अपनी रचनात्मक प्रक्रिया में इस प्रकार के पक्षपातों से सहज ही अलग रह सकता है, क्योंकि वह समस्त जीवन (मानवता) के प्रति आस्थावान है। वह अपने रचनात्मक क्षणों में यह नहीं सोचता कि उसका क्या मत है, उसका क्या पक्ष है, उसका क्या वर्ग है। वह बुद्धि से अधिक अपने आन्तरिक विवेक से जीवन को ग्रहण करता है। यदि वह अपनी आन्तरिक संवेदना से हटकर बौद्धिक स्तर पर वस्तु स्थिति के सत्य को ग्रहण करेगा तो वह जीवन को उपलब्धि के रूप में प्राप्त न करके अपने समस्त पक्षपातों तथा पूर्वग्रहों को व्यक्त करने के लिए विवश हो जाता है।

यह सर्वना की प्रकृति का सत्य है कि साहित्यकार अपने जीवन के स्थान पर दूसरों के क्षणों में जीवित रहता है। वह वस्तुतः अपनी वैयक्तिक सीमा में समस्त समाज को आत्ममात् करने की प्रक्रिया में ही साहित्य सज्जन करता है।

ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति और समाज एक ही गत्यात्मक प्रक्रिया के रूप हैं, इस कारण उनकी उपलब्धियाँ एक हैं, उनके मूल्य एक हैं। साहित्यकार सामाजिक जीवन की इसी गति को ग्रहण करता है, इस कारण वह मानव के दायित्व अथवा स्वातन्त्र्य सम्बन्धी मौलिक प्रतिमान को अनिवार्यतः महत्त्व देगा। यह स्थिति उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि साहित्यमनुष्य के सामूहिक मूल्यों की उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जाता है। साहित्यकार उसके प्रति तभी इमानदार रह सकता है, जब वह स्वतन्त्र विवेक अथवा आन्तरिक संवेदन से अपने दायित्व की जाँच करे। इस स्थिति में स्पष्ट दायित्व (साहित्यिक) उसकी सज्जनात्मक प्रक्रिया का अंग बन जायगा। आत्मोपलब्धि के बिना प्रक्रिया का अंग कुछ नहीं बन सकता, ऐसी स्थिति में साहित्यकार के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह समस्त सामाजिक दायित्व को आत्मोपलब्धि के रूप में ग्रहण करे।

बाल्मीकि, कालिदास, होमर, गेरे, शेक्सपियर, मिल्टन, तुल्सीदास और किंगी को भी लें, वे अपनी अपनी सामाजिक परिस्थिति में जीवन बिताते हुए भी अपनी रचना प्रक्रिया में अपने मौलिक सम्कारों, अनुराग विराग, इत्यादि के ऊपर उठकर ही अपने युग की सामूहिक उपलब्धियों के अग्रगण्य मानव दायित्व को चित्रित कर सके हैं। मानव मूल्य के इसी महत्त्व के कारण आज भी उनके साहित्य में हमारे लिए आकर्षण है। ऐसी नहीं है कि समस्त साहित्य और सारे साहित्यकार अपने

पक्षपाती और पूर्वग्रही से मुक्त हो जाते हैं। पर धर्म, सम्प्रदाय पर लिखा गया, राजाधर्म में राजा की प्रशंसा में तथा शृंगार की नाना विधियों और उद्दीपनों पर लिखा गया और विभिन्न मतवादों के प्रचार के लिए लिखा गया साहित्य बस्तुतः साहित्य की सत्ता का अधिकारी नहीं रहा है। इसी प्रकार कल्पना को उद्दीप्त करने वाला और यन्त्रित वासनाओं को उन्नेजित करने वाला साहित्य भी साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता, क्योंकि यह समस्त साहित्य लेखक की विचार परतन्त्रता, समयहीनता तथा स्वार्थपरता का शोक्त है और यह दूसरों को भी इसी प्रकार की प्रेरणा देता है। यह साहित्य वास्तव में साहित्य नहीं माना जाता, परन्तु हमने इस कारण इस पर विचार किया है कि अनेक विचारका ने इस प्रयोग में अश्लीलता तथा उच्छृङ्खलता आदि के प्रश्न को उठाया है। इस प्रकार का साहित्य न तो साहित्यकार के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का शोक्त है और न यह दूसरों की मुक्ति में किसी भी रूप में सहायक हो सकता है, क्योंकि ऐसा साहित्य व्यक्ति की कुपड़ाओं, वासनाओं तथा आवेशों को आजात करके उसे निष्क्रिय करता है। पर इस प्रकार के साहित्य के लिए सामाजिक चेतना ही सबसे बड़ा प्रतिरोध होती है।

जो साहित्य समय की कसौटी पर पराजित होता है, या जो युग युग का साहित्य हो गया है, वह निश्चय ही लेखक की आत्मोपलब्धि का साहित्य है। इन साहित्यकारों ने अपने युग के सामाजिक जीवन को सांस्कृतिक चेतना के रूप में प्रकट किया है। उन्होंने मात्र राजाशाहों का वर्णन, घटनाओं का चित्रण तथा विभिन्न अवस्थाओं का दृश्यदर्शन नहीं कराया है और न मात्र मूर्तों, सम्प्रदायों तथा विश्वासों का प्रवर्तन किया है। उन्होंने युग जीवन को आत्मगत सत्य के रूप में प्रकट किया

है और अपने साहित्य को युगीन सांस्कृतिक उपलब्धियों का वाहक बनाया है। साहित्यकार की आन्तरिक स्वतन्त्रता उसके वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की शर्त है और इसीके माध्यम से यह मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हो पाता है। इस संदर्भ में यदि हम आज के साहित्यकार के व्यक्तित्व के प्रश्न को रतें, तो निश्चय ही उसके स्वातन्त्र्य का आग्रह उसके दायित्व की भाँति सिद्ध होगा। उसके इस विवेक स्वातन्त्र्य को अस्वीकार करने का अर्थ होगा कि हम उसकी आन्तरिक उपेक्षाशालता को नियंत्रित करना चाहते हैं, अर्थात् उसकी रचना प्रक्रिया को शायित करना चाहते हैं। स्पष्ट ही इसका अर्थ है कि उसकी समाप्त करने की आग्रह प्रकट करते हैं। इस दशात य की दायित्वहीन, अराजक, उच्छृङ्खल तथा समाज विरोधी रहना व्यक्ति और समाज के गत्यात्मक सम्बन्ध को अस्वीकार करने के साथ साहित्यकार की रचनात्मक प्रक्रिया न सम्भूत है।

साहित्य की सर्वज्ञ प्रक्रिया की विशिष्ट शिथिलता के कारण प्रत्येक युग में यह सम्भव हो सका है कि साहित्यकार धार्मिक मतवादों, दार्शनिक चिन्तन पद्धतियों तथा राजनीतिक दलों के विरोध के बीच भी सामञ्जस्य और समन्वय का मार्ग प्रशस्त करता आया है। उन सभी पिछले युगों में जिनमें व्यक्ति की सत्ता अपने व्यक्तिवादी रूप में सारे समाज को नियंत्रित करती रही है (पात्रा, उपोद्दिष्ट, पूँजीपति अथवा अधिनायक के रूप में), साहित्यकार ने अपने वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की रक्षा की है और सामाजिक (मानवीय) मूल्यों की गति प्रदान की है। इसका कारण यह है कि साहित्यकार का साहित्यिक सर्वज्ञ के क्षेत्र में यन्त्रित कुल नहीं रहा है। साहित्य उपलब्धि के रूप में भी प्रेयणीय है, इसलिए उसके साथ समष्टि का प्रश्न चिरन्तन है। साहित्यिक व्यक्तित्व और

उसका स्वातंत्र्य रचना की प्रपणीयता के कारण व्यक्तिवाद ही होकर अपने आपको कुण्ठित ही कर लेगा। उसके लिए स्वातंत्र्य मात्र दायित्व की चेष्टा है और यह समाज (वगैरह नहीं) का आंतरिक मर्यादा की सापेक्षता में प्रतिफलित होता है। मानवीय जीवन के अर्थ क्षेत्रों में जो कुछ सांस्कृतिक उपलब्धियों के रूप में स्वीकृत होता रहा है, वह भी इसी आधार पर कि वह मानवीय प्रतिमानों की परम्परा को अग्रसर करने में अग्रिमोधी तत्त्व है। उसने मानवीय मर्यादा को कुण्ठित न करके इतिहास के क्रम में आगे ही बढ़ाया है। मानवता को कुण्ठित रूप में मानने वाले धर्म, दशन और नीतियों हमारे सांस्कृतिक विकास में बाधक हो रही हैं। परंतु साहित्य ने, निरंतर मानव सस्कृति को बढ़ाने किया है, युग विशेष की उपलब्धियों को आगत युगों के लिए सुरक्षित रखा है और यह स्वातंत्र्य का प्रतिमान साहित्य की रचनात्मक प्रक्रिया की आंतरिक प्रकृति से उद्भूत है।

साहित्यकार जीवन के आदर से जीवन का साक्षात्कार करता है। वह अर्थ और विज्ञान विधियों के समान मानव जीवन को वस्तु नहीं मानता और विश्लेषण करके उसकी परीक्षा नहीं करता। इन अनुभूत रचना को वह दूसरों के लिए प्रेषणीय बनाता है। इस संवेदन और संप्रपण की स्थिति में साहित्यकार का चेतन इस सीमा तक सामाजिक गत्यात्मकता का अग्र बन जाता है कि शायद दूसरा व्यक्ति अपने किसी क्षण में कम ही उस सीमा तक पहुँच सकता है। इन प्राप्ति में व्यक्ति तथा समाज की सीमा अभिनव हो जाती है, वह सामाजिक जीवन के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को यजित करता है। इस कारण यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं है कि साहित्यकार का व्यक्तित्व

सामान्य होकर भी, अपनी सज्जनशील प्रकृति के कारण विशिष्ट है ऐसी स्थिति में उसके स्वातंत्र्य की आकांक्षा उसके दायित्व की सबसे बड़ी स्वीकृति है, वस्तुतः यह स्वतंत्रता उसके लिए सबसे महान् दायित्व है, क्योंकि उसका दायित्व किसी वय, जाति अथवा राष्ट्र आदि देश कालगत स्थिर रूपा के प्रति न होकर सम्पूर्ण मानवता के प्रति है, जिसका नियंत्रण उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व ही कर सकता है।

ऐसी स्थिति में साहित्यकार (रचनाकार) के वैयक्तिक स्वातंत्र्य का प्रस्ताव मानव मूल्यों और प्रतिमानों की स्वीकृति तथा उसकी मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिए महत्वपूर्ण शर्त है। यहाँ यह भी सम्भव आश्चर्य है कि यह स्वातंत्र्य उनके व्यक्तिगत सामाजिक जीवन की स्वतंत्रता से अभिन्न होकर भी विशिष्ट अर्थ है। परंतु साहित्यकार का रचनात्मक पारिस्थितिक के सम्बन्ध में स्वातंत्र्य का प्रश्न मौलिक (Basic) और अनिवार्य है, क्योंकि ऐसा कहा गया है कि इसका सम्बन्ध साहित्य की मूल प्रकृति से है। समाज का सांस्कृतिक जीवन मानवीय मूल्यों की अष्टतम अनुभूतियों से संचालित और उद्दीका उपलब्धियों पर आधारित और विकसित होता है। साहित्य इस सांस्कृतिक संचरण का समर्थ और महत्वपूर्ण वाहक है। अतः यदि साहित्यकार मानवता की आलोचना को अपनी साहित्य रचना का मौलिक प्रतिमान स्वीकार करता है तो यह उसकी रचना प्रक्रिया (Creative Process) के मुक्त होने की स्वीकृति के साथ अपने गम्भीर दायित्व के प्रति जागरूक होने की घोषणा भी है। इस प्रकार उसका लिए दायित्व और स्वातंत्र्य अविच्छिन्न मूल्य हैं, एक का मान दूसरे में आ जाता है, एक में ही दूसरे की स्वीकृति हो जाती है।

निबन्ध

रमारा कर तिवारी

साधारणीकरण का नवीन स्तर

काव्य जीवन और जगत् से 'मार्मिक छवि' या 'रूप' परता है। सत्य पर ही दर्प की जो झलक कवि को प्राप्त होती है, उसे वह अमिलान्य लोक में प्रीति कर देने के लिए व्युत्पन्न करता है। उसकी अनुभूतियों, उसकी कामनाएँ और अमिलान्य उसे इतनी प्यारी होती है कि वह उन्हें विपाकर रखने में असमर्थ हो जाता है। कृपण की तरह वह उनके प्रति एक गहरी ममता रखता है, किन्तु कर्ण की तरह वह उन्हें विश्व में बिखेर देना भी चाहता है। बात यह है कि वह अपनी 'व्यक्तिगत' सभी सीमाओं का अतिक्रमण करने अपना अनुभूतियों पर प्रतीतियों के लिए लोक मानता चाहता है। अमिथित न उसे अपनी अस्मिता की रक्षा होती है और वह 'व्यक्ति' से 'विश्व' बन जाता है।

अब प्रश्न यह है कि किण्व मार्मिक छवि का चित्रण कवि करता है, वह भावक अथवा सृष्टिकर्ता को कैसे प्रभावित करता है, और स्वयं उसका दृष्टिकोण क्या रहता है? दूसरे प्रश्न का उत्तर अत्यन्त स्पष्ट है—कवि ने जो दर्प अथवा सत्य का साक्षात्कार किया है 'व्यक्ति' के रूप में, किन्तु वह उसे दूसरी तरफ पहुँचाना चाहता है 'मानव प्रतिनिधि' के रूप में। उसकी समस्त कला, उसका समस्त शिल्प विधान इसी अस्मिता की सिद्धि के निमित्त नियोजित होता है कि उसकी अनुभूतियों 'व्यक्ति' का सम्मेलन करके सामान्य अनुभूतियों की स्थापना कर सके। कवि के इस दृष्टिकोण से प्रथम प्रश्न का उत्तर भी प्राप्त हो जाता है—काव्य चित्र, अपने विशिष्ट वैयक्तिक सम्मेलन से समाहित होते हुए भी, भावक के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव में सार्वजनिक स्वरूप ग्रहण कर लेता है। मनोवैज्ञानिक तथ्य भी यही दे कि जो वस्तु दूसरे की है, जिससे हम कोई सम्मेलन नहीं कर सकते। गहरा प्रभाव हमारे ऊपर सर्वोपरि पड़ सकता है। कवि द्वारा अंकित चित्र हमें इसीलिए आकर्षित करता है कि उसमें हम कुछ अपनी वस्तु पाते हैं, अपनी ममता का कोई आलम्बन पाते हैं। सभी सृष्टिकर्ता व्यक्ति उस चित्र में अपनी अपनी अन्तरात्माओं का अनुकरण लाभ करते हैं। वे भूल जाते हैं कि वह समीप किसी अन्य के रूप से सम्मिलित है, तथा उन्हें यही अनुभव होता है कि वह तब तक अपनी ही अन्तरात्मा की रक्षा करे। अतएव, जब सभी सृष्टिकर्ता कवि द्वारा चित्रित मनोरम मूर्ति पर अपने निदर्श

सिद्ध अधिकार की भावना से अनुपाणित होते हैं, तब उसकी वैयक्तिकता का विसर्जन हो जाता है और वह सामान्य सद्बुद्ध मात्र की सम्पत्ति बन जाती है। अमिनव गुप्त के “सकनसहस्यसवाद भाजा” में इसी सत्य की स्वीकृति विद्यमान है। उस भाव मूर्ति की निर्वचनीय ममता प्राप्त करने की सामर्थ्य ही, शास्त्राय श शरणा में, ‘साधारणीकरण’ की शक्ति है।

वस्तुतः आचार्यों ने जब आश्रय एवं आलम्बन के साधारणीकृत होने का सिद्धांत निरूपित किया, तब उनके समक्ष, समाप्ता के लिए केवल ऐसे काय उपस्थित थे जिनमें वर्णित चरित्र आसानी से मनुष्य जाति के प्रतिनाश हो सकते थे। उनमें ऐसे मोटे, स्थूल गुणों की प्रतिष्ठा हुई रहता थी कि वे ‘यक्ति’ न होकर ‘टाइप’ ही अधिक होते थे। उनके प्रेम में और धृष्टा में, हास्य में एवं रुदन में, कहीं कोई उलम्बन नहीं रहता था। जलत सभी प्रेमी प्रेमि काओं अथवा नायक नायिकाओं को एक ही मापदण्ड से एक ही कठौटी पर रखकर, नापा जा सकता था। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की गहराई के अभाव में, न तो कवि और न भाषक ही, ऐसे चित्रों अथवा चरित्रों की कल्पना कर सकते थे, जो सामान्य की सामाओं की लॉफ़कर, कुछ जटिल अथवा अपरिचित से लगें। अतएव, सब रचनाएँ टॉन्गे में टले होने के कारण, कायगत पात्र अथवा चरित्र अविनाशित सामान्य ही होते थे। इन काय में आदेश चारों की छुट्टि होती थी उनमें आपाततः कुछ असाधारणता टाइमोचर हो सकती थी लेकिन यहाँ भी ऐसे ही गुणों की अतिरचना पूर्ण प्रतिष्ठा कवि का लक्ष्य होता था जो सामान्य मानवता की ममता के भाजन होते थे। इस प्रकार काय वर्णित विभावनाओं का साधारणीकरण मानन में पुराने आचार्यों को कोई मानसिक उलम्बन नहीं हो सकती थी। यदि सीता या शकुंतला न सामान्य कामिनीरूप, और राम या दुष्यंत में सामान्य प्रेमात्म की कल्पना की गई तो इसमें क्या आपत्ति उठाई जा सकती थी? आचार्यों ने विभावना के साथ स्थायी भाव का भी साधारणीकरण स्वीकृत किया। वस्तुतः जब भाव निव्याकक हो गया हो तो उस भाव को धारण करने वाला “यक्ति अथवा पात्र अपना वैयक्तिकता क्योंकि बनाए रख सकता है” भावों में विशिष्टता होने से ही यक्तित्व में विशिष्टता आ सकती है। ‘यक्तित्व’ को ‘यक्ति’ से अलग नहीं किया जा सकता। अतएव यक्तित्व के साधारणीकृत हो जाने पर व्यक्ति का भी साधारणीकरण सम्भव हो जायगा। परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने रामबादि के साधारणीकरण के साथ ही, भाव का आश्रय के साथ तादात्म्य (‘अभेद’) मानकर प्रश्न को धोखा उनका दिया है। साधारणीकरण का अभिप्राय यह नहीं है कि आश्रय के साथ पाठक का प्रेक्षक सदैव आत्मीयता का अनुभव करे। प्रेम के अधुर प्रसंगों में तो यह सम्भव हो सकता है, लेकिन अभिय आश्रय अथवा कटु भाव के प्रसंग में उसकी समावना नहीं हो सकती। पुनः, जहाँ आश्रय मनुष्य न होकर कोई इतर प्राणी होगा, वहाँ आश्रय के साथ भाव के तादात्म्य स्थापन की बात असंगत प्रतीत होगी। ‘शकुंतलम्’ में भगवत् हारण का जो चित्रण किया गया है, उसमें हरिण के साथ पाठक का तादात्म्य क्या अर्थ रख सकता है? मटनायक और अमिनव गुप्त ने आश्रय के साथ अभेद का कोई उल्लेख नहीं किया। अतएव, आश्रय के साथ भाव का तादात्म्य अनेक कारणों से संवदा सम्पन्न नहीं हो सकता। तथापि, इस तादात्म्य के अभाव में भी कुछ ऐसे विभावनाओं का साधारणीकरण सम्पन्न हो सकेगा जो सामान्य मनुष्यता अथवा उसके किसी एक अंग विशेष या समुदाय विशेष के प्रतीक रूप में कल्पित एवं

निहित किये गए हैं। आशय के साथ वादाव्य की तर्जना का सहारा लेकर ही, कतिपय आधुनिक विद्वानों ने आशय के साधारणीकरण की मायता का प्रत्याख्यान किया है जो मुक्ति समत प्रतीत नहीं होता। मेरी समझ में, साधारणीकरण के मूल में विभाजों की प्रतिनिधिक प्रवृत्ति की स्वीकृति ही सन्निहित थी। उसी देव कालादि की सीमाओं के अतिवर्णन की वृत्तना का संकेत इसी ओर था। वास्तव में, यह साधारणीकरण सभी सम्पन्न नहीं होगा जब कान्य वर्णित विभागादि जटिल एवं असाधारण रूप के रहेंगे। अतएव, इसी आधार पर, विभागादिकों का साधारणीकरण नहीं माना जाय तो यह उचित हो कहा जायगा चाहिए, क्याकि स्थापना ऐसी होनी चाहिये जो सभी परिस्थितियों में प्रवृत्त हो।

आलम्बन का साधारणीकरण भी उपर्युक्त तर्जनाओं के आलोक में बाधित हो जाता है। क्या का बो के अतिरिक्त, किसी आत्मनिष्ठ, प्रगीतात्मक अथवा प्रवृत्ति को आलम्बन रूप में चिह्नित करने वाले आधुनिक रचना पर विचार करने से बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। 'निर्गुण' की प्रसिद्ध कविता 'दिमात्मक' हमारी अनेक स्मृतियों को उद्बुद्ध करती है, किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि उससे सभी समानरूपेण उल्लङ्घन पर्वतमाला का मान हमारे हृदय में उदित हो जाता है, अथवा यह कि निरुप के जैसे ही गगनगुप्ती निरिच्छितार हममें ऐसी ही चेतनाएँ जाग्रत करने में समर्थ हो सकेंगे। इसी प्रकार अंगरेजी कवि कीट्स की अत्यंत प्रसिद्ध रचना 'ओड टु रि नाइटिंगे' को लीनिए। उसमें उस मुलहुल के मधुर एवं तीक्ष्ण के आलम्बन से कवि के मूल में जो विषादमयी भावनाएँ प्रादुर्भूत हुए हैं, वे क्या सभी समय, सभी परिस्थितियों में, सभी मुलहुलों के हृद को सुनने से वेदा हो सकती थीं? स्पष्ट है कि यहाँ उस मुलहुल का साधारणीकरण कोई अर्थ नहीं रखता। जैसा ऊपर कहा गया है, एवं सामान्य ढाँचे में दले होने के कारण शुरुतला इत्यादि साधारण कामिनी के रूप में प्रतिभासित हो सकती हैं, कि मूल आधुनिक काल में जैसे चरित्रों की कुतूहलमूलक सृष्टि हुई है या हो रही है, उनका साधारणीकरण कठिन सात होता है। उदाहरण के लिए, हार्टी के उप माधो के नारी पात्रों को लीजिए। वे नारियाँ या तो अनेक से प्रेम करती हैं या अनेक द्वारा प्रेम की भाजन बनाई जाती हैं, या अनेक को प्रवर्चित एवं प्रवर्तित कर, किसी एक से, और पाठ को दूर ले, विवाह कर लेती हैं। इन नारियों को साधारणीकृत स्त्रियों के रूप में क्याकर समझा जा सकता है, क्योंकि अन्तर्गतता सामाजिक का मानस ही तो साधारणीकरण सम्पन्न करता है। इन कठिनाइयों से बचने के लिए आचार्य शुक्ल की यह तर्जना साधारणतः स्वीकार्य प्रतीत होती है कि कान्य का अनुशीलन करते समय 'वृत्तना' में पूर्णतः विशेष की हो होनी, पर यह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रवृत्त भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी मात्र को पाठक या श्रोता के मन में भी जाय सके जिसकी व्यवस्था आशय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनमय धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही मान का उदय होता या बढ़ता होना है—तात्पर्य यह कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके मान का आलम्बन हो जाता है। 'विभागादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं'—इसका तात्पर्य—यही है कि समस्त पाठक के

मान में यह भेद मान नहीं रहता कि आलम्बन में है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।^१ डॉ० नगेन्द्र का यह कथन कि 'शुक्ल जी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है,'^२ युक्तिमय प्रतीत नहीं होता। 'शुक्ल जी उसी प्रसंग में आगे कहते हैं "साधारणीकरण प्रमाण का होता है, सत्ता या यक्ति का नहीं।" अर्थात्, सभी सङ्ग्रहों में प्रस्तुत आलम्बन के प्रति लगभग एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया (रेस्पॉन्स) का प्रभाव होता है, अर्थात्, सङ्ग्रहों की मानसिक प्रतिक्रियाएँ साधारणामूल होती हैं, उनका चित्त वृत्तियों का साधारणीकरण होता है। 'शुक्ल जी के निष्पन्न का तुल्यता वस्तुतः है, "आलम्बनत्व धर्म" का भी साधारण। कारण, अर्थात् आलम्बन में लोक सामान्य धर्मों की स्थापना मानना जिससे ही—वे सोचते प्रतीत होते हैं—गम्भीर भावकों के मानस पर लगभग समान प्रभाव पड़ सकेगा। लेकिन, आलम्बन में असामान्य एवं असाधारण धर्मों की प्रतिष्ठा होने पर भी, भावकों में समान प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हो सकती हैं यदि उनमें कानानुगालन के दाय अभाव के कारण तमसा मननयोग्यता का विकास हो गया हो।

अब तक हमने देखा है कि आभय तथा आलम्बन का साधारणीकरण अन्तर्गत सद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतएव, कवि की अनुभूति तथा भावक के स्थायी भाव का साधारणीकरण है। अब विवेचनायें टहरती हैं।

विशेष भी काव्य कथित प्रसंग में दो प्रकार के चित्रों का प्रतिष्ठा होता है। पहला चित्र 'स्थूल' होता है जिसका प्रतीति कवि द्वारा नियमित रूप से स्थापित के सहारे होता है। नाटक में नटों की वेश भूषा इत्यादि से मादुरा स्थूल चित्र के प्रकाशित या चित्रित होने में सहायता मिलती है। लेकिन, कवि का वास्तविक अभाव वह 'भाव चित्र' द्वारा करता है जिसकी सचेतनायता के हेतु उसकी समस्त कला अयोचित रहती है। यह भाव मूर्ति का साधारणीकरण का अन्तर्गत रहता है तथा इस प्रक्रिया में कवि एवं सङ्ग्रह, दोनों ही परस्पर सहयोग करते हैं। भारत दुःख 'सर्व हरिश्चन्द्र' में रमणान भूमि में पुनः मरण के शोक से अमिथ होकर विनाश करने वाली शैल्या पर विचार काव्य। शैल्या को ममस्पर्शी अभु करते हम देखते हैं। प्रथमतः प्रसंग का स्थूल चित्र, अन्तर्गत 'संक्रियत मौलिक आवेष्टन के साथ, हमारी कल्पना में या नहीं के समक्ष, उत्तर आता है। हम शैल्या की वास्तविक परिस्थिति से अमिथता प्राप्त करते हैं। कवि अन्तर्गत कला निष्पत्ति से, अपनी कुशल शिल्प योजना से, ऐसा स्थिति प्रस्तुत कर देता है कि विनाश करने वाली शैल्या का अन्तर्गत मम-आवेष्टन चित्र सामाजिक के मानस में अंकित हो जाता है। अतः तक हम 'स्थूल चित्र' को ही, उसकी समग्र पूर्णता के साथ, हृदयगत कर चुके हैं। रमण पर अमिथ का भाव अग्रसर है। सुमारी घारे घारे टारन हो रहा है और चित्र का स्थूलता कमजोर सङ्ग्रह प्रेक्षक के भाव से कपूर का नादें टारती जा रही है। कुटुम्ब के पश्चात् कवि की अमिथित मम मूर्ति, आध्यात्मिक या मानसिक स्थिति ॥ आविष्टित होकर हमारी अन्तर्गत को अमिथ कर लेती है। उदाहरण हममें उस "नेसटमू" का आतिमा होता है जब हम मूल जाते हैं कि शैल्या का वेना, शैल्या

१ 'रम मांमा', पृ० ३१२-१४।

२ रीतिकव्य की भूमिका, पृ० ४८।

की अपनी जिजीवेदना है। उस समय हमारे अन्तःकरण का वास्तविक वेना भाव वैश्व ही कूट पड़ता है जैसे मृतिका पात्र में बल स्रवण से उसकी अव्यक्त गंध अथवा पशु के आघात से चन्दन वृक्ष का नैसर्गिक सौरभ। इसी 'स्नेह' पर कवि का 'स्नेहन' अथवा अनुभूति (व्यक्ति शब्दा को रलाने के पहले कवि स्वयं रो चुका है।) सामाजिक की सत्कारमत अनुभूति को अति शक्तिपूर्वक उद्घाटन करती है। इसका फल यह होता है कि वह भी मर्म व्यथा के शीघ्र पड़ाने लग जाता है, यी या की वेदना उसकी वेना बन जाती है तथा अन्त में, उसकी व्यथा विह्वल अंतरात्मा विरहात्मा के साथ मिल जाती है, 'एकरस हो जाती है'—अर्थात्, उसकी व्यथा का विस्तार हो जाता है, साधारणीकरण (Universalisation) हो जाता है। तन्मन्तर यदि कोई दिन नहीं हुआ तो उस 'मूढ' में अपेक्षित घनत्व का उदय हो जाता है और सामाजिक रसोद्रेक की चर्चणा में तल्लीन हो जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि कवि की अनुभूति भावक की अनुभूति के साथ, बुध चीनी की तरह मिल जाता है और उस अनिचन्मीय भाव माया का बनन करती है जिसमें कवि भी, 'व्यक्ति' की परिधियाँ का अतिरमण करके, मनुष्य-मान का प्रतिनिधि हो जाता है। ऐसी दशा में कवि की अनुभूतियों का भी साधारणीकरण सम्पन्न होता है। पहले हमने कहा है कि कवि की, अपनी अनुभूतियों की विज्ञप्ति बला में आने 'अह' अथवा 'अस्मिता' के प्रसार का स्वयं-सर्वोप मिलता है। आन्तिक या तभीक के अन्तःकरण पर काभासक मोच के निर्मम वच से जो गहवा आघात पहुँचा, उससे उनका समग्र सबेदात्मक अस्तित्व ही हिल उठा। उस समय की मर्मस्पर्श अनुभूति उन्की अन्तरात्मा में आनिर्भूत द्वंद्व, यह "मा निषाद" के वाग्विभक्त में निजिल विरव में निक्षिप्त कर दी गई—अब यह निष्कर्ष कृत्य केवल महर्षि की आत्मा द्वारा ही अमिश्रित नहीं हुआ, प्रत्युत समस्त विरव के अन्तःकरण की भर्त्सना का भाजन बना। अतएव, कवि की भावनाओं की सार्जनीन बनाया प्रत्येक कला कृति का मूल उद्देश्य हुआ करता है अध्व उसकी अनुभूतियों की सादृता एवं सचाई के स्पर्श में आकर, भावक के वास्तवमूलक भाव स्रोत, उचित कला की योजना से, प्रस्तुत हो जाते हैं। अतएव, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि और भावक, दोनों की अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है। अर्थात् और आगे बढ़कर, हमें यह कहना चाहिए कि किसी 'व्यक्ति' या 'वस्तु' का नहीं, अपितु 'भाव तत्त्व' का साधारणीकरण चटित होता है जिसमें कवि एवं सहृदय, दोनों परस्पर के साझादार होते हैं।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि काव्य चित्रित मात्र मात्र जगत् के परम प्रिय एवं सवसाधारण गदीत भाव ही नहीं होते, यद्यपि यह सच है कि ऐसे भावा का साधारणीकरण अति आसानी से हो सकता है। काव्य को लोक हित से समन्वित करने के कारण शुक्ल जी ने "लोक सामान्य भाव भूमि" का उल्लेख किया है। मेरा विचार है कि यह 'लोकसामान्यता' उन्की ही दूर तक स्वाकार की जायी चाहिए जितने से वाक्य की समप्रेक्ष्यता को बल मिलता है तथा उसमें चोट, उद्दाम वैयक्तिकता के निषाद विकास की समाधान निश्चित होता है। यद्यपि वर्ध ने सर्व साधारण में व्याप्त राग विरागों (Joys in the widest commonality spread) के निरण की सत्तुति की है। इससे शुक्ल जी की 'लोक सामान्य भावभूमि' को अनुमोदन मिलता है। तथापि, यह समझ लेना कि कवि की सम्पूर्ण अनुभूतियों इस भाव भूमि तक पहुँच जायेंगी, अतिपूर्ण होगा। काव्य वस्तुतः हमें अपने सुदृढ़ स्वार्थों एवं सभ्यार्थ प्रयोजन

की परिधि से बाहर ले जाता है। हमारे सामान्य जीवन में हम 'स्व' से बहुत ऊपर नहीं उठ पाते। हमारे समस्त काय कर्माएँ, हमारी सजावट, हमारा चित्तन धारा, हमारा सत्य, हमारा सौंदर्य, हमारा शिव, सभी प्रयाजन सापेक्ष होते हैं। सामान्य जीवन की कुण्ठाओं से विमुक्त करने का मंगलमय अनुष्ठान कवि द्वारा सम्पन्न होता है। उस समय वह उच्चतर सत्य, श्रेष्ठतर सौंदर्य और गम्भीरतर शिव का हम दर्शन कराता है। अतिनी योग्यता एवं प्रमदविधुता के साथ वह उन लोकोत्तर सृष्टि का उमीलन करता है, उस परिमाण में वह अपने यत्नत्व की सीमाओं को लॉचकर विश्वात्मा से तात्कालिक स्थापित करने में सफल होता है। काव्य हमें इसी प्रयोजनात्मकता से सौंदर्य एवं सत्य की अनुभूति कराता है। इस अर्थ में काव्य वास्तविकता की सीमा है और इसी अर्थ में काव्य के भावस्वत्व का साधारणीकरण मानना उचित होगा। 'कामायनी' की दार्शनिक भावभूमि लोकसामान्यता की परिधि में नहीं आ सकती। बल्कि काव्य 'हमारे' लिटी ओड', शैली का 'स्काइलाक' तथा 'वेम्पिड' और छायावादी कवियों की अनेक रचनाएँ लोकसामान्य भावभूमि का अनुमोदन प्राप्त नहीं कर सकती। गेटे का 'वॉरेट' तथा दोले की 'डिवाइन कॉमेडी' लोकसामान्य के धरातल पर नहीं घसाये जा सकते। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी भावभूमियों का साधारणीकरण नहीं होता। एक सुगंध बाल तक इन रचनाओं को जो सम्मान मिलना चाहता है, उनका रहस्य इस बात के अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि इनका यात्रागमियों ने अपनी ममता के लिए कोढ़ न कोढ़ अलम्बन प्राप्त किया है। यह दूसरी बात है कि सामान्य पाठकों के बीच ये काव्य बहुत लोकप्रिय नहीं। साधारणीकरण के लिए परमाशयक यह है कि काव्यगत भावों में यथेष्ट सचाद, गहराई एवं स्वतन्त्रता रहे तथा उनकी अभिव्यक्ति भी मनुष्यस्य रहे। जिससे हमारे अन्तरूप वास्तविक भावों की सफलतापूर्वक उद्घोषित हो सकें। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि देशलक्षित की अनुभूतियों का साधारणीकरण मानना एकानि स्थापना कहा जायगी, क्योंकि सहृदयता के सहयोग के बिना काव्य के आस्थापित होने की कल्पना की ही नहीं जा सकती। इसलिए, अभिनव गुप्त ने कवि एवं प्रमाता, दोनों के अनुभवों के साधारणीकरण का निरूपण किया है।

उपयुक्त स्थापना से एक महत्व का निष्कर्ष यह निकलता है कि काव्य के साथ भाव का तादात्म्य होना चाहिए— (स्मरण रहे कि कवि के साथ तादात्म्य का अर्थ सबदा यह नहीं होगा कि काव्य वर्णित आशय के साथ भी हमारा तादात्म्य हो।) जब कवि और सहृदय, दोनों की अनुभूतिशीलता या वास्तविक भावनाएँ, साधारणीकृत अवस्था में, एक दूसरे में लय हो जाती हैं, तब यह मानने में कोई संकोच अथवा बाधा नहीं होगी कि कवि और भावक, दोनों का पूरा तादात्म्य रसानुभूति के स्तर पर सम्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से पाश्चात्य पद्धति भी साधारणीकरण के अनुमोदन के अत्यंत निकट पहुँच जाते हैं। *Empathy* अथवा *Empathy* का सिद्धांत इस स्वाकृति का निरूपण है कि भावक अपनी स्वतन्त्र सत्ता का विस्मरण करके काव्यगत वस्तु, चित्र अथवा चरित्र से (अपनी मानसिक प्रवृत्तियों का प्रत्येक करके ही सही) पूरा तादात्म्य उपलब्ध कर लेता है।^१ कोचे ने भी यह माना है कि काव्य के रसास्वादन में कवि तथा भावक, दोनों के अलौकिक यत्नत्व मिल जाते हैं और वे दोनों एक

^१ 'Empathy connotes the state of the reader or spectator who has lost for a while his personal self-consciousness and is identifying himself with some character in the story or screen — A. E. Mander

ही बन जाते हैं।^१ अपने लौकिक (Empirical) व्यक्तिगत प्रयोगों की परिधि को अतिक्रमित करने में असमर्थ होते हैं। किन्तु, अपने तद्भव या आदर्श (Spontaneous or Ideal) रूप में उनसे निम्नभूमियों का एवतान मिलन हो जाता है वहाँ वे विश्वात्मा से अभिन्नता प्राप्त कर लेते हैं। यही अथवा साधारणीकरण की अभीष्ट दशा है।

वर्तमान कविता में बौद्धिकता के विस्फोट से उत्पन्न होकर अनेक विद्वानों को साधारणीकरण के सामर्थ्य में सन्देह होने लगा है। लेकिन, यह ध्यान रखने की वस्तु है कि प्रत्येक 'विचार' के साथ कोई न कोई 'भावनात्मक प्रसंग' अवश्य सलग्न रहता है तथा उस विचार से अभिन्न होने पर उन्मुख 'भाव क्षेत्र' निश्चय ही जाग्रत हो जाता है।^२ अतएव, बौद्धिकता का जितना हो अनिश्चयतापूर्ण पल्लवन कविता में क्यों न हो, यदि वह कविता की पारधि में परिगणित होने योग्य होगी, तो उसमें कोई 'भावमूर्ति' धारण करेगी, वही दृष्टान्त पाठक को आकृष्ट करेगी और उनके माध्यम से कवि एवं प्रमाता, दोनों की अनुभूतियों का साधारणीकरण सम्भव होगा। सम्भव है, सम्पत्ति हम रसास्वादा की 'वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यता' में विश्वास न करें, किन्तु वह दूसरी बात होगी। हाँ, यहाँ पर यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रयोगवादी कुञ्ज कविताओं का साधारणीकरण कदाचित् कभी सम्भव न हो सके क्योंकि ऐसे कवि छंद के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु सौंदर्य अथवा भाव के क्षेत्र में भी प्रकट प्रयोग करने के लिए लालायित हो उठते हैं। निम्न पंक्तियाँ का 'सत्य' अथवा 'सौंदर्य' निश्चय ही कवि की व्यक्तिगत सम्पत्ति मान रह जायगा

(१) "निरुन्तर धैर्य ही दुई वृत्त, आद में निर्देह

मूनसिन्धित नृसिन्ध के वृत्त में

तीन टोंगों पर जहा गमोव

धैर्य धन गढ़ा।"

(२) 'सरग था कपर,

नीच पाताल था।"

अपय के मारे बहुत घुरा हास था,

दिल दिमाग गुस का, खर का पाल था।"

मानो कवि काव्य के विराचित कोमल, उदात्त एवं शालीन व्यवहार से ऊँच गया है अथवा उस घराबल तक उठने की अपनी प्रत्यातिक अक्षमता का अनुभव करते नीचे के तल पेश में ही अपना मनबहलाव कर रहा है। अर्थात्, वह स्वयं नहीं चाहता कि उसकी धारणाएँ सार्वजनिक स्वीकृति प्राप्त करें। व्यक्ति के एक विशिष्ट स्तर पर ही, सात्विकता के एक विशिष्ट उद्देश्य के कवचरूप ही कवि उस रघुवीर्य 'मधुमती भूमिका' को उपलब्ध कर सता है।

१ 'In order to Judge Dante, we must raise ourselves to his level. Let it be understood that empirically neither we are Dante nor Dante we but in the moment of Judgement and Contemplation, our spirit is one with that of the poet and in that moment we and he are one single thing' — B. Croce

२ 'Poetry will, therefore, be words which do communicate a 'thought and the 'emotional field' which it excites, from the mind of the poet to the mind of the reader' — J. Middleton Murry

प्रयोग, प्रगति और परम्परा

नई कविता को लेकर इधर जो कुछ मा त्रिभि न आलोचकों द्वारा कहा गया है उसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश चारखाण का यग्न सौ न्य एव उसकी मामिक सदेनशा पर आधारित नहीं की जाती बरन् नई कविता को केवल बाह्यारोपित मतवाद के बटवरे में बंद करने का प्रयास किया जाया है। इन सबका परिणाम यह है कि आज कहीं और प्रकार की आलोचनाएँ नई कविता के सम्बन्ध में प्रस्तुत की जाती हैं यों। शेष रूप से इस बात पर बल दिया जाता है कि नई कविता प्रयोगशील है इसलिए न तो वह प्रगतिशील हो सकती है और न ही परम्परा का अनुसरण ही करती है। का प के गुण दोष, और दायित्व निराह पर निगार निमर्श न करके सारा विवाद 'प्रयोगवाद', 'प्रगतवाद' और 'परम्परावाद' पर ही केंद्रित कर दिया जाता है और जब कोई भी आलोचक रुग्णित म किसी भी मतवादी की स्वीकारता है, चाहे वह प्रयोगवाद ही, प्रगतिवाद हो अथवा परम्परावाद हो, तो वह सदैव विषय वस्तु का मूल्यांकन न करके अपने पक्षधरों की रक्षा की ही अपना ध्येय मान बैठा है। कहीं कहीं यह सारा निराह अनगल प्रलाप की सामा तक ही रह जाता है, क्योंकि सिवा इसके कि पक्षधरों के कारण वह असंगत, असंगत और अनुचित रूप में का प और उनके प्रतिमानों को विनीत करें और दूसरा रचनात्मक दृष्टिकोण न तो वह स्वयं मान पाते हैं और न ही उस विकास में विश्वास ही प्रदर्शित कर पाते हैं। फलस्वरूप आज यह आवश्यक्ता अधिक सगत मालूम पड़ती है कि प्रयोग, प्रगति और परम्परा की वास्तविक मयाता को गलत प्रकार के पक्षधरों से पृथक् करके सोचा जाय, उसका मूल्यांकन किया जाय, और उनके विश्लेषण के आधार पर वह सारा सब कुछ, जो असंगत और असंगत दायरा के रूप में आज प्रतिपादित किया जा रहा है उसका वास्तविक रूप जाना और समझा जाय।

प्रत्येक नई प्रवृत्ति से जाँचकर जो कुछ भी प्रगति और परम्परा के नाम पर कहा जाता है उसमें केवल उन सके हुए तीव्र अंगों की झलक मात्र प्रदर्शित होती है जो समय के विनाश के साथ निरुसित नहीं हो सके हैं और इसलिए निजीव प्रेत से केवल आतंक फैलाने में सक्षम हैं। यदि प्रगतिवाद केवल गति की लकीर पीटकर आज की नई प्रवृत्ति को गलत सिद्ध करना चाहता है तो परम्परा का अनुयायी उस गति के विकास में अनावश्यक रुग्णियों की इतनी दुहाई देता है कि इतिहास, सभ्यता, संस्कृति और मानवता के सम्पन्न विरासतशील तत्त्व कुपटित हो जाते हैं और इतनी निमग्न पशु स्थिति का भास होने लगता है कि उसके बाद न तो प्रगति ही सम्भव है और न प्रयोग। लेकिन इस सारी स्थिति का जीवन्त मजाक यह है कि प्रगति और परम्परा जैसे दो विरोधी तत्त्व एक साथ भिन्नकर प्रयोग पर आज्ञामण्डल करने लगते हैं। प्रगतिवाद आधुनिक

प्रयोग को इसलिए भी बुरा कहता है क्योंकि प्रयोग में सदाप्रभृति की सशक्त स्वीकृति है और यह स्वीकृति भी ऐसी कि जिसमें दलगत अथवा सम्प्रदायवादी भावनाओं के विरोध में नये विदुषों को विकसित करने की सम्भावना निहित है। परम्परावादी इच्छालब्ध प्रयोग का विरोध करता है क्योंकि उसकी स्थिति ठीक उस योग्य पिता के अयोग्य पुत्र के समान बन जाती है जो अपनी अकर्मण्या के कारण पैतृक सम्पत्ति की रक्षा ही सम्श्लेष्य कर्तव्य मान बैठता है, उसने पाप अपना कुत्र नहीं है, वह बीना चाहता है कवल उस पुँजा पर जो कि पूर्वजों ने अपनी मानसिक एवं आत्मिक अनुभूतियों के आधार पर पक्का की है। सबीख प्रगतिवादी भी परम्परा की दुहाई मजबूत जगमत को अपने बगल करने के लिए देता है। उसका मोह या उसका आकर्षण किसी के प्रति नहीं है। विशेषतया अपनी सार्वभौमिक भावना के प्रति तो दे ही नहीं। तुलसी से लेकर पतंजलि तक में वह बगचेतना से आनागत पलायनवादी साहित्य की परम्परा सिद्ध कर रहा है क्योंकि कि सम्प्रदायवादी दल उसका ऐसा करने का। छुट दे और जब यह गुड़ मिली है तो उसने ऐसा किया भा है।

जहाँ तक परम्परावादी का प्रश्न है वह भी वह महत्त्व तर्कहीन गदा रचना को उसे अपने पूर्वजों से मिली है इसलिए यह केवल अंतर्गत बंध परसे शब्द बंध पर अमर होना चाहता है। परम्परा की रक्षा पर कोर देने वाले परम्परा की वृद्धि के प्रति विरक्त नहीं रहते। वह केवल उसकी रक्षा से मनुष्य हो लेते हैं, क्योंकि उस सम्पत्ति के आधार पर आगे चलने की शक्ति उनके पास नहीं है। इसलिए योग्य पिता के निष्कर्ष में पुत्र की तरह वह अपने पूर्वजों के पुराने यज्ञ को सारते दामों गिरवी रखकर अपनी लाञ्छन करने का प्रयास करना है।

लेकिन इन प्रगतिवादी और परम्परावादी आलोचकों से भिन्न एक तीसरा वर्ग भी है जो नई प्रवृत्ति की स्वीकार करने में तर्कहीन नया रंग अपनाता है। इस वर्ग की स्थिति अजीब है। यह प्रयोग अथवा नई प्रवृत्ति की शुनन्तर भस्मना भी नहीं करता लेकिन यह उसे स्वीकार करता ही देना भी नहीं है।^१ अतिवादी परम्परावादी के समान यह परम्परा का पूर्ण समर्थन करने में अरुने की अतमर्ष पत्ता है। प्रगतिवादी यह इसलिए नहीं हो पाता, क्योंकि यह स्वयं आन्तर्मेन में प्रयोग से प्रभावित है, प्रयोग का समर्थन यह इसलिए नहीं करता क्योंकि उसमें स्वयं ही विरक्त नहीं है। यह वर्ग इसलिए बहुरंगी नगर के नागरिक की भाँति नदी की गति देखता है, बाढ़ में पतने के विप्लव पर अंतर्गत गड्ढे तट से दोनों का रग लेता है, उनका भी जो अभिमान है क्षणों में हर लहर के साथ नये प्रतिमान स्थापित कर रहे हैं, साथ ही उनका भी जो गनी में दूध डाली का तर्पण देकर पितरों को सल्लु करने के नाम पर दत्तक बलुआ की विडवान्तिना रहे हैं। यह वर्ग बहुत ही लिपित होकर वास्तविकता पर पतने चलता है, लेकिन हर पतने के बाद अनुभव करता है कि वह कहीं किसी दिशा में एक सुत भी नहीं बढ़ा दे, जहाँ या बढ़ी है, यह बात और है कि परिस्थिति बदल गई है, मूल्य और अधिकारों में परिवर्तन आ गया है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उत्पन्न है—

१. देखिए, 'नयी कविता का अन्विष्ट' गिरजा कुमार मासुर आलोचना।

देखिए, 'नयी कविता मूल्यांकन' बाबुलाल शर्मा आलोचना।

देखिए, 'प्रयोगवादी कवि एक चेतावनी' डा० देवराज 'नयी कविता' २।

नहीं है वह अन्तमन और अतश्चेतन में विचारों की विद्रोहमया परम्परा का प्रतिनिधित्व भी करती है। प्रयोग प्रगति की दृष्टि से परिचालित होता है। यदि प्रगति की भावना न हो, आगे बढ़ने की चेष्टा न हो, तो प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। प्रयोग तो विचारों की नवीन क्रियाशीलता की सज्ज अभि यक्ति है। सज्ज, प्रबुद्ध और यक्तिगत अनुभूति का द्मानदारा में विश्वास रखने के नाते ही यह तथ्याकथित प्रगतिवाद से भिन्न है, क्योंकि प्रगतिवाद में सज्जगता का अयत्न कलाकार की चेतना की नहीं होती वह शास्त्राय होती है, उसकी प्रबुद्ध सदा विचार स्वातन्त्र्य से अकुलित नहीं होती बरम्दलगत स्वाध से परिचालित होती है, उसमें यक्ति अनुभूति का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वह एक निष्ठावित समाजगत की चेतना के फ्रेम में कभी कुछ स्वतन्त्रता होती है। फ्रेम के भीतर, उसके वृत्त में बितनी चाँजें आती हैं वे स्वीकार की जाती हैं, उस फ्रेम के बाहर का चौब उनके लिए अस्पृश्य है। यही कारण है कि प्रयोगवाद की प्रगति आस्था में और तथ्याकथित प्रगतिवाद में एक स्वाभाविक विरोधाभास दिखलाई पड़ता है। जो भा कला विशेषज्ञ किसी भी कला कृति में कलाकार की इस मूल मन स्थिति पर बाह्यारोपित मतवाद को देखने की चेष्टा करता है वह निश्चय ही प्रयोग की प्रगति निष्ठा से प्रभावित नहीं होगा क्योंकि वस्तुविर प्रगति और प्रगतिवाद में उतना ही अंतर है जितना कि किसी भी कला की तामानुभूति में और उसके ऊपर लादे हुए रूप और आशय के आच्छाद में। प्रयोग की प्रगति, कलाकार का अनुभूति की प्रगति से परिचालित होने के नाते सौ द्य बोध के स्तर में मानव प्रग को सङ्कलित करने की क्षमता रखती है। यह सङ्कलन बाह्यारोपित न लेकर आत्म नियन्त्रित ही होगा, इसीलिए ऐसे मतवाद को साहित्य की प्रगति का उपज और लक्ष्य के वैज्ञानिक मानदण्डों से देखने की चेष्टा करते हैं वे निश्चय ही अथवा आरोप लगाकर किसी अथ म तथ को सिद्ध करने की इच्छा रखते हैं। प्रयोग में अतमन की सवेदनशीलता उपजेगी, उसमें द्मानदारी होगी और सभी वह ग्राह्य हो सकेगा। किसी भी साहित्य में कित सीमा तक गति देने की शक्ति है, किस सीमा पर जाकर वह मात्र तार में बल जाने के कारण अनूदित भागस्थिति है, इसका भी पता इस प्रयोग प्रगति और परम्परा के स्पष्ट दृष्टिकोण से ही लगेगा। प्रयोग का आधार दृष्टि की नवीनता है (New vision)। जिस भी कला कृति में यह नवानता नहीं है, अथवा जिसमें ठूठन है, अथवा जो केवल उपदेशक की गाथा है, वह ललित साहित्य तो हो ही नहीं सकता, और चाहे जो हो।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्रयोग पूर्वग्रहों से अधिक अनुभूति और रागात्मक अनुभव में विश्वास करता है और कला में इस रागात्मकता की गहराई सिवा कलाकार के कोई दूसरा नहीं दे सकता क्योंकि रागात्मक बोध में याज्ञत्व की ईर्ष्या है। दृष्टि प्रदान कर सकती है। उस अनुभव के क्षण को कोई भी उपदेशक कलाकार के लिए नहीं अनुभव कर सकता इसलिए वह कोई भी बाह्य आरोप लेकर उसमें अनुभूति को अञ्छा या बुरा कहने का अधिकारी भी नहीं हो सकता। रागात्मक बोध यक्तिगत अनुभव होने के नाते परम्परा से भी उतना ही

Truth gains more even by errors of one who with due preparation thanks for himself than by the true opinions of those who only hold them because they do not suffer themselves to think

—John Stuart Mill

भिन्न हो सकता है जितना कि किसी भी पूर्वनिर्धारित मूल्यवाद से। इसीलिए प्रयोग, उस आत्म-सत्य की प्रतिष्ठा का हेतु है, यह स्वयं पूर्ति नहीं है। यह मात्र शिल्प सज्जा भी नहीं है, यह देश-काल के वातावरण से उत्पन्न हुआ प्रयोग है। इसी कारण से यह कहना उचित होगा कि प्रयोग केवल चमत्कार की अनुभूति नहीं है, इसमें युग का भ्रम लक्षित हुआ है। इसमें देश-काल से सम्बंधित जीवन की, व्यापक मानव जीवन की प्रह्लासीलता का प्रयास मिलता है, क्योंकि

जीवन है कुछ इतना विराट् इतना व्यापक

जसमें है सबके लिए जगह, सबका महत्त्व

ओ मेनों^१ की कारों पर माना रख रखकर रोग बाध

यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ, यह सबका है

हर एक दृढ़ को बड़े अर्थ तक जाने दो

(ठण्डा जोहा ७० ६१)

३

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगति अपनी वस्तुस्थिति में प्रयोग की सहज मनोवृत्ति है जो प्रयोग से अलग नहीं की जा सकती, लेकिन प्रगतिवाद प्रयोग की प्रतिनिधि है, जो अनावश्यक हासो मुल्ल प्रगति का परिचय देता है। जहाँ कहीं भी विचार धारा में, मूल्यों में और मूल्यवादों में विकास होगा वहाँ प्रयोग^२ में यह विकासशील तत्त्व व्यक्त होगा। प्रयोग साहित्यिक अभिव्यक्ति और विकास का मुख्य अंग है।

लेकिन तथा कथित प्रगतिवाद प्रयोग को सामाजिक घोषित करने उसको उद्देश्यहीन विह्वल करना चाहता है। मूलतः ऊपर की व्याख्या के बाद यह दृश्य विशेषाभास का भागी बन जाता है, क्योंकि वह साहित्य जहाँ प्रयोग के माध्यम को एकिपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षा करता है वहीं यह उस भाव-स्तर को भी व्यक्त करता चाहता है जिसमें साहित्यिक दायित्व के साथ सामाजिक दायित्व भी निहित है। किन्तु प्रयोग के माध्यम से व्यक्त सामाजिक दायित्व में और तथाकथित प्रगतिवाद द्वारा व्यक्त सामाजिक दायित्व में एक महान् अंतर है। वह यह कि प्रयोग में यह दायित्व कलाकार के व्यक्तित्व से उभरकर व्यक्त होता है जब कि प्रगति के माध्यम से वहाँ सत्य स्थापित व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त होने के लिये उपायो एवं साधन नहीं हो पाते। ऐसा होने का भी एक कारण है। प्रयोग में व्यापक मानव का विराट् रूप व्यक्त होता है, स्थापित सामाजिक सत्य वहीं, क्योंकि प्रयोग कला को प्रचार का यंत्र नहीं मानता वरन् उसे वह व्यापक मानव की कक्षा और पीढ़ी की आत्मसाक्षात् करने का माध्यम मानता है। जब साहित्यिक स्तर पर सामाजिक दायित्व का भाव आता है तो प्रयोग उस समस्त चेतना को केवल सीमित परिधि में बँधकर रखने में अपने की अतमय पाता है। यह मानव-आत्मा की मूल समस्या को अंकित करने के साथ एक वर्ग विशेष की बात नहीं कर

१ Style consists in adding to a given thought all the circumstances calculated to produce the whole effect that the thought ought to produce

पाता। उसके लिए समस्त मानव समाज ही अपना है। उसकी विराट् सम्भावनाओं के प्रति वह अपनी वैयक्तिक अनुभूति को किसी भी साम्प्रदायिक अनुभूति से अधिक स्पष्ट और इमानदार पाता है क्योंकि वह 'यक्ति अनुभूति और वास्तव स्थिति के बीच सीधा और अपना यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करके रचना करता है। सत्य को दूसरों की आँखों से देखना प्रगतिवाद की अपनी विशेषता है, उसने पास अपनी दृष्टि नहीं है इसीलिए उसके माध्यम से ऊँचे ऊँचे नारे भले ही सुनने को मिलें, उसमें उसका यक्ति कहीं भी नहीं है। साम्प्रदायवाद का आधार मानव व्यक्ति नहीं बनता बल्कि सामूहिक मतवाद उसका आधार सहज रूप में ही बन जाता है। यही कारण है कि कोई भी सामूहिक व्यवस्था कला और साहित्य के क्षेत्र में, समस्त जीवन के उपकरणों में अवेषण और आत्मसत् को प्रभुत्व देने में असमर्थ रहती है, क्योंकि "मानव की समूह चेतना" की यह व्यवस्था केवल निर्धारित वस्तुस्थिति को नियंत्रित रूप में देखने के लिए बाध्य करती है, केवल उतनी ही सीमा तक ज्ञान वृद्धि की सीमा मानती है जहाँ तक जाना या जुका है अथवा जो सामूहिक व्यवस्था में साम्प्रदायिक मतवाद जानने की आशा देता है। इसके विपरीत आत्मनिश्वासी कलाकार अपनी हुई सचित यात्री को सामान्य ग्रहण करते हुए उसके आगे बढ़ने की चेष्टा में प्रयोगशील होना पसंद करता है। वह नये खनारे पैदा करता है, पुरानी धारणाएँ तोड़ता है, नई धारणाएँ बनाता है क्योंकि वह सजग है, सचेत है और जीवनन कविता से ओत प्रोत है।"

अस्तु, प्रगतिवाद और प्रयोग में सच है 'सामूहिक मानव' और 'यक्ति मानव' का। 'संछायावादी मतवाद' का और 'संछाया सचेत मानव प्रतिमा' का। जो यापक मानवता की अपेक्षा समूह में विश्वास करता है वह यथाय की आत्मसत् नहीं कर सकता है। इसीलिए समूहवादी चेतना मानवीय यापकता को अपना ही नहीं सकती और 'समूह' अधिनायकवाद, फासिस्टवाद को विकसित करता है, स्वतः सचेत मानववाद को यापक आस्था स्पष्ट करती है। 'समूह' यापकता में विश्वास ही नहीं कर सकता और जो यापकता में विश्वास रखता है वह निश्चय ही समूह की बैची हुई सीमा से सतृप्त नहीं हो सकता। तथाकथित प्रगतिवादी समूह की सकीर्णता के साथ सम्बन्ध है जिसमें न तो यक्ति का मूल्य है, न यापकता का। इसके विपरीत आज की नई कविता अधुना नया प्रयोग यापक मानवता के प्रत्येक यक्ति की आत्मा में विश्वास रखता है—उसकी स्वतन्त्रता की कोई सीमित परिधि नहीं है। वह उसे व्यापक मनुष्य परम्परा से ग्रहण करता है और यापक मानव सम्भावनाओं को प्रतिक्षण सार्यता चलाता है। प्रगतिवादी समूह की प्रस्तावित ध्वनि होन के नाते आत्महीन, विवक रहित समूह सत्ता की स्वीकृति है। प्रयोग इस प्रकार की मायता के विरोध में ही जन्म ले सकता है। किंतु वह यापकता के प्रति आस्थावान है क्योंकि उस यापकता में ही वह अपनी और यक्ति का मयादा की रक्षा कर सकता है, अपने स्वतः को अथ दे सकता है।

- 1 इसी बात की टांगस मैंने ने एक स्थान पर घड़े सु दूर डग स कहा है My writings are full of all vices abhorred by communism such as formalism, psychologism, scepticism, a weakness for truth. For love of truth is a weakness according to any absolutist partisan. I have not much faith nor much faith in faith. I put more faith in goodness which can exist without faith and may indeed be the product of doubt.

आज जिस मोड़ पर साहित्यिक विचारों की अन्तर्दृष्टि पहुँचती है वह यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर देती है कि किसी भी कथित स्वप्न (Utopian dream) के लिए आब मनुष्य सुट घुटकर मर जाय, यह सगत नहीं है। मानसवाद की परिणति इधर जिस रूप में तथाकथित प्रगतिवाद में यत्न हो रही है उसमें एक नया स्वर फूटता दीख रहा है और वह यह कि आज की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को समूह को समर्पित कर दो, कल व्यापक मिष्टा की रचना के लिए यह आवश्यक है। यही वह प देह होता है कि जिसका सन्त पिछले तीस वर्ष के इतिहास में मिलता है। यही तर्क फासिस्टों का भी था। यही तर्क कम्युनिज्म का भी है। व्यापक दृष्टिकोण 'समूह' की सत्कीर्णता से जनपेगा यह केवल भ्रम है और इसीलिए यह नरमेघ यत्न बाल्बनीय नहीं प्रतीत होता।

प्रगति का वास्तविक अध मानव की विवासशील प्रवृत्ति में निहित है। इसीलिए प्रगति की वास्तविक मर्यादा मनुष्य की 'आन्तरिक' मर्यादा है। यह 'आन्तरिक' मर्यादा बाह्यारोपित मतवाद के आधार पर नहीं विकसित हो सकती। उसके लिए कला की मूल आस्था के प्रति विश्वास विकसित करना पड़ेगा। किसी भी वैफलेट में और किसी भी साहित्यिक क्रांत में यहाँ और अतः हैं यहाँ उन दोनों की विवास प्रक्रिया में भी एक मौलिक भेद है। व्यक्ति की, समाज की, मानवता की मर्यादा के अतिरिक्त एक कला की स्वतः विकसित मर्यादा भी है जो साहित्य और उपदेश में, प्रगति और प्रयोग में, रूढ़ि और परम्परा में एक नियमित विषय पैदा करती है। कलाकार की रचनाशुभ्रति और उसकी आत्मप्राप्ति ही किसी भी कृति की केवल प्लेटिड्यूड की सीमा तक लाकर छोड़ सकती अथवा उसे व्यापक रूप दे सकती है। प्रगतिवाद इस रचनाशुभ्रति में विश्वास नहीं करता, प्रयोग इस रचनाशुभ्रति की इमानदारी में विश्वास करके चलता है। प्रयोग की आधारभूत मानना रचनाशुभ्रति की प्रेरणा में प्रथम पाने के कारण कला की सजीव और नवीन शक्ति प्रदान करने में समर्थ होती है इसीलिए यह बाद से मुक्त है, प्रयोग करते हुए भी वह प्रयोग के तथाकथित बाद से भी मुक्त है, क्योंकि उसका वास्तविक सत्य आत्म सत्य है जो हर बाद विवाद से ऊँचा है।

प्रगतिवाद आत्म सत्य को स्वीकार नहीं करता वह बाह्य सत्य को ही सर्वस्व मानता है कि तु जैसा कि स्पष्ट है कोई भी बाह्य सत्य निरपेक्ष हो ही नहीं सकता इसलिए प्रगतिवाद की मूल धारणा को कला कृति की अपेक्षा बाह्य दर्शन, सम्प्रदायवाद एवं बाह्य का माध्यम स्वीकार करना पड़ता है। प्रगतिवाद जिस बाह्य सत्य अथवा वस्तु सत्य की चर्चा करता है बाह्य में वह असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक बाह्य सत्य व्यक्ति से रागात्मक सम्बन्ध रखे बिना प्रभावित ही नहीं कर सकता, रचना की प्रेरणा दे ही नहीं सकता। जो लोग इस सम्बन्ध को वास्तविकता नहीं

१ 'साहित्य की नई मर्यादा'—डॉ० धर्मवीर भारती, आलोचना ११।

२ "निरे तथ्य और सत्य में, यह वह लीजिये वस्तु सत्य और व्यक्ति सत्य में यह भेद है कि सत्य वह तथ्य है जिसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है। बिना इस सम्बन्ध के यह एक मात्र वास्तविकता है जो तद्वत् काम्य में स्थान नहीं पा सकती। लेकिन जैसे जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है वैसे वैसे हमारे उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रयासियाँ भी बदलती हैं और अगर नहीं बदलती तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है।

—अश्वेय 'चार सप्तक' २।

समझ पाते, उसकी अनिवार्यता नहीं मानते, वे साहित्य के मम को भी नहीं समझ पाते। वे तो और भी नहीं समझ सकते जो इन रागात्मक सम्बन्धों के परिवर्तन में विश्वास नहीं रखते, क्योंकि वे रस्य विकास नहीं कर पाते, देश काल का सीमाओं का समझ नहीं पाते। इस दृष्टि से प्रयोग इसलिए बड़ा सत्य और यथार्थ चेतना के एकाकार होन की प्रक्रिया है, जो सत्य और यथार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को एक सापेक्ष मूल्य प्रदान करता है। यही कारण है कि प्रयोग कबल उस रागात्मक सम्बन्ध को अभि यन्त्रित देने का साधन है, लक्ष्य नहीं।

प्रगतिवाद और प्रयोग के विषय में एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है वह यह कि प्रगतिवाद एक विशेष राजनातिक मतवाद का लक्ष्यपूर्ण आन्दोलन है जिसका सम्बन्ध साहित्यिक मानक से निधारित नहीं होना बल्कि राजनातिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं द्वारा संचालित होता है। उनका सामाजिक दायित्व भी उहाँ राजनातिक मन्तव्यों से प्रकाशित होता रहता है और इसलिए उसके विचार का बहुत बड़ा अर्थ साहित्यकारों द्वारा निधारित न होकर दलगत राजनातिक यथार्थ द्वारा संचालित होता है। जीवन का यथाथ अर्थ भी इसलिए अनेक दृष्टियों के साथ साहित्य में एक किया जाता है। उसका अन्वेषण उस वास्तविकता के माग प्रश्न का फल है जो साहित्यिक दृष्टि से अनभिज्ञ और अपारान्वित है। उसका उचित प्रश्न हमें स्वयं प्रगतिवाद के विभिन्न मतों द्वारा समय समय पर होता रहा है। इस सक्रीय मनोवृत्ति के कारण ही प्रगतिवाद आज के व्यापक यथाथ को वहन करने में असमर्थ है।

प्रयोग या नई काव्य प्रवृत्ति आज के जीवन के यथाथ को स्वीकार करती है और यही एक अनिवार्यता है जो इसे आज के यथाथ को चित्रित करने की शक्ति देती है। क्लासिक या रोमान्टिक मान धारा इसे नहीं वहन कर सकती, क्योंकि उसके शिल्प विधान और यथार्थान में उसे हुए घेरे में आज का यथाथ आ नहीं पाता। आज की जीवन अनुभूति की व्यापकता और उसका आत्म सत्य न तो क्लासिक विज्ञान की कल्पना में एक हो सकते हैं और न रोमान्टिक क्षोभलता पर टकर सकते हैं वह न तो व्यापकता की कोमल पत्राक्षी के अनुकूल है और न ही वह 'भारत भारती' की शैली में लिखी जा सकता है। इसलिए प्रयोग आज का वैधान नहीं है, वह वर्तमान जीवन की अनिवार्यता है। जो इस अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करता वह कला सृजन की मूलभूत वैज्ञानिक क्षमता को भी स्वीकार नहीं करता और न आधुनिक मानव संवेदना को स्वाकृति दे पाता है।

१

यह तो हुई प्रगति और प्रयोग का बात। इसमें सम्बन्धित प्रयोग और परम्परा का भी विषय है जिससे लेकर मनमाने ढंग के राग अलापे जाते हैं। प्रयोग की दृष्टि को सिद्ध करने के लिए कैसे प्रगतिवाद प्रगति की तुलना देता है वैसे ही प्रयोग को असफल सिद्ध करने के लिए रूढ़िवादी परम्परा की तुलना देता है और यह भूल जाता है कि प्रयोग का प्रेरणा परम्परा में ही निहित रहती है। या कोई परम्परा विकास का अपेक्षा स्थिरता, प्रयोगहीनता

१ No poet no artist has his complete meaning alone His significance his appreciation is the appreciation of his relations to the dead poets and

को प्रभाव देता है तो वह परम्परा तो नहीं ही हो सकती और चाहे जो हो। प्रस्तुत प्रयोग प्रगतिविष्ट होने के लिये परम्परा के सशक्त स्वरा को स्वीकार करके नई सम्भावनाएँ अंकित करता है। प्रत्येक प्रयोग कलाकार में परम्परा बन जाता है इसलिए जिस परम्परा में आये प्रयोग, करने की प्रेरणा निहित नहीं होती वह उतनी ही निरर्थक होती है जितना कि वह प्रयोग जो नई परम्पराएँ स्थापित करने में असमर्थ होता है। प्रयोग और परम्परा में यहाँ अनिवार्य सम्बन्ध है। आज का प्रयोग आने वाले युग की परम्परा निर्धारित करेगा, ऐसी परम्परा, निधमैं टहरान नहीं होगी, गति होगी और निवर्तनी गतिशीलता ही नये प्रयोगों की प्रेरणा देगी।

परम्परा और रीति की रूढ़ि भी प्रयोग के विरोध में प्रस्तुत की जाती है और बहुधा रीतिवादी प्रवृत्ति को परम्परा का नाम देकर गाया जाता है। प्रयोग अथवा नई काव्य प्रवृत्ति इस रीतिवादी परम्परा को स्वीकार करने में असमर्थ है। काव्य किसी निश्चित कार्मुले द्वारा नहीं लिखा जाता। काव्यप्रवृत्ति में विविधता का एक महत्त्व है, सत्य की अनेक दृष्टियों से देखने की अन्तर्भावना है। यह अन्तर्भावना व्यक्तिगत चिन्तन द्वारा ही विकसित होती है। जैसे प्रगतिवाद बाह्योपेक्षित मतवाद के माध्यम से काव्य गुण को निर्देशित नहीं कर सकता वैसे ही रीतिवादी परम्परा कलाकार की स्वयं शक्ति को कि ही विधि सिद्धान्तों में नहीं बाँध सकता। जब तक काव्य का सम्बन्ध जीवन और उसकी व्यापकता से रहेगा तब तक काव्य प्रतिभा इन सीमाओं तक नहीं बढ़ सकती, वह घुलती सीमाएँ तोड़नी, नई बनावनी, नई से नई आगे नई सम्भावनाओं की ओर विकसित होगी, क्योंकि मानव प्रज्ञा सतत नई अनुभूतियों से अनुप्राणित होती रहती है। जीवन का प्रत्येक क्षण उसे नई अनुभूति देता है, नई प्रेरणा शक्ति देता है, नया स्वर, नये लय और नये प्रतिविम्ब, प्रतीक, शब्द और रचना शक्ति का ओज उसमें विकसित होता रहता है इसलिए प्रतिभा सम्पन्न कलाकार इस परम्परा को रूढ़िवादी व्यञ्जना को कभी ग्रहण ही नहीं कर सकता। यह सदैव नये जीवन सत्तों की विकसित प्रवृत्ति की ओर उत्सुक होता।

स्थापित परम्परान्ता बहुधा प्रयोग पर यह भी आरोप लगाते हैं कि आधुनिक प्रयोग में काव्य दार्शनिक तर्क नहीं है। एक ओर तो यह आरोप निरर्थक है और कुछ सामान्य तर्क यह सही है। मन्त्र इसलिए है क्योंकि काव्य का गुण है कुछ सन्तित भावों को प्रदान करने में उनके मानव के साथ चर्च करना। तुलसीदास या सूरदास की कविता पहले काव्य है, बाद में वह उनके जीवन दर्शन का माध्यम। प्रत्येक काव्य कृति का मूलतः भाव्य होना चाहिए और यदि वह मूलतः काव्य है तो उसमें निश्चय ही कवि का सौंदर्य बोध, उसका दृष्टिकोण, उसका व्यक्तिगत जीवन दर्शन भी उनमें होगा ही। आज का कव्यालय किसी यूरोपिया की अपेक्षा नहीं देता। उसे त्रिगुण भारतीय दार्शनिक प्रचार की भी आवश्यकता नहीं है। यदि आज का कवि अनात्मवादी है और वह अपनी अनास्था की भी खबर दग से व्यक्त करता है तो वह भाव दार्शनिक हो सकता है। लेकिन उसका दार्शनिक होना भी काव्यगत प्रक्रिया के बाहर की वस्तु नहीं है। दर्शन और काव्य में मौलिक अंतर है। दर्शन वस्तुतः वस्तुपरक व्याख्या का निष्कर्ष है। वस्तुतः आत्मपरक अनुभूति का दार्शनिक अभिव्यञ्जना है। जो काव्य रचना

artists that the poet should be altered by the present as much as the present is directed by the past

T S Ehot Sacred Wood

यारयात्मक होगी उसका का य गुण नष्ट हो जायगा। जिसमें आत्मपरक अनुभूति होगी वह प्रभावपूर्ण बला बन जायगी। दर्शन को का य में प्रतिपादित करने के लिए प्रयास करना निरर्थक है। जितना दर्शन कवि के व्यक्ति से छुनकर उसकी कृति में आता है, का य में उतना ही प्राप्ति है। यदि ऐसा नहीं होगा तो एक कविता (Mannerism) "रीति के चयन में मर जायगी। न तो उसमें प्रेयसायता होगी, न का य विशेषता। वह केवल भिन्न रूप रचना बनकर रह जायगी।

फिर भी प्रश्न यह उठ सकता है परम्परा की प्राप्ति का मानदण्ड क्या है? वस्तुतः परम्परा की प्राप्ति का मानदण्ड मात्र यह है कि वह प्रगति है। बाधक न बने, उसकी सहज विकासशील प्रवृत्ति को उत्तरोत्तर विकसित होने दे। परम्परा का उतना ही अर्थ महत्वपूर्ण है जो हमें सस्कार देता है और वह सस्कार भी ऐसा, जिसमें उत्तरता हो जो हमें 'यक्ति' में उदात्त चेतना समाहित करने के साथ आत्मपरक पृथक्त्व को बनाये रहे। बहुधा लोग आज के समूचे साहित्य की नई प्रवृत्ति को यह कहकर तिरस्कृत करने की चेष्टा करते हैं कि उसमें पत, प्रसाद, प्रेमचंद का परम्परा का निवाह नहीं है। समझ में नहीं आता कि इन आचार्यों का मत य क्या है? पत, प्रसाद, प्रेमचंद ने भी कवियों को तोड़ा था और तब सहस्राब्द की प्रवृत्ति को वह विकसित कर सके थे। यदि ऐसा न होता तो पत, प्रसाद, महात्मा केवल 'भारत भारती' का नवीन संस्करण लिखते, प्रेमचंद 'चंद्रकांता सतति' की बाइसवीं पाणी की गाथा लिखते और देवकीनन्दन खत्री की निर्भीक परम्परा के तिरहाने बैठाकर फातिहा पढ़ते होते। फिर जब प्रेमचंद या पत, निराला, प्रसाद, महात्मा ने अपने पूर्व की परम्परा को छोड़कर नया मार्ग अपनाया तो वह मात्र इसलिए कि उस परम्परा में उन देश काल के यथाय को वहन करने की क्षमता नहीं थी। ऐसी स्थिति में यदि आज का लेखक या कवि कलाकार आज के यथाय के अनुकूल नये प्रयोग करता है, नई यचना देता है तो कहीं परम्परा को तोड़ता है या उसे सशक्त नहीं बनाता है।

५

आज की नई कविता इन दृष्टियों से वह प्रसार की स्थितिया से गुजर रही है। परम्परा का उचित दायित्व निम्न प्रकार नई कविता ने स्वीकार किया है उससे कुछ लोगों को अनाश्यक उत्तेजना मिली है और वह इसकी हाथीमुख भी घोषित करना अपना कर्तव्य समझते हैं। दूसरे यग के लोग आचार्यों के मर्त और नई कविता के उदरार्थों में साम्य स्थापित करना चाहते हैं, तोसका वग उनका है जो आज का यथाय वैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करने में आज की कविता में हाष्ट का अभाव पाते हैं।^१ पता नहीं ऐसे लोग नई कविता के प्रयोग को किस प्रकार देखते हैं। दृष्टि से प्रधान कविता दृष्टि की सायकता इसी सीमा तक स्वीकार कर सकती है कि स्वतः कविता का भावस्तर उस दृष्टि प्रदान करे। कुछ शास्त्र साहित्य के समयक आधुनिक प्रयोग में शास्त्रकता की कमी पाते हैं किन्तु इस निष्ठा में हम इतना ही कहना

१ 'परिमल' द्वारा आयोजित गोष्ठी में नन्दुलारे चानपेयो का उद्घाटन भाषण।

२ 'साम्प्रतिक प्रयोगवाद' की तीन मुख्य कमियाँ हैं, कविगण नई दृष्टि द्वारा नूतनता उत्पन्न न कर सके हैं और अलकारों द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं।

हे कि

हमें किसी अजरता का मोह नहीं
आज के विविध अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जो लें, पो लें, आत्मसात् कर लें
उसकी विविध अद्वितीयता
आपको किम्बि को, व, ख, ग को
अपनी सी पहचानना सके
रत्नमय करके दिखा सके
शास्त्रत हमारे लिए पही है
अजर अमर है
वेदित व अजर है



युग क्षण क्षण में प्रवाहमान
स्वात सम्पूर्णता ।

इससे कदापि घटा नहीं था महाशुद्धि जो
‘मया माः अमरस्य ने’

अर्थात् वे आलोचक जो नवी कविता के प्रयोग को आज के अर्थार्थ, अनुभूति क्षण की मार्मिक उपेक्षा से मुक्त करके देखते हैं वे उक्त शास्त्र परम्परा की दुहाई देते हैं जिससे उनकी समस्त कृतिवानी मन स्थितियों प्रथम जाती हैं । वे यह नहीं समझते कि शास्त्रत यह क्षण भी हो सकता है, यह अनुभूति भी हो सकती है जिससे हम उस समय उक्त क्षण से सम्बद्ध होकर भोगते हैं ।

नई कविता का प्रयोग अनास्था से नहीं व्यक्त हुआ है । जो लोग यह समझते हैं कि आज के कवि के व्यक्तित्व में कमी है या अभाव है या इसमें अनुकरण या पारस्परिक होब है, उनकी धारणा मिथ्या है । यह कहना भी उतना ही गलत है कि प्रथम सप्तक के प्रयोगों के बाद नई कविता ने कोई प्रगति नहीं की है । वस्तुतः प्रथम सप्तक के प्राय सभी कवि तथाय, द्विनिधा और अनास्था मत के कवि हैं । अश्वेथ को छोड़कर प्रथम सप्तक में आज की भाँति स्पष्ट कवि शायद ही दूसरा हो । प्रभावतः भावने की यह कविता देविप
सत्यदीन सदिग्धता का स्वर

“सुमे कौब दे सजीव ? दिल का प्याला बस से पाली है
शून्य दिशाएँ, आधी जगह, मैं हूँ, यह था की पाली है”

आतक एवं भयप्रस्त व्यक्तित्व का रूप

जबकि अन्दर खोललापन कीट सा
है सतत घर कर रहा आराम से,

१ अश्वेथ नयी कविता २ ।

२ माचवे ।

क्यों न जीवन का दृढ़ अरव्य यद्

हर चले तुफान के ही नाम स^१

X

X

X

परम्परा को तोड़ने के धृष्ट ही नये पथ के प्रति अविश्वास

कौन सा पथ है ?

भाग में आजुल अधीरानुर बटोही यों पुकारा

अन्तरात्मा अनिश्चय सशय अस्तित्व

जातिगति अनुसरण योग्य है न पद मामग्न्य

कौन सा पथ है ^२

X

X

X

पराजित मनोभावनाओं से आक्रांत काय प्रतिमा किसी कोष्ठ में बँध होकर कहती है

भाग दशक बोल दो

हो रही है पुत्रलिखों पुँचसी अनवरत चेष्टा स

दखने की

जो कि माना वय्य से

उपहास से

निगम

सरकता जा रहा है^३

X

X

X

उपयुक्त पक्षित्यों उस समय के प्रगतिवादी कवियों की हैं जिनमें अविश्वास, पथ की अस्पष्टता आदि का बड़ा हा सफल और स्वाभाविक मिश्रण है। यह अविश्वास उस समय के प्रगतिवादी जीवन का एक अंश था। जो लोग यह कहते हैं कि प्रगतिवादी या प्रथम सप्तक के कवियों में जीवन दृष्टि और व्यापकता आघक थी व शायद इन कवियों की मार्मिक सद्गता का समझने में असमर्थ रहे हैं। इसके विपरीत दूसरे सप्तक के कवियों में यह सशय, यह सन्मय और यह अविश्वास इस मात्रा में नहीं मिलेगा

इस पुरानी निन्दगी की नेल में

जन्म लेता है नया मन

जब नहीं प्राचीनताएँ बाँध छाती पर मरण का पक्क चण

हम अधरे की पुरानी ओढ़नी को ओढ़कर

आ रही ऊपर नय युग की किरण^४

१ सुक्तिवाच ।

२ भारत भूषण अग्रवाल ।

३ नेमिचन्द्र तैल ।

४ हरिनारायण व्यास ।

मैं, तुम, यह, वह
मन के चारो काने
और ध्वजित की यह सीमाएँ
कन दृष्टगो ?
जब तुम होगी मुक्तस दूर
यह भी अपना
वह भी अपना
होगा
मैं अपने घर में दाँवना
तब सधाएतु^१

×

×

×

प्रलय से निराशा तुझे हो गई
इसी भ्रस से झुझिवा हो कहीं
पकी हा नयी निन्दगी, क्या पता ?
एनन की धकन भूल जा देवता !
क्या हुआ दुनिया अगर भरघट बनी
सभी मेरी आगिरी आत्माय यात्री है
को तुम्ह में फिर क्या निर्यास देती हूँ
नया इतिहास देती हूँ ।
कौन कहता है कि कविता भर गई ।^२

जैसा कि स्पष्ट है दूररे सप्तक के कवियों में निश्चय ही प्रथम सप्तक के कान्यों से अधिक आत्मनिश्वास, आस्था और आशा है। ये कवि प्रथम सप्तक के कवियों की भोंति पथ के सशय में जुने नहीं हैं, उर्दोंने अपना पथ बना लिया है। ये यदि चाहते तो उस नये पथ का सगठन कर सकेंगे। जहाँ प्रथम सप्तक के कवियों की भाषा, भाव भूम उनके निवास के प्राप्त आस्था विकसित कर रही है वहीं प्रथम सप्तक के कवियों में वह स देह से विकसित होकर छायावादी परम्परा, जो रीति बनकर रुढ़ि बन रही रही थी, उसके प्रति विद्रोह भी था। प्रथम सप्तक के कवियों में यह स देह और भ्रम होना स्वाभाविक था, क्योंकि जब कभी भी किसी प्रतिष्ठित परम्परा के प्रति विद्रोह का कदम उठाया जाता है तो उसके प्रवर्तकों में सदेह ही यह वस्तु होती है जो परम्परा की रुढ़िगत रीति वाली प्रवृत्ति के विरोध में खड़े होने का पाहस प्रदान करती है, प्रयोग की दृष्टि से प्रथम सप्तक का महत्त्व है, उसकी सहाजुभूति परक चेदना का नये यथार्थ के प्रति है, लेकिन उसमें वह दोष भी है जो किसी भी नई प्रवृत्ति के प्रेरकों में होता है। छायावाद की मिश्रा उदात्त भावना को पहले सप्तक ने मध्यम वर्ग के जीवन से सम्बद्ध करके उस नये यथार्थ को रवीकृति देने का प्रयास किया है जो आज की नई कविता में अधिक आयामों के साथ विकसित हो रहा है।

१ रघुवीर सहाय ।

२ धर्मवीर भारती ।

लेकिन परम्परा की मूल स्थापना में कोई टोप नहीं होता। जब वह रुति बन जाती है, तभी उसमें टोप होता है। प्रगति की मूल मानव मानना से प्रेरित होकर जब इस रुतिवादी परम्परा के समथक प्रयोग होते हैं तब उसकी प्रतिक्रिया में तथाकथित प्रगतिवाद की पैना स्वर धे-गे तरीके से मिताने लगता है। अशेष की प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' एक सशक्त चिरन्तन सत्य की सापेक्षता को स्वीकार करती हुई व्यक्ति मानव की अहनिष्ठा को प्रतिष्ठित करती है। उसके स्वर में परिवर्तन के प्रवाह में लीन होकर उसे स्वीकार करके फिर उस व्यक्ति निष्ठा को नये दग से विकसित करने की बात 'नदी के द्वीप' के माध्यम से कही गई है। लेकिन भारतभूषण अप्रवाल की कविता 'हम नहीं हैं नदी के द्वीप' कविता महज प्रति क्रियात्मक भावना के कारण का य बोध की अपेक्षा आवेश में बल गई है। अहाँ अशेष व्यक्ति निष्ठा को इतना योपक अथ देते हैं कि

द्वीप हैं हम
यह नहीं है शाप
यह अपनी नियति है
हम नदी के पुत्र हैं। वैसे नदी के कोड में
यह बहद भूख से हमको मिलाती है
और वह भूख अपनी पिता है

तुम बड़ी, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे

यह जोतस्विनी हो कमनाशा कोतिनाशा

घर काल प्रवदिनी बन जाय

तो हमें स्वीकार द वह भी। उसी में रेत होकर फिर छुनेंगे हम।

अमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।

कहीं फिर खड़ा हागा नये व्यक्तित्व का आकार

मातृ, उसे फिर सस्कार तुम दना—^१

यह नया प्रयोग है। व्यक्ति की मूल मर्यादा के प्रति कवि की सहज और स्वाभाविक आस्था है। इसमें कुण्ठा नहीं है। वेग, प्रवाह, खातस्विनी के प्रात आत्मसमर्पण करते हुए भी व्यक्ति मर्यादा और उस अस्तित्व के प्रति विश्वासपूर्ण स्वर है। परम्परा, प्रगत और प्रयोग की तीना स्थितियों इसमें स्पष्ट हैं लेकिन इसी की प्रतिक्रिया भारतभूषण अप्रवाल की कविता में इसप्रकार यक्त होती है।

हम सरोवर हैं
नहीं है घर
अब नहीं हममें तरंगित मान
और बचन की व्यथा में खो गया अभिमान
निवश हम अब यह नहीं सकते
और अपनी और अपने आपमें ही ब द

अपनी बात आपस में किसी से कह नहीं सकते

१८

तुम अगर हो द्वीप
रखी रेत कि धौल टीले
तो भले हो तुम रहो जैसे महा
पर यह न सोचो,
घार की हर जहर जो आती हमारे पास
ढोकाती है हमारी पीठ

जो भी काव्य कृति मात्र प्रतिनिधा में लिखी जायगी उसमें यह स्पष्ट होगा ही। न तो यह परम्परा के औचित्य को निभा सकती है और न ही उसमें प्रगति के तत्त्व आ सकते हैं और जब इन दोनों के प्रति उचित दृष्टिकोण भी नहीं विरचित हो सकेगा तो प्रयोग की स्पष्टता भी उस रचना में नहीं रहेगी। यदि यह कहा जाय कि नगी के द्वीप की रेत स्वाच्छ, पवित्र रेत का निरविल रूप है और सरोवर नगी के छोड़े हुए जल की सज्ज है तो द्वीप और सरोवर की स्वाभाविक और प्रतिनिधाप्रान्तिता की परछ स्पष्ट हो जायगी। आज का प्रगतिवात्त न तो परम्परा के दायित्व को ही निभा सकता है और न प्रयोग के, क्योंकि यह मात्र प्रतिनिधा से निरस्त होकर कुण्डलाओं में डूब जाता है।

किसी अथ य स्थान पर पहले सप्तक के एक प्रतिष्ठित कवि ने नद कविता की आलोचना करते हुए लिखा है कि उसमें पहले सप्तक के बाद कोई विकास नहीं हो सकता है। पता नहीं यह बात कैसे पढ़ी गई है, क्योंकि पहले सप्तक के बाद दूसरे सप्तक में बात अधिक स्पष्ट रूप से कही गई है और दूसरे सप्तक से भी अधिक स्पष्ट शरी में यह कविता व्यक्त हुई है। प्रयोग में जीवन का कठ सत्य भी अंकित होता है उससे कुछ निष्काट लुढ़ी नहीं ली जा सकता। शायद आज का नया कवि अधिक तीव्र स्तर में स्पष्ट बातें करता है। शायद इतना स्पष्ट स्वर किसी का नहीं रहा है

कहने की बहुत कुछ है
कहने नहीं बनता
बाणी की तपस्या
दर्द की साइका से हार गई
(राम। ईरवर, अम्मा है राम)
सगला है कहीं कोई ठोर नहीं
आज मनुष्य
गर्भ से घनके दूर निकाला हुआ
अपि पुत्र।^१

इसी प्रकार उस प्रचारवादी प्रगतिवात्त की अपेक्षा मूल मानव-भावना के प्रति आज के कवि की आस्था अधिक तीव्र है। इस समूहवाणी जीवन में विरल मानव जीवन का दृष्टा,

१ भारत मूषण हम नहीं है द्वीप।

२ रावेन्द्र किशोर नवी कविता २।

उसकी विपत्ति इससे अधिक स्पष्ट स्वर्णों में न तो पहले सप्तक में कहा है और न ही इसकी आशा लायावादी कवि से की जाती है। आब की नद काव्यता जहाँ परम्परा की रूटियों के प्रति अपना यह निश्वास रगती है

ओ महा प्रलय के बाद नये उग शिखरों,
है तुम्हें कसम इन ध्वस्त विषय मालाओं की
मत शीश झुकाना तुम अपना ।
आ स्य तुम्हारा तेजस्वी यह भास देख
कितने अगस्त्य आर्येण गुरु का वेश धर,
आशीष वचन कहने वाले
चिर दिनत तुम्हारा भस्मक या ही गुहा छोड़
ये गुरुवर वापस नहीं लौटकर आयेगे ।^१

वही उषा नद निशासा तथाग्रहित प्रगतिवाद के बीच घुंती मानवता के प्रातः अधिक सन्न है। उसे प्रचार से अधिक साहिब प्रिय है, मनगढ़ से अधिक मनुष्य से विश्वास है, समूह मानव के वादात्मक अस्तित्व से अधिक साधारण मनुष्यप्रिय है। वह हर रपट रूप में कहता है

पोस्टर निशालकाय पास्टर
लोग उ हैं दलदल हैंसत हैं
मुँह बनाते हैं, सोटिवों बजाते हैं
उदास हो जाते हैं

और मैं उनक सामन
नहा सा दबा खड़ा हूँ
मेजाना ये पहचाना
इत प्रतीक्षा में कि शायद
कभी कोई भूली हुई दृष्टि
मुझ पर टिक जाय,
शायद कोई मुझ आवाज द

लेकिन मैं दखता हूँ
कि आन के नमान में
आदमी स ज्यादा खाय
पास्टरों का पहचानत हैं
ये आदमी स बड़ सख्त हैं^२

नद कविता के प्रयोग का यही महत्त्व है कि उसमें निशा भी मनगढ़ की अपेक्षा निशा

१ विनयदेव नारायण माही युग चेतना ।

२ सर्वेस्वर नवी कविता ।

भी रुढ़िग्रस्त परम्परा की अपेक्षा यापन मनुष्यत्व में विश्वास किया है। उसने परम्परा से शील लिया है और उस शीलवान् उत्तराधिकारी की भाँति वह सब ग्रहण किया है जो उसे उन्नित रूप में उत्तराधिकारी होने के नाते मिला है। जो त्याग्य था उसका उसने परित्याग किया है, इसीलिए उसकी आस्था में प्रगति है और प्रयोग वह उस नये मार्ग की प्रशस्त परीक्षा के लिए कर रहा है जिसमें देश-काल की मर्यादा के साथ गया-यथार्थ उसको स-देख देता है। परम्परा का सद्गुण अंधकारी आत्म का प्रयोग है, जो प्रगति का विश्वास रखते हुए किसी भी मजहब की सफीर्णता को जितना तरीकार किये आगे बढ़ने में सक्षम है।



हिन्दी-उपन्यास में नये प्रयोग

साहित्य में प्रयोग शब्द का अर्थ है सामान्यतया परम्परा के विरोध में किया जाता है। अंग्रेजी में कुछ आलोचकों द्वारा आधुनिक अंग्रेजी साहित्य—विशेष रूप से उपन्यास और कविता का—प्रयोगवादी (experimentalist) और परम्परावादी (Traditionalist) इन दो वर्गों में बाँटा जाना इसी अर्थ की ओर संकेत करता है। इसी दृष्टि से जेम्स जॉयस, टारोपी, रिचर्डसन और जॉर्जियाना बुल्फ के उपन्यासों को प्रयोगवादी वर्ग में रखा जाता है। इन लेखकों ने अपने युग के नये यथार्थ को मनोवैज्ञानिक या मनोविरलक्षणिक आधार पर अभिव्यक्त करने के लिए पिछले उपन्यास द्वारा स्थापित परम्परागत मानों, मूल्यों और रूप-शिल्प की अनुपयुक्त और युग-सत्य की अभिव्यक्ति में बाधक घोषित किया। जॉर्जियाना बुल्फ के शब्दों में 'इस समय क्या साहित्य का जो रूप प्रचलित है उसमें अपेक्षित वस्तु पकड़ में न आकर प्रायः छूट जाती है चाहे हम उसे जीवन की या आत्मा, सत्य कहें या वास्तविकता, उसे हम जिस ढाँचे में रखना चाहते हैं वह अनुपयुक्त होने के कारण उसे व्यक्त नहीं कर पाता।' जीवन के गहन यथार्थ की चित्रित करने के लिए उपन्यास के प्रचलित रूप विधान के स्थान पर नये रूप-विधान की आवश्यकता महसूस की गई। और इसके लिए उपन्यास कला न लेखक की कल्पना में मूल होकर अपने एकाधिकार और यौन की पुनः प्राप्ति के लिए उपन्यासकारों को इस बात का पूरी छूट दे दी कि वे जैसे चाहें उनके अग्रों को तो मोड़कर उसे नया रूप दे सकते हैं।¹ परिणामस्वरूप उपन्यास कला को नया रूप और नई शक्ति देने के लिए इन उपन्यासकारों ने अनन्त प्रयोग किए यह अलग प्रश्न है कि उनमें से कितने प्रयोग सफल हुए। अंग्रेजी के इन प्रयोगवादी कहे जाने वाले उपन्यासकारों ने अपने युग की वास्तविकता को किस सीमा तक अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त किया अथवा उनकी वास्तविकता का स्वरूप या उसका पकड़ का साधन क्या था, इस सम्बन्ध में विचार करने का यहाँ अवसर नहीं। इतना बता देना पर्याप्त है कि उनका इस नये यथार्थ की युग-सत्य का समानार्थी मानन के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यास कला को नई दिशा में मोड़ने में ये प्रयोगकर्ता पूर्ण रूप से सफल हुए। उपन्यास के परम्परागत रूप-विधान में इतना आधिकारिक परिवर्तन न सह सकने वाले परम्परावादी आलोचकों और उपन्यासकारों ने नए प्रयोगों को अस्वीकार किया और प्रयोगकर्ताओं को वैदिक अराजकतावादी घोषित किया।

परम्परा और प्रयोग सम्बन्धी यह विचार अंग्रेजी साहित्य में बहुत जल्दी चला आया, किन्तु मैं भी नये प्रयोगों के प्रारम्भ होने के कुछ ही वर्ष बाद परम्परावादी का सिद्धान्त

1 Modern Fiction — The Common Reader Virginia Woolf

भा विरोध रूप में सामने आया। यह दूसरी बात है कि हिंदी में यह विचार अभी भी ज्यों का त्यों समस्या के रूप में बना हुआ है, जबकि अंग्रेजी में इसे समाप्त हुए २०-३० वर्षों का एक लम्बा युग बीत चुका है। सच तो यह है कि सन्धे साहित्य के सम्बंध में परम्परा और प्रयोग का विचार उतना महत्वपूर्ण नहीं रह जाता क्या? प्रयोगवादी विरोध पिटे परम्परावादी साहित्य के ही विरोध में आता है और ये विरोध पिटे परम्परावादी साहित्यिक ही प्रयोग के विरोध में परम्परावाद के सिद्धांत की आत्म रक्षा के लिए आइ लेते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि नये प्रयोगों के कारण साहित्य होने वाली जिस परम्परा की यहाँ चर्चा की जा रही है, वह एक मोटा से दूसरी पोनी तक चलने वाली परम्परा है जिसे साहित्य का उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करता है। परम्परावादियों के अनुसार साहित्य में आनर्गति नये प्रयोगों द्वारा इसी परम्परा की अनुस्यूता बाधित होती है और यहाँ कारण है कि परम्परा विभिन्न नये प्रयोगों से दुरुहता और क्षयप्रवृत्ति का जाता है। इस क्षयप्रवृत्ति के कारण प्रयोगवादी रचना में प्रेषणीयता का युग नहीं रह जाता। कलस्वरूप प्रयोगवादी का मूल उद्देश्य—अपनी नई बात को नये माध्यम से पाठक तक पहुँचाना—ही गड़ हो जाता है। परम्परावादी के इस सिद्धान्त—प्रयोग परम्परा विरोधी होता है—का स्पष्टतम साहित्य में नये प्रयोग के सबसे बड़े समर्थक टी० एल० इलियट न प्रत्यत सिद्धतापूर्वक अपने निबंध 'ट्राइसन एंड इडिड विजुअल टैलेंट' में किया है। इलियट ने परम्परा के सम्बंध में प्रस्तावित धारणा को आत बतलाते हुए कहा है कि यदि परम्परा का अर्थ अपनी टीक पूर्व की बाड़ी का अनुकरण करना या उसकी सफलताओं से चिपक रहना है, तो उसकी निश्चित रूप में उपाय होनी चाहिए। नवजाता आवृत्ति से कहीं अन्धी है। परम्परा इसके कहीं आश्रय नहीं देती, वह उत्तराधिकार के रूप में नहीं प्राप्त होती, बल्कि उसकी प्राप्ति के लिए उस ऐतिहासिक दृष्टि की आवश्यकता होती है जिससे भूत के बीते हुए रूप को ही नहीं बल्कि वर्तमान में उसका विद्यमानता की भी वैल्यू की शक्ति प्राप्त होती है। इस ऐतिहासिक दृष्टि से युक्त प्रातमाशाला साहित्यकार अपनी प्रतिभा से नई वास्तविकता को पकड़ पाने और अभिव्यक्ति प्रणाली के नये प्रयोगों द्वारा उसे ठाढ़ ठीक अभिव्यक्ति करने में सफल होता है। इलियट के इस कथन में सत्य का बहुत अधिक अंश है। वास्तव में इस तरह के प्रयोगों से ही परम्परा का विचार होता है। परम्परा स्थिर और निर्गति वस्तु नहीं, वह विकासमान और गतिशील होता है। पिछली पीढ़ी के अनुकरण अपना आवृत्ति द्वारा परम्परा का विकास कर जाता है। अतः परम्परा को उसके प्रचलित और सीमित अर्थ में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि साहित्यकार वास्तव में परम्परा के समर्थक नहीं माने जा सकते।

किसी साहित्य रूप में प्रयोग तमक रूप शिल्प (Form) में ही होता है, कम से कम प्रयोग की पहचान रूप शिल्प, अभिव्यक्ति प्रणाली और भाषा शैली आदि से ही होती है। रूप शिल्प में प्रयोग का अर्थ है किनी साहित्य रूप के परम्परागत रूप विधान के स्थान पर किसी सीमा तक नवीन रूप विधान का अनुकरण। किन्तु नवीन रूप विधान भी अपने आपमें उतना महत्व नहीं रखता जितना कि उस रूप के अनुकरण या प्रयोग के लिए बाध्य करने वाला लेखक का वह कथ्य, जिसे वह परम्परागत रूपों अथवा अर्थ में ही प्रचलित रूपों द्वारा उतनी प्रभावशाली और गहराई से व्यक्त नहीं कर सकता। प्रयोग के लिए प्रयोग तो ये रूपवादी

करते हैं, जिनके पास कहने को कुछ नहीं होता। निष्पक्ष यह कि वास्तविक प्रयोग उठीको कहा जा सकता है जिसमें कथ्य की नवीनता रूप शिल्प में नवानता लाने के लिए बाध्य करता है। सच पूछा जाय तो प्रयोग की सारी समस्या वक्त य वस्तु अथवा लेखक के अभीष्ट उद्देश्य और प्रभाव सृष्टि को लेकर ही है। कलात्मक नवीनता से प्राप्त होने वाले सौंदर्य बोधात्मक आनंद (Aesthetic pleasure) की उपलब्धि भी इन्हीं प्रयोगों द्वारा होती है।

यहाँ एक और प्रश्न यह उठता है कि वक्त य वस्तु की नवीनता से क्या अभिप्राय है? सम्भवतः कोई भी प्रबुद्ध साहित्यकार इससे इंकार नहीं कर सकता कि प्रत्येक युग बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ ही नई समस्याएँ, नये मूल्य और नई मयादाएँ लाता है। परिवर्तित परिस्थिति में वास्तविकता का स्वरूप भी वह नहीं रह जाता जो उसके पूर्व युग की परिस्थितियों में था। इन बदली हुई परिस्थितियों और उनके बीच सघन रत मनुष्य के चित्रण द्वारा नये मानव मूल्यों और नई मयादाओं की खोज और उनकी स्थापना ही साहित्यकार, विशेष रूप से उपन्यासकार का प्रमुख दायित्व है। इस दायित्व को स्वीकार करते चलने वाले लेखकों के लिए प्रायः नये माध्यमों का आवेपण आवश्यक हो जाना है। पूर्वयुगीन सत्तों और मानव मूल्यों को अभिव्यक्ति देने में जो रूप विधान पूर्णतया सफल हुए हैं, सम्भव है वे ही नई परिस्थिति में जन्म लेने वाले नये सत्तों और नये जीवन-मूल्यों को प्रेषित कर पाने में असफल सिद्ध हों। अतः साहित्य में नये प्रयोगों में ही आवश्यकता और साधकता को अस्वाकार नहीं किया जा सकता।

इस दायित्व निर्वाह का सबसे अधिक बोझ उपन्यासकार के ऊपर ही है, क्योंकि परिस्थितियों से सघन रत मानव और उसकी उपलब्धियों की जितनी पूर्णता और सफलता के साथ उपन्यासकार हमारे सामने रख सकता है, उतनी पूर्णता और सफलता के साथ कवि, नाटककार अथवा अन्य कोई नहीं। किंतु आज के उपन्यासकार के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि आज की वास्तविकता को ठीक ठीक पकड़ने वाली दृष्टि क्या है? १९वीं सदी में जब फ्रेड्रिक उपन्यासों का अंग्रेजी पर लेखी से प्रभाव पड़ रहा था बॉन मूर ने उपन्यास की परिभाषा स्थिर करते हुए लिखा था कि 'उपन्यास समकालीन इतिहास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वह जिस युग में हम जी रहे हैं, उसके सामाजिक पारिवेश का बिलकुल पूर्ण और सही सही पुनर्निर्माण है।' इसमें स्पष्ट नही कि प्रत्येक श्रेष्ठ उपन्यास किसी सीमा तक अपने युग का इतिहास होता है। फिर भी आज का उपन्यासकार ठीक पारभाषा की याचना चाहता है। वह कई प्रश्न करेगा सही सही से क्या अभिप्राय है? पूर्ण का क्या अर्थ है? इससे भी आगे बढ़ कर वह यह पृष्ठ सकता है कि पुनर्निर्माण सही माने में कैसे करते हैं? आदि। यहाँ तक कि अपने युग को भी वह याचना चाहता है, क्योंकि इन प्रश्नों का उत्तर आज उतना सरल नहीं रह गया है जितना पूर्ववर्ती युगों में था। आज के उपन्यासकार के लिए बस दो मांग हैं। या तो वह इन प्रश्नों से अपने को बचा जाय और कोई भी किस्सा कहकर अपने दायित्व की दानश्री समझ ले या वह उन प्रश्नों की गहराइयों में जाकर उनका उत्तर ढूँढ़े और सत्य को पाने का प्रयत्न करे। आज का सज्जम उपन्यासकार इन प्रश्नों को अपने सामने रखता है और उनकी

१ The novel if it be anything is contemporary history an exact complete reproduction of the social surroundings of the age we live in

जटिलता के कारण कोई स्पष्ट उत्तर न पाकर विविध रूपों में उन समस्याओं को सामने रखता और उनका उत्तर ढूँढने का प्रयास करता है। परिणामस्वरूप आज न उप-यासों में रूप शिल्प सम्बंधी विविध नये प्रयोगों के साथ साथ उप-यासकार के कथ्य और उसकी दृष्टि में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन दिखलाई पड़ता है।

जहाँ तक हिन्दी के नये उप-यासों के रूप-गठन का प्रश्न है उनमें अग्रणी के आधुनिक साक्षादी (Modernist) उप-यासों की तरह का कोई ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ है, जो रूप-शिल्प की दृष्टि से उद्दिष्ट पिल्लेले उप-यासों से इस सीमा तक विच्छिन्न कर दे कि ये मित्र-जाति के मालूम पड़ें और समीक्षकों तथा पाठकों की इस साहित्य-रूप के सम्बंध में नये विचारों से सोचने के लिए बाध्य होना पड़े। अग्रणी के उप-यासों में हुए प्रयोग और रूप-शिल्प सम्बंधी क्रान्तिकारी परिवर्तनों का अभाव तो इसीसे लगाया जा सकता है कि ब्रजिनिया सुल्फ अपने उप-यासों को प्रचलित अर्थों में उप-यास मानती ही नहीं। प्रसिद्ध उप-यासकार ह्युगो पोल् ने अग्रणी उप-यास की आधुनिक प्रवृत्तियों की विवेचना करते हुए लिखा है कि 'ब्रजिनिया सुल्फ अपनी मला के लिए, यदि मिल जाय तो, कोई नया नाम गढ़ने के लिए तैयार है। आश्चर्य इसके कि इस बात की बिल्कुल परवाह नहीं कि कोई उद्दिष्ट उप-यासकार मानता है या नहीं। इस समय (१९२०-२४ के आस-पास) इंग्लैण्ड में कोई भी यह डीक डीक नहीं जानता कि उप-यास क्या है। बड़े आलोचक हटता पूर्वक यह मानते हैं कि यह कुछ ऐसी चीज है जो सामान्य पाठकों की समझ में न आए, जब कि छोटे आलोचक उतनी ही हटता से कहते हैं कि बड़े आलोचक बिते उप-यास की धृता वेते हैं, यह उप-यास नहीं।' जेम्स जॉयस के 'यूलिसिस' और 'फिनेगन वेक', ब्रजिनिया सुल्फ के 'मिसेज डालोवे', 'थिथीन ट एनट्स' तथा फिलिप टायरी के 'थी विथ मिसेज टुल्लेन' को उदाहरण स्वरूप देता जा सकता है। 'यूलिसिस' के प्रयोग का अभाव तो इसीसे लगाया जा सकता है कि जुग ने इसके बारे में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि इसका आदि अंत कुछ नहीं है और इसे सीधे आगे की ओर और उलटे पीछे की ओर, किसी ओर से पढ़ा जा सकता है, कोई अंतर नहीं पड़ेगा। यूलिसिस के बारे में न उही, कि 'फिनेगन वेक' के बारे में यह कथन बिल्कुल सत्य है। जिस वाक्य के मध्य से उप-यास प्रारम्भ होता है, उसी वाक्य के मध्य में समाप्त भी होता है। इसे आगे पीछे किसी तरफ से पढ़ सकते हैं। माया जेम्स जॉयस की बहुत कुछ स्वयं गयी हुई बिल्कुल मौलिक है, एकदम अछूती और अग्रगण्य। यह उप-यास बहुत अल्प है अर्थात् जेम्स जॉयस न अनुसार इसे समझने और आनंद लेने के लिए इनका ध्वस्त पाठ सुनना चाहिए। आदर्श पाठक जेम्स जॉयस ही हो सकते थे, इसलिए उ होन इस महत्वपूर्ण उप-यास का स्वयं किया हुआ पाठ रेंड भी करवा डाला।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि जेम्स जॉयस, डारोकी रिचर्ड्स, ब्रजिनिया सुल्फ, फिलिप टायरी, होरेथ मेकॉय आदि अग्रणी के अधिकांश प्रयोगवादी उप-यासकार अतश्चेतनावादी हैं, जो मनोविश्लेषणात्मक स्तर पर मानव मन या अतश्चेतन की गहराइयों को—चाहे वे जैसी भी हों—उभारकर पाठकों के सम्मुख रखने के दायित्व में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि अग्रणी उप-यास में प्रयोगवाद अतश्चेतनात्मक के अर्थ में बहुत अशुद्ध

रू" हा गया है। यद्यपि अग्रजी में ऐसे भी उपयास हैं जिनमें प्रयोग की पर्याप्त नवीनता है और जो सतत प्रवृद्धमान अन्तश्चेतन की बाराकियों का दर्शन कराने वाले उपयासों से भिन्न कोटि के हैं। सच पुत्रा जाय तो अग्रजी के आधुनिक उपयास साहित्य में परम्परावाजिया और इन तथाकथित प्रयोगवाजियों का साफ विचार बहुत कुछ समय तक को लेकर है। परम्परावाजियों की तरह ये प्रयोगवाजियाँ यह नहीं स्वीकार करते कि समय सेकण्ट, मिनट और घण्टे के निश्चिन् अन्तर और क्रम से घूर्णित होता है। परम्परावाजी समय और जिया तथा समय और घटना में सामञ्जस्य बनाये रखने पर जोर देते हैं, जब कि अन्तश्चेतनावेदा एक क्षण के विचार अथवा क्षणस्थायी चेतना प्रवाह का चित्रण इस प्रकार कर सकते हैं कि वर्षों का समय और अनगिन घटनाएँ उसके सामने मुच्छ और छोटी मालूम पड़ें। प्रयोगवाद य नहीं मानते कि समय अपने आपमें कोई विज्ञात्मक गुण रखता है, उनके अनुसार समयगत मूल्य (Time value) और उसकी अग्रवि अथ परिवर्तनशील कारणों पर आधारित है। समय की निरङ्कुशता को समाप्त कर देने के प्रयत्न में आधुनिक अग्रजी कथा साहित्य में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर लिया। समयगत रूढ़ि को मानकर रचना करने वाले उपयासकारों के लिए पुराने और प्रचलित रूप विज्ञान तथा कथानक, चरित्र और क्रिया सम्बन्धी परम्परावादी धारणा मायवी कि तु प्रयोगवादी परम्परावादी के इस अत्याचार को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। १९१६ में बर्लिनिया बुल्फन ने 'माइन फिक्शन' शीर्षक प्रसिद्ध लेख में परम्परावाद के इस अत्याचार की खोज करते हुए लिखा है कि ऐसा मालूम होता है कि लेखक अपनी रचना इच्छा से नहीं बल्कि किसी अत्यन्त शाक्तशाली और सिद्धांतहीन अत्याचारी के चञ्चल में अवश पड़ा हुआ उपयास में कथानक देने, उसे गुप्ता व या गुप्ता व बनाने तथा उसमें क्रम और दिलचस्पी की बातें लाने के लिए बाध्य कर दिया जाता है।^१ बुल्फन ने जापान की यह नई धारणा सामने रखी

Life is not a series of big lamps symmetrically arranged but is a luminous halo, a semitransparent envelope surrounding us from the beginning of consciousness to the end.

इस परिभाषा के अनुसार उपयासकार का यह कृत्य माना गया कि वह मन पर पड़ने वाले, प्रत्येक घटना और प्रत्येक दृश्य के प्रत्येक क्षण के प्रत्येक प्रभाव को उपयास में क्रम पूर्वक सजाकर रखे, चाहे वह कितना भी कष्टल और असम्भव कथा न हो।^२ परिणाम स्वरूप इन लेखकों के प्रायः सभी उपयासों में कथानक और चरित्र क्रिया और विचार 'चेतना प्रवाह' (Stream of consciousness) में डूबकर अस्तित्वहीन हो गए हैं।

× × / \ <

हिन्दी उपयास में नये प्रयोगों पर विचार करते समय सबसे पहला प्रश्न यह होता है कि उसका परम्परागत रूप (Traditional shape) क्या है? अर्थात् हिन्दी उपयासों की रूढ़ गठन और रचना सम्बन्धी वे कौन सी विशेषताएँ और मायव्य हैं जिन्हें आज का प्रयोग कर्ता यों का त्यो न ग्रहण करके अथवा अपने कथ्य उद्देश्य और प्रभाव सृष्टि के लिए उस ढाँचे को उपयुक्त मायम न समझकर नई तकनीक और नये ढाँचों का सहारा लेता है।

१ Modern Fiction—the common reader

२ वही।

अग्रेजी उप-यास की तुलना में हिंदी-उप-यासों की परम्परा नहीं के बराबर है, फिर भी 'परोक्षा मुन' ने लेफ्ट 'मोडल' और 'चित्रनेता' तक आते आते हिंदी उप-यास का एक परम्परागत रूप स्थिर हो चुका था जिसमें आज भी अनेक प्रौढ़ उप-यासकार उप-यास रचना कर रहे हैं। मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण शास्त्र के अस्तित्व में आने के पूर्व विश्व उप-यास में उप-याग रचना के सम्बन्ध में गूढ़त कुछ एक ही प्रकार की चारखा लिखना पड़ती है। इस चारखा के अनुसार उप-यास में तथा अतृप्त होनी चाहिए, साथ ही वह कथा पूर्वापर-सम्यक् और कार्य कारण शृङ्खला से जुक्त होनी चाहिए। साथ ही उसमें तथ्य और महत्त्वपूर्ण चरित्र का होना आवश्यक है।

अग्रेजी के अतृप्ततावाद। प्रयोगात्मक उप-यासों का भूमिका मर्यादा हम हिंदी के मनोवैज्ञानिक कहे जाने वाले उप-यासों पर विचार करें तो हमें पता चलता है कि जैसे द्र. अथवा इलाक द्र. जोशी के उप-यास मूलतः इनसे भिन्न कोटि के हैं। यही कारण है कि हिंदी उप-यास के प्रचलित रूप विशाल में ही हीन छोड़ मौलिक परिवर्तन नहीं उपस्थित किया है। इनके उप-यास उसी अर्थ में और उसी गीमा तक मनोवैज्ञानिक हैं, जिस अर्थ में और जिस सीमा तक यशराज के उप-यास मार्क्सवादी हैं। जिस तरह मार्क्सवादी दृष्टि के अपनाने मात्र से मार्क्सवादी बने जाने वाले उप-यासों के कथा शिल्प और रूप-विधान में कोई प्रयोगात्मक परिवर्तन (Experimental change) नहीं घटित हुआ है, उसी प्रकार 'परत', 'मुनीता', 'कम्पाणी', 'संयासी' या 'पर्न की रानी' में भी इस तरह का कोई परिवर्तन नहीं मिलेगा, जो रूप-गठन की दृष्टि से इन्हें पूर्वजा तथा समकालीन उप-यासों से भिन्न श्रेणी का सिद्ध करता हो। कारण यह है कि इनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि किसी मनोवैज्ञानिक प्रणि द्वारा नायक नायिका या कथा-विधा—मानविक तथा व्यावहारिक होता—और उनके सामाजिक सम्बन्धों के मार्गिक नियम तक ही सीमित है, जबकि बन्स जॉन्स, डार्विन् रिचर्ड्सन और ब्रूक आदि के उप-यास में वह कई विधाओं में काम करती हैं। कहावी कहना इनका उद्देश्य नहीं, फिर भी कहानी इतने कही है, भली ही वह बड़े 'क-बैर' पर पारस्विकता से जुझने वाले मनुष्य, उसके परिवेश और उसके सामाजिक सम्बन्धों की कहानी ग होकर अपनी कुयदाओं और प्रियता के बर्णित आत्मवैदित व्यक्ति की ही कहानी क्या न हो।

सब पूजा काम तो हिंदी उप-यास के क्षेत्र में सबसे पहला प्रयोग 'अक्षय' ने 'शेखर एक बीचना' (प्रथम भाग) में किया। इसकी प्रयोगात्मकता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि उप-यास की एक निश्चित परिभाषा स्वीकार करने वाले (यद्यपि वह पारम्भावी भी पूर्ववर्ती लक्ष्य में यों के ही आधार पर बनी है) इसे उप-यास मानने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि उनके अक्षय सार इसमें कथानक भी कार्य कारण शृङ्खला से जुक्त सम्बद्धता नहीं है। इस उप-यास की मौलिकता भी यही है। पुरा उप-यास 'स्मृत्यालोच' (Flash back) की टेक्नीक में लिखा गया है। स्मृतियों एक साथ ही सम्पुष्ट सम्बद्ध रूप में नहीं आता, वह खण्डों (Fragments) में आती हैं, यही कारण है कि उप-यासकार ने वस्तु गठन में खण्ड चित्रों की पद्धति (Fragmentary method) को अपनाया है। यद्यपि ये दानों पद्धतियों अग्रेजी उप-यास में बहुत अधिक प्रयुक्त होकर बर्तनीता का आन्वेषण हो चुकी हैं, किंतु हिंदी के लिए अभी भी ये विमुक्त नहीं हैं। हिंदी में स्मृत्यालोच पद्धति का प्रयोग न किया गया हो ऐसी बात नहीं,

गुलेरी जी की 'उमन कहा था' कहानी में इस पद्धति का बहुत सुंदर दृगंश उपयोग किया गया है। किंतु हिंदी में कोई उपवास पूरा का पूरा इस टेक्नीक को आधार बनाकर लिखा हुआ नहीं मिलेगा। इस प्रसंग में अग्रेजी के दो आधुनिक उपवासों की चर्चा करना चाहता हूँ, मेसि कनेयर का 'द लाइफ एण्ड डेथ ऑफ हेरिएट प्रीन' और होरेस मेकाय का 'द यू ॥ हासस होए दे'। 'द लाइफ एण्ड डेथ ऑफ हेरिएट प्रीन' ॥ 'शेयर एक जीवनी' की तरह ही स्मृत्यालोक पद्धति द्वारा हेरिएट की आत्म कथा कही गई है। झूठता हुई हेरिएट का चेतना में दूसरे के समय के लक्षण मर के प्रत्यागमन में ही उसका सारा भूत जीवन बिजली की तरह बाँध जाता है। उसके भूत जीवन के अनेक मानस चित्र सिनेमा की रोलस की तरह आते और चले जाते हैं और इन मानस चित्रों के रूप में ही उसके ७० वर्षों की जीवन कथा लगभग २०० पृष्ठा में कही गई है। होरेस मेकाय के उपवास में सारा स्मृत्यालोक फॉसी की सजा सुनाई जाने के कुछ मिनटों के अवकाश में ही प्रकाशित होता है। कहा जाता है कि मृत्यु के कुछ समय पहले मनुष्य को उसका भूत जीवन त्रिचि मानस चित्रों के रूप में दीखने लगता है। इसीलिए इन उपवासकारों ने स्मृत्यालोक के लिए प्रायः इसी भूमिका को चुना है। 'शेयर एक जीवनी' के सारे स्मृत्यालोक की भूमिका यही है—फॉसी, मृत्यु अपना मृत्यु की अनिवार्यता का बोध।

‘फॉसी’।

सिद्धि कैसी—वाहे की? मेरी मृत्यु की क्या सिद्धि होगी—मरे जीवन की क्या थी।

मैं अपने जीवन का प्रत्यागमन कर रहा हूँ, अपने अतीत जीवन को दुबारा की रहा हूँ।

इस प्रत्यागमन में शेयर के चेतना प्रवाह में भी अनेक तरंगें उठती हैं। स्मृति के दर्पण में वह अपने सम्पूर्ण भूत की प्रतिबिम्बित होते देखता है। उसका सारा पिछला जीवन विभिन्न मानस चित्रों (Mental images) के रूप में प्रत्यक्ष होता है और जिस क्रम से वे चित्र उसे दीखते हैं, उसी अनुक्रम में उई रखा गया है। इसलिये 'शेयर एक जीवनी' (प्रथम भाग) में घटनाओं के पूर्णपर सम्बंध और कार्य कारण शृङ्खला से युक्त कथानक हूँटना पड़ता है। स्मृतिर्वा का निश्चल और असम्बद्ध होना ही अधिक मनोवैज्ञानिक है, वह भी उस व्यक्ति की स्मृतियों का जो मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है, जबकि मास्तिक में इस दृष्टि विधान की लेकर, आज के जावन मूल्यों और भावनाओं को लेकर निचारों की आँधी उठ रही है और जो आभूत परितन चाहने वाली अपनी मूल्यमान् (I) मित्रोही भावना का मूल्य मृत्यु के रूप में पाकर लुप्त हो उठा है। इस उपवास के कथानक पर निचार करते समय इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। 'शेयर एक जीवनी' में प्रयोग यही है, उसकी मौलिकता यही है। अनुक्रम इसमें घटनाओं और दृश्यों का नहीं, भावा और मनस्थितियों का है। इन्हीं भावों और मनस्थितियों का उत्तरोत्तर विकास का, उन घटनाओं और दृश्यों के साथ, जिन पर वे आश्रित हैं, चित्रण और विश्लेषण करना ही उपवासकार का प्रमुख उद्देश्य है। ये चित्र अपने आपमें बहुत उल्लेखित न होते हुए भी समस्त प्रभाव की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं।

'शेयर एक जीवनी' के बाद इस निष्ठा में इस तरह का कोई प्रयोगात्मक उपवास नहीं लिखा गया। ऐतिहासिक उपवासों की निष्ठा में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपवास 'वाणभट्ट

की आत्मस्था' निश्चित रूप से एक अभिनव प्रयोग है। इस उप-यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि न जाने कितने पाठकों के मन में इस उप-यास ने यह आन्ति उत्पन्न की है कि वाण मट ने सन्मुख कीइ आत्म चरित लिखा था और द्विवेदी जी ने इस 'आत्म कथा' के रूप में उसका रूपान्तर मान लिया है। आत्मकथा में वास्तविकता और प्रामाणिकता का आभास उत्पन्न करने के लिए लेखक ने अनेक कौशलों का सहारा लिया है। 'आत्मकथा', उपसंहार और पाद पिप्पिषियों का प्रयोग इसी कौशल के रूप में हुआ है। पूरा उप-यास संस्कृत की कथा आख्यायिका—विशेष रूप से मादम्बरी और हर्षचरित—की शैली को ध्यान में रखकर लिखा गया है। मामह ने आख्यायिका के जो लक्षण बताए हैं, वे भी इसमें मिल जाते हैं। इसमें गद्य काव्य से युक्त सरल कथा बड़ी यह है, यह उच्छृंगारों में विभक्त है और कथा कहने वाला स्वयं नामक है। मादम्बरी की तरह रूप रंग, शोभा, ली-डर्य आदि के प्रशंसक वर्णन के कारण इसमें भी कथा बच बचकर आगे बढ़ती है। बाणमट की शैली के अनुरूप रसमग्न, आत्मवार्तिक वस्तु वर्णन और पद विवास द्वारा पाठकों के मन में आत्म कथा की प्रामाणिकता उद्घासित करने में लेखक पूर्ण रूप से सफल हुआ है। फिर भी इसे प्राचाग कथा आख्यायिका न कहकर आधुनिक ढंग का उप-यास ही कहा जायगा। जैसा कि लेखक ने उपसंहार में संकेत किया है, इसमें 'बाणमट की शैली के साथ ऊपर ऊपर से साम्य होते हुए भी' आधुनिक शैली की यह नवीनता भी बहुत अधिक है, जो संस्कृत साहित्य में नहीं मिल सकती, प्रेम के मूढ और अटस भाव की पञ्जना में यह शैली विशेष रूप से दिखलाई पड़ती है। अतः उद्देश्य के अनुरूप प्राचीन शैली के साथ कुछ भावों को व्यक्त करने वाली आधुनिक शैली का सामञ्जस्य स्थापित करके लेखक ने हिंदी उप-यास में निश्चित रूप से बिलकुल मौलिक प्रयोग किया है।

×

×

×

'शेखर एक बीबनी' (प्रथम भाग) और 'बाणमट की आत्म कथा' के बाद हिंदी उप-यास के क्षेत्र में जो भी नये प्रयोग हुए, वे पिछले तीन चार वर्षों में यह पौष के उन लेखकों द्वारा हुए जिनके प्रयोग की दिशा और जिनका उद्देश्य पिछले दोनों उप-यासों से बिलकुल भिन्न है। धर्मवीर भास्कर का 'सूरज का सावनों धोना', शिवप्रसाद मिश्र 'बदर' का 'बहती गंगा', गिरिधर गोपाल का 'चौदनी के पण्डित', नारायण का 'बाबा बनेरनाथ', कथोरनाथ 'रेणु' का 'मैला अंचल' और रमेश्वर दयाल सक्सेना का 'तोया हुआ जल' इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसमें कथा शिल्प की नवीनता और ताजगी तो है ही, साथ ही इनमें आज के कथाय की कह स्तरों पर उभरने का प्रयत्न किया गया है।

किसी उप-यास का यह कहानियों के रूप में लिखा जाना हिंदी में ही नहीं अथवा भाषाशा में भी बिलकुल नया प्रयोग है। हिंदी में 'सूरज का सावनों धोना' इस देवनीक में लिखा गया हिंदी का प्रथम उप-यास है। यह उप-यास छह कहानियों के रूप में लिखा गया है। ये कहानियाँ परस्पर स्वतंत्र होते हुए भी बड़े कौशल से एक दूसरे से जोड़ दी गई हैं। उप-यास का मटन और कहानी बहने का ढंग बहुत गुप्तता और परिचित है। जैसा कि 'भूमिका' में श्री अश्वे ने लिखा है—“अलफलेला वाला दग, पचतन वाला दग, पाकैच्छी वाला दग, जिसमें रोज चिरसामोड़ की मजलिस जुटती है, १५८ कहानी में से कहानी निकलती है।” 'कथासहितसार' में नरनाइनदत्त, मंत्री योग परायण और रानिया आदि में

कभी कभी प्रेम के किसी पहलू को लेकर मतभेद उत्पन्न हो जाता है और हर व्यक्ति अपने निष्पक्ष की सहायता किसी कथा के माध्यम से सिद्ध करता है। यहाँ एक ही वस्तु को कई 'शक्ति' कई कोणों से कई सदर्भों में रखकर देखते हैं। 'सूरज का सातवों घोड़ा' में बहुत कुछ इस पद्धति का प्रभाव दिखलाइ पाता है। इसमें कहानी कहने वाले कई व्यक्ति नहीं, एक ही व्यक्ति माणिकमुल्ला है। उपन्यासकार की साधु मौलिकता इस बात में है कि उसने इस पुराने टग का उपयोग अपने उद्देश्य के अनुरूप इतने नये रूप में और इतने कौशल से किया है कि इस 'आमीण' लगने वाला पद्धत में भी मौलिकता और गहनता का अद्भुत आवरण आ गया है। प्रत्येक कहानी का अन्त भी पुरानी पोरियों के 'इति कृत' पुस्तकस्थ प्रथमोत्तर (लम्बक, अध्याय) समाप्त के टग पर 'इस तरह माणिकमुल्ला की अमुक निष्पक्षता की कहानी समाप्त हुई' के साथ होता है। सज्जित उपन्यास वाला अध्याय उपन्यासकार का अपनी मौलिक सूत्र है और वह प्रयोजन विशेष से रखा गया है। कहानियों के रूप में लिखे जाने के कारण ही इसमें मध्यमार्गीय प्रेम और उसके भूटे नैतिक मूल्यों को इतने छोटे फलक पर, विभिन्न सदर्भों में कई कोणों से उभार सकना सम्भव हो सका है। यही उपन्यासकार का उद्देश्य था है। दूसरा विशेषण यह है कि टेक्नीक के इस प्रयोग में मनोविश्लेषणात्मक प्रयोगों की तरह ही कठिनाई नहीं है, बिलकुल साफ़ ढग है, यहाँ तक कि कहीं कहीं आवश्यकता से भी अधिक साफ़ आ गइ है। कि तु टेक्नाक की दृष्टि से किसी उपन्यास का कहानी का फाम में लिखा जाना उतना महत्व नहीं रखता, जितना कि यह कौशल जिसन द्वारा उपन्यासकार उन कहानियों में औपन्यासिक एकसूत्रता और सम्बद्धता स्थापित करता है। 'सूरज का सातवों घोड़ा' में माणिकमुल्ला का शक्ति तो इन कहानियों में एकसूत्रता स्थापित करने में योग देता ही है, साथ ही अथवा पात्र भी एक से अधिक कहानियों में बार बार आकर उस सम्बन्ध सूत्र को दृढ़ करने में सहायता पहुँचाते हैं। उपन्यास की यह टेक्नाक बहुत सफल सिद्ध हुई है। अग्रजी और कृती भाषा में कई नये उपन्यास कहानियों के रूप में लिख गए हैं।

कई कहानियों के रूप में लिखी गई हिन्दी की दूसरी कृति—शिवप्रसाद मिश्र 'बढ़ता' की 'बढ़ती गंगा' है, जिसमें काशा के २०० वर्षों का प्रवहमान—विन घारा के १७ तरंगों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। तत्कालीन सामाजिक जीवन के विविध भागों, उसने विभिन्न स्तरों को छींचने वाली ये तरंगें परस्पर स्वतन्त्र होते हुए भी 'घारा तरंग' याप से' एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। किन्तु कहानियों के रूप में लिखी गई किसी हात की उपन्यास का रूप देने के लिए जिस कौशलपूर्ण सम्बन्ध सूत्र की आवश्यकता होती है, वह सूत्र इस कृति में नहीं है। 'सूरज का सातवों घोड़ा' में यह सम्बन्ध सूत्र इसलिए है कि उसकी परस्पर स्वतन्त्र घावन वाला कहानियों उपन्यास की कथानक योजना के अभिन अग के रूप में लिखी गई हैं। यही कारण है कि स्कन्द कादल के रूप में लिखी जाने पर भी वे कथानकों की कहानियों जैसा महत्त्वहीन मालूम पड़ेंगी। इसके विपरीत 'बढ़ता गंगा' का कहानियों परस्पर स्वतन्त्र ही नहीं, कहानी कला की दृष्टि से अपन आपमें पूर्ण उत्कृष्ट कोटि की कहानियाँ हैं। इन कहानियों की यह कलात्मक पूर्णता यह प्रमाणित करती है कि ये किसी उपन्यास के अग के रूप में नहीं, बल्कि समय समय पर स्वतन्त्र कहाना के रूप में लिखी गई हैं। इन कहानियों में दृढ़ सम्बन्ध सूत्र के अभाव का मूल कारण यही है। फिर प्रश्न यह उठता है कि 'बढ़ता गंगा' को क्या माना जाय, कहानियों का

समय या कहानी रूप में उपन्यास या और कुछ। इसमें सदेह नहीं कि इसकी विभिन्न पद्धतियों और प्रभावों में सभ्यता और एकरूपता का प्रभाव इसके औपन्यासिक स्वरूप की पूर्णता में बाधक है, किंतु साथ ही यह भी सच है कि 'बदती गंगा' काशा की जिज्ञासा को लेकर निम्नो गई कुछ कहानियों का समग्र मात्र नहीं है, क्योंकि ये कहानियाँ जिस काल क्रम में रची गई हैं उससे दो-तीन वर्षों के भीतर काशी के सामाजिक जीवन में होने वाले तमिष परिवर्तन का पता चलता है। उक्त 'बदती गंगा' का कहानी रूप में उपन्यास स कहानियों के रूप में तो भी वर्षों के भीतर काशी के सामाजिक जीवन में होने वाले परिवर्तन और विकास का इतिहास कहा जा सकता है। इस दृष्टि से 'बदती गंगा' दिनेश साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण और मौलिक कृति है, इसकी मौलिकता का प्रतीक नवीनता और मौलिकता के चल पर आलोचना से नये साहित्य रूप के नाम की माँग कर सकती है। 'सि, यदि कोई वाद तो किता उचित नाम न श्रवण में उपन्यास की सीमाओं को छोड़ और बड़ा कर इसे उपन्यास की सीमा से बाहर है।

× × × ×
 कहा जा चुका है कि अंग्रेजी के परम्परागत और मनोवैज्ञानिक प्रयोगवादी उपन्यासों का मूल विचार समयगत मूल्य (Time value) की लेकर है। प्रयोगवादी का समयगत मूल्य की प्रत्यक्ष परीक्षण के कारणों पर आधारित मानने का एक प्रभाव उपन्यासों पर यह पड़ा कि उनमें कथानक की काल सीमा घरे घरे सीमित होता गई, क्योंकि इन उपन्यासों के अनुसार समयगत मूल्य की दृष्टि से एक व्यक्ति की सम्पूर्ण जीवन कथा की अपेक्षा सम्भव है किमी अन्य व्यक्ति की २४ घण्टे की (या उससे भी कम) जिज्ञासा अधिक महत्त्वपूर्ण हो। चूंकि मनोवैज्ञानिक प्रयोगवादी उपन्यासकारों का उद्देश्य मानव मन पर पड़ने वाले प्रत्येक क्षण के प्रत्येक प्रभाव का क्रमपूर्वक विश्लेषण करना था, इसलिए समय समय की यह मापता उठाने लिए अधिक अनुमति थी। समय का प्रत्येक क्षण लेकर प्रत्येक क्षण के प्रत्येक प्रभाव की चिन्ता करना उनके दृष्टि की बात नहीं थी। इस पद्धति के अनुसार जेम्स जॉयस की २४ घण्टे की जिज्ञासा का विश्लेषण करने में ही ७ वर्ष लग गए, जब लगभग ८०० पृष्ठों की 'यूलिस्सिस' तैयार हुई, 'फिनिगन रेक्स' में इसी कार्य को और अधिक काल की घे करने में उन्हें १६ वर्ष लग गए।

समय सम्बन्धी इस प्रयोग ने मनोवैज्ञानिक विचारों के चित्रण में ही नहीं, सामाजिक विचारों, पक्षों तक कि समाजवादी विचारों के चित्रण की दिशा में भी अपनी उपयोगिता सिद्ध की। आधुनिक रूसी उपन्यासकार कानोव (Kotov) ने प्रसिद्ध उपन्यास 'फार्वर्ड, ओ माइन्' में भी कथा एक क्षण की २४ घण्टे की जिज्ञासा तक ही सीमित है।

हिंदी में हाल ही में प्रकाशित गिरधर गोपाल के 'चौदवी के पण्डित' और एन.ए. दयाल एन.ए. के लघु उपन्यास 'सोया हुआ बल' में समय सम्बन्धी इस प्रयोग को अपनाया गया है। 'चौदवी के पण्डित' की काल सीमा है २४ घण्टा, 'सोया हुआ बल' की इससे भी कम कि १२ घण्टा। इन उपन्यासों पर विचार करने के पूर्व यह बताना आवश्यक है कि सीमित समय की लेकर उद्देश्य और लक्ष्य दोनों तरह के उपन्यास लिखे गए हैं। 'चौदवी के पण्डित' और 'सोया हुआ बल' लघु उपन्यासों की श्रेणी में आते हैं। मेरे विचार से लघु उपन्यासों में ही समय सम्बन्धी यह प्रयोग अधिक सफल हो सकता है। क्योंकि लघु उपन्यास का उद्देश्य जीवन को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित करना नहीं, बल्कि उसके किसी एक पक्ष पर

या कुछ पत्तों पर तीव्र और गहरा प्रकाश डालना होता है। इनमें लघु कथाओं जैसी गहरी, तीव्रता और प्रमत्तिपूर्णता लाने के लिए उपन्यासकार को ऐसी ही घटनाओं, परिस्थितियों और मनस्थितियों का चुनाव करना होता है, जो अमोघ प्रमाण की अविति में उसे अधिक से अधिक तात्पर्य और गहरा बनाने में योग देती हैं। कथा की काल सामा कम रखने वाले उपन्यासकारों का उद्देश्य इस प्रभाव को और अधिक एकोमुत्र करना होता है। समय-सम्बन्धी इस प्रयोग को अपनाकर निले गए उपन्यासों में उपन्यासकार का उद्देश्य कोई कहाना कहना नहीं होता, क्योंकि सीमित समय के कारण उसके पास कथा गाने लायक कथा सूत्रों और घटनाओं की कमी रहती है।

‘चौदनी के खटहर’ में भी लेखक का उद्देश्य कहाना कहना नहीं है। उसका उद्देश्य वृत्त और चिन्तन शैली के बन पर मध्यम का क्तमान स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करना है। एक मध्यमवर्गीय परिवार का आर्थिक स्थिति और उसकी पृष्ठभूमि में समूचे परिवार को मोतर ही मोतर निगलने वाली निराशा, क्रूरता और आन्तरिक खोलेन का इतना तीखा और पाठक के मन और बुद्धि को झकझोरने वाला चित्र हिन्दी में कम ही मिलेगा। वसन्त को ५ वर्ष बाद लाटन से ले आने में मध्यम की उच्चाकाङ्क्षा निपाने के अतिरिक्त उपन्यासकार के दो और उद्देश्य हैं —

१—मध्यम की आर्थिक स्थिति में तेजा से होने वाले परिवर्तन की ओर संकेत करना। आज का मध्यम कितना तेजा से खोखला होता जा रहा है, इसकी हम कल्पना मा नहीं कर सकते, बिनकुल उसी तरह जैसे वसन्त सोच मा नहीं पाता कि ५ वर्ष के मोतर ही उसके परिवार को, परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को इतना अधिक किसने बदल दिया।

२—इस परिवर्तन के आन्तरिक और बाह्य प्रभाव की जासूस और गहराई दिखाना। परिवार के किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से इस प्रभाव की जासूस और गहराई नहीं बक की जा सकती थी, क्योंकि वह स्वयं बदलने का इस प्रक्रिया का अंग होने के कारण बहुत कुछ उसका अन्तर्गत हो गया है उसे वसन्त की तरह एक साथ ही इतना बड़ा परिवर्तन देखने, झेलने या अनुभव करने को नहीं मिलता है। लम्बी अवधि के बाद उम्मागों का एक नई दुनिया साथ लेकर लौटा हुआ व्यक्ति कितना जासूस और गहराई से इसका अनुभव कर सकता है, उतना उस परिवर्तन को नित्य देखने या झेलने वाला व्यक्ति नहीं। साथ ही वसन्त के मन पर पड़ने वाले प्रभाव में भी कितनी जासूस और गहराई पहले दिन समय है, उसका दूसरे दिन नहीं। उपन्यास के कथानक को २४ घण्टे का काल सामा में बँधन का यही कारण है। परिवार की उत्तरोत्तर विगड़ता हुई स्थिति के सूक्ष्म सूत्रों को एक-एक करके खोलने में उपन्यास के वस्तु गटन का सारा कौशल निहित है। यदि वसन्त के प्रारम्भिक उत्साह और उमंग के अतिरिक्त वृत्त की लेखक थोड़ा सँभाल पाता, तो इस अत्यधिक उमंग के कारण उपन्यास के प्रारम्भिक अंग में जो थोड़ी कच्चाई आ गई है, वह न आ पाती। ‘करगस्ट’ निपाने के लिए आवश्यकता से अधिक उमंग का चित्रण जरूरी नहीं था।

‘चौदनी के खटहर’ में यदि एक परिवार की एक स्त्री की जिन्दगी का वृत्त है तो ‘सोया हुआ बच्चा’ में एक यात्राशाला (हाक बैगवा) के यात्रियों की एक रात की जिन्दगी का। इसमें अतिरिक्त दोनों में कोई सादृश्य नहीं है। वस्तु शिन्ध, रूप गटन, शैली, उद्देश्य सभी

दृष्टियों से 'खोया हुआ जल' बिल्कुल भिन्न कोटि का उपन्यास है और अत्यंत लघु होते हुए भी वह कई दृष्टियों से हिंदी में बहुत ही मौलिक और महत्वपूर्ण प्रयोग है। पूरा उपन्यास सिने-रियो टेकनिक में लिखा गया है। लगता है कि लेखक ने अमेजी के नये उपन्यासों की टेक्नीक का विशेष अध्ययन किया है। इस टेक्नीक की विशेषता यह है कि इससे कई व्यक्तियों के भावों, विचारों और भावों, यहाँ तक की एक ही व्यक्ति के विभिन्न भावों और मनस्थितियों का समकालवर्तित्व (Simultaneity) प्रिलखाया जा सकता है। एक ही व्यक्ति के समकालवर्ती (Simultaneous) वाद्याचरण और आंतरिक भाव में असंगति प्रिलखाने के लिए उपन्यासकार ने स्वप्न पद्धति का सहारा लिया है। इस पद्धति के द्वारा लेखक विमा और राजेश के वैवाहिक मधुर सम्बंध और उनके अन्तश्चेतन में पर पुरुष और पर स्त्री के लिए वर्तमान श्रुत व्यास (विमा का मोहन के और राजेश का एक गोरी लड़की के प्रति) की सहस्रवर्षी प्रिलखाने में सफल हो सका है। यात्रिशाला में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों के समकालवर्ती (Simultaneous) भावों, विचारों और भावों का चित्रण लेखक ने उस बड़े पहरदार के माध्यम से किया है जिसके ज्ञान प्रत्येक क्षण से आने वाली आवाज को सुनते हैं, जिसका दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों और बहारों को देखती है। पति पत्नी, प्रेमी प्रेमिका, जन नायक, शासक, मौजी, आचार्य, सभी प्रकार के लोग उस यात्रिशाला में रहते हैं, इसलिए एक ही समय में विभिन्न ढंग के काम, विभिन्न प्रकार की बातें उसे देखने सुनने को मिलती हैं।

उपन्यास की प्रमुख विशेषता, उसकी प्रतीकमयता है। चाहे तो इसे प्रतीकमय उपन्यास (Symbolic novel) भी कह सकते हैं। स्वप्न दूत के माध्यम से इस प्रतीकमय को स्पष्ट भी कर दिया गया है। बड़े पहरदार को स्वप्न दूत बतलाता है कि—

‘मैं रोब यहाँ आता हूँ लेकिन तुमसे बिना मिले चला जाता था। आज तुम्हें बीमार देखकर तुम्हारे पास आ गया।’

‘तुम यहाँ रोब किस लिए आते हो?’

‘प्यासी आत्माओं की शान्ति के लिए।’

‘यात्रिशाला’ शब्द सोहरेय रखा गया है, वह इस सत्कार का प्रतीक है जिसमें नियत समय के निवाय के लिए आये यानी खीब रहते हैं। उन सभी यानी खीबों की आत्माएँ प्यासी हैं। लेखक कहना चाहता है कि सारी अशान्ति, सम्पूर्ण विश्रुतलता (Chaos) के मूल में यह आंतरिक व्यास है, मानव की अतृप्त आकांक्षा और वासनाएँ हैं। ‘खोया हुआ जल’ अन्तश्चेतन में सोहरेय इसी आन्तरिक व्यास का प्रतीक है। जबकि मानवता अथवा मनुष्य की आप्रत और सावधान रहने के लिए सचेत करने वाली उच्च मानवीय चेतना का प्रतीक है। घूरा पहरदार, जो बीमार है, अफीम खाकर पड़ा हुआ है और जो अंत में मर जाता है। फरस नं० ११ से आने वाली आवाज को यदि लेखक की आवाज मान लिया जाय तो मानवता की रक्षा का, इस विश्रुतलता और अशान्ति को दूर करने का एक मान उपाय यह है कि ‘इराज को भीतर से बदलने दो, बाहर से बदलने से कोई काम नहीं चलेगा।’

कुछ लोग का खयाल है कि ‘हूबते मस्तूल’ में भी समय सम्बन्धी यह प्रयोग है। इसीलिए ‘हूबते मस्तूल’, ‘चौदनी के लखवहर’ और कभी कभी जानकाय प्रकट करने के लिए ‘पुलिखिष’ की भी एक ही नयी में रस दिया जाता है। ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि समय

मन्त्र की इस प्रयोग का मन्त्र 'उपन्यास' का क्या है, जहाँ 'द्वयम मन्त्र' में उपाका क्या का काल सामा २४ घण्टे नहीं 'नित्य' रचना द्वारा अपना वाक्य क्या हुआ है बान का काल सामा २४ घण्टे (य' उमसे मी म्म, क्योंकि रचना मा वाक्य क्या मन्त्रे व' १७ प्रथम पु'प को स्पेन से रचना के 'नित्य' रचना और मोहन स्नानानि में कुछ 'ए' 'ए' हो गए हैं) है। इसमें सन्देह नहीं कि यह 'उपन्यास' की प्रेरणा से हा लेखक न उपन्यास म '२४ घण्टे' का प्रयोग किया है। यही कारण है कि प्रयोग का भ्रान्त में वह यह भूल गया है कि इससे उपन्यास में प्रयोग और अस्वाभाविकता का अभाव बड़ा गाय आ गया है। पहला प्रश्न यह है कि रचना का वाक्य क्या को प्रस्तुत करने का इतना अस्वाभाविक रूप क्यों अपनाया गया है। क्या यह अस्वाभाविक नहीं है कि एक स्वा एक अतिरिक्त व्यक्ति को अपने साथ बिना गए धाम चार और वनात्कार का कहना लगातार १४ १५ घण्टे 'नित्य' रचना कर हुआ १४। और यह कहते हुए कि वह व्यक्ति उपाका प्रेमी अकलक नहीं है, उसे बचरस्ता अकलक मानकर, और अतीत अस्वाभाविक रंग से उसका मा बचरस्ता मन्त्राकर मारा क्या हुआ बाटा है। क्या का वह अत्यन्त विषय 'द्वयम' है, जिनमें रचना करने 'उपा' अकलक का प्रेम-कथा विस्तारपूर्वक करने 'इस' अकलक को सुनाता है।

रचना वह अत्यन्त नायक रचित है जिसके साथ हर 'नित्य' प्रेम का स्वर्ण रचकर, घोषा देकर, बल पूर्वक 'नित्य' लो वाकर या कपड़े में अकेला पाकर 'नित्य' चार बलात्कार कर सकता है और जो किना किना विरोध के आत्म स्मरण कर सकती है, हर किसी स्थिति से समझौता कर सकता है। यही वह मन मा 'नित्य' बान कि इस अद्भुत सृष्टि की सृष्टि हा। इसका न 'नित्य' कारण के लिए का थी और यह मा मान लिया जाय कि इस प्रकार वह 'नित्य' काम कमनोता रमणा विशिष्ट मनस्थिति में पहुँचकर किना मा व्यक्ति को चानाका स अपने एकान्त यह में हुआकर निनाखिलाकर और 'नित्य' स्त्र देकर करना इतना मदत्तपूर्ण 'नित्य' माया हुआ सकता है, तब मा यह बात समझ में नहीं आता कि क्या सुनान का यह 'उपाका' 'नित्य' रंग क्यों अपनाया गया है। एक व्यक्ति के मन्त्र 'नित्य' मान को समझना बान। इतने मन्त्र बान का क्या को अत्यन्त रूप से १७ १८ घण्टे 'नित्य' अस्वाभाविक लगान वाला एक लम्बा पैरट में हा। बहलवाने का बचरस्ता क्यों? सिवा इसका कि उपाकाकार को '२४ घण्टे' का प्रयोग करना है, दूसरा जो कारण नहीं मन्त्र में आता। प्रयोग का इस मौन का हा यह परिणाम है कि क्याकर का साथ मी 'नित्य' न हो हा गया है साथ हा उपाका में अस्वाभाविकता का इतना गाय गाय आ गया है कि यह अस्वाभाविक उपाका से अधिक मदत्त का नहीं रह गया है। किन्तु इतना अतिरिक्त मन्त्र सुझाकर मा लेखक समय-समय पर प्रयोग का उपाका में नहीं ला सका है। क्या को कुछ घण्टे का काल सामा में बचकर लिख गए उपन्यास 'द्वयम मन्त्र' का उपाका रचना प्रभाव नहीं हुआ करत।

प्रयोग के लिए प्रयोग का 'नित्य' मा अच्छा उपाहरण प्रमाण माना कि प्रयोग का उपाका परन्तु है। समझत यह 'नित्य' का पहला उपाका है, जिसमें 'नित्य' पदात के प्रयोग को अपनाया गया है। इस प्रयोग के कारण इस उपन्यास में मौलिकता और नवान्त का अद्भुत आश्चर्य आ गया है। इस दृष्टि से 'परन्तु' निश्चित रूप से 'अपने रंग का अकेला उपाका' है। उपन्यास के अधिकार पात्र उपाका के अन्ते है और वे माय अपनी बाव

के अनुसार विविध विषयों की पुस्तकें पढ़ते रहते हैं—कुमार सम्भव, गीता, वेगडाइज साह्य, श्रमातिमुक्तता और टी० एल० इलियट की कविता से लेकर नाट्यशास्त्र, जीव विज्ञान और अस्त्रशास्त्र की कठिन तर्क। यथाय के तर्कों को स्वीकार करते वे जो कुछ पढ़ते हैं, उसे लेकर ज्यों-का-त्यों उद्धृत करता गया है। इस प्रकार दृढ़ता माने साइज में छोटे-छोटे पृष्ठों के इस उपन्यास का लगभग एक चौथाई भाग इन मन्त्रपूर्ण उद्धरणों में भरा है। पाठकों को क्या नियों के माध्यम से विविध विषयों का 'सामान्य ज्ञान' बनान का निश्चय म इस एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न कहा जा सकता है। इन उद्देश्यों की दृष्टि में यह उपन्यास 'गृह्यपदेश' और 'मित्र लाभ' की परम्परा में आता है, उस परम्परा को आगे बढान में योग देता है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें इस 'उद्धरण पद्धति' का अमेरिका के अन्तर्चेतनावादी उपन्यासों की 'नेतृत्व प्रवाह' पद्धति के साथ प्रकट सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। अभ्युत्थाना का अन्तर्चेतन या अन्तर्मान में कोई पुस्तक पढ़ने समय या अभ्यास का भाव्य तन्त्रे समय अनेक अलम्बित विचार तरंगें उठती हैं। मनोवैज्ञानिक यथाय के आग्रह को मानकर लेखक इस अलम्बित विचारों को ज्यों का त्यों भाव धीन में उद्धृत करता गया है।

उपन्यासकार का सूक्ष्म निगूहण तो आश्चर्य में डाल देता है। उदाहरण के लिए अग्निबा के कमरे में, मिथिल रूप से उसकी मेज पर रखा हुए उद्धृष्टों की सूची देखी जा सकती है। मेज पर रखा हुआ स्वादोन्माद का टुकड़ा और उस टुकड़े पर लिखी हुई अक्षरशः आठ नियों और ओंके तक के नियो गए हैं। इस पद्धति के आचार्य केन्द्र ज्ञापन में भी निगूहण का यह रावीनी शायद ही हूँकने से मिने। इस प्रकार इन तीन नई पद्धतियों—उद्धरण पद्धति, नेतृत्व प्रवाह पद्धति और निम्नत सूची—के साथ उक्त प्रभाव से इस उपन्यास में मौलिकता और मनीषता का गुण प्रत्यक्ष आ गया है, परन्तु वह उपन्यास किम प्रकार है यह प्रश्न यहाँ का था रह जाता है।

×

×

×

×

दिग्गज के नये उपन्यासों में आन्तरिक और स्थानीय रंग (Regional touch and local colour) की दृष्टि काफी बनी है। 'मैला अंगल' के प्रकाशन ने इस चर्चा को और गति दी है। उपन्यास में आन्तरिक रंग और स्थानीय रंग की में ग्राह्य प्रयोग नहीं मानता। उपन्यास में अधिक से अधिक यथायानुसारिता और स्वाभाविकता लान के लिए पहली भा उपन्यासकार किसी स्थान अथवा अन्तर्निवेश की भाषा, सात रवाज आदि का प्रयोग कुमार निरूपण करते रहे हैं। किन्तु 'मैला अंगल' जैसा आन्तरिक उपन्यास निश्चित रूप से नया म एक नया प्रयोग है। बात की स्वरूप से समझने के लिए आन्तरिक उपन्यास और उपन्यास में यथास्थान आन्तरिक और स्थानीय चित्रण के अंतर को समझ लेना आवश्यक है। अंतर उद्देश्य और प्रधानता का है। किन्तु अन्तर्निवेश की भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का चित्रण करना आन्तरिक उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य होता है, इस लिए उपन्यासकार वहाँ की भौगोलिक विशेषताओं के साथ साथ वहाँ के लोगों के जीवन स्तर, रीति रिवाज, त्योहार, धर्म, लोक विश्वास, भाषा आदि का चित्रण विशेष रूप से अपने उपन्यास में करता है, इससे लिए वह अन्तर्निवेश के बिना किसी रूप में इन विशेषताओं को उपन्यास में लाना ही है। ऐंग उपन्यास में क्या वह चित्रण, जीवन पैराम्प अक्षिप्त और इस

वैविध्य चित्रण में सहायक पात्रों का आधिक्य होता है। वयन की अधिकता के कारण आँचलिक उपन्यास में क्या काफी रुक रुककर चलती है, किंतु इससे रोचकता कम नहीं होती। अच्छे आचलिक उपन्यास में ऐसे वयनात्मक स्थलों में उल्लूक बोर्ड के स्केच जैसी—उससे भी अधिक—रोचकता होती है। दूसरी ओर ऐसे उपन्यास भी हैं या हो सकते हैं जिनमें आचलिक और स्थानीय रंग के हाते हुए भी, जिन्हें आचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए वृ. रत्नलाल वर्मा के उपन्यास अपना इस विशेषता के लिए प्रसिद्ध होत हुए भी आचलिक नहीं हैं। ऐसे उपन्यासों में नातावरण को आधिक सजाव और यथाय बनान और पात्रों में स्वाभाविकता लान के लिए, क्या के विकास क्रम में पारस्थितिक अशुक्ल यथास्थान आचलिक और स्थानीय रंगों—राति रिवाज, भाषा आदि का पुट दे दिया जाता है। इससे उपन्यास के क्या प्रवाह या रूप गठन पर आचलिक उपन्यासों की तरह का कोई असर नहीं पड़ता।

कण्ठीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल' आचलिक उपन्यास का एक उल्लूक उदाहरण है और सम्भवतः हिंदी का यह पहला आचलिक उपन्यास है। मेरे विचार से वही आचलिक उपन्यास अधिक सफल सिद्ध हो सकता है जिसमें क्या बुनने के लिए पूरी ऐसे अच्छे के चुना गया हो जिसकी विशेषताओं से लोग कम परिचित हों। साथ ही उपन्यासकार का उस प्रवेश के लोक जीवन से घनिष्ठ परिचय भी आवश्यक है। 'मैला आँचल' में पृथिवी जिले को लिया गया है। पृथिवी जिले की निश्चित रूप से कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, इन विशेषताओं में नेपाल, बंगाल, सवाल परगना और मिथिला आदि सीमावर्ती प्रदेशों का अपनी सार्वभौमिक विशेषताओं का प्रभाव भी मिला हुआ है। पृथिवी जिले ने एक गाँव को आधार बनाकर लखनऊ इस उपन्यास में इन विशेषताओं को ही मुख्य रूप से उभारा गया है। इसलिए गाँवों की जिंदगी को लेकर लिखे गए अथ उपन्यास से यह भिन्न कोटि का उपन्यास है। गाँवों की जिंदगी—विशेष रूप से इस अंचल की जिंदगी का जितना वैविध्यपूर्ण चित्र इस उपन्यास में मिलेगा, उतना सम्भवतः हिंदी के किसी अन्य उपन्यास में नहीं। एक गाँव की जिंदगी के इतने अधिक पक्षों का इतना सजीव और यथाय चित्र प्रस्तुत करने की दिशा में यह उपन्यास सम्भवतः प्रेमचंद के उपन्यासों से भी आगे बढ़ा हुआ है। किंतु इस उपन्यास के महत्व का आकलन करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इसका आचलिकता याद एक आर इसमें जीवन वैविध्य लान और यथाय का अधिक से अधिक सजाव बनाने में दोग लगा है, ता दूसरी ओर कुछ सीमाएँ भी बंध देता है। अतः सुनिश्चित कथानक और सशक्त चरित्र विधान इसमें नहीं मिलेगा। होरी की तरह का आँचल के किसानों का प्रतिनिधित्व करने वाला सशक्त चरित्र इसमें कोई नहीं है। कारण यह है कि इस उपन्यास का उद्देश्य एक किसान की सम्पूर्ण जिंदगी बताना नहीं, बल्कि एक गाँव की अथवा एक अंचल विशेष भा जिंदगी को सामने रखना है। गाँवों में अनन्क प्रकार के लोग रहते हैं और उनमें अलग अलग चारित्रिक विशेषताएँ होती हैं। इस उपन्यास में पात्र इन सभी चारित्रिक विशेषताओं को सामने रखने के लिए साधन रूप में आए हैं। एक गाँव की भौगोलिक स्थिति, उस स्थिति का वहाँ के निवासियों के जीवन पर प्रभाव, विभिन्न जातियों और समुदायों की स्थिति और उनका पारस्परिक सम्बन्ध, रीति रिवाज, धार्मिक स्थिति, राजनीतिक चेतना आदि का यथाय और सदा

विवरण देना ही इस उपन्यास का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की वृत्ति में उपन्यासकार निश्चित रूप से सफल हुआ है। यही कारण है कि इस उपन्यास के किसी भी पात्र में नायक होने की क्षमता नहीं है। उपन्यास का नायक मेरीगन गॉन ही हो सकता है, कोई पात्र नहीं।

साथ ही यह भी ध्यान में रखना है कि मेरीगन गॉन पिछड़े गाँवों का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है। जैसा कि उपन्यासकार ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने इस गॉन को पिछड़े हुए गॉन का प्रतीक मानकर अपनी कथा का चयन चुना है। अतः इसमें आन की बदली हुए परिस्थिति में भारतीय ग्रामीण जीवन के विनाश का गत्यात्मक रूप नहीं मिलेगा। उपन्यासकार का यह उद्देश्य भी नहीं है। उपन्यास को आन्तरिक रूप देने के साथ ही उसे कुछ हद तक इन सीमाओं में भी बँधना पड़ा है। ऐसे उपन्यास का समाजशास्त्रीय मूल्य ही उनकी अदृष्टता प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। इस दृष्टि से 'मैला ऑनिल' हिंदी में एक नया और महत्वपूर्ण प्रयोग ही है, साथ ही यह हिंदी उपन्यास की एक नई शिखा की शार भी सफल करता है।

गॉन की जिंदगी को लेकर नये लेखकों द्वारा चर्चा कई अच्छे उपन्यास लिखे गए हैं। इनमें डॉ॰ लक्ष्मीनारायण लाल का 'कथा का घोंसला और सॉप' तथा नागार्जुन का 'बलचनमा', 'नई पीढ़ी' और 'बाबा कटेसरनाथ' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें कथा शिल्प सम्बंधी कथा प्रयोग केवल 'बाबा कटेसरनाथ' में हैं। 'बाबा कटेसरनाथ' की कथा का अधिकांश एक पुरातन बट वृक्ष के द्वारा कहलाया गया है। इस वृक्ष अथ में मुख्य रूप से बट वृक्ष की ही आत्म कथा कहो गई है। कथा कहने की इस पद्धति का उद्देश्य बट वृक्ष की आत्म कथा कहना भी है, इसमें संदेह नहीं। किंतु उपन्यास के पूरे गठन की देखते हुए लगता है कि कथा और कथन की आत्म कहानी की तरह बट वृक्ष की आत्म कहानी बटना ही उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य नहीं है, यद्यपि प्रधानता उसमें बट वृक्ष की ही है। येकड़ों वर्ष की लम्बी छाया वाले बट वृक्ष के माध्यम से उपन्यासकार चार पाँच पूर्व से लेकर अब तक के १०० १५० वर्षों के लम्बे काल में गॉन की जिंदगी में होने वाले परिवर्तन का गतिविधि विवरण भी देना चाहता है। किंतु तुहरे उद्देश्य और स्थान के अभाव के कारण इतने लम्बे काल की दो घाराओं में बड़ी घटनाओं को उपन्यासकार ठीक से समेट नहीं सका है। साथ ही इतने लम्बे काल का कथा को रात भर में ही बट वृक्ष द्वारा कहलवाने के कारण उसमें विवरणात्मकता भी आ गई है और उसके कुछ अंश सचमुच ही 'प्रबचन' मालूम पड़ते हैं। बट वृक्ष की 'आप बीती' से निश्चित रूप से नागार्जुन की की मौलिक प्रतिभा और ग्रामीण जीवन से उनके घनिष्ठ सम्बंध का पता चलता है। यदि नागार्जुन की अधिक संभालने का लोभ थोड़ा संभाल पाते, तो शायद वे ग्रामीण जीवन के घनिष्ठ परिचय से प्राप्त अपने महत्वपूर्ण स्वयं की अधिक व्यापक रसर पर और अधिक सफलता से व्यक्त कर सकते।

अमृतलाल गंगर का हास्य प्रधान उपन्यास 'सेठ बोंबेमल' आगरा की बोल चाल की भाषा में लिखा हुआ अपने ढंग का अकेला उपन्यास है। भाषा और कथा शिल्प दोनों ही दृष्टियों से हिंदी उपन्यास में यह एक नया प्रयोग है। दुकान पर हाँ बैठे बैठे आगरा के सेठ बोंबेमल अपनी और अपने मित्र चौबेजी की जवानी के दिनों की मक्ता, जिंदादली और 'बट्टेदी' का कहानियाँ अपने भतीजे (चौबेजी के पुत्र) को विलकुल आगरा की वास्तविकता के लहजे में सुनाना शुरू करते हैं और दुकान बंद होने तक सुनाते रहते हैं। साथ ही इस कथन की दौरान वे अपने

वाने प्रादुर्भाव तथा अथ यक्तियों को भी बीच-बीच में निपटते जाते हैं। सेर वॉकेमल द्वारा कुछ हाथों के मातर कड़ी गई उनकी मन्त्री, 17 टागिली और बिजनेसो टाग में सम्प्रधी गण्य (म० गन्ध) ही इस उपवास की क्यास्तु है। उपवास का सारा आरूपण सेट वॉकेमल के यक्तित्व में निहित है, जो पुराने तपुर्वेकार बुन्दे की तरह हर किसी बात पर अपनी और अपने जमाने की तारीफ करना शुरू करते हैं, जिसमें गण्य का अर्थ ही अविक रहता है। पात्रों को अविक से अधिक यथाथ और स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करने तथा उनके अदुर्गुण स्वाभाविक भाषा के प्रयोग में नागर वा जैसी कुशलता कम उपवास्यवारी में पाद जाता है।

X

X

X

दिदी ने प्रयोगात्मक उपवासों के इस विचित्र से स्पष्ट है कि उनमें से अधिकांश में रूप शिल्प सम्बंधी नये प्रयोग किन्ना निश्चित उद्देश्य की सिद्धि के लिए किये गए हैं। प्रयोग के उद्देश्य को लेकर ही प्रयोग की साधकता और उसके मन्त्र पर विचार किया जा सकता है, तात्पर्य यह कि प्रयोग की सारी साधकता नवान रूप शिल्प के अवेषण के लिए बाध्य करने वाले उद्देश्य को लेकर है। उदाहरण के लिए 'सोया हुआ कल' में उपवासकार अनन्य यक्तियों के भावों, विचारों और कार्यों का समकालवर्तित्व दिखाना चाहता है, इसके लिए उस का यह होकर निरविवेक को अपनाता पड़ा है क्योंकि हिंदी उपवासों का किसी प्रचलित पदान द्वारा वह अनन्य इस उद्देश्य का पूर्ति नहीं कर सकता था। इस उद्देश्य की सिद्धि के साथ ही, उसने रूप शिल्प सम्बंधी नये प्रयोग की साधकता सिद्ध हो जाता है। यह अलग प्रश्न है कि जिस यथाथ का आभयक्त के लिए यह समकालवर्तित्व दिखाना चाहता है, वह कितने मन्त्र का है। सम्भव है कोई दूसरा उपवासकार यथाथ के आभयक्त को पहलू को दिखाने के लिए इसी पद्धति का सहारा ले। उन वास के महत्त्व और प्रेम्ता आन का आकलन करत समय अवश्य उनमें प्रयोग के महत्त्व के साथ साथ उन यथाथ की महत्ता और लघुता तथा अथ वदुतता काटा पर विचार करना होगा। यह कभी-कभी प्रयोगात्मक उपवासों के लिए जितनी सही है, उतना ही परम्परागत रूप शिल्प में लिखे गए उपवासों के लिए भी। फिर भी इस विचित्र से इतना तो स्पष्ट है कि आन के यथाथ का कोई पक्ष ऐसा हो सकता है जिसमें चित्रण के लिए कुछ ही तक नये रूप विधान का उपयोग आवश्यक हो जाता है। किन्तु प्रयोग की नवीनता बिलकुल मौलिक और नई उद्भावना में ही नहीं होती पुराने लेखकों द्वारा प्रयुक्त शैली का, उसमें भी परिवर्तन अवश्य। विस्तार लाकर अपने उद्देश्य के अनुरूप नये ढंग से, नये रूप में प्रयोग करने में भी उतनी ही नवीनता आ जाती है।

इन उपवासों के सम्बंध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन प्रयोगों द्वारा हिंदी उपवास एक नए दिशा का और मुक्त रहा और उनमें स्वस्थ सामाजिकता का प्रवृत्त के साथ ही, यथाथ के नये स्वरों का विकास हो रहा है। प्रयोग का दिशा में प्रारम्भिक प्रयत्न होने के कारण, जिनमें कई अभाव (गणक चारन ने अभाव का और सबसे पहली ध्यान जाता है) हो सकते हैं या है, कि तुलना दिशा में ये प्रयोग हो रहे हैं, वह दिशा स्पष्ट है, यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है। इसलिए आज के यथाथ की, मानव वास्तविक के सघटनात्मक और नैमाणात्मक तत्त्वों का विधान काव्यों से, जिनमें आयाया में विचारित कर सबन के लिए आज का उपवासकार जिन नई पद्धतियों का प्रयोग कर रहा है, उनका केंद्रल इसलिए

विस्कार नहीं किया जा सकता कि जिन उप-पाठों में ये प्रयोग किये गए हैं, उनमें अब दृष्टि से कुछ कमियाँ हैं, या टालस्टॉय, टिनेर या प्रेमचंद की तुलना में ये सामान्य कोटि के टकराते हैं। ऐसा करना साहित्यिक प्रगति की प्रक्रिया से अनभिज्ञता प्रकट करना तो होगा ही, साथ ही उसकी असीम सम्भावनाओं को लक्ष्य न करके प्रारम्भ में ही उसका सला घोंट देना होगा। निश्चय ही यहाँ से उन निरुद्देश्य प्रयोगों का समर्थन नहीं कर रहा हूँ जो केवल चर्चाने और सस्ती प्यासि प्राप्त करने के लिए ही किये जाते हैं।



यूगोस्लावियन साहित्य की वर्तमान समस्या

यूगोस्लाविया के प्रमुख साहित्यिक पत्र ने इस वर्ष अपने प्रथम अंकों में गत नवम्बर की 'नेओप्रा' में हुए एक साहित्यिक वाच विचार की कार्यवाही प्रकाशित की। इस वाच विचार का आयोजन 'यूगोस्लावियन लेखक संघ' ने किया था, जिसने लगभग सभी समकालीन यूगोस्लाव साहित्यिक सदस्य हैं। इस संघ के द्वारा आयोजित सभी समारोहों तथा सभाओं में यूगोस्लाविया के असाहित्यिक जन भी रुचि रखते थे। इसका प्रमुख कारण यह था कि ये समारोह प्रायः सामान्य जनता तथा देश के राजनीतिक जीवन में नवीन धाराओं का प्रदर्शन करती थीं और देश के सांस्कृतिक विकास को गत महायुद्ध के बाद ने काफी प्रभावित किया करती थीं।

'नेओप्रा' में हुआ यह साहित्यिक वाच विचार समकालीन यूगोस्लाव साहित्य में कोई युगांतकारी घटना नहीं मानी जा सकता। कला और साहित्य के सम्बन्ध में होने वाले तत्कालीन साहित्यिक क्रांतियों को हम नहीं देख सकते। परन्तु इस अंतिम वाच विचार ने तो लोगों की चिन्तन पद्धति को उतना भी परिवर्तित नहीं किया जितना कि पहले के वाच विचार किया करते थे। फिर भी 'नेओप्रा' के परिष्कार ने यूगोस्लाव के साहित्य तथा संस्कृति की एक प्रक्रिया को पूर्ण रूप दिया, जो वहाँ कुछ वर्षों पूरा प्रारम्भ हुई थी। निश्चित होती हुई कई चिन्तन धाराएँ इसमें कुछ और परिष्करण तथा निश्चित हुई हैं तथा कुछ नवीन विचारों का आभाव भाग मिला है।

1 प्रस्तुत निबन्ध में यूगोस्लाव साहित्य की चर्चा है। कि तु वस्तुतः यूगोस्लाव साहित्य काई एक नहीं है। २०वीं से २१वीं शताब्दी तक एक प्राच्य स्लाव साहित्य वर्तमान या भविष्य सभी स्लाव भाषी थे—दक्षिण (स्लोवीन क्षेत्र, सैन्य मैसीडोनिया-सर्बिया), पश्चिमी (एक स्लाविक पश्चिम) तथा पूर्वी (रूसी, यूक्रेनियन और पूर्वी रूसी)। तब से कुछ शताब्दियों पछित हो गई और वे पारस्परिक सम्बन्धों के समस्त स्लाव भाषियों को बाँध हुए वे भौगोलिक दूरी, चिन्तन वैशिष्ट्य तथा राजनीतिक और धार्मिक शक्तियों के प्रभाव के फलस्वरूप हुए गये। तब से दक्षिण (यूगोस्लाव) भाषी ने अपने आपका स्वतन्त्र राष्ट्रीय वर्गों में विकसित कर लिया। १९१८-२० तक दक्षिण स्लाव (सर्बियन भाषी के अतिरिक्त) एक संयुक्त राष्ट्र बना चुके थे। परन्तु यह सब का प्रत्यक्ष फलस्वरूप नहीं हुआ वे और विभिन्न भाषाएँ तथा परम्पराएँ स्लाव भाषी वर्गों के समस्त समोडोनिया साहित्य का भाग बन चुकी हैं। परन्तु फिर भी एक विन्शति के लिए उनमें विरोध की अपेक्षा समानता ही अधिक दिखाई देती है। इसीलिए एक यूगोस्लाव साहित्य की चर्चा करना सम्भवतः बहुत गलत न होगा।

१

दिसम्बर १९४६ में पारिजेत में हुई यूगोस्लाव लेखक संघ की द्वितीय कांग्रेस के अवसर पर प्रथम बार साहित्यिक प्रश्नों पर नये ढंग से बात शुरू हुई। कांग्रेस की पहली बैठक में एक नये लेखक पेंटर शेगेदिन का साहित्यिक आलोचन पर भाषण अत्यंत महत्वपूर्ण था।

शेगेदिन साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में मार्क्स लेनिनीय पद्धति को अपनाने तथा एक पथार्थवादी एवं समीक्षा शास्त्र को निश्चित करने का समर्थन कर रहा था। वह उस युद्ध का भी समर्थक था जो 'हर पतनो मृत्यु, आकाशमर्क तथा अस्वस्थ' प्रवृत्तियों को साहित्य से निष्काशित करने के लिए भूल रहा था, क्योंकि इस प्रकार का युद्ध युवाओं तथा तंत्रों के अक्षय के निरुद्ध था। पर उक्त भाषण प्रायः समस्त रूप से यूगोस्लाव साहित्य में उद्भूत होने वाली कुछ 'नकारात्मक प्रवृत्तियों' के विरोध में था, जो "हमारे अपने जीवन की परिस्थितियां तथा उन नियमों के कलस्वरूप था जो हमारे बलात्कृत प्रयोगों के दौरान में परीक्षित नहीं हुए थे।"

उसने सावधान होने की सलाह दी "मनुष्य इतिहास का निर्माता है और वही उसका निर्धारक है, अतः यद्यपि वह मार्क्स लेनिनीय सौन्दर्य शास्त्र के सिद्धांतों के अनुकूल चले भी फिर भी वह प्रायः गलत रास्ता पकड़ सकता है (ऐसा सोचन में)। यही मरन उद्घाटन समीक्षा की कसौटी का।"

अपने भाषण में शेगेदिन ने मार्क्स की "१८४४ ई० की आर्थिक तथा दार्शनिक पाण्डुलिपियों से एक ऐसे स्थल से उद्धरण दिया जहाँ पर उसने अपनी 'मानवीय भावना सम्बन्धी' धारणा की परिभाषा दी है और इसे समकालीन यूगोस्लावी साहित्यिक आलोचना की कुछ प्रवृत्तियों के विरोध में दिखाया है।" हमारे आलोचकों ने प्रायः सीमित राजनीतिक प्रयोगों के लिए पक्षपर साहित्य के सिद्धांतों की गलत समझ है और ऐसा करने में वे तात्कालिक आवश्यकता से प्रभावित हुए हैं और मार्क्स के उस वाक्य को भूल गए हैं, जिसके अनुसार, गहरी तात्कालिक आवश्यकता से बने हुए भाव एवं एकात्मिक अर्थ होता है। एक समीक्षक, जिसने एक सक्रिय आदर्श के समक्ष अपने आपको झुका दिया है, जब 'स्वामाधिकार मानव की सद्गुणता' की भावना को अलग रख देता है तब वह केवल इसी विश्वास से अभिभूत रहता है कि उसे एक मतवाद के लिए आवश्यक रूप से कार्य करना है और इस प्रकार कार्य करने से वह उस घरातल पर पहुँचता है जिसे मार्क्स ने 'मानवीय भावना' के नाम से सम्बोधित किया है और भी, "जब (साहित्य का) एक सामाजिक तथा वर्ग नियमन एक सक्षम 'वावहारिक इतिहास, जो मानवीय मूल्य को सीमित करता है, बदल जाता है, तो उसके घातक परिणाम अवश्यभावी हैं।"

"मैं नये लेखकों की कविता की समीक्षा पर रहा था और मैं उसकी गतिविधि देखकर दुःख हुआ। एक भी कविता, एक भी चरण मार्क्स के अर्थ में आलोचना का विषय नहीं बन सका (मेरा नियम वही बन सकता है जो मेरे अस्तित्व की भावना को छुट करे)। एक क्रोध की बातचीत बहुत आवश्यक है, उसमें ज्ञान के बड़े भण्डार का प्रयोग हुआ है—केवल इन पक्तियों को छोड़कर

हेम त का महीना था हम सब बच्चे थे,
और सभी मैंने किस्मत को देखा
उसने मुझे आधी की आधी पेस्ट्री दी
और गहरी भावना से उमने सिर मुका लिया ।

आलोचक लिखता है 'कभी कभी जीवन के प्रति यह निरक्षल दृष्टिकोण जब सामयिक समस्याओं से अलग हो जाता है तो कुछ आभावनाओं को जन्म देता है ।'

'यह निरक्षर ही महान् कविता नहीं है शायद मौलिक भी नहीं है । पर मैं कहता हूँ कि मैं उस व्यक्ति के साथ कठिनाई से ही रह सक्ता हूँ जिसको इस प्रकार की कविताएँ सामयिक समस्याओं से सम्बद्ध नहीं दिखाई देंगी । जैसा कि कवि कहता है, मनुष्य को इस 'किस्मत' से घचित क्यों रखा जाय ? और वह भी किस नाम पर ? शौच के नाम पर, दुःख के नाम पर, बुद्धिमत्ता के नाम पर, त्याग के नाम पर ।'

अपने मापण के दौरान में, साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में विकसित क्रान्तिकारी नायक की ओर संकेत करते हुए शेगेदिन ने इस बात पर बल दिया कि कोई भी नायक वहाँ नहीं रह सकता जहाँ 'मानवीय भावना' छुट हो गई है । 'वह एक राक्षस हो सकता है, परन्तु मानवीय नायक नहीं ।'

शेगेदिन ने फॉर्मलिज्म तथा टिन्डेडेंस के विरुद्ध किये जाने वाले आक्रामकों की भी चर्चा की । उसने 'वस्तु तत्त्व' के लिए उस पागलपन को दिखाया जिसने एक ऐसे वातावरण को जन्म दिया जिसमें 'रूस' से सम्बंधित किसी भी विवेचना की सन्देश की निगाह से देखा जाने लगा । उसके अनुसार 'रूप' का यह तिरस्कार भी टिन्डेडेंस का ही एक उदाहरण है ।

२

ज्ञान के यूगोस्लाविया में शेगेदिन का मापण सम्भवतः ही किसी की स्पर्श कर सकता है । लगभग छह वर्ष के बाद जब उस पर लोग केवल मुनकरा देते हैं ।

१९४१ से स्थिति में काफ़ी परिवर्तन आ गया है ।

तब से यूगोस्लाव के साम्यवादी यह समझ गए हैं कि अपने आंतरिक नियमों से विकसित होने वाले समाज अथवा वर्ग विनिर्मित समुदाय की माकसद भावना का उन सामान्य निर्वास से कुछ भी सम्बंध नहीं है, जिसके अनुसार 'जातन के सभी क्षेत्रों को' एक संगठित ढंग से प्रभावित किया जा सकता है, चाहे वे मानवीय हों अथवा अमानवीय हों । एक आधुनिक यूगोस्लाव की दृष्टि में एक दल के लिए एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को संगठित करवाना बहुत कठिन है, मने ही उसके ऐतिहासिक उद्देश्य महान् हों ।

शेगेदिन का मापण साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से भी बहुत ऊँचा नहीं माना जा सकता । इसकी कठोर सिद्धांतवादिता धकाने वाला है । मानवीय मरणा के मानवीय विचार पर उसका अधिक बल देना समुचित नहीं था और जब यह मानवीय भावना साहित्यिक वातावरण में दुर्दराया जाने वाला सामान्य भाव हो गया तो शेगेदिन के निष्कर्ष महत्वपूर्ण नहीं रहे वरन् एक सामान्य अस्मन्वद अथ अधिक महत्वपूर्ण हो गया जो उक्त शास्त्र से सम्बद्ध कर दिया गया । कुल मिलाकर शेगेदिन का मापण एक विराट् परम्परा तथा स्पष्ट अनुसंधान के रूप

में नहीं था बरन् यह एक इमानदार तथा सादरपूर्ण वस्तुता थी। उसकी समीक्षा दृष्टि (निर्णय के सिद्धांत का प्रश्न ?) नई थी। यह तथ्य तो और भी नया था कि एक ऐसा व्यक्ति जो राजनीति के क्षेत्र में प्रसिद्ध नहीं था बिना किसी दलगत नियंत्रण के यूगोस्लाव साहित्य के सम्बन्ध में अपना मत दे सके।

कोमिनफॉर्म के यूगोस्लाविया पर आक्रमण (१९४८-६०) के बाद से एक वास्तविक परिवर्तन हुआ। पणिच स्कूलों की कुट्ट समस्याओं पर सेंट्रल कमिटी द्वारा एक प्रस्ताव पास किये जाने के बाद, जिसके अनुसार व्यक्ति को साम्यवादी अर्थानुसार स्वतंत्र बनाया जाय, उक्त परिवर्तन हुआ। यूगोस्लाविया की संस्कृति में राजनीतिक मतवाद पर यह पहला आक्रमण था। प्रथम बार विभिन्न मतों के स्वतंत्र सन्तर्पण का अनुमोदन किया गया।

द्वितीय कांग्रेस के अवसर पर शोबेदिन के भाषण की प्रशंसा भी हुई और उसका विरोध भी किया गया। पर पत्रिकाओं में भी कुट्ट गिर्नों से बाद विवाद चल रहे हैं। शापट से बाद विवाद पूर्णतः दृश्य नहीं थे। कम से कम एक क्षेत्र में तो इसका आभाव शोबेदिन के मापण से भी मिला था।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे समीक्षकों पर भी आक्रमण चलते रहे जिन्होंने पहले कभी जैगोवग का अनुसरण किया था। रायान जोगोविच, सेंट्रल कमिटी के प्रचार विभाग का भूतपूर्व सदस्य तथा एक प्रावधानान्तरित इत प्रचार के धारकों के लिए विशेष रूप से उद्युक्त समझा गया। तभी उसने अपने आपको यूगोस्लाविया के विरुद्ध कोमिनफॉर्म के प्रस्ताव के समर्थक के रूप में घोषित किया।

३

प्रथम महायुद्ध के दौरान में नवयुद्ध यूगोस्लाव लोकता की एक पीढ़ी ने दिया तथा पाश्चात्यता के वातावरण में इसी जाति का स्वागत किया और उसके द्वारा साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध का समर्थन किया। युद्ध के बाद एक राजा की गानाशाही में आर्थिक निधनता से बचके एक पिछड़े हुए बालकन देश के मिनासी के रूप में वे साम्यवाद की ओर उल्टे हुए। उनका आदर्श था "एक ऐसा समाज, जिसमें एक का स्वतंत्र विकास उसके स्वतंत्र विकास की अपेक्षा रहता है, जैसा कि एक शताब्दी पुन के घोषणा पत्र में कह रखा था। उनके साम्यवादी आदर्श में एक ऐसा समाज था जिसमें राज्य की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है और यह फिर कभी फिर नहीं उठती। फ्रेडरिक एंगेल्स के समान ही उनके लिए सामाजिक जाति का अर्थ था 'मानवता का आन्तरिकता के क्षेत्र से उठकर स्वतंत्रता के क्षेत्र में प्रवेश।' एक कह रखा तथा उक्तचित समाज का सामना करते हुए वे अकेले ही स्वतंत्र जीवन तथा स्वतंत्र अनुसंधान के वातावरण के लिए पन्नीस वर्ष तक लड़ते रहे। इस प्रकार वे काल मानव के विरुद्ध थे जिसने अपना म्रिय मुहानरा बताया था प्रत्येक वस्तु सदैव है।

१९३३-३८ में ही कुछ दूरदर्शियों ने यह देख लिया था कि 'सामाजवाद के प्रथम देश' में कुछ गड़बड़ चल रही है। उन्होंने अपने धर्म के अपने सम्मुख वस्तु बिधे पर उ-होंने अपनी बात मुलायमित्त कही, क्योंकि इसकी दूरदर्शिता घटनाओं पर उचित निष्कर्ष एका एक देना पड़ता था, इसलिए और भी क्योंकि जिस समस्या के द्वारा उन्हें वे समाचार

मिचते थे, उन्की तत्पयता तथा इमानगारी में उन्हें पूरा ॥ देह था ।

इसके बाद फासिस्ट खतरा आया, और फिर युद्ध का प्रारम्भ हुआ । फासिस्टों ने देश पर कब्जा कर लिया और उन सबको उड़ौने सहयोग दिया जो उनकी सहायता करना चाहते थे । और यूगोस्लाव राष्ट्रीय के सभी जिगोवादी उन्हें सहयोग देने के लिए तैयार थे, क्योंकि इसके लिए उन्हें उनके चर्चों ने प्रोत्साहन दिया था । उस युद्ध में सभी चर्च घृणा ॥ प्रचार कर रहे थे, राइफल और प्लाक को घम पाखतन का माध्यम बनाया गया था । १७ लाख यक्ति अर्थात् प्रति १० यूगोस्लाव यन्त्रियों में से एक यन्त्रित मारा गया था । इस युद्ध में यूगोस्लाव की कम्युनिस्ट पार्टी भ्रातृत्व तथा एकता के नारे के साथ लड़ रही थी । इस प्रकार युद्ध की कान्ति में बल दिया गया था । न केवल युद्ध पूर्व युग के वाम पक्षी लेखक बल्कि लगभग सभी महत्वपूर्ण यूगोस्लाव लेखक इसमें सम्मिलित हो चुके थे । तभी युद्ध की समाप्ति हुई और राष्ट्र का नव निर्माण प्रारम्भ हुआ । इस बात से क्या अंतर पड़ता था, यदि कई साहित्यिक मित्राता की बलि अन्तिम लक्ष्य के लिए दे दी गई ।

तभी १९४८ ई० में कोमिन्फार्म का प्रस्ताव आया । इससे बड़ा घटका लगा । कुछ तो इसे सहन नहीं कर सके । जो कर भी सके उन्होंने बहुत-सी बातों को मधे प्रकाश में देखा । उदाहरणार्थ उन्होंने समझा कि यदि लक्ष्य प्राप्त करना है तो कुछ भी त्याग करने का आवश्यकता नहीं, तथा जिस माध्यम से कोई यावत् एकत्र माग पर आया है उस वह माग पर चलन के समय भूल सकता है ।

पिछले तीस अथवा चालीन वर्षों में एक सामान्य यूगोस्लाव बुद्धिजीवी का इतिहास लगभग इसी प्रकार का रहा है ।

इस सम्बन्ध में और भी विस्तृत विवरण दिया जा सकता है—उदाहरणार्थ मिरोस्लाव कुलेजा का ।

४

१९५३ ई० में मिरोस्लाव कुलेजा की ६० वीं वर्षगांठ मनाई गई थी । उस समय बहुत से प्रशंसकों के लिए कुलेजा निर्विवाद रूप से सबसे महान् लेखक था । कुछ लोग तो उससे यूगोस्लाव इतिहास का सबसे महान् यन्त्रित्व मानते थे । आलोचक उस समय पिछले ३ या ४ दशकों की कुलेजा युग कहकर अभिहित करते थे । जो लोग इतना नहीं मानते थे उनके लिए मा कुलेजा एक प्रतिभावान् लेखक तो था ही । अस्तु उस समय उसके बारे में कुछ खरी बातें भी बही गई थीं, यद्यपि आज यह निश्चित रूप से माना जाता है कि कुलेजा अभी सबसे विवादास्पद लेखक है ।

जो मा हो अच्छा हो या बुरा कुलेजा का प्रभाव यूगोस्लाव के धार्मिक तथा साहित्यिक वातावरण में अत्यधिक था । जब प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर उसने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया जिसके पूर्व उसके प्रारम्भिक प्रयत्नों को कोई मान्यता नहीं दी गई थी, तो उसके युद्ध गाथा तथा प्रताकात्मक नाटकों ने (जो अभिनेय नहीं हैं, यद्यपि कुलेजा के अनुसार वे अभिनेय हैं) लोगों को सबसे अधिक प्रभावित किया ।

जैसे जैसे समय यतीत होता गया आध्यात्मिक सत्या में बुद्धिजीवी तथा साहित्यकार

कुलेजा की रचनाओं की ओर ध्यान देते गए । लगभग समस्त दो पीढ़ियों उनके कुलेजा के प्रति दृष्टिकोण के आधार पर विभक्त किया जा सकता है । यूगोस्लाव साथ म कुलेजा शैली की माता पीता दी गई और उनका प्रभाव अब भी कम नहीं हुआ है । इससे भी अधिक कुलेजा अपने सहयोगियों की एक दृष्टि दे रहा था । लगभग सभी महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर उसकी रचनाएँ उपलब्ध हैं ।

प्रथम पंद्रह वर्षों तक कुलेजा पर दक्षिण पक्षी दला तथा रूढ़िवादी साहित्यिकों के आक्रमण होते रहे । वामपक्षीय आक्रमण प्रथम बार १९३३ में हुआ ।

५

१९३० के आस पास सोवियत यूनियन में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे । प्रथम निष्कासन का युग था और नज़्म तथा साहित्य में प्रथम बार निरोध हो रहा था । उसी समय पादा के साहित्य सम्मेलनियों की घोषित किया गया और सोवियत लेखकों की प्रथम कांग्रेस (१९३४) की तैयारी होन लगी । 'सामाजिक न्यायवाद' का कार्यक्रम निर्धारित हुआ । उसके अनुसार कानूनों का प्रथम महत्त्वपूर्ण मापण हुआ ।

१९३३ द० में कुलेजा ने दूरस्थ हेरोडुशिय के चित्रों के सफलन की भूमिका लिखी जिसे प्रायः 'कुलेजा की भूमिका' कहा जाता है । इस भूमिका में कुलेजा के कला और साहित्य सम्मेलन निर्धारित थे । भूमिका में कुलेजा ने कहा कि "कला इसी दुनिया की चीज है, उसमें दिव्य तत्व भी नहीं है ।

"निरस्त वेद सो-तुर्बल तटस्थ तथा इस सतत सारे नहीं हो सकता । परन्तु एक कला कृति का सामाजिक प्रभाव प्रायः घटा नहीं हो सकता जिसे कलाकार चाहता है और कभी कभी तो किसी कला कृति का प्रभाव लेखक की कोई इच्छा न रहने पर भी बहुत व्यापक हो जाता है । इसके अतिरिक्त एक ही कृति का प्रभाव विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार का हो सकता है और इसलिये किसी कला कृति का मूल्य अँगूठे से लिए उसका सामाजिक प्रभाव बसोटी नहीं माना जा सकता ।

भूमिका के प्रकाशित होने के कुछ ही दिनों बाद किहीं अज्ञात महोदय ने एक वामपक्षी साहित्यिक पत्रिका में कला पर आक्रमण किया । उस लेखक ने कुलेजा की विश्वासघाती सिद्ध किया और कहा वह दक्षिण पक्षी होता जा रहा है । वह कला के सामाजिक अर्थ को नहीं समझ रहा है । वह अशिक्षितता का समर्थक है । कुल मिलाकर कुलेजा मापस्यवादी न होकर पतनी गुप्त तथा सुश्रुति है । उसकी कृतियाँ में निराशावाद भरा हुआ है और वह जीवन के अंधकारमय पक्ष को ही चित्रित कर रहा है ।

इस अज्ञात लेखक को उस समय कोई सहयोग न मिला था । फ्रयुनिस्टर पार्टी के दाएँ, बाएँ धाने वाले साहित्यिक पक्षों ने उसका कुलेजा आम विरोध किया ।

और सभी यूगोस्लाविया भी युद्ध में सम्मिलित हो गया ।

६

युद्धोपरात व कुलेजा की स्थिति आरम्भ में कुछ विचित्र थी हो गई । वह राजनीतिक

तथा सामाजिक समस्याओं पर विशेष रूप से लिख रहा था और उसका समर्थन क्रान्ति के लिए था। परन्तु साहित्य के बारे में उसने कुछ भी नहीं लिखा। यह अनुमान लगाना कठिन है कि उसके मौन का कारण वह बाद विवाद था जो बड़ी असुखद परिस्थितियों में समाप्त हुआ, अथवा गलत धार्ता में भाति का विरोध करने के लिए उसकी अनिच्छा ही इसका प्रधान कारण थी।

कोमिनफॉर्म के प्रस्ताव (१९४८ ई०) के बाद ही कुनेजा ने फिर यूगोस्लावी साहित्यिक वातावरण में प्रवेश किया। एक प्रकार से उस समय की नाटकीय घटनाओं में कुनेजा की आत्मा उपस्थित थी। विश्वास की अपेक्षा चिन्तन का प्राधान्य, आदर्श की अपेक्षा तर्क के प्रति सम्मान, अविश्वासियों के प्रति अदृष्टि—यूगोस्लाव कम्युनिस्ट आन्दोलन की विशेषताएँ रही हैं।

यूगोस्लाव लेखक सत्र की दूसरी कांग्रेस के अवसर पर कुनेजा की याद सबको आई। पेत्र गेगेदिन के भाषण के माध्यम से उसके प्रभाव का मान लोगों को हुआ। कांग्रेस के अवसर पर वह स्वतः भी बोला। वह राजाआ और सम्राटों तथा रोम और बाइबिलीयम के महत्तों तु स्क्वान् लुनूस के बारे में कह रहा था जो दक्षिण स्लाव देश में रक्त तथा मृत्यु की राख लिये अतीत के एक हजार वर्ष पूर्व से आ रहा था।

और यह लुनूस अब एक दूसरी ओर से भी आ रहा था। 'मानवीय आत्मा के सृष्टाओं' में से एक ने 'बुडापेस्ट ट्रायल' के शिकार व्यक्तियों के बारे में लिखा कि अपनी समा अनैतिकता के साथ वे 'टीटोवादी जटु' अदालत में उसी प्रकार खड़े थे जैसे मध्यकालीन जादूगरनी। मार्क्सवाद की दृष्टि से मैनीफेस्टो के एक शताब्दी बाद मध्यकालीन जादूगरनी प्रश्नकारी अदालत के सम्मुख अपनी सारी अनेतिकता के साथ खड़ी हुई हैं और वे एक निर्णीत हत्या की अपराधी नहीं बरन् टीटोवादी जटु हैं। इसीको मार्क्सिय तर्क शास्त्र कहते हैं, जिसके बारे में सदेह करना खतरनाक है, क्योंकि ये उदार आलोचक तथा 'मानवीय आत्मा के शिल्पी' हमारे घर के चारों ओर पॉली के स्थल बना रहे हैं।

तीसरी कांग्रेस के अवसर पर मिरोस्लाव कुनेजा साहित्य की प्रवृत्तियों के बारे में फिर बोल रहा था। उसने कहा कि यूगोस्लाव लेखकों को ऐसी प्रवृत्ति का विरोध करना चाहिए, जो कला को किसी राजनीतिक वाद का अनुयायी बना देती है। यह प्रवृत्ति समकालीन सोवियत सौंदर्य शास्त्र की पश्चिमी यूरोप के १९वीं शती के बुद्धिमान उपयोगितावादी सिद्धांतों से द्वितीय सामाजिक तथा प्रजातांत्रिक इंटरनेशनल के माध्यम से मिला। इसी प्रकार उनको ऐसी धार्मिक, रूढ़िवादी तथा साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का भी विरोध करना चाहिए जो साहित्य को किसी भी रूप में पक्षधर बनाना चाहती हैं। परन्तु यूगोस्लाव लेखक भी उस समाज के प्रति तटस्थ नहीं रह सकते जो निरपेक्ष पश्चिमी यूरोपीय सौंदर्य शास्त्र का प्रचार कर रहा है। समाजवाद के लिए सर्वप्रथम वस्तुतः मनुष्य के तथा उसकी जीवन पद्धति के मानवाकरण के लिए

१ सितम्बर १९४७ ई० में बुडापेस्ट में लास्लोराय तथा अन्य प्रार्थों पर अमेरिका जासूस विभाग के सरक्षण में टीटो द्वारा आयोजित जासूसी तथा विद्रोह के लिए मुकद्दमा चलाया गया। अभियोगी ने अपराध स्वीकार किया। लास्को को राज्य स फॉर्सो मिली। सजा से बचकर जो लोग काशगार गए वे थोड़े दिन हुए, निर्दोष कहकर बरी किये गए हैं।

समर्प के प्रतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः प्रत्येक इमानदार कला कृति इस समय में समाजवाद को सहयोग देती है। इस भास से पिल्ज़नी अतान्नी के 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को मानने वाले कलाकार भी सामाजिक रूप से प्रगतिशील थे। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि दृष्टर के अभास में भी एक अश्रद्धा चित्र बनाया जा सकता है। वे मोसगोषा के कथानकों पर आधारित धार्मिक चित्रावली के विरोध में थे, जो शताब्दियों से यह सिखा रही थी कि इस ससार को सदैव ही अश्रु तथा रुदन से अश्लाघित रहना है।

जनवरी १९५४ ई० में विनोवान जिलास यूगोस्लाव की सचीय कम्युनिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया। जिलास की राजनीतिक पद्धति को यदि हम छोड़ दें तो कहा जा सकता है कि उसने यूगोस्लाव साहित्य की बहुत बड़ी सहायता ऐसे समय में की थी, जब वह (साहित्य) समाज में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा था।

जिलास के पतन के पश्चात् कुछ ऐसी मरिण्य वाशियाँ की गईं जिनके अनुसार साहित्य में फिर से पार्टी प्रतिबंध लगाए जाने की आशंका थी। उसी समय लेखकों के एक समुदाय ने जिलास के विरुद्ध आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। इस तीरी शान विवाद में यह पता चलाना कठिन हो गया कि वे लगाने हुए आरोप कहीं तक सही हैं। सम्भवतः इनमें कुछ सत्य का अंश रहा हो, यद्यपि 'मोसगोषाओं' सच के व्यक्तियों का प्रभाव बेमोप्रेड के अतिरिक्त और किसी साहित्य क्षेत्र में अनुभव नहीं किया गया। इस समय यह बात अधिक महत्वपूर्ण थी कि 'मोसगोषाओं' के उन आरोपकों ने इस बात में अधिक दिलचस्पी दिखाई कि वे साहित्य के सत्य में पार्टी की नई विचार धारा का निमाण कर सकें और उसका प्रतिनिधित्व कर सकें यह अनिश्चय कुछ समय तक ही चला। फिर यह बताया गया कि एक राजनीतिक संगठन के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी किसी विशिष्ट साहित्यिक वर्ग अथवा मायता का समर्पण नहीं करना चाहती और सिद्धान्तों के प्रश्न पर साधारणतः सच के सहारे वह हस्तक्षेप कर सकती है। इसके अतिरिक्त कोई शासकीय हस्तक्षेप नहीं होने दिया जायगा।

७

यूगोस्लाव लेखक-समूह द्वारा आयोजित पिल्ज़नी नाद-विवाद (नवम्बर १९५४) ने एक निभाजित चित्र उपस्थित किया, ऐसा चित्र जो इसके पूर्व पिल्ज़से महापुत्र से लेकर अब तक कोई साहित्यिक नाद विवाद उपस्थित न कर सका था।

ऊपर से देखने पर जान पड़ेगा कि जो मत वैभिन्न्य समस्याओं को लेकर कुछ दिनों से चला आ रहा है—'यथार्थवादी' और 'आधुनिक', 'परम्परावादी' और 'ऐहिक वर्गीय', 'पुराने' और 'नये' के बीच सदा रहता है। फिर भी यह मत वैभिन्न्य प्रायः दिखावे के लिए थे। जैसा कि हम ऊलेशा को लेकर कुछ नवयुवक लेखकों ने बल देकर कहा भी था, अथवा उससे भी अधिक बल देकर जो बातें उस वर्ष के प्रथम महीनों में होने वाले नाद विवाद को लेकर कही गई थीं।

एक वास्तविक नाद विवाद होने की अपेक्षा बहुत बेमोप्रेड में होने वाला यह नाद विवाद लगभग तीस भाषाओं का एक संकलन अधिक था। व्यक्तिगत लेखकों की समस्याएँ प्रायः विभिन्न चिन्तन पद्धतियों से सम्बद्ध थीं। उनकी भाषा और उनका दृष्टिकोण भी उतना

ही विभिन्न था। जब कभी वे एक ही शब्द को एक से अधिक बार कहते थे, तो निश्चय ही उनके अर्थ अलग अलग होते थे।

स्वभावतः एक ऐसे वाद विवाद का सक्षिप्त रूप देना इतने कम पृष्ठों में सम्भव नहीं। यही नहीं ऐसा लगता है कि प्रस्तुत निबंध में यह अधिक उचित भी नहीं! पाठक को यह श्रम हो सकता है कि युगोत्पादित आलोचना अब एक ऐसी सन्क्रांतिकालीन स्थिति में है, जैसी स्थिति दसरे पू्य के तीसरे वाद विवादों में भी नहीं रही (वस्तुतः नियमित रूप से होने वाले मत वैभि य साहित्य के लिए एक शुभ लक्षण हैं)। सम्भवतः यह सन्क्रांतिकालीन स्थिति कोमनफार्म के प्रस्ताव के बाद वाली स्थिति से साम्य रखता हो, यद्यपि इस बार साहित्यिक समस्याएँ नैतिक और राजनीतिक प्रश्नों से भी अधिक उलझ गई हैं। यह आशा की जा सकती है कि इस सन्क्रांतिकालीन स्थिति में से नये मूल्यों का उदय होगा, यद्यपि वे मूल्य नवीन तथा उत्कृष्टतर होने पर भी अतिम नहीं बहे जा सकेंगे। फिर भी वेओग्राद के इस बाद विवाद को पिछले साहित्यिक झगड़ों को लय करने वाला माना जा सकता है, यद्यपि इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि कुछ नये साहित्यिक प्रश्न फिर से उभरकर आवें। अतः इस सम्बन्ध में पूरा विचार भविष्य के सदर्भ में ही हो सकेगा।



प्रस्ताव प्रश्न

डॉ० रामूनाथ सिंह

लेखक का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण है

साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न आज के युग का कोई बिलकुल नवीन प्रश्न ही ऐसी बात नहीं है। पूर्ववर्ती युगों में भी साहित्य में यौन सम्बन्धों का मग्न और अतिरक्षित विषय बहुत अधिक मिलता है। कालिदास ने 'कुमार सम्भव' के आठवें सर्ग में तथा 'मेघदूत' में कुछ स्थलों पर नैथी अश्लील उपमाएँ दी हैं वैयास के साहित्य में भी बहुत कम मिलेगा। संस्कृत और हिन्दी के ऐतिहासिक साहित्य में शृङ्गार के अन्तर्गत नायक नायिका के नख चिख लौ-दर्प, हास भाव वेशा, अट्टमाव, दूती, अमिताभ तथा काम विलास के विविध पक्षों का इतनी एतदमता और विस्तार से वर्णन किया गया है कि उन्हें आज के युग में सम्य समाज में सुहराना भी लज्जास्पद माना जाता है। और तो और, हिन्दी के भक्त और सन्त कवियों में भी कहीं कहीं यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। अतः अश्लील विषय आज के साहित्य की यह वस्तु नहीं है। फिर भी आज इस प्रश्न ने जैसा रूप धारण कर लिया है वैसा पूर्ववर्ती युगों में कभी नहीं था। वस्तुतः यह प्रश्न आज के उच्च और प्रबुद्ध पाठकों, आलोचकों और चिंतकों के सम्मुख एक सम्मीर समस्या का रूप धारण करके उपस्थित हुआ है। अतः इस सम्मेलन में इसे दृष्टिकोण से तथा साहित्य की उसके सामाजिक परिपार्श्व में रखकर विचार करने की आवश्यकता है।

मातृव्य का आधुनिक युग से पूर्व का वेद ह्वार वर्षों का साहित्य सामन्ती युग में निर्मित और विरचित साहित्य है। सामन्ती युग में समाज के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक ढाँचे की तरह सांस्कृतिक और लौ-दर्शनोपार्थक, न्यायोशीलता और कवियों का स्वरूप भी सामन्ती वर्ग राजा, सामन्त, सेठ साहूकार आदि के उत्कार व्यवहार और विचार परम्परा के अनुरूप निर्मित होता है। इस वर्ग की अवकाशमय विनाशिता और नारी सम्मेली दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब तत्कालीन साहित्य में बहुत स्पष्टता से दिखाई पड़ता है। निकायशील सामन्त युग के साहित्य में शृङ्गारिकता की यह प्रवृत्ति उतनी ऐकान्तिक और आत्मनिक रूप में नहीं मिलती जितनी परवर्ती हासो-मुल्ल सामन्ती युग में। हासो-मुल्ल सामन्ती युग (जैसे हिन्दी का रीति काल) के सामाजिक ढाँचे के भीतर साहित्य विलास का साधन मात्र था, अतः उस काल के साहित्य में अश्लील चित्रणों की अधिकता स्वाभाविक है। सम्भवतः उस समय की सामाजिक चिन्ता ही

इतनी विकृत हो गई थी कि समाज के बीच इस तरह की गहन और अशोभनीय बातों का बणन लाञ्छनक नहीं माना जाता था। भक्ति के क्षेत्र में भी यह विकृत रुचि प्रविष्ट हो गई थी जो जयदेव, विद्यापति तथा कुतुबुद्दौल मल्ल कवियों की रचनाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। भक्तिपरक साहित्य में फिर भी गनीमन थी, क्योंकि वहाँ आध्यात्मिक प्रतीकों का आवरण तो था, किंतु लोकपरक साहित्य में राजा कुतुब ने नाम का आवरण इतना क्षीण या अशुद्ध सिद्ध हुआ कि उससे अशोभनीय या अश्लील जीवन दृश्यों और तथ्यों के बणन में वृद्धि ही हुई। शृङ्गारिकता की यह प्रवृत्ति औद्योगिक युग की नई सामाजिकता और विचार परम्परा के कारण कम हुई। सांस्कृतिक पुनरुत्थान और मानववादी विचार धारा के प्रसार के साथ नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना हुई। प्रारम्भ में तो शृङ्गारिकता की प्रतिक्रिया अनुपमरता की सीमा तक पहुँच गई और शृंगार बणन ही वर्जित समझा जाने लगा किंतु बाद में पूर्णजीवनी यक्तिवाद के विकास के साथ स्वछायावादी विद्रोह और यक्तिवादी स्वातंत्र्य की प्रवृत्ति ने इस प्रकार के अनुदार नियंत्रण को अस्वीकार कर दिया। फलतः आधुनिक छायावादी साहित्य में शृंगार का सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण होने लगा। ऐसे साहित्य में स्थूल शृङ्गारिकता और अश्लील चित्रणों के लिए अवकाश नहीं था, क्योंकि साहित्य के उद्देश्य के सम्पर्क में लोगों की मायता अब बिलकुल बदल गई थी। किंतु इसी युग में पार्श्ववर्ती मानववादी विचार धारा के सम्पर्क के कारण यथाथवादी साहित्य का भी उभय हुआ जिसमें जीवन का कोई भी अंग या पक्ष अनपेक्षित या वर्जित नहीं माना जाता था। इसी धारा के परिणामस्वरूप 'उम्र', श्रृंगमन्थरण जैन आदि कथाकारों ने समाज के गोपन और अश्लील किंतु अछूते पक्षों का गहन चित्रण किया। यद्यपि ऐसे लेखकों की ओर से तब यह दिया गया कि समाज के सुधार के लिए ही ऐसे साहित्य का निमार्ण किया जाता है। इस प्रकार के साहित्य को आदर्शवादी आलोचकों ने 'घासलेनी' साहित्य की संज्ञा दी, किंतु ध्यान देने की बात है कि महात्मा गांधी जैसे आदर्शवादी यक्ति ने 'उम्र' के ऐसे साहित्य की समाज सुधार की दृष्टि से सराहना की।

आधुनिक युग के छायावादोत्तरकाल में यथाथवाद का इस परम्परा ने नवान रूप धारण किया। वह चार धाराओं में विभक्त हुई—१-सामाजिक यथाथवाद की धारा, २-मनो विश्लेषणात्मक धारा, ३-प्रयोगमूलक कलावादी धारा, ४-यक्तिवादी उन्मूलकता की धारा। इन चारों ही धाराओं में यथाथ चित्रण के नाम पर अश्लील और अशोभनाय बणन मिलते हैं। किंतु इन धाराओं से भी अधिक अश्लील चित्रण आज एक ऐसी धारा में मिलता है जो न तो यथाथवादी है, न आदर्शवादी और न शुद्ध साहित्यिक। इस सस्ते फाल्गुनिक रोमांचक साहित्य की रचना का एक मात्र उद्देश्य अपरिपक्व मस्तिष्क वाले पाठकों की मातृकता का अनुचित लाभ उठाकर पैसा पैदा करना है। इस प्रकार का साहित्य आज रेलवे बुकस्टालों तथा शहर की दुकानों पर दर काटेर खुले आम विकता है, क्योंकि ऐसे साहित्य के प्रकाशक मुस्तक विक्रेताओं को मुँहमौंगा कमीशन देते हैं। ऐसे ही साहित्य की अपनी आज सबसे अधिक हो रही है और समाज के युवक युवतियों का मस्तिष्क उसके द्वारा बहुत सीधे गति से और बड़े पैमाने पर निरन्तर विकृत किया जा रहा है। इस तरह गम्भीर साहित्य और वाचक साहित्य, दोनों में आज अश्लीलता की प्रवृत्ति इस सीमा तक बढ़ गई है और समाज पर उसका इतना बुरा प्रभाव पड़ रहा है कि इस प्रश्न ने एक गम्भीर समस्या का रूप धारण कर लिया है। वह

समस्या इस कारण और भी उलझनपूर्ण बन गई है कि उच्च शिक्षा प्राप्त, सुसंस्कृत और विद्वान् आलोचकों में से कुछ लोग जिस प्रश्न को अश्लील बताते हैं उसे ही अग्रे आलोचक अश्लीलता रहित और महान् कला कृति घोषित करते हैं। 'धैरे के बाहर' नामक उपन्यास के सम्बन्ध में इसी प्रकार के परस्पर विरोधी मन व्यक्त किये गए हैं। अतः इस समस्या के सम्बन्ध में प्रधान विचारणीय प्रश्न ये हैं—अश्लीलता की यह प्रवृत्ति आज इतनी क्यों बढ़ गई है? अश्लीलता की सामान्य भावना क्या है? आज के साहित्य में अश्लीलता किस सीमा तक प्रादुर्भाव या अभिप्राय है और अभिप्राय अश्लील चित्रण से युक्त साहित्य के प्रति समाज और साहित्यकार का क्या दायित्व होना चाहिये।

भारतीय समाज आज एक खण्डित और तिरछा बरौच के बाण से होकर गुजर रहा है। सम्प्रति यह किसी गुणात्मक परिवर्तन के द्वार पर आ पड़ा हुआ है। समाज का आर्थिक ढाँचा पुँजावादी व्यवस्था पर आधारित है। विश्व में पुँजीवादी व्यवस्था हावी हुए होकर अपने नाश की ओर अग्रसर हो रही है। किंतु भारत में पुँजीवाद की समाप्ति करने की जगह उसे और भी प्रभय दिया जा रहा है। इससे मध्यमवर्गीय जनता का जीवन आर्थिक कठिनाइयों के भार से उतरोत्तर पिछता जा रहा है, बेकारी, विधेयकर शिक्षा की कमी, की समस्या निरन्तर उभरती जा रही है। शिक्षित वर्गों के सामने दो ही रास्ते रह गए हैं, या तो वे अर्थीय कार्यों द्वारा जीवन यापन करें या इस प्रसार के काल्पनिक, रोमान्चक और उल्लेखक साहित्य में अपने मन की समाप्ति बधाय की दृष्टि से पलायन करें। ऐसी सामाजिक व्यवस्था के भीतर अपराधपरक, सस्ते, रोमान्चक और बालोदेवक साहित्य की उत्पत्ति बहुत होती है। यही कारण है कि आज जामूनी, हत्याओं से सम्बन्धित तथा काल्पनिक और नग्न यौन चित्रणों वाले साहित्य का निमात्र बहुत अधिक हो रहा है। ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार के साहित्य के निर्माता अधिकतर ये लोग हैं, जिन्हें सत्य शिक्षा प्राप्त न होने से अपना समुचित परिस्थिति के अभाव में जीविकोपार्जन का अर्थ कौन सा होता न मिला, जिससे वे सस्ते बाजारू साहित्य में लेखक बनकर सरलतापूर्ण अशोषण करने लगे हैं।

किंतु इस प्रकार के साहित्य को बाजारू या साहित्येतर रचना मानकर टाल देने के नाम भी समस्या का अर्थ नहीं हो जाता। अश्लीलता की यह प्रवृत्ति जब शिक्षित या गम्भीर साहित्य के भीतर भी दिखाई पड़ती है और कुछ लोगों द्वारा बधायवाद, मनोविश्लेषण शास्त्र या कलाशास्त्र के नाम पर उसका समर्थन किया जाता है तो प्रश्न और भी विचारणीय बन जाता है। बसंत एक ही सामाजिक व्यवस्था के भीतर उपर्युक्त दोनों प्रकार के साहित्य की रचना होती है, अतः गम्भीर साहित्य में भी उन व्यवस्था का प्रतिबिम्ब और प्रतिफलन होना स्वाभाविक है। यथार्थवादी और मनोविश्लेषणात्मक साहित्य में सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के उन पक्षों को उद्घाटित किया जाता है जो वास्तविक होते हुए भी गोपनीय होते हैं अथवा जिनके बारे में लोग को अधिक जानकारी नहीं होती। यथार्थवादी साहित्यकारों का लक्ष्य समाज की छिपी हुई दुःखियों, विधेयकर नारी की वास्तविक स्थिति या चित्रण करके समाज को सचेत करना और उसकी दुरवस्था को दूर करना होता है। अतः साहित्य में यौन सम्बन्धों, मानव के गोपनीय अंगों, आर्थिक वेधों आदि का जो उन्मूलन चित्रण मिलता है वह उनके महत्त्व लक्ष्य की पूर्ति का साधन माना जाता है।

मनोविश्लेषणात्मक साहित्य भी यथायथा की सीमा के भीतर ही आता है यद्यपि उस सामाजिक यथार्थवाद से भ्रमन करने के लिए मनोवैज्ञानिक या यक्तिवाद। यथायथा वास्तव दी जाती है। पूँजीवादी समाज में नाना प्रकार की समाजिक व्यवस्थाओं से उत्पन्न वैयक्तिक चेतना कुण्ठित हो जाती है, यक्ति की दमित या अतृप्त वासनाएँ विकृत होकर अनेक प्रकार के उपद्रव करती और अपराध तथा अस्वाभाविक और अस्वस्थ यौन सम्बन्धों के रूपों में अभिव्यक्त होती हैं। यक्ति के इन्हीं रहस्यमय रूपों का चित्रण मनोविश्लेषणात्मक साहित्य करता है। इस प्रकार के साहित्य का उद्देश्य भी यक्ति के माध्यम से समाज का सुधार होता है, जिसके लिए लेखक साधन रूप में अश्लील चित्रणों का सहारा लेता है। कलावादी साहित्य में लेखक की सम्पूर्ण शक्ति रूप विधान के निखार और नवान रूप-रचन की राज या प्रयोग में लगती है। उसके लिए कोई भी वस्तु अश्लील, अनैतिक या पापमय नहीं होती, वस्तुतः वह विषय वस्तु या कथ्य को महत्त्व ही नहीं देता, क्योंकि वह उसे रूप शिल्प से भ्रमन नहीं मानता। रूप शिल्प या कलात्मक पूण्यता ही उसका लक्ष्य होता है। अतः अश्लील या अनैतिक तथ्यों या वस्तुओं के चित्रण को वह बुरा नहीं मानता क्योंकि उसके अनुसार कला की सीमा में आकर सब कुछ शुभ और शिव बन जाता है। कलावादी (रूपवाद) के अनुसार कला के क्षेत्र में अश्लील या अश्लील, पाप या पुण्य, शिव या आशय का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो फल यही देखा जाता है कि कोई वस्तु सुन्दर है या असुन्दर। चौथी साहित्यिक धारा यक्तिवादी उच्छृङ्खलता की धारा है जिसमें लेखक अपने विनी ऐंद्रिक और ज्ञानसाधक अनुभवों का वर्णन सच्ची सीधी आभिव्यक्ति के नाम पर करता है। स्वयं अपनी प्रसिद्धि के साथ प्रेमालाप, आलिंगन, चुम्बन, अभिचार आदि का सीधा और अभिवात्मक वर्णन करते हैं। चुम्बन, नरेन्द्र और नीरज से प्रभावित आज के अनेक नये कवियों में, जो कि सम्मेलना की सस्ती लोकप्रियता को ही सब कुछ मानते हैं, यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। अतिशय और नग्न ऐंद्रिकता का यह प्रवृत्ति कविता में ही नहीं, कथा साहित्य में भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

समसामयिक हिंदी साहित्य में अश्लीलता की प्रवृत्ति क्या और किस सीमा तक बढ़ गई है, इसका सक्षिप्त निवेदन कर लेने के बाद भी यह प्रश्न हो सकता है कि अश्लीलता की समस्या बनाकर उपस्थित करना सही है या अनुसार मनोवृत्ति का परिचय देना अवश्य साहित्य के स्वतंत्र अस्तित्व को धार्मिक और नैतिक नियंत्रणों में बाँधना है। यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक साहित्य में अश्लीलता का इतना प्रसार देकर अतिरजना है, क्योंकि इस प्रकार का आवनाश साहित्य वास्तव में अश्लील नहीं है। अतः इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अश्लीलता क्या है, इस बात को समझ लेना आवश्यक है।

भारतीय साहित्य परम्परा में नाटकों में सम्भोग, चुम्बन, आलंगन आदि रति विषयक काया तथा जुगुप्सालनक और अमंगलसूचक क्रियाओं का प्रन्थान वर्जित है। किंतु भय का ये भी शृंगार, वीरत्व और वरुण रसों के भीतर उर्दीका वर्णन बराबर होता रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि अश्लील या जुगुप्सालनक काय देसने में तो बुरे मान जाते थे पर उन्हें बुराई नहीं माना जाता था। लेकिन प्रभाव की दृष्टि से वस्तुतः रस और सुन्दर की क्रियाओं में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है, मात्रा का अंतर मले ही हो। इसी कारण आधुनिक युग

में पाश्चात्य नाटकों की तरह भारतीय नाटकों में भी पुरानी वर्णनाओं को अस्वीकार करके भोजन मृत्तु आदि काय प्रस्थित किये जाते हैं, यद्यपि अरलाल दृश्यों का प्रदर्शन अब भी सुरा माना जाता है। यह हमारे सम्य जीवन की एक बहुत बड़ी व्याधि है कि हमारी वाणी और क्रिया में सामञ्जस्य नहीं रह गया है। असम्य आन्तरिक बातियों का चीरन सम्यता की वृत्तिम वननाओं से कुण्ठित नहीं हुआ है। इस कारण उनके दृष्टिकोण, वाणी और क्रिया में कोर विरोध नहीं दिखाई पड़ता। संस्कृति के एक सामान्य स्तर पर पहुँचकर मानव ने आचार सम्बन्धी कुछ ऐसे नियम बनाये जो सभी देशों, जातियों और कालों में समान रूप से मान्य रहे हैं। यौन क्रियाओं की गोपनीयता और शरीर के शुद्धाभा को आवृत रखने की प्रथा भी मानव के वही सामान्य और साक्षम आचारिक नियमों में से है। इन क्रियाओं और अंगों का समाज के बीच वणन या उद्घाटन करने वाला व्यक्ति या तो असम्य और अशुभ माना जाता है या वह स्वयं मानसिक विक्षिप्तता की अवस्था में होता है। किन्तु विविध शास्त्र और और काम शास्त्र के क्षेत्र में ये बातें गोपनीय नहीं हैं, क्योंकि यहाँ जीवन को सुरक्षित और व्यवस्थित बनाने के उद्देश्य से उन क्रियाओं और अंगों का वैज्ञानिक विश्लेषण और शान आवश्यक होता है। किन्तु व्यावहारिक दैनंदिन जीवन में खुले आम व क्रियाएँ न तो की जानी और न कही जाती हैं। इस तरह मिश्रण यह निश्चलता है कि यौन क्रियाओं और शरीर के शुद्धाभा का समाज के बीच खुले आम प्रदर्शन या वणन ही असंभव है, चाहे वह जीवन में हो या साहित्य में।

अब हमारे समाज में कुत्सित सम्यता के कारण इतनी अधिक सामाजिक और आचारिक वर्णनाएँ रुढ़ि रूप में, व्यक्ति को जबरदस्ती, फैली हुई हैं कि उनसे नाना प्रकार की मानसिक प्रतियोगियों और कुण्ठाएँ उत्पन्न होकर व्यक्ति के मन की विह्वल बना रही हैं। यही विह्वलति या उन रुढ़ियों के विह्वल होना वाली अवस्था प्रतिक्रिया आत्म के साहित्य में अश्लील चित्रण के रूप में अभिव्यक्त हो रही है। कोई प्रतिक्रिया अस्वस्थ सब होती है जब वह औचित्य का सीमा का अतिक्रमण कर देती है। सामाजिक औचित्य यह है कि रुढ़िगत, आचारिक नियन्त्रण के विह्वल निद्रोह होना चाहिए और सामान्य साक्षम आचारिक नियमों की रक्षा होनी चाहिए। जब इस औचित्य की सीमा की तोड़कर सामान्य माननीय आचारों का भी विरोध होने लगता है तो उसका परिणाम साहित्य में अश्लील चित्रण या कुण्ठाओं के समपन के रूप में दिखलाई पड़ता है। प्रारम्भ में जिस सामाजिक अन्तर्विरोध की चर्चा की गई है वह इस बात में भी दिखलाई पड़ती है कि ऐसे साहित्यकारों के भीतर इतना साहस नहीं कि साहित्य में वे जित बातों को अरलाल या गोपनीय समझकर आनि संकोच रूप में यस्त करते हैं, व्यावहारिक जीवन में भी उनके अज्ञात खुले आम आचरण करें। क्रिया और वाणी के सामञ्जस्य का अर्थ यह है कि व्यावहारिक चीरन में जो आचारिक दृष्टि से गोपनीय या बर्जित नहीं है उसे ही सार्वजनिक उपयोग के लिये वाणी बढा दिया जाय और जो गोपनीय या बर्जित है उसे साहित्य में भी गोपनीय और बर्जित माना जाय।

किन्तु जिस तरह व्यावहारिक जीवन में गोपनीय और अवश्य माननी जाने वाली बातें भी काम शास्त्र और विविध शास्त्र में विचारणीय और वणनाय माननी जाती हैं उस तरह

साहित्य में भी आवश्यकता पड़ने पर इनका बखान किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य को काम शास्त्र या चिकित्सा शास्त्र का रूप दे दिया जाय। जैसा कुछ मनोविश्लेषणवादी साहित्यकार इस समय कर रहे हैं। साहित्य का अपना स्वतंत्र अस्तित्व और स्वरूप है पर वह जीवन के सभी पक्षों और विषयों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध भी है। जीवन में सामाजिक आचारों का जितना महत्त्व है उतना ही साहित्य में भी होना चाहिए और उसी तरह काम शास्त्र या चिकित्सा शास्त्र का जीवन में जो स्थान है, साहित्य में उनका भी उनके अनुरूप चित्रण होना चाहिए। यदि मानव का साँच मानव का चरम आनंद है तो आचार शास्त्र, काम शास्त्र आदि सभी उनके साधन हैं। अतएव इन साधनों में परस्पर विरोध नहीं, सामंजस्य होना चाहिए। एक बात ही आचार शास्त्र, की दृष्टि से अश्लील और कामशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर अश्लीलता रहित प्रतीत हो सकती है। किंतु साहित्यकार के पास वह सामान्य बुद्धि होनी चाहिए जिसके द्वारा वह साहित्य और जीवन के चरम लक्ष्य की ध्यान में रखते हुए आचार शास्त्र और काम शास्त्र के बीच प्रतिपादित होने वाले विरोधों का सामन कर सके। विरोध सामन का एक मात्र उपाय यह है कि लेखक का दृष्टिकोण स्वस्थ और उदार हो, उसका उद्देश्य स्पष्ट और महान् हो और उसमें मानसिक प्रियों तथा कुण्डलाएँ न हों।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि यौन क्रियाओं और अवस्थानीय अवयवों का बखान साहित्य में हर हालत में बुरा ही नहीं होता। लेखक यदि पाठकों में अपने उद्देश्य के अनुरूप प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इस प्रकार का बखान करता है तथा इस पद्धति द्वारा उद्देश्य सिद्धि में सफलता प्राप्त करता है तो उसका यह कार्य अनौचित्यपूर्ण या असामाजिक नहीं माना जायगा। आधुनिक युग के अनेक महान् कथाकारों—गोर्की, ज़ोला, आस्कर याइज़ब, श्री० एच लारे स आदि ने इस प्रकार के अश्लील बखान किये हैं पर इससे उनकी महानता में कमी नहीं आई और न उनकी कला की ही कोई दोषा ठहराता है। वस्तुतः प्रधान तत्त्व किता रचना का प्रभाव है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अश्लील सदैव अश्लील है जिस तरह चोरी या झूठ सदैव चोरी और झूठ हैं, किंतु ये सदैव बुरे भी होते हैं ऐसी बात नहीं है। कोई व्यक्ति अपने आपसे अच्छी या बुरी नहीं होनी, उपयोग और प्रभाव से ही अच्छे और बुरे का नियम होता है। यदि अश्लीलता का उपयोग सद्दुद्देश्य के लिए होता है और उसका प्रभाव भी बुरा नहीं, अच्छा पड़ता है तो अश्लीलता बुरी नहीं हो सकती। इसके विपरीत वह अश्लील चित्रण श्लाघनीय माना जायगा। जो व्यक्ति की अस्वस्थ मानसिक प्रियों और कुण्डलाओं और सामाजिक दुराचारों और कुतियों को मिटाने के लिए साधन रूप में प्रयुक्त हुआ हो। यदि लेखक स्वयं उसमें रस लेता और पाठकों की पाशविक या काम वृत्तियों को उत्तेजित करने के लिए ऐसा चित्रण करता है और इससे समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है तो वह अश्लील चित्रण असत्य अश्लाघ्य तथा निंदनीय है। जम्स जेम्स का उपयोग पर 'युलिसिस' पर अमेरिका में रोक लगा दी गई थी। उस समय में हुए मुख्य अमेरिका के एक हाइकोर्ट के जज ने यह निर्णय दिया कि 'युलिसिस' को अश्लील उपवास नहीं माना जा सकता, क्योंकि उससे समाज पर बुरा प्रभाव पड़ने की कोई आशंका नहीं है। हिन्दी के उपवासों में 'धुनाता' और 'शराब एक बीजनी' के बारे में भी यही बात कही जा सकती है।

किन्तु अनेक तप यास ऐसे भी हैं जिनमें उद्देश्य की मददता नहीं आया। जिनका कोर उद्देश्य ही नहीं है, साथ ही उनमें विस्तार के साथ रति क्रियाओं का वर्णन मिलता है। ऐसा साहित्य, चाहे वह मनोविश्लेषणात्मक के नाम पर, किसी भी आचार पर श्लारणीय नहीं हो सकता। ऐसे निरुद्देश्य और असामाजिक अश्लील चित्रणयुक्त साहित्य के प्रति साहित्यकार, समाज और सामाजिक वा का क्या रुख होना चाहिए, यह बताने की आवश्यकता नहीं है।



विजयदेन नारायण साहू

साहित्यिक 'अश्लीलता' का प्रश्न

जब बाल्याक जैसा उपवासकार 'डोल स्टोरीज' लिखने के लिए प्रस्तुत हो जाता है तो हम विवश हो जाते हैं कि साहित्य में श्लीलता अश्लीलता का विवेक सीधे समझकर करें। उतही तौर से देखने पर, लम्बीर का एक ही पहलू ही होगा। किन्तु परिणाम यह होगा कि बहुत से महान् लेखकों और उद्भूत कला कृतियों को ताले में बन्द कर देना होगा। यह निश्चित करना होगा कि नवी मूर्तियों या नये चित्र क्यों अश्लीलता की कोटि में नहीं आते, या आते भी हैं तो उद्भूत कला कृति क्यों माने जाते हैं? क्या कोई कृति अश्लील और साथ ही साम उद्भूत कला कृति हो सकती है? या कला की उद्भूतता अश्लील विषय को भी अश्लील नहीं रहने देती? या ऐसी कौन भी मजबूरी है कि बाल्याक 'डोल' कहानियों की ओर प्रेरित होता है या बायरन जैसा कवि प्रपञ्ची पूरी शक्ति के साथ 'प्लेटो' और उसके 'प्लेटोनिक प्रेम' पर सीधे प्रहार करता हुआ उल्लासमय, जीवन्त, किन्तु वाचनात्मक प्रेम का चित्र खींचता है और फिर उसे जैसा विचारक, दुधारक और कलाकार ब्रजय छि छि करने के कहता है कि बायरन जैसा मस्तिष्क रोकसदीपर के अक्षरिण इगलैण्ड में हुआ ही नहीं।

अमूर्त सिद्धांतों के सम्बन्ध में सतार में कभी भी विवाद नहीं हुआ है। कठिनाई तब होती है जब अमूर्त सिद्धान्त मूर्त और व्यावहारिक रूप धारण करने लगते हैं। तब विवाद उपजते हैं। अधिक से अधिक शुभाशुभा प्राप्त करने का तरीका यह है कि अमूर्त सिद्धांतों में, निराकार सूत्रों में बात कही जाय। सब सहमत, प्रसन्न और सुखी होंगे। सिर्फ एक ही बात नहीं होगी—अर्थ कुछ नहीं निकलेगा। विचारक नाम राशियों में से प्रायः निरर्थक बात कहने से डटना सजीव नहीं करते जितना सार्थक नाक्य से। क्योंकि सार्थक वाक्य उत्तरदायक होता है। वह बचकर निराल भावने या समय रहते बदल जाने का रास्ता नहीं छोड़ता। उदाहरण के लिए साहित्य लोक मंगल वं सिध है, यह एक अमूर्त, अत निर्दिष्ट, अत निरर्थक सूत्र है। इससे पुण्य और पुण्य विरोध दोनों ही सिद्ध किया जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र में ऐसा ही एक अमूर्त सिद्धान्त यह भी है कि अश्लीलता अवाञ्छनीय है।

देश काल से निस्संग इस वक्त य स असहमत होना असम्भव है । क्योंकि इस वस्तुस्थिति का कोई अर्थ नहीं है । वस्त्र या विचारक हमेशा 'किंतु कालिदास की बात दूसरी है' अथवा 'कृष्ण और गोपियों का रास वस्त्र अश्लीलता में नहीं आता' कहकर छूट सकता है । एकाग्र तुलाधार ऐसे भी हैं, जिन्हें सूत्रास या कालिदास या यास की चर्चा करते समय केवल ऊँचे सिद्धान्त, वेदांत और वेदित य, ही दिखते हैं और समकालीन नये लेखकों की ओर मुड़ते हैं तो सिवाय अश्लीलता के उन्हें कोई आलोच्य ही नहीं जान पड़ता । स्पष्ट है कि पुराने के लिए अलिखित ज्ञान और नया के लिए गला फाड़कर चिखलाना हमारी भ्रष्टा वृत्ति का एक पक्ष करे, बौद्धिक स तुल्यता का प्रमाण तो प्रस्तुत ही नहीं करता ।

विवेचन के लिए मूल प्रश्न यह है कि साहित्य में अश्लीलता क्या है, इसका निरूपण कैसे किया जाय ?

अश्लीलता के अर्थात् मूलतः यौन आचार ही का विवेचन किया जाता है । यद्यपि इसको मात्र यौन आचार तक सीमित रखने का कारण नहीं है । साहित्य में श्लीलता अश्लीलता सुवर्ण और सस्कृति का प्रश्न है, नैतिकता का नहीं । इस वास्तविकता का हृदयगम करना आवश्यक है । चूंकि साहित्य में यौन आचार का विषय मुख्यतः उठता है, अतः मैं भी इसी दृष्टि से विचार करूँगा ।

शलाकता अश्लीलता का जो हमारा विवेक या संस्कार है, उसका आधार क्या है ? जब हम यह निश्चित करते हैं, या अनुभव करते हैं कि अश्लील या अश्लील है, तो हमारे लिए निर्णायक संकेत क्या होते हैं ? इसे समझने के लिए सस्कृति ने मौलिक तत्त्व को समझना आवश्यक होगा । मानवीय सस्कृति का सबसे प्रथम प्राथमिक स्थिति से शुरू होने की ओर रहा है । हमारी प्राथमिक शारीरिक क्रियाएँ हममें और पशुओं में सा-य प्रस्तुत करती हैं । सस्कृति बुद्धि, इच्छा और अंतरात्मा की कोटियों को हमारी शारीरिक प्रक्रियाओं में प्रविष्ट करती है । जितना ही ये मानसिक आवरण हमारी क्रियाओं को ढकते जाते हैं, हमारा संस्कार होता जाता है । अनुभूतियों सूक्ष्मतर होती हैं । और हम पशुत्व से ऊँचे उठते हैं । यौन प्रक्रिया अथवा स्त्री पुरुष का समागम जीवन की अतिवाय और अत्यंत सशक्त प्रेरणाओं में से एक है । शारीरिक, अर्थात् प्राथमिक परिणति तो इसमें मानकर ही चलना होगा । किंतु हमारा जो दृष्टिकोण इस यौन आकर्षण के प्रति रहा है, उसमें हमें अपनी सांस्कृतिक अन्तरात्मा की प्रति-ध्वनिया मिलेगी । जितना ही अधिक हम इस आकर्षण में शारीरिक (अर्थात् प्राथमिक) वासना का अभाव लिखला सके हैं उतना ही यह आकर्षण उदात्त, मंगलमय, नैसर्गिक माना गया है । यहाँ तक कि इसके सर्वोच्च स्वरूप की कल्पना यह है जहाँ शारीरिक साधुत्व का प्रश्न ही नहीं रह जाता, प्रेम मात्र आध्यात्मिक हो जाता है, आत्मा ही आत्मा में रमण करती है । एमे प्रेम का चित्रण न केवल कि अश्लील नहीं माना जाता, बल्कि परम पावन और पुनीत सम्बन्धों की स्थापना के लिए पर-वार प्रयुक्त होता है । दूसरी ओर का सीमा निन्तात प्राथमिकता को जहाँ आकर्षण और शारीरिक प्रक्रिया एक ही वस्तु है, बीच में मानसिक मध्यन्तर का प्रश्न ही नहीं उठता । यह सवाधिक अश्लील विषय होगा ।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि समस्त मानवीय प्रक्रिया मूलतः अथवा

अतः शारीरिक है कि ॥ सृष्टि के विकास की निशा यह रही है कि शारीरिक प्रेरणा और प्रतिक्रिया के बीच मानसिक आरोहण अवरोहण के अधिक से अधिक सोपान प्रस्तुत करें। इन सोपानों के कारण हमारी नियाशीलता में परिष्कार आता है और जीवन के हर क्षण की अनुभूति प्रसर होती जाती है। इस निरंतर विकासशील सांस्कृतिक स्थिति में निश्चय ही अश्लीलता (अर्थात् पाशनासिक क्रिया से निकटता) यही होगी, जो हमें सीधे शरीर की अनुभूतिहीन प्रक्रिया की ओर खींचेगी। अब कितना वर्णन, कितना संकेत, हमें केवल अनुभूति के सोपानों पर छोड़ जायगा और कहाँ से किसलय इतनी तीव्र होगी कि हम बिना कहे पाशनासिक शारीरिक प्रक्रिया तक पहुँच जायेंगे, यह हमारे सांस्कृतिक स्तर और कलाकार की अनुभूति प्रवणता पर निर्भर करता है। सांस्कृतिक स्तर से मेरा तात्पर्य परम्परा से समझीत उस मानसिक अनुभूति कोप ॥ है जिसके द्वारा हम जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं को गहराई, विविधता, और सूक्ष्मता प्रदान कर पाते हैं। इसको एक उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। हमारे कवियों, विचारकों, कलाकारों ने नारी रूप के परस्पर सुस्नन की विभिन्न अनुभूति गम्य गहराईयाँ, विविधताओं, सूक्ष्मताओं से सम्बद्ध कर दिया है। अतः जब हम कविता या उपमास में साधारणतः सुस्नन का शब्द देखते हैं तो हमारे मन में मान शारीरिक तरंग नहीं उठती। बल्कि वे तो शायद बहुत ही गोप्य होती हैं। सुस्नन शब्द सर्वप्रथम हमारे मस्तिष्क में अनुभूति—मानसिक प्रक्रिया—स्नेह, विह्वलता, शांति, कालरात्र आदि की कल्पना प्रस्तुत करता है। जो अनुभूति हम प्राप्त करते हैं वह शारीरिक न होकर माननात्मक (emotive) अथवा सौंदर्यात्मक (Aesthetic) अनुभव हो जाता है। इसके विपरीत सुस्नन का ही वर्णन या भी हो सकता है कि अनुभूतिहीनता और अश्लीलता उत्पन्न हो जाय। इसके विपरीत रति क्रिया का वणन (यद्यपि हमने भी कारण यहो हो सकते हैं जो सुस्नन को जन्म देते हैं) अधिकतर अश्लील हो जायगा, इसकी सम्भावना अधिक है।^१ क्योंकि प्रायः यह प्रक्रिया अविकसित रही है और हमने इसे सुस्नन या आलिंगन की भाँति विविध और सूक्ष्म मानसिक अनुभूतियों से सम्बद्ध करना नहीं सीखा है। जैसे जैसे सृष्टि अथवा सभ्यता का विकास होता जाता है हमारी अनुभूतिवाँ समृद्ध, सूक्ष्म, गहन और विविध होती जाती हैं। हम एक ऐसे स्तर की कल्पना कर सकते हैं जहाँ रति क्रिया का सुस्पष्ट वर्णन हमें उसी प्रकार भाव प्रण छोड़ जाय जिस तरह छायावाणी कविता में अनन्त से आने वाले अक्षतप्रिय का आध्यात्मिक दर्शन मान। 'गीत गोविन्द' ही नहीं, सखार की अथवा वृत्तिभों में भी इस वर्णन की पुराने आचार्यों ने लिखा है, वे कभी सफल रहे हैं, कभी विफल। अन्त्याय कारणों से आधुनिक युग के लेखकों में इसकी प्रतीक दीप्तता है। जब हम पूछते हैं कि कहाँ पर ऐसा प्रयास अश्लील हो जाता है और कहाँ नहीं, तो हमारा मूल प्रश्न यही होता है कि क्या यह शारीरिक वर्णन हमारे अनुभव में कोई नया आयाम जोड़ जाता है? क्या इसने जीवन की हमारी समझ या अनुभूति में गहराई, सूक्ष्मता, विविधता जोड़ी है? क्या हम जिस तरह एक फूल की सुगंध को दूसरे फूल की सुगंध से अलग कर सकते हैं, उसी तरह कलाकार हमें ऐसे अनुभवों की ओर ले गया है जो हमारे नितान्त शारीरिक अनुभव का तो नहीं मरु अथवा माननात्मक अनुभूति बनाकर मूल्यवान् बना सकें?

^१ इस सम्बन्ध में जयदेव के 'गीत गोविन्द' का विश्लेषण कि जीवन से उत्पन्न है जिनसे अश्लीलता उत्पन्न होती है या नहीं होती है, मूल्यवान् होगा।

यदि इन प्रश्नों का उत्तर होँ है, तो निश्चय ही कृति, कला कृति है और अश्लील नहीं है, यदि हम अश्लीलता के विवेचन को मूलतः सुबुद्धि का प्रश्न मानते हैं तो हमारे लिए मानना अनिवार्य होगा कि क्या कृति अश्लील हो ही नहीं सकती। यदि वह अश्लील है तो कला-कृत नहीं होगी। क्योंकि सुबुद्धि, स्वयं ही कलात्मक परिष्कार है, जो हमें मानसिक गहराई की ओर ले जाती है।

दो एक प्रचलित धारणाओं पर विचार करना आवश्यक है। प्रायः कहा जाता है कि हमारा सामयिक सामाजिक वातावरण विशेष करके अश्लील हो गया है, जब कि प्राचीन काल में इतनी अश्लीलता अथवा सामाजिक उद्धृष्टता नहीं थी। मुझे यह धारणा अगैत हासिक लगती है। उद्धृष्टता को सही प्रमाणित करने के लिए मनुष्य ने हर युग में बहाने बनाए हैं। यहाँ तक कि सामाचार की तार्किक साधना तक चला डाली। अतः यह न तो आज के भारत की नई बात है, न यूरोप के भौतिकवाद, न फ्रायड के मनोविज्ञान की विशेष देना है। इसके विपरीत आधुनिक युग सगठित विलास के अर्थ में उद्धृष्टता सामाजिक व्यवहार का अधिक विरोधी है।

एक प्रकार का मस्तिष्क मात्रे दग से हर कृति को इस कसीदी पर कसना चाहता है क्या इस पुस्तक को 'बहु बेडियों' के हाथ में लिया जा सकता है? क्या इसे आचार्यगण शिशुवत् शिष्यों को पढ़ा सकते हैं? ऐसे प्रश्नों के पाछे एक अप्रमाणित स्वीकारोक्ति यह होती है कि सारा साहित्य बहु बेडियों, या शिशुवत् शिष्यों के लिए लिखा जाता है या लिखा जाना चाहिए। वस्तुतः साहित्य इस कसीदी पर न तो खड़ा उतरा है, न उतरेगा। बहु बेडियों की लाठी से हॉकने पर तो 'वास और वालमाकि भा भागते नकर आयेंगे, कालिदास और शेक्सपियर क तो कुछ कहना ही नहीं। इस प्रकार का शुद्धतावादी नैतिक हटयोग साहित्य को उसके मर्म से वंचित कर देता है। जो मस्तिष्क अश्लीलता का विरोध मात्र इस आधार पर करता है कि इसका प्रभाव लोगों के चरित्र पर क्या पड़ेगा, वह अपरिपक्व, पण्डितक और अधसम्य है। कुद उस्तरे से शल्पाकथा करने वाला स्वस्थ अंग को भी काटकर निकाल फेंकेगा इसीकी सम्भावना अधिक है। क्योंकि जैसा हमने ऊपर विचार किया है बहुत सी बातें, या बहुत से विषय सतही तौर से अश्लील लगते हुए भी विशिष्ट कलात्मक सन्ध में अश्लील नहीं होते।

पूछा जा सकता है कि श्लीलता के नाम पर यदि हम नैतिक शुद्धता अथवा पूर्ण सात्विक वातावरण की माँग साहित्यकार से करें भी, तो इस क्या है? माना कि सामनात्मक दलदल का एक भाग सराह है और उस पर चलने में डूबने का खतरा नहीं है, तो भी क्या आवश्यक है कि हम एकही जमीन छोड़कर उधर जायें ही? अतिरिक्त कहने के लिए 'संसार में एक से एक अच्छी बातें पड़ी हुई हैं, लोगों के चरित्र को लँचा उठाना भी तो एक काम है, एसी कौन-सी बाधा आ पड़ा है कि साहित्यकार रजह मखाह अश्लीलता का आमास देने बला चित्रण करे ही और बाट में गल की खाल निकालकर वह एक में काजल की बोटरी से अशुद्ध निकल आया हूँ! क्या यह मात्र मानसिक विकृति नहीं है? मान लीजिए कि कलात्मक सौ ठव से शायद एकाध ऐसे वयन अश्लीलता की साम्रा से बाहर आ जाते हों, फिर भी यह चमत्कार निबलान को आश्चर्यकथा क्या है? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि शायद ही बाद भाषा हो जिसमें चोरी के साहित्यकारों न अश्लीलता का दलदल पर पैर न रखा हो।

अच्छा हो कि इन रहस्यों में पुरानो महान् कृमिपा को भ्रान्त न रह सके। हम इतना मानकर आरम्भ कर सकते हैं कि शब्द 'नितान्त बाध्य' न होने पर इन महान् कृति-कारी ने जीवन-वापार के वे चित्र न प्रस्तुत किये होंगे, जो अश्लीलता का आभास दे जाते हैं। क्या है वह जो 'नितान्त बाध्य' करता है ? जीवन से ऐसा कौन सा दुर्निवार आकर्षण है ?

उत्तर इस पर निर्भर करता है कि हम साहित्यकार को क्या समझते हैं, क्या वह स्वयम्भू है, श्रुति है, नक्षत्र है अथवा साधारण मानव है, जिसमें ऊपर से असम्पृक्त लगने वाली अनुभूतियों को एक साथ जोड़कर समर्थक बनाने की, अथवा जीवन-अनुभव को प्रसार बनाने की शक्ति विद्यमान है ; जो लोग साहित्य की उदात्त और मंगलकारी आर्य यात्रा मानते हैं उनसे बहुत नहीं की जा सकती। अश्लील और सुन्दर उपदेशों की प्रचुरता की अप्राप्तनीय उदराने का साहस कौन कर सकता है ? हितापदेशक शुद्धतावादी विषय इसलिए ही बताते हैं कि कृष्ण उपदेश पद्य और प्रभावहीन हो जाता है ताकि वह रसमय, और प्रभावशाली हो सके एक आदर्शोत्तर सत्य— यथार्थ—की आवश्यकता पड़ती है। यह श्रुति के श्रुतिपत्र से नीचे की वस्तु है। मनीषी का तत्त्व दर्शन नहीं, नक्षत्र की चिन्मयता नहीं, आश्चर्य का उद्घोष नहीं—सीधे सीधे मनुष्य की वाणी है जो साम्राज्ञी में बैठी है, लालसा है, गोचर है, यथार्थ है, जीवन पक्ष में लिपटी है और इसीलिए हमारी अप्रतिष्ठा है, भारी है, आत्मीय है। यथार्थ का यह एक दुर्निवार आकर्षण है।

साहित्यिक उपदेश में एक और कमी है। वह गोचर नहने वाली विस्तृतियों का छिपाने के लिए पदों का काम करता है। कालांतर से हर शुद्धतावादी आचार, कष्ट, दुर्दृष्टि नैतिकता, सामाजिक प्रतिनियमाद और द्विद्वारे वास्तविकता का पसाव बन जाता है। दो स्तरों का अश्रुत जीवन मानव को विचलित करता है। साहित्यकार को प्रत्यक्ष अनुभूति दे जाता है। अतः यथार्थ की 'नितान्त बाध्यता' साहित्यकार को विवश करती है कि उस वास्तविक स्तर को ऊपर लाये। कलाकार का मानस इसलिए नहीं विचलित होता कि मानव स्वभाव में दुर्बलता क्या है। विज्ञान इस बात पर होता है कि दुर्बलता को स्वीकार क्यों नहीं किया जाता, आदर्शवाद की क्या आवश्यकता है ? चारित्रिक दुर्बलता को हम क्षमा कर सकते हैं, किन्तु वेदमानी को नहीं। यदि कलाकार विद्रोही हुआ तो यथार्थ का गहन चित्रण करेगा और यदि विद्रोह उसके युग का मुख्य स्वर नहीं तो नैतिक आदर्शवाद की उपेक्षा करके जीवन का गोचर आनन्द का वर्णन करेगा और जब एक बार यथार्थ का आकर्षण स्वीकार कर लिया गया तो उन स्तरों पर चढ़ा जाता पहुँच जाना, जो साधारणतः गोपनीय होते हैं, असम्भव नहीं है। बात सिर्फ अनुभूति की महत्ता की है।

कहें कहे कृतिकारों में यह प्रज्ञा—यथार्थ की प्रवृत्ति—मिलती है, इससे इंकार करना सम्भव नहीं। सतही आलोचक दृष्टि यह कहकर संतोष कर लेती है कि ठीक है, साहित्यकार गहन यथार्थ का वर्णन करे, किन्तु इस प्रकार वाचना—ऐन्द्रियता—से अरुचि हो जाय। मैं इस आशय को समझने में असमर्थ हूँ। क्या यह कहना अभीष्ट है कि अब तक के कलाकारों ने जो कुछ इस सम्बन्ध में कहा है वह अरुचि उत्पन्न करने के लिए कहा है ! इसके विपरीत अधिकतर गहन यथार्थ आकर्षक, मानवोन्मत्त रूप में—मेरे शब्दों में अनुभूति की प्रवृत्ति एवं विविधता के साथ—अभिव्यक्त हुआ है।

लेखक के प्रथम अंश में हमने जो निरूपण किया है, उसकी शायदही में हम यदि विचार करें तो प्रश्न यों उठेगा कि जब हम मान लेते हैं कि मात्राएँ द्रिक प्रक्रिया या शायद और असंस्कृत है तो क्या कलाकार के लिए यह सम्मन और उचित नहीं है कि वह ऐंद्रिक प्रक्रिया का नितात यहिष्कार करें और मान मानना, अनुभूति में ही विचरण करे ? यदि तो विकास और संस्कृति का चरम लक्ष्य होगा । इस दृष्टि से देखने पर आश्चर्य का पराकाष्ठा स्पष्टायी ही नहीं, अनिवार्य भी हो जाती है । 'कीचड के आकषण' का प्रश्न ही नहीं उठता । 'प्लैगनिक प्रेम' सर्वोच्च ही नहीं, पर्याप्त भी होना चाहिए ।

यह तर्क अकट्य होता यदि इसमें एक मौलिक त्रुटि न हो तो । पर तर्क भूल जाता है कि संस्कृति में हम जिसका परिष्कार करते हैं वह अततोमत्या हमारी भौतिक जैविक क्रिया ही हैं । भौतिक जैविक जीवन से विच्छिन्न कोई क्रिया सम्भव नहीं है । इसलिए मात्र आदर पर आधारित मानन चेतना की कल्पना तो एक सिरे से क्रियाशीलता की सम्भावना को ह आस्वीकार कर देगी, और साहित्य सम्भव नहीं रह जायगा । यदि हम सर्वत्र, ब्रह्म ही दर्शें तो प्रक्रिया मात्र माया होगी । हम केवल अनात्म अनंत कम हीनता में स्थित रह जायेंगे । अनात्मिक दृष्टि से यह स्थिति कितनी ही सुरक्षित क्यों न हो साहित्य के लिए उबर भूमि नहीं है । इसलिए बुद्धि, इच्छा, अनात्मा—संस्कृति के भी मीतर हम मानें—उनकी क्रियाशीलता का आधार इन्द्रियों ही हैं । इसलिए हमें बार बार लौटकर इन पर आना पड़ता है । ऐंद्रिक क्रियाओं को फिर से आत्मसात् करना पड़ता है । उनकी यति को विस्तृत करना और उनकी आदृति को विविधता देनी पड़ती है । हम इन्द्रिया से अलग नहीं हो सकते—केवल उनका परिष्कार कर सकते हैं । कालान्तर से नई स्थापित अनुभूति प्रक्रियाएँ पुरानी पड़ जाती हैं । उनमें टहराव नहीं रह जाता, जो हमारी कल्पना को क्षुब्ध, निरपेक्ष पाशविकता की ओर जाने से रोके । अतः फिर नये अनुभूति आयामों की तलाश होती है । साहित्य एक करवट होता है । नया युग आता है । उदाहरण के लिए रीतिकालीन कवियों तक नारी उपपत्ति अनंत शारीरिक चेष्टाओं को पारश्वृत बनाने के लिए राधा कृष्ण का नाम काफी था । इस नाम मात्र में संस्कृति के इतने ताव थे, जो उस समस्त यज्ञ को तत्कालीन समाज में अश्लील समझे जाने से रोकते थे । कि ॥ वहाँ तक आन पर हम देखते हैं कि राधा कृष्ण के नाम का वह बाहु, जो जयदेव की रक्षा करता है, समाप्त हो चुका है । परदा भीना पड़ता जा रहा है । अनुभूतिहीनता बढ़ती जा रही है और वणन अधिकाधिक अश्लील होता जा रहा है । इसके बाद नये विचार, नई कल्पनाएँ, नया युग, आता है । राधा कृष्ण और भगवत्सम की व्यवधानाश्रिनी शक्ति में सदेह हो जाता है । लगता है कि कृष्ण का नाम लेकर बहुत-सा टोंग, मिथ्याचार घुस आया है और तब रीति काल की अश्लीलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगती है । भगवान् के नाम के स्थान पर भगवान् के चरित की आदर्शवादी स्थापना होती है ।

- मैंने अक्सर मौलवियों की देखा है कि शिष्यों को उट्टू गजबों पढ़ाये समय जहाँ उस स्तुष्ट नहीं भी है, वहाँ भी खामखाद इस्क दकीकी' की 'याप्या करते हैं । उनके विचार में केवल जीव और परमात्मा का नाम ले लेने से समस्त यौन आकषणों का वणन अश्लीलता के चणुल से छूटा जाता है और विद्यार्थियों का ये सन्के पड़ाया जा सकता है ।

आधुनिक काल में, साहित्य के अन्तर्गत हर बात को बहुत कुछ खोलकर कहने की प्रणाली चली है। बहुत कुछ यह यथार्थवाद की ही विरक्ति निष्पत्ति है, इसके अतिरिक्त पुराने नैतिक शुद्धतावाद की जीवन के लिए अपर्याप्त पाने पर उपजा विद्रोह भी है। यह एक प्रयास है कि जीवन का अनुभव एकांगी और अगोचर न रह जाय। सामाजिक सन्दर्भ में अश्लीलता का प्रश्न मानसिक सामाजिक वर्जनाओं (taboos) से सम्बद्ध है। प्रारम्भिक स्थितियों में मनुष्य शायद अपने शारीरिक अंगों एवं प्रक्रियाओं की गोपनीयता के प्रति उतना जागरूक नहीं था। ग्रीक का सम्बन्ध युग वर्जनाओं का पुञ्ज जान पड़ता है। आस शायद हम फिर वर्जनाओं को तोड़ने की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यह आदिम मानव की ओर लौटना नहीं है। क्योंकि वर्जनाओं के प्रति हमारा आधुनिक दृष्टिकोण अज्ञान के कारण नहीं, दुर्दृष्ट की समाप्ति के कारण है। निरन्तर इस युग में हम वर्जनाओं को काटकर गिराने में फ्रायड और उसके मनोविश्लेषण का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हम फ्रायड के अन्धा य परिश्रामी से सहमत न हो, यह दूसरी बात है। परन्तु उसने यौन आकर्षण को क्लक और अपराध की श्रेणी से निवाला कर मानवोचित और स्वाभाविक स्थान दिया इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

फिर भी स्मरण रखने की बात है कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड ने जिसे प्रतिष्ठा दी, समान पद नैतिकता के क्षेत्र में वह ज्ञान यूरोप में पहले हो चुकी थी। ठानीवर्षी सताब्दी यूरोप में नैतिक एवेक्युतावाद के उत्कर्ष का युग है। अध्यात्म से नैतिक अवधारणा विच्छिन्न हो गया। यह माना जाने लगा कि 'अपने में' कोढ़ मिया नैतिक या अनैतिक नहीं होती। यह गहरे डगरकर समझने और देश फाल के सन्दर्भ में परखने की वस्तु है। ऐसे बौद्धिक वातावरण में नैतिक अपराध दण्ड की नहीं बल्कि सामाजिक विश्लेषण की वस्तु बन गया। फ्रायड की क्रांति ने उसे सामाजिक विश्लेषण की वस्तु भी न रहने दिया। अब तो वह मान रोग बनकर रह गया। अगर होने पर हम रोगी की दयद्व नहीं देते, हलाक करते हैं। उसी प्रकार सिद्धान्त नैतिक अपराध के लिए प्रतिफलित या जेलर की उतनी आवश्यकता नहीं रह गई, जितना डाक्टर की। जबकि दृष्टि से देखने पर यौन आकर्षण हमारे रक्त मांस मज्जा में व्याप्त है। प्रश्न उसे बन्धित करने का नहीं है, उन्हें सही दिशा देने का है। यह गोरगाय, अवाञ्छनीय अथवा अमानवकारी वस्तु नहीं है। यह एक शक्ति है, स्फुरण है, जीवन इच्छा है, जिसे हम स्वीकार करते हैं आदिश्रोत के रूप में।

हम समस्त नव धारणाओं ने यौन चर्चा की गोपनीयता और नैतिकता दोनों ही के सम्बन्ध में सामयिक विचारों में भारी उलटफेर किया है। श्लील और अश्लील का भेद उतना अग्रगण्य नहीं रह जाता जितना पहले था। वर्जनाएँ टूटती हैं। हम देखते हैं कि मनुष्य के कोढ़ भी अनुभव प्रत्यक्ष मासल अनुभव भी—जीवन की गहरी अनुभूति के लिए बहिष्कृत या अप्राप्तिक नहीं माने जा सकते। समूचा मनुष्य—अपने सुकृता और क्लक की समेत—मूल्यवान है। आलोचकों ने प्रायः प्रेमचंद की आलोचना करते हुए कहा है कि उनमें मानवता की संकेत और सिवाह में बाँट देने की प्रवृत्ति है। कहा गया है कि ऐसा करना स्वाभाविक और अयथाय है। इससे एक ही कदम और आगे हम यह भी कह सकते हैं कि ऐसा करना अपरिपक्व और खतरनाक भी है। जब हम यथार्थ के नाम पर मनुष्य को धूप छौंद का सम्मिश्र मानकर कच्चा का विषय बनाते हैं तो मानव अस्तित्व में शुष्कात्मक अन्तर

प्रकट करने करने के लिए शक्ति व को पूरणा प्रेरक लक्ष्य बन जानी है। 'समूचे मनुष्य की उपलप्ति' यह एक चोरदार आकषण यथायथा के बाद के लेखकों का रहा है। किसी हद तक ऐसी बहुत सी स्थितियों, जिन्हें सतही तौर पर आधुनिक अश्लीलता कहकर ठुकराया जा सकता, इस बौद्धिक खोज का परिणाम है। बहस इससे नहीं है कि यह खोज हमें सम्पूर्ण सत्य के दशन कराती है या नहीं, क्योंकि उसार के साहित्यकार ने 'सम्पूर्ण सत्य' की स्थापना का दावा छोड़कर 'कम से कम एकानि' होन का प्रयास उसी दिन अपना लिया जिस दिन वह अपने को स्वयम्भु श्रुति के स्थान पर साधारण मनुष्य मानने लगा। हिंदी का साहित्यिक और समीक्षात्मक वातावरण खरिब के हल बचरने से मुक्त नहीं हुआ है। बहुत सी से एक मान्य हो रही है इतना तो हमारी आँखों के सामने स्पष्ट है। जब तक नई पीढ़ी पुरानी पड़ेगी, बहुत कुछ बदल जायगा, यदि इसी बीच देश में पत्र-पत्रों की तानाशाही न स्थापित हो गई तो।

अनिवार्यत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुद्रित के नाम पर बचनाओं की सूची बना देना आज न केवल असम्भव है, बल्कि एक प्रकार से कुत्सित (Vulgar) भी है। इससे हम मानव अनुभव के एक बहुत बड़े त्वय को अज्ञात और अपरिष्कृत छोड़ देते हैं। अब यह कहना कि ऐतिहासिक वास्तविकता का ही चेतक है उतना निर्विवाद नहीं रह गया है जितना मोक्षमार्ग तलछाण के काल में था। आज यह सम्भव है कि शरीर की भूत के आधार पर हम पूरा एक जीवन दशन पना कर सकें। वह गान हो या सही इससे बहस नहीं है बोध, प्रत्यक्ष अनुभव होगा और उसमें मानसिक और सामाजिक सन्तुलन एक स्वाभाविक की ऐसी कोटियाँ होंगी जो पुराने आध्यात्मिक दशन में छूट जाती हैं। जब तक कोई दृष्टि जीवित है अनुभूति को प्रवर करती है और यदि अनुभूति की प्रसरता है, अप्रासांगिक अनुभवों को जोड़कर सायकता देने की सम्भावना विद्यमान है तो साहित्यकार हमेशा आस पास में डराता हुआ दिखाई पड़ेगा।

मैंने जान बूझकर साहित्यिक अश्लीलता के अतगत उन घण्टियाँ, छिछली रचनाओं पर निवार नहीं किया जिन्हें अनुभूति नहीं बालक 'शारीरिक सिहरन' पर आधारित कहा जा सकता है। ऐसा मर्लिन और फूडर रचनाएँ समाज में हमेशा हाती रही हैं और उन्हें पहचानना असम्भव नहीं है। सम्मीर आलोचना के लिए व कोई प्रश्न इसलिए नहीं उपस्थित करती, क्योंकि कभी भा आलोचकों में इस पर मतभेद हुआ हो नहीं कि वे साहित्य की कोटि में नहीं आती और उनके लेखकों को कनाकारों की कोटि में नहीं आते। ऐसी बातें यदि बड़े बत सफ़ाफ़ रोग का रूप धारण कर लें तो राज्य उन्हें बत कर सकता है, अदोष घोषित कर सकता है, साहित्य को इससे रच मात्र भी छति नहीं पहुँचेगी और न किसी आलोचक को इससे सिर दर्द होगा।

मैंने केवल एक अनुष्ठिति देने का प्रयास किया है जिससे हम श्लीलता अश्लीलता के विवेक की ओर बत सके हैं। सावधानी बरतने की आवश्यकता बड़ा आती है जहाँ नग्न बदन को जीवन की नद और प्रसर अनुभूति के साथ जोड़ने का बौद्धिक प्रयास भा शामिल रहता है। मैं यह नहीं कहता कि यह दृष्टि सिध नम्रता की ही ओर ले जायगी, किंतु इतना अनश्य है कि यदि कभी नग्नता सिवाय भी पढ़ गई तो तपस्या भय होने की सम्भावना हमें निचलित नहीं करेगी। हाल के लेखकों में, चाहे यशपाल हीं, या चैनेन्द्र या अश्वेय या इलाचन्द्र जोशी, यह कहना कि उनके नग्न चित्रण की बाध्यता मान सत्त और आकषक मनोवर्तनोद प्रस्तुत करके

पुस्तकों के पढ़ने की सत्करणा देने लेने की रही है, दास्यास्पद होगा। यह भी कहना कि उनका उद्देश्य वाचना में अक्षयि पैदा करना है मूर्तिपूर्ण होगा। वस्तुतः वे क्षीयन को अपनाने, पूर्णतः अपनाने के सफल या विफल प्रयास हैं। आवश्यकता है कि उनकी सफलता या विफलता का मानदण्ड प्रस्तुत किया जाय, न कि उन्हें 'नेवला एकात्म्य में अपने योग्य' मानकर समाज में 'छि' करके श्रुतित्व की रक्षा की जाय।



डॉ० हरदेव वाहरी

श्रीडाजुगुप्तामगलव्यजकत्वात्

अश्लीलता की बात उठाने में भी अश्लील हो जाने की सम्भावना है। इसलिए क्षेत्र में की अश्लीलता के लिए समाज चाहते हैं। हमने जो २०-२५ उदाहरण अपने कथन की पुष्टि में दिये हैं, उनका यह अर्थ नहीं कि हिन्दी की अन्य कृतियों अथवा अन्य सभी लेखकों में अश्लीलता नहीं है, या कम है। ऐसे उदाहरण चैकड़ों की सरपा में उपस्थित किये जा सकते हैं। जिन साहित्यकारों की पक्तियों को यहाँ उद्धृत किया गया है, उनसे हम समाज माँगते हैं कि सयोगनय उनकी रचनाओं पर हमारा ध्यान गया। उनके प्रति हमारी बड़ी भक्ति है।

कोशों में अश्लील का अर्थ है भद्रा, सुदृढ़, लक्ष्मणनक, अशोभन, गदा, अमर, गैवारु, मन्म। अश्लील वाणी सुनकर अथवा अश्लील कर्म देखकर लोग छि छि करने लगते हैं। कहा जाता है कि श्लील अश्लील का प्रश्न देश, काल, समाज और संस्कृति पर निर्भर है। भारत में लोगों के देखते अपनी पत्नी का सुम्बन अश्लील है, पश्चिमी देशों में यही सिद्धाचार है, इसलिए पश्चिमी साहित्य में प्रेमी प्रेमिका का सुम्बन आलिंगन प्रेम का परिवर्त्यक होने के नाते आवश्यक रूप से आता है। पश्चिम में कोई लड़की अपने माता पिता से इसका उल्लेख करने में लजाती नहीं। काल के अंतर से भी श्लीलता की परिभाषा बदल जाती है। लोक गीतों से विदित होता है कि किसी समय में लड़कियाँ अपने पिता, मामा और चाचा से कहती थीं कि गुप्ते घर चादिय, यह घर काला न हो, छोट्टा न हो, बहूत लम्बा न हो, बुद्धा न हो और बच्चा भी न हो कि जिससे गोदी में खिलाना पड़ जाय। आज कोई कथा ऐसा कहने का साहस करे तो उसे निर्लज्ज और मिथुरी कहा जायगा। बड़े बड़े आपस में अनेक बातें कह लेते हैं जिनको युवकों और बच्चा के समाज में कहते उद् शर्म आती है। पुरुष कभी कभी कोई बात कहने में झोंक लेते हैं कि कोई महिला तो नहीं सुन रही। सांस्कृतिक स्तर के अंतर से भी श्लीलता का स्तर बदल जाता है। ग्रामीण और नागरिक, उच्च और अशुभ, शिक्षित और अशिक्षित की वाणी में अन्तर होता है। गाँव के लोग जिन शब्दों को दिन में अनेक बार बोलते नहीं अपाते, सुश्रुत व्यक्ति उन्हें कभी मुँह पर नहीं लाते। व्यक्तिगत संस्कृति से भी श्लील अश्लील का अन्तर बना रहता है।

संस्कृति में दृष्टी, गाम्भीर्य, गोपनीय इन्द्रिय, बीमारी, मृत्यु आदि शब्दों को हेर फेर से कहने की चिन्ता सदा रही है। दृष्टी का अर्थ नेत्र ही तो है, लेकिन पृथक् प्रयोग के कारण इसे हटाकर 'बाहर', 'जगल', 'शौच' आदि शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। गर्मिणी की जगह 'पौर से भारी है', 'उसे आस है', 'गिन पुरे हैं' इत्यादि कहते हैं। 'मृत्यु हो गई' को बतलकर 'प्राण पलेरु उड़ गए', 'स्वर्गवास हो गया', 'देह त्याग लिया', 'देहांत हो गया' आदि कहा जाता है।

ऐसे शब्द प्रत्येक भाषा में मिलते हैं। कुछ बातें ऐसी हैं जो सभी देशों, सभी कालों में अश्लील कही जायेंगी। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी बात को अश्लील, अशोभन अथवा लज्जाजनक मानता है।

साहित्य साधारण कथन से अधिक मद्र, शोभन और सुन्दर होना चाहिये। अश्लेष, असम्पन्न, गैर-आर और नगली लोगों का कोई ललित साहित्य नहीं होता। सम्पत्ता और संस्कृति के विकास के साथ ही साहित्य का विकास होता है। तब तो साहित्य में अश्लीलता अपेक्षाकृत अधिक लटकने वाला चीज होगी। कहने वाले कह सकते हैं कि कला तो सौन्दर्य है, कलाकार अश्लील और बुराट में भा सुन्दर क दशन करता है, वह न तो चर्म का टकटार है और न ही आचार शास्त्री, जो श्लील अश्लील का चिन्ता करे। परन्तु हमारा मत है कि कलाकार वैराग्य, निराशा और जगती दुःखी नहीं है। उसकी भावना अधिक सूक्ष्म होती है, उनके लिए अश्लील अनुष्ठान का ही पर्याय है, अश्लेष का पर्याय है। जो साहित्य 'स्वात सुभाव' लिखता है, उसे अपनी रचना प्रकाशित कराने की आवश्यकता नहीं है। अपने मन में होने का एक तो उसे है, पर जब वह समाज के सामने आता है तो उसे समाज सम्मत आवरण डालना ही पड़ेगा, उसे अपनी भावना को ढककर रखना होगा। लोक मनन की दृष्टि बनाना साहित्यकार का जीवनक, धर्म और अमल सुख नहीं कर सकता।

साहित्यकार तो अपने को श्रुति और स्वयम्भू कहता है, वह गड़ी यायी क्यों बोले? वह घृणाघोतक अथवा अमल सुख क्यों करे? वह साहित्य मंदिर में अशुचि वस्तु क्यों आने दे? वह अपने को साधक मानता है। सुम्भन आनिगन, कुल कुल, सम्भोग रति तथा आदि की बात वह योगी क्यों करे? शारीरिक क्रियाओं और कोशसास्त्रीय चर्चाओं की वाक्या करने क्यों बैठता है?—

एक ही सग इहाँ रबट सति

वै भये ऊपर हों भट नीचे।

(एषाकर)

मोहि तुम्हें यह आवर पारत

हार उतारि उठै परि शस्त्री।

(टाकुर)

लाल जमाई कौन घर कहो सति तुम हैन

पिपरी लगे है रूप सज और उनींदै नैन।

(सम्राट् शाह आलम)

कहते हैं कि रीति काल के प्रति दरबारों में राजाओं महाराजाओं व मन्त्रिणों के लिए इस प्रकार का कविता कहते थे जिसमें विनायिता, कामुकता, चुलचुलाहट और उकसाहट रहती थी। रसीले इसमें अश्लीलता अधिक है। इसके अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह हिन्दी के प्रत्येक पाठक को भला भाव विदित है।

रीतिकाल के श्रुगारी कवि तो बदनाम हैं ही, श्राव के प्रायः अधिकांश कवि अश्लीलता में उनसे कम नहीं हैं, पर वे व्यञ्जना का आशय लेते हैं। वे नग्नता का चित्रण करके, उस पर रक्षकान्ता का भीना आरक्षण डालते हैं। वे वाचना को 'पुष्प धर्म सनातन' कहकर आनन्द-निमोद होते हैं। वे बातें कहते हैं बिहारी, पद्माकर, ठाकुर और आलम की सी, लेकिन उन पर आभरण डालते हैं नानक, कबीर और दादू का।

हम उस साहित्य को साहित्य की सजा देने को तैयार नहीं हैं जो असङ्गत, अमगल और वाचनामय भावना को स्फूर्ति दे। जो चित्रण सौ नृत्य के आधार के प्रति कामातुर करे अथवा उस सौ दर्य को वाचनामय प्रेरणा दे, वह चित्रण अश्लील है।

त्रिषा अश्लील, त्रिषेधि त्रीडाजुगुप्तामगलव्यञ्जकत्वात्। (काव्यप्रकाश, ७)
जिस बात से लज्जा, घृणा और अमगल की भावना उत्पन्न हो, वह अश्लील है। चाहे कोई जगली हो, अँग्रेज हो, रोमन हो, भारतीय हो अथवा इस्कीमो, उगके लिए जो बात मीठा, सुगुप्ता और अमगल की व्यञ्जक हो वह अश्लील है।

अश्लीलता अर्थमह्य में भी हो सकती है। यदि कोई उक्ति (भले ही कहने वाले की मानना अच्छी रही हो) अर्थ प्रेषण में अश्लील है, तो वह भिरुच्य ही नि य है। जब लोग मात्र व्यञ्जक पक्षियों का अर्थ भी क्या का क्या से लेते हैं, तो मन्त्रमुक्त के वासनोत्तेजक साहित्य की शिष्टता कौन मानेगा? ऐसी पक्षियों के रचयिता लाप रित, लाप हुरा मानें, वे अर्थग्राहक की समीक्षित से सचेत हों। उन्हें लगेगा कि अश्लीलता भी कोई वस्तु है। वह उनकी अपनी दृष्टि से नहीं, लोक की दृष्टि से घोषित होगी। साहित्यकार का अपनी शब्द योजना ऐसी रखनी चाहिए जिससे शुद्ध चिन्तन की प्रेरणा हो।

मिन्नलिखित पक्षियों की व्यञ्जना को अश्लील कहा जायगा। लेकिन वे हमारा सीधा प्रश्न है—क्या ये पक्षियाँ ये अपनी माँ, बहन, बेटी के सामने पढ़ने को तैयार हैं? क्या कोई अन्वेषक इनकी व्याख्या अपने शिष्य शिष्याओं के आगे कर सकता है?

१ तुम रति रत में मनमिज सराम, यह अन्धकार, है चाह भिये
(मगवतीचरण वर्मा)

२ क्षात्र की सीमा भिये तुम लोद दो
आन मिल लो मान करना कुछ दो
यह हृदय की भेंट है स्वीकार हो
आन जीवन का सुमुखि अभिसार हो।
(मकानीचरण वर्मा)

३ आन अघर से अघर मिले हैं
आन बाँद स बाँह मिली
आन हृदय से हृदय मिले हैं
अनुभूति मन की चाह मिली।
(पञ्चन)

४ जागो फिर एक बार
सहृदय समीर जैसे पोंछो भिय नयन नीर
शयन मिथिल चाह भर स्वप्निल आवेश में
आतुर उर वसन मुख कर दो, सय सुप्ति सुखो-माद हो

टूट-टूट चलस पैल जाने दो पोठ पर
कल्पना से कोमल अञ्जु कुण्डिल प्रसारगामी केर गुच्छ ।

(निशाला)

२ आज सोहाग हूँ मैं किमका, लूँ किसका यौवन ?
किस परदेशी को बंदी कर सफल करूँ यह वेदन ?

(अचल)

३ आज न सोने दूँगी बालम !

आज बिरह स झीन तुम्हें भिय निज वचस्थल में भर लूँगी ।

बहुल गोल गारी बाहों में कम्पित झगों में कस लूँगी ।

(नरेन्द्र)

पद की 'प्राप्ति' में इच्छन की 'मिशन यामना' और 'निशा निमन्त्रण' में, अचल की 'मधुलिका' और 'अदराबिना' में, नरेन्द्र की 'प्रमत्त फरा' में, आरसीप्रसादसिंह की 'चित्तना अञ्जा होता वह दिन' तथा 'आओ मेरे आगे बैठो' शीघ्र कविताओं में, अशेष की 'आह्वान', 'सावन-मेघ', 'आशास्त्र प्रथम दिवसे' आदि कविताओं में प्रेम के पुष्पसज्जनक चित्र मिलते हैं। 'नई कविता' में भी सुम्भन आलिंगन के भेद गिनाये जा रहे हैं

एक सुम्भन यह

कि जिसमें उष्य रवासों की डमस नस नस कस उम्माद

अधर मधु के साथ मिश्रित दशनों का स्वाद

(जगदारा पुन)

निम्नलिखित काशी किश पद्य के साधक की कही जायगी ।

तब तक समझूँ कैसे प्यार,

अधरों से जब तक न कराये

प्यारी उस मधुरस का पान ?

आदि आदि ।

जिस कृति में इस प्रकार की नयनता हो (चाहे वह रोमांस के नाम पर हो, चाहे यथाथ और जीवन की पारथा क कहाने), उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता ।

विभक्तिपरस्था सम्भोगे सा कला न कला मता ।

क्षीयते परमानन्दे वषामा सा परा कला ॥

शारीरिक आनन्द की प्राप्ति का कामना काम है, पशु-वृत्ति है आदिमक आनन्द के उद्देश्य की पूर्ति से प्रेम होता है। नारी के सौ दय पर मुग्ध होने वाले कवि आज बहुत पैदा हो गए हैं। इ हैं नारी में कोढ़ आतुरिक सौ दय हो दृष्टिगोचर नहीं होता। ये लोग नव शिख वषण करने में किसी देव या दास से कम नहीं हैं—अन्तर यही है कि प्रपने लोग स्वप्नवादी थे, आज के लोग यथकला से काम लेते हैं। नायिकाओं के भेद तो इस युग में इतने वर्णित हुए हैं कि एक घीसिष्ठ लिखा जा सकता है।

गद्य में भी अश्रलालता भरपूर है। ऐसा समझा जाता है कि उपन्यास तो है ही इसके साहित्यिक प्रदर्शन के लिए। इधर प्यारेलाल आयाय, कुशवाह काव, गोविन्दसिंह आदि ने तो

कमल कर दिया है। आज से २०-२५ वर्ष पूर्व उप यास पटना जुन्ना का काम समझा जाता था। पड़े-रूटे ध्यान रखते थे कि लड़के उप यास तो नहीं पड़ते। इसलिए हमने बहुत उप यास तो नहीं पड़े, लेकिन इसर सुना कि ग्रेमचन्द के बाद साहित्यिक कोटि के सुन्दर उप-यास लिखे गए हैं तो निराशा बनी। इन पर भी पुराने सस्कारी के कारण हिम्मत नहीं हुई—बहुत कुछ नहीं पड़ा। भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, प्रभय, धर्मवीर भारती आदि मित्रों के कुछ उपन्यास पड़े। भार्या-वही है जो मेरे बाप दादा की थी। बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है। एक ही उदाहरण—अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में नाविक नाविका के प्रेम का विस्तृत वर्णन—इसका साक्षी है श्रीर लक्ष्मोनाशायक मिश्र के 'सुक्ति का रहस्य' नाटक में भी डाक्टर के पात्र आशादेवी का ऐसा ही वर्णन है।

कहानियाँ में कमल जोशी की हाल की एक कहानी 'चार के चार', जो इस नाम के संग्रह में प्रकाशित हुई है, उदाहरण के रूप ली जा सकती है

'लगने न कपासी से कहा, 'तुम नहीं चलोगी?'

'हूँ' कपासी के स्वर में शिथिलता थी। फिर के चुपचाप बैठे रह।

आधी रात के बाद किसी के घबके स शगवे की नींद खुल गई। कपासी बहुत धीरे स बोली—'सुप, जरा भी आराज़ न करना, नहीं तो ये लोग जग जायेंगे।'

समुप क शरीर की गन्दी सू, आकाश में चाँद, सेर के उस और अन्धकार, (रेलवे) सिगनल की लाल राखनी।

चौर की तरह चुपचाप जाकर वे सो जाते हैं। आकाश के चाँद और पृथ्वी के गूँगे घाँसे के अलावा उनके निशीथ अभिमान का कोई साक्षी नहीं रहता।'

ऐसे दृश्य चित्रण से समाज का क्या मगल होगा, इस नहीं जानते। हमें तो 'मिथा निम नय' के इन वर्णन में भी अमगल की सूचना मिलती है

पाद से कुछ कासल पर

सित कफ की ओढ़ पादर

एक मुर्दा जल रहा था बैठकर अपनी चिता पर।

कितना भीमत्त दृश्य है! गिरिधर गोपाल को अमगल में ही मग्न आता है। उसका राव भी बोलता है

जींटे मुझे सब चीककर

देगा नहीं मुझ मोचकर

हुल दूर होली जा रही

हर सौत बन्धन तोड़कर,

मैंने नहीं काटी निशा अब तक किसी पोपल लले

मुझसे न णकारी खला जाता मरण की राह में।

और

मिस्की अर्था, बैसी चिता, अरे कैसे चगारे

दृष्ट रहे मेरी यत्नकों पर सूरज चाँद सितारे

रोता कौन ? अरे बिहली, क्या सचमुच बिहली रोई ?
आज अज्ञानक चील लगी क्यों इस घर पर मँडराने ?

(अग्निमा)

किसी एक पाठक के मन में भी इसे पढ़कर यदि 'अमंगल' की भावना लग जाय, तो यह साहित्य अश्लील हो गया ।



अनुशीलन

डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव

रामानन्द-सम्प्रदाय में योग

कबीरदास तथा अन्य सत् कवियों के साहित्य में नाथपंथी प्रभावों को देखकर कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि स्वयं रामानन्द स्वामी ने ही योग और भक्ति का समन्वय अपने मत में किया था और कबीरदास आदि शिष्यों ने अपने गुरु से इसी समावृत योग की दीक्षा पाई थी। रामानन्द के नाम पर योग सम्प्रदायी कुछ ग्रंथ भी प्रचलित हो गए हैं और लोगों ने प्रायः उन्हींको आधार मानकर अपना उपर्युक्त मत निश्चित किया है। यही नहीं रामानन्द सम्प्रदाय की एक प्रमुख शाखा का भी नाम 'तपसी शाखा' है, और राजस्थान, पंजाब, सौराष्ट्र आदि में उसके बड़े बड़े पेड़ आज तक वर्तमान हैं। सम्प्रदाय के 'भक्तमाल' आदि प्रामाणिक एवं प्राचीन ग्रंथों से यह भी ज्ञात होता है कि कृष्णदास पयोहारी जी ने रामानन्द सम्प्रदाय की पहली गद्दा राजस्थान में योगियों को अपने स्वमत्कारों द्वारा पराजित करके ही स्थापित की थी। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के अनुसार पयोहारी जी ने आज की धूली की अपनी अगोछी में उठा लिया था, योगियों के महत्त का बधा बना दिया था और उनके प्रभाव से योगियों की मुद्राएँ अपने आप निकलकर पयोहारी जी के समक्ष एकाग्र हो गई थीं। प्रश्न यह उठता है कि पयोहारी जी को यह योग मिला कहाँ से? क्या अनन्तानन्द ने भी योग साधना की थी और यही पयोहारी जी को गुरु दीक्षा के रूप में प्रदान की थी अथवा पयोहारी जी ने स्वयं ही नाथपंथियों के सम्पर्क में आकर उन्हें परास्त करने के लिए योग में भी सिद्धि प्राप्त कर ली थी? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर मिलने पर ही रामानन्द और कबीर के वास्तविक सम्बन्ध की परीक्षा की जा सकती है।

डॉ० बडनवाल ने 'सिद्धा तप-प्रमाणा' ग्रंथ के आधार पर सिद्ध किया है कि रामानन्द जी के गुरु स्वामी राघवानन्द जी ने भक्ति और योग दोनों का ही समन्वय अपने मत में किया था और एक सिद्ध ती के अनुसार उन्होंने रामानन्द को योगस्य करके ही उनकी जीवन रक्षा का भी, अतः यह यह सम्भव है कि स्वामी रामानन्द जी ने अपने गुरु से ही वैष्णवी दीक्षा प्राप्त करने के साथ ही योग की भी दीक्षा पाई हो। किंतु, जहाँ तक रामानन्द जी की प्रामाणिक रचनाओं—'श्री वैष्णव मठा-जमाकर' तथा 'श्रीरामार्चन पद्धति'—का प्रश्न है, वे विशुद्ध

वैष्णवाचार्य सिद्ध होते हैं। सम्प्रदाय के अधिकार विद्वानों ने भी उहें वैष्णव भक्त एवं आचार्य माना है और 'अज्ञातसहिता', 'मत्तमाल' आदि प्राचीन एवं प्रामाणिक रचनाओं के आधार पर उनका विशुद्ध वैष्णव होना ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार अनन्तानन्द की भी वैष्णव भक्ति-मार्ग के ही पथिक थे। उनका 'हरिमक्ति सिधुवेला' ग्रन्थ विशुद्ध वैष्णवी भक्ति से ओत प्रोत है। अतः यह बहुत सम्भव है कि अनन्तानन्द जी से पयोहारी जी को योग न मिला होगा और अधिक सत्य यही प्रतीत होता है कि स्वयं पयोहारी जी ने ही रामानन्द सम्प्रदाय में योग का समावेश किया है।

नामादास जी के अनुष्ठान कृष्णगत की राजपूताने के दासिमा (दास-भ्य) प्रादुर्भाव थे। राजपूताना में विषम की १५वीं १६वीं शताब्दी तक कनफ्ते योगियों का पर्याप्त प्रभाव था। अतः वहाँ की जनता का उनसे प्रभावित हो जाना असम्भव नहीं। पयोहारी जी पर भी गण्यत्व था। इन योगियों की साधनाओं के स्पष्ट स्वरूप पढ़े ही होंगे। अनन्तानन्द से उन्होंने वैष्णव धर्म में दीक्षा प्राप्त की थी अवश्य, पर स्वरूपगत योग से वे मुक्त न हो सके होंगे। नाथपंथियों को हटाकर जैन सम्प्रदाय की गद्दी स्थापित करने का प्रश्न उठा होगा तो उनका यह स्वरूप और भी प्रबल हो उठा होगा। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की एक बात और है। पयोहारी जी ने अपने दो प्रमुख शिष्यों—कीलह और अग्र में कीलह को ही गलता की गद्दी का अधिकारी बनाया, अग्र को नहीं। कीलह की प्रवृत्ति योग की ओर अधिक थी। नामाजी के अनुष्ठान उन्होंने भीष्म वित्तमह की मूर्ति ही मूर्त्यु की स्थान में कर लिया था सत्य और योग दोनों ही शास्त्रों का सिद्धांत का उद्गुह अनुभव हो गया था। प्रियादास जी ने इनके अनेक योगिक चमत्कारों का घणन किया है। स्पष्ट है कि पयोहारी जी ने कीलह की इन्हीं सिद्धियों से प्रभावित होकर अपनी गद्दी का अधिकारी उद्गुह बनाया होगा। नाथपंथियों की दृष्टि गलता की ओर लगी ही रही होगी, वे उसे हस्तगत भी कर लेना चाहते रहे होंगे। कीलह ने वहाँ रहकर पयोहारी जी के उद्देश्य को पूरा भी किया। स्वयं योग निष्णात तो वे थे ही, अपने शिष्यों को भी उन्होंने योग का भरपूर ज्ञान कराया। नरवर गण के फल्लुवाहा राजा आसकरन उन्हीं शिष्य थे। मयुरा के राजा मानसिंह के यहाँ उहें सम्मानपूर्वक बुलाया ही जाता था। इससे स्पष्ट है कि राजस्थान के राजवंश वगैरे इनका बहुत ही प्रखर प्रभाव था, नाथपंथी योगी इनके विरोध में खड़े नहीं उठ सकते थे।

कीलह के उपरांत उनके शिष्य द्वारकादास ने योग की परम्परा को और भी आगे बढ़ाया। वे भी अष्टांग योग में पूर्ण निष्णात थे। कुचक ग्राम में बहुत समय तक वे नदी के तट पर रहकर ध्यानस्थ रहते। घर द्वार से इन्हें पृथक् विराग था। कीलह के ये बड़े कृपा पात्र थे, अतः उन्होंने कुचक से इन्हें माया का भी विनाश कर दिया। नामा जी ने कहा है, 'अष्टांग योग तन र्यागिन्ध द्वारकादास पार्श्व दुनी।

इस प्रकार पयोहारी जी की शिष्य परम्परा में भक्ति के साथ साथ योगाभ्यास भी होने लगा। धीरे धीरे रामानन्दी वैष्णवों की एक शाखा में योग साधना का पूरा समावेश हो गया। यह शाखा 'तपस्वी शाखा' के नाम से विख्यात हुई और इस शाखा के छात्र, तपस्वी महात्माओं के नाम से पुकारे जाने लगे। आज भी राजस्थान, पंजाब आदि में तपस्वी महात्माओं का आदर है। अखाणों के नामा प्रायः इसी शाखा के अन्तर्गत आते हैं। इन्हें कभी कभी 'अवधूत'

भी कहा जाता है और इस शाखा को 'अवधूत मार्ग शाखा' ।

तपसी शाखा के मुख्य ग्रंथ हैं—'सिद्धान्तपटल', 'रामरक्षास्तोत्र' और 'योग चिन्तामणि' । ये तीनों ही ग्रंथ रामानन्द की द्वारा विरचित कहे जाते हैं, किन्तु अनेक पुष्कल प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि ये स्वामीजी कृत नहीं हैं । फिर भी तपसी शाखा के मूल सिद्धान्त इनमें निहित हैं, अतः इनके विवेच्य विषय पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा ।

'सिद्धान्त पटल' अवधूत मार्ग का एक प्रमुख ग्रंथ है और इसमें अवधूत मार्ग की विचारधारा पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । इसमें एक और उन सभी सामग्रियों का वर्णन किया गया है जो यस्याभूषणानि के रूप में नायक-या योगियों द्वारा धारण की जाती थीं—जैसे सेली, मिनी, कुन्जी, कड़ा आदि और दूसरी ओर नायक की पारिभाषिक शब्दावली—इसा, शः, अगम, सोहम्, पिङ्ग, अक्षरा, सतगुरु, त्रिगुण, निरञ्जन, विभूति, अक्षय, गगन, अष्टकमल, त्रिवेणी, रोज, चन्द्र, सूर्य, नयनाय चौरासो सिद्ध आदि का भी समावेश किया गया है । इसके साथ ही माला, मुनिरानी, तिलक, गायत्री, हनुमान की पूजा, चालिग्राम, यक्षोपवीत, रामलक्ष्मण, जानकी माता, ब्रह्मा विष्णु महेश्वरादि देवता, प्रसादी, कटी, शाल, सम्प्रदाय मंत्र आदि का भी हस्तमै प्रयोग प्रयोग मिलता है । इस ग्रंथ का आदेश है कि 'वैष्णवों को शुरुबीज मंत्र का जप करना चाहिए, इससे मन का चञ्चन कटता है और मक्त की बैकुण्ठ मिलता है ।' ग्रंथ के अंत में ठातुर की एक दहल माहात्म्य का भी वर्णन है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्वामी रामानन्द की कृति न होने पर भी इस ग्रंथ का एक अद्भुत एक अद्वितीय महत्त्व है । इसमें निश्चित रूप से नायक-या योग और वैष्णव भक्ति का समन्वय स्थापित किया गया है । इस प्रयास की अवहेलना नहीं की जा सकती ।

'योगचिन्तामणि' में भी काया, कर्क, ताल विन्दु, सतगुरु, अष्टदलकमल, हठा, सरोवर, शब्द, सुरत, सबल आदि शक्तियों का प्रयोग किया गया है । यह योग प्रणाली पर प्रकाश डालने वाला ग्रंथ है, किन्तु प्रचार की दृष्टि से इसका कुछ भी महत्त्व नहीं है ।

'श्री रामरक्षास्तोत्र' में भी संध्या, निरञ्जन, नाद, गुणना, पञ्चसूत्र, लेचरी, भूचरी, आगोचरी, उमनी, चाचरी, पिम् (पिं ड) त्रिकुटी, अक्षय, अष्टदलकमल, विन्दु आदि के साथ ही लक्ष्मण, जानकी, हनुमान और राम का भी बीच बीच में नाम आ गया है ।

उपर्युक्त तीनों ही ग्रंथों में 'सिद्धान्त पटल' अवधूत मार्ग का सर्वप्रिय ग्रंथ है इसका पर्याप्त प्रचार भी है । अतः तपसी शाखा के विचारों का इसमें पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है । योग और प्रेम का बहुत ही सुन्दर समन्वय यहाँ मिलता है । रामानन्द का सिद्धान्त विशुद्ध प्रेम पर बल देता था और इस प्रेम को लेकर ससार क्षेत्र में आने वाले शाक्तों ने वातावरण के अनुकूल उसे ढाल दिया । रामानन्द की प्रेम भावना और नायक-या योग को समेटकर आगे बढ़ने वाली 'तपसी शाखा' का प्रयास बहुत कुछ इसी प्रकार का था । बहुत सम्भव है ऐसा ही उदार दृष्टिकोण लेकर कथोरनाथ न ही तपसी शाखा के महात्माओं का मार्ग प्रदर्शन किया हो । स्वयं रामानन्द में ये प्रवृत्तियाँ समवेत हो गई हों, इसके पुष्कल प्रमाण नहीं मिलते । जो कुछ भी सामग्री अब तक प्रामाणिक सिद्ध हुई है उससे स्पष्ट ही ये निश्चिन्तामैत मतानुयायी वैष्णव मक्त प्रतीत होते हैं ।

मूल्यांकन

वचन सिंह

नया साहित्य : नये प्रश्न

आधुनिक हिन्दी साहित्य के विभिन्न रूपों को समझने समझाने का बितना तलस्पर्शी प्रयास आचार्य नन्दलाल वाजपेयी ने किया है उसका अर्थ कोई व्यक्ति अब तक अकेले नहीं कर सका है। आधुनिक साहित्य के अतिरिक्त सूत्र और तुलसी साहित्य के अन्तरग का भी उनका गहन अध्ययन है। सूत्र साहित्य के अन्तरग पक्ष का गहन अध्ययन उनके 'महाकाव्य सुरास' के कतिपय अंतिम अध्यायों में मिलेगा।^१ नये पुराने साहित्य के सम्बन्ध में उद्घाटन को कुछ लिखा है उसमें दृष्टिकोण का नवीनता, अन्तरग का गहन विश्लेषण और पकड़ का अटूट क्षमता दिखाई पड़ती है। यह सच है कि मुरयान नये साहित्य और उसकी समस्याओं के चिन्तन और मनन ने उनके दृष्टिकोण का नूतन अलोचनार्थक चेतना दी है, यह भाव सच है कि यूरोपीय साहित्य के गम्भीर अध्ययन ने उनको चिन्ता की नवीन उम्रेप और स्फूर्ति दी है, लेकिन इससे उनकी भारतीय समीक्षा दृष्टि को सम्पन्नता, पारङ्गता और समुलन प्राप्त हुआ है। इस नवीन दृष्टिकोण के कलत्वरूप ही वे भारतीय साहित्य शास्त्र तथा रस निष्पत्ति का पुनराख्यान कर सके हैं।

वाजपेयी जी की नवीनतम समीक्षा पुस्तक 'नया साहित्य नये प्रश्न' में दो दशानक निबन्धों का भी समग्र है फिर भी समग्रतः इसमें नय साहित्य से सम्बद्ध नये प्रश्नों के विश्लेषण तथा विविध समस्याओं के समुलनात्मक हल प्रस्तुत करने के प्रयास किये गए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक पाँच भागों में विभक्त है—'निकष', 'निवेदन और निरूपण', 'वातावरण और वक्तव्य', 'दो दशानिक निबन्ध' और 'परिशिष्ट'। इस पुस्तक में समय समय पर लिखे गए निबन्धों, वार्ताओं आदि को समग्रित किया गया है। इसलिए स्वाभाविक है कि कुछ बातों को पुनः पुनः ले आना पड़ा है। अतः इसकी प्रमुख विवेचनाओं और मायताओं का समाक्षा को परिधि में ले आने के लिए मुझे अनग अमर बचाना पड़ा रहा है। 'निकष' वाजपेयी जी की गम्भीर और रोचक आत्म समीक्षा है। शेष खण्ड में नवान यथायवाद की पृष्ठभूमि पर आधुनिक काव्य, नये उपन्यास, समस्या नाटक, गद्य समाक्षा तथा पार्श्वमी आर भारतीय समीक्षा शास्त्र को कुछ कोशों में देखा गया है।

१ वस्तुतः ये ही अर्थ उनके द्वारा लिखे भी गए हैं।

‘निकष’ में वाजपेयी जी ने अपने कृतित्व की उपलब्धियों और अभावों का विवेचन किया है और नये साहित्य की दिशा निर्देशित करके उसके लिए एक ‘निकष’ भी तैयार किया है। समीक्षा के क्षेत्र में वाजपेयी जी का आग्रहमन प्रसाद, निराला और पन्त के विवेचक रूप में हुआ था। ये ही इनकी समीक्षा क के द्र विद्वत् थे। वे ‘नये जीवन दर्शन, नई भाव धारा, नूतन कल्पना छवियाँ और अभिनव भाषा रूपों को देखकर उनकी ओर आकृष्ट हुए। उनके अभाव ‘साकेत’, ‘प्रिय प्रवास’ और रत्नाकर की का य कृतियाँ इ हैं अनाकर्षक लगतीं। इसके पल्लव रूप, जैसा वाजपेयी का कहना है, उनके विवेचन में गहरी एकागिता आ गई। ‘हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी’ में प्रेमचंद व अन्य ची को निष्पन्न समझा है, उसमें उन्होंने अपनी कवि की प्रमुखता को स्वीकार किया है। अपनी इस एकागिता को उन्होंने अपनी अन्य समीक्षा पुस्तक में उल्लिखित करने का प्रयास किया है।

यद्यपि वाजपेयी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि वस्तुमुक्त दृष्टि के अभाव में उनके साहित्यिक मूल्यांकन में कोई बड़ी कमी आ गई है, यह कहना अतिरिक्त होगी, फिर भी वे अपनी एकागिता के प्रति जागरूक बने हैं। लेकिन जिसे वाजपेयी जी ने एकागिता कहा है वह अपने आपमें पूर्ण है। ‘हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी’ के छायावादी काव्यों से सम्बद्ध निष्पत्ति के अतिरिक्त महावीरप्रसाद द्विवेदी, ‘रत्नाकर’, मैथिलीशरण गुप्त, ‘साकेत’ और ‘रामचंद्र शुक्ल’ पर लिखे गए निष्पत्ति उनकी तलस्पर्शिता दृष्टि, अतर्क्य प्रतिभा और शब्दक प्रकट के चोख हैं। इन सभी कवि लेखकों पर पहली बार नये दृष्टि से विचार किया गया है जो आज भी अपनी राजगी और पैनेपन के कारण विचारोत्तेजक बने हुए हैं। समीक्षा के क्षेत्र में भी कुछ हद तक वाजपेयी जी का भी अनुकरण हुआ—विशेष रूप से आचार्य रामचंद्र शुक्ल को लेकर। कुछ तथ्य अलोचन वाजपेयी जी की बात की ठीक ढंग से दुरा भी न सके। इन्होंने सम्बन्ध में टी० एस० इलियट ने कहा है कि ‘The majority of critics can be expected only to parrot the opinions of the last master of criticism’

उनकी दूसरी पुस्तक ‘जयशंकर प्रसाद’ में प्रसाद के काव्य (कामायनी), नाटक, उपवास (कफाल) पर भिन्न भिन्न समयों पर लिखे गए निष्पत्ति समझाई हैं। प्रसाद के काव्य नाटकों पर लिखी गई अनेक पुस्तक के बावजूद भी प्रसाद की समझने के लिए आज भी वह पुस्तक अपना विशेष महत्त्व रखती है। उनकी तीसरी पुस्तक ‘प्रेमचंद साहित्यिक विवेचन’ ‘हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी’ में प्रेमचंद पर समझाई निष्पत्ति की एकागिता दूर करने की दृष्टि से लिखी गई है, पर इसमें एक दूसरी एकागिता आ गई है जिससे प्रेमचंद की कृतियों का पक्ष काफी निर्णय पड़ गया है। यह पुस्तक उनके जीवन के बहुत अनुकूल नहीं दो सकती है। उनकी चौथी पुस्तक ‘आधुनिक साहित्य’ १५० पृष्ठ प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में ‘प्रयोगवाद’ सम्बन्धी लेखक ‘हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी’ के लेखों की संतुष्टि की पुनरावृत्ति कर देता है। इसके सम्बन्ध में उन्होंने ‘निकष’ में स्वयं लिखा है ‘प्रयोगवाद के लिए मेरी चौथी पुस्तक में एक भी संवर्धन का शब्द नहीं है, बल्कि ऐसी सीध समीक्षा है जिससे बहुत से प्रयोगवादी तिलमिला उठें हैं। कुछ ने सफाई दान की कोशिश की है तथा एक महाशय ने उस निष्पत्ति को मेरा बचपाना प्रयास माना है। ‘चार सप्तक’ के सप्त महारथियों के लिए मेरी इस निष्पत्ति की दुर्दशा सम्मुख अभिमान्यु का बचकाना प्रयास ही है। टेरियत यह हुई कि

अहिंसात्मक युद्ध किसी के सिर नहीं बीता, पर हृदय परितप्तन बहुलों का हुआ है। बहुत से प्रयोगवादी नये सिरे से सम्मन्दार हो गए हैं और कई तो रेखा छोड़कर बाहर चले गए हैं।" जिस तरह शुक्र जी सम्बंधी वाजपेयी जी के लेखों ने समीक्षा सम्बंधी अनेक नवीन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया उसी प्रकार इस लेख द्वारा भी प्रयोगवाद सम्बंधी अनेक सहीयताओं का उद्घाटन हुआ। इस पुस्तक के कुछ अन्य निबंधों की प्रार्त्ता उनकी नवानतम पुस्तक की प्रार्त्ता के साथ की जायगी, क्योंकि क्रम स्थापन की दृष्टि में इन्हें दोनों पुस्तक में रख दिया गया है।

'नया साहित्य नये प्रश्न' में साधारणतः पाठकों की जिज्ञासा हो सकती है कि ये नये प्रश्न क्या हैं और वे क्यों उत्पन्न हुए हैं। इन जिज्ञासाओं का समाधान 'विवेचन और निरूपण' खण्ड के पहले निबंध—नवीन यथायवाद—में मिलेगा। इस निबंध की अन्य निबंधों की दृष्टिभूमि समझना चाहिए। यथायवाद के नाम पर दो विचार बदलियों प्रचलित हैं—माकसवादी विचार पद्धति और अन्तश्चेतनाविचार पद्धति। माकसवादी विचार पद्धति या समाजवादी यथायवाद 'वर्ग संघर्ष की भूमि पर काय की ऐतिहासिक प्रगति का आकलन करता है।' अन्तश्चेतनाविचार साहित्य को मन का दमित वृत्तियों के प्रकाशन का माध्यम मानते हैं, साहित्य की सामाजिक उपयोगिता पर उनकी विश्वास नहीं है। वाजपेयी जी ने इन दोनों मतों को परस्पर विरोधी और अतिवादी कहा है। लेकिन वे इनका सव्यांतरिकार नहीं करते, काव्य चारणाओं में वे इनकी सहायता अवश्य लेना चाहते हैं। उनका निश्चित मत है साहित्य का लक्ष्य और स्वरूप आज की इन यथायवादी सीमाओं को पार करने पर ही दिखाई देगा। आज जब हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन हो चुकी है तो उस वर्गों, किशोरों या सम्प्रदायों में विभक्त कर परलना अत्यधिक आत्मघाती जाती है। अपने इस निबंध में वाजपेयी जी ने साहित्यकारों का ध्यान नवीन राष्ट्रीय जापति की ओर आकृष्ट करके स्वस्थ और जीवन्त साहित्य के निमाण का समर्थन किया है।

'आधुनिक काव्य का अंतरंग' खण्ड निबंध में उन्होंने बतलाया है कि काव्य और जीवन की समस्या के नाम पर काय 'यथायवाद' द्वारा अनुशासित हो रहा है। इनके अतिरिक्त जीवन सम्बंधी एक सीधरी दृष्टिकोण है—प्रयोगवाद, जिसे निहिलिस्ट दृष्टिकोण कहा गया है। लेकिन आज काव्य में मानववाद का शोर और अन्तश्चेतनाविचार का आतक बहुत कुछ शान्त हो गया है। प्रयोगवाद, जिसे वाजपेयी जी ने निहिलिस्ट दृष्टिकोण कहा है, अब नकारात्मक नहीं रह गया है। 'अनुभव' के 'बावरा अदेरी' की कुछ कविताओं को इसके प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया जा सकता है। हाँ, संकेतवादी आज भी प्रयोग या स्थापत्य की साध्य मानकर पुनः की समस्त साहित्यिक मायता—साधारणीकरण, प्रेयसायता, स्पेगात्मक अनुकूलत्व आदि (Emotional Response)—को अस्वाकार करके सब्जे निहिलिस्ट होने के गवे पर अदे हुए हैं। इस सिलसिले में वाजपेयी जी ने एशिया के पुनर्जागरण, अणु-बम की छाया में शांति स्वीकने वाले मानव सहयोग आदि के नियाशील तत्त्वों को पहचानने के लिए कलाकारों का आह्वान किया है, जो सन्मुख में माध्य के अंतरंग को पुनः और प्रशस्त करने में काफी दूर तक योग देगा।

इस समग्र में उपवास सम्बंधी चार निबंध समर्पित हैं—'नये उपवास', 'संविवादी उपवास', 'नवीन कथा साहित्य—विचार पद्धति' और 'उपवासकार बनें'। पहले निबंध में

हिन्दी उपन्यास के उपलब्धि अभाव को उसके ऐतिहासिक विवेचना क्रम में उपस्थित किया गया है। प्रेमचन्द के बाद बाबू पेयी जा ने उपन्यास लेखकों की जो नयी मानी है उसमें—मगवती प्रसाद बाबू पेयी, मगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्र सम्मिलित हैं। इनके पश्चात् एक दूसरी प्रयी का उल्लेख किया गया है जिसमें यशपाल, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आते हैं। प्रथम प्रयी की उपलब्धि है उपन्यासों की विवरणात्मक पद्धति से हटाकर उन्हें मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करना, लेकिन मनोवैज्ञानिक कक्षापोह में सलग्न हो जाने से उनका सामाजिक पक्ष अत्यन्त अशक्त और कहीं कहीं दृश्य हो गया है। दूसरी प्रयी नये गगार्थवाद के किसी न किसी रूप से बुरी तरह आक्रान्त है। यशपाल मार्क्सवाद की सीमाश्रा का अतिक्रमण नहीं कर पाते तो इलाचन्द्र अतर्कवादशास्त्र का, अज्ञेय इन दोनों के बीच स्थल पर खड़े हैं। कदाचित् इसी निरुत्तरेय का चरित्राकर अधिक सङ्घर्ष और गहरा है। ऐकनिक सम्बन्धी अनेक उपलब्धियों के बावजूद प्रेमचन्द की मानवीय संवेदना की ओर हमारे उपन्यासकार अभी अच्छी तरह उन्मुख नहीं हो पाए हैं। यह उनका सबसे बड़ा अभाव है। उपन्यासकार जैनेन्द्र को उनकी समझना में इस तलस्पर्शिनो दृष्टि से देखा गया है कि उनका कल्याण स्थापना, परिदृश्य, दृष्टि कोण, ऐकनिक आदि के अनेक पहलुओं का मार्मिक उद्घाटन हुआ है। इसमें जैनेन्द्र का सन्तुलित विवेचन हुआ है, जो बाबू पेयी की के गहरे चिन्तन का शीतलक है।

नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र सम्बन्धी निबन्ध में मुख्य रूप से समस्या नाटकों पर विचार किया गया है, जो कह अभा में नवान और विचारोत्तेजक हैं। समस्या नाटक मूलतः कृद्धि विषयक, बौद्धिक और विचारों को उद्बुद्ध करने वाले हैं। समस्या नाटकों के आदिमात्रक इम्पेन के विचार पक्ष का उल्लेख करते हुए शॉ ने लिखा है कि उसके विचार हमारे ऊपर निदय आघात करते हैं और आत्माओं के आतकी से नव निकलने की उत्तेजनात्मक प्रेरणा देते हैं। उनसे माद्री जीवन को धाम्नावस्थाओं के प्रति हमें दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं।^१ मिश्र जी की समस्याओं का बहिरंग सङ्पूर्ण है, लेकिन समाधान भावात्मक और आदर्शवादी। उनकी समस्याएँ न अथ तन समस्याओं का स्वरूप करते हैं और न ही हमारा रुझानों पर निदय प्रहार। बाबू पेयी जी न उ हैं मूलतः पुनर्स्थापनवादी और उप हिन्दुत्ववादी कहा दें जो नाटकों की विषय वस्तु और परिघनाप्ति को देखते हुए बहुत कुछ समत प्रतात होता है।

इस पुस्तक में समीक्षा सम्बन्धी चार निबन्ध हैं—‘हिन्दी समीक्षा का विकास’, ‘द्विवेदी युग का समाक्षा देन’, ‘नवतम समाक्षा शैलियों’, ‘समीक्षा सम्बन्धी मरी मा यता’। प्रथम तीन निबन्धों में हिन्दी समीक्षा के नमिक विकास तथा उसकी प्रमुख भूमिका का उल्लेख करते हुए अपना साहित्यिक परम्परा की आत्मसात् करने पर बल दिया गया है। इनमें से प्रथम और तृतीय निबन्धों में भासवादी तथा मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा की आत्यों पर क्रमकर प्रहार किया गया है। जैसे इनका आशिक आवश्यकता स्वाकार का गढ़ है। साहित्यिक मूल्यों से केन्द्र च्युत होकर मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, प्राणि शास्त्र के जगला में भटकने वाले अलोचकों से इलियट ने भी निवेदन किया है—*And further more there is a philosophic border line, which you must not transgress too far or too often, if you wish to preserve your standing as a critic, and are not prepared to persect your*

१ Raymond William, Drama From Ibsen To Eliot of pp 42

self as a philosopher ■ metaphysician sociologist or psychologist instead 'समीक्षा सम्बन्धी मेरी मायता में' वाक्यही जान बतलाना है कि यूरोप की सामाजिक स्थिति और भारत का सामाजिक स्थिति में क्या अन्तर है। पश्चिम कह अर्थों में पूर्ण से आगे है, उसका साहित्य स्वयं होने के साथ प्रतिगामी माने। हमारा समाज और साहित्य स्पष्टतः विद्या सोमुख स्थिति में है। अतः हमें समाक्षा विधियों को पश्चिम से उधार नहीं लेना चाहिए। उनकी दृष्टि ■ भारतीय समाक्षा पद्धति का गौरव और सुन्दरपरम्परा को नजर अन्तर्गत करना कभी भी शक्य नहीं है। इसके साथ ही वे पश्चिम के अनेक नवान विचारों को सन्निविष्ट करके अपनी समाक्षा-पद्धति को पुष्ट करना चाहते हैं। वे सच्चे अर्थ में प्रगतिशाली हैं। उनका कहना है—“किसी भी देश का साहित्य केवल शैलियों की सुषरता या शब्दों के समन्वय से बना नहीं बनता। उनके लिए आवश्यकता होता है अर्थपूर्ण साहित्य का, आचार्य-चारित्र्य की और उन्नत वाचन-व्यवस्था की।” आचार्य के सन्न्यासमय और समाक्षामय साहित्य के छात्रों के लिए उदात्त विद्वान् राष्ट्रीय चेतना और उसकी प्रगति पर अतिम आस्था की आवश्यकता बतलाते हैं वह उनके दायक, पूर्वग्रहहीन और सन्तुलित दृष्टिकोण की द्योतक तथा भावी स्वस्थ साहित्य की मार्गशिका है।

• वाचनारिक आलोचना के अतिरिक्त वैदिक आलोचना सम्बन्धी तान स्पष्ट, सुव्यवस्थित और नवान उद्भावनाओं से सम्पन्न निबन्ध माने इस पुस्तक में सम्प्रदात हैं। 'पश्चात्त समीक्षा वैदिक विचार' निबन्ध में पश्चात्त समाक्षा शास्त्र के वैदिक विचारों की बहुत वक्तव्य तथा सुलभे दृष्टि से उपस्थित किया गया है। इसका समन्वय और एकता पर विशेष रूप से दृष्टि रखी गई है।

'भारतीय समाक्षा की रूपरेखा' में अनेक मौलिक प्रश्न उपस्थित किये गए हैं, जो वाक्यही की के दायकालिक स्वतन्त्र चिन्तन के परिणाम हैं। भारतीय समाक्षा के पुनः पराजय और पुनरुत्थान की रक्षा करते हुए वाक्यही ने जो न्यान उपस्थित की हैं वे गम्भीर चिन्तन का मर्म प्रकट हैं। उनका कहना है कि इसकी नवान व्याख्या और पुनरुत्थान के लिए व्याख्याता या 'वक्तव्य' को पश्चिम समीक्षा की एकता और परम्परा के अन्तर्गत की सुव्यवस्था बनाना होनी चाहिए। यद्यपि भारतीय समाक्षा शास्त्र काटकाय समृद्ध है फिर भी पश्चिम समाक्षा शास्त्र का भौतिक संगठन नहीं है। इसलिए आज की पीढ़ी उसके मूल्यों का लक्षण न उठाकर पश्चिम समाक्षा के मूल्यों को उधार लेती है।

वाक्यही ने निम्न और बोलके के 'वाक्यशास्त्र और सौन्दर्य शास्त्र' का उल्लेख करते हुए बतलाना है कि उनमें भारतीय समाक्षा शास्त्र के नगण्य विवरण का प्रमुख कारण है भारतीय समीक्षा शास्त्र की स्पष्ट रूपरेखा का अस्तित्व न किया जाना। उन्होंने भारतीय समाक्षा शास्त्र की उन कतिपय त्रुटियों का भी उल्लेख किया है जिनके कारण वह आज के पाठकों के लिए अर्थपूर्ण और विचारक माने गया है। उदाहरणार्थ मत्तमुनि का 'नान्य शास्त्र' नामक विद्वान की अपेक्षा मान्य-कला और गमन्य-कला का विभिन्न शिष्टक मध्य रह गया है। दूसरे स्थानों पर तत्त चिन्तन मनोवैज्ञानिक और कलागत विवेचन के साथ इस प्रकार सम्मिश्र हो गया है कि उनकी विभावक रेखा लुप्त हो गई है। इसी तरह काव्य सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रंथों में सिद्धांत और रीति-नियम पास पास आ गए हैं। आज हमें वैज्ञानिक दृष्टि पर अलग अलग करना है।

कुछ बातों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हो सकता है। जैसे, रस, रीति, अलंकार आदि के सम्बन्ध में उनका कहना है कि वे मूल रूप में काव्य सिद्धांत के विभिन्न पक्ष थे, न कि सम्पूर्ण काव्य दर्शन के स्थापनापन। यह केवल अनुमानाश्रित है, इसके लिए समुचित प्रमाणों का अभाव है। फिर भी भारतीय समीक्षा शास्त्र ने पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में जो सुझाव उद्घोषित किये हैं वे अत्यंत मूल्यवान् हैं। वे अलंकार के अन्तर्गत कवि के व्यक्तित्व पर, रीति, वक्तव्य और चर्चा के अंतर्गत अभिव्यक्ति की स्थिति और रीति की व्यापक श्रम में सम्पूर्ण काव्यात्मक अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। इस नव निमाण का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उनका कहना है 'नवनिर्माण के इस कार्य में हमारा प्रयोजन कुछ आधारभूत तथ्यों, सिद्धांतों या काव्य शास्त्र के सम्प्रदायों से नहीं, प्रत्युत इतिहास के समस्त विकासक्रम से है जिससे विभिन्न स्थितियों में विभिन्न तत्त्वों, सिद्धान्तों और सम्प्रदायों का रूप निश्चय, निमाण और पुनर्निर्माण किया है, एक उन्हें उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वस्तु प्रदान की है।' इसके लिए उन्होंने इतिहास की व्यापक दृष्टिपूर्ण का अध्ययन आवश्यक माना है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अध्येता को सारी परिस्थितियों पर विचार करने के लिए स्वतंत्र और वस्तुमूलक दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा।

इस उपर्युक्त में 'रस निष्पत्ति' सम्बन्धी विचार कदाचित् सबसे अधिक विचारोत्प्रेषक और विवाद प्रसूत है। 'रस निष्पत्ति' का विवेचन करते समय जो नव व्याख्या वाङ्मयेयी जी ने प्रस्तुत की है यह मूलतः लोल्लट, शुक्र, भट्टनाथ और अभिनव गुप्त के मतों तथा साधारणीकरण के प्रश्न से सम्बन्धित है। लोल्लट के मत का उल्लेख करते हुए उन्होंने बतलाया है कि 'इन्होंने रस की स्थिति नायक आदि पात्रों में मानी है।' लेकिन आगे चलकर जब वाङ्मयेयी जी लोल्लट के मत में नायक आदि का प्रयत्न करि कल्पित नायक ग्रहण कर लेते हैं तब वह शक्य है उत्पन्न हो जाती है। अभिनव गुप्त और भट्टनाथ के मत से 'रामादायशुक्रादि' का सामान्य ग्रन्थ ऐतिहासिक राम आदि से लिया गया है न कि कवि कल्पित राम से। लेकिन वाङ्मयेयी जी का मत शास्त्रीय उद्धरणों के आधार पर अथवा नहीं माना जा सकता। एक ही लोल्लट आदि की अपनी कृतियों आद्य उपलब्ध नहीं हैं दूसरे भट्टनाथ और अभिनव ने स्पष्ट रूप से उसके मत का उल्लेख नहीं किया है। भट्टनाथ के उद्धरणों के आधार पर यदि राम को एक और ऐतिहासिक राम माना जा सकता है तो वहां कवि कल्पित राम भी माना जा सकता है। साथ ही यह है कि काव्य नाटक के राम कवि कल्पित ही होंगे।

'रस निष्पत्ति' निम्न में साधारणीकरण के सम्बन्ध में श्री वाङ्मयेयी जी ने एक मौलिक स्थापना की है कि साधारणीकरण समस्त कवि कल्पित व्यापार का होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण के सम्बन्ध में मुख्य रूप से तीन बातें कही हैं—

(१) 'साधारणीकरण का अभिप्राय यह कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या विशेष वस्तु आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आशय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाता है।

(२) रस की एक मोची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है किसी भाव का व्यञ्जना करने वाला, कोई किया या व्यापार करने वाला

पान भी शील की दृष्टि से भोता के किसी भाव का—जैसे भद्रा, भक्ति, वृथा, रोप, आश्चर्य, कुत्सल या अनुराग का—आलम्बन होता है।

(३) जहाँ पाठक या दृशक किसी का य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील द्रष्टा के रूप में स्थित होता है वहाँ भी पाठक या दृशक के मन में कोई न कोई भाव थोड़ा बहुत अवश्य जगा रहता है, अतः इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दृशक का आलम्बन नहीं होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दृशक के किसी भाव का आलम्बन रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के ठम अत्यंत भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पान का स्वरूप सघटित करता है।

यदि शुक्ल की की पहली बात अर्थात् आश्रय के साथ तादात्म्य होने पर साधारणीकरण की स्थिति स्वीकार कर लो जाय तो कह असमंजसों उठ खड़ी हाँगी। जिनके प्रति हमारे मन में पूरा भावना है उनके प्रति वयन को सुनकर क्या हम आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। ऐसा न तो सास्त्रीय दृष्टि से सम्भव है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही। शुक्ल की की दूसरी और तीसरी बात में कोई बाधक्य नहीं पड़ता। शील की दृष्टि से जब कोई पान भोता या पाठक के किसी भाव का आलम्बन होता है तब भी वह अप्रत्यक्ष रूप से कवि के भाव के साथ ही तादात्म्य स्थापित करता है, जिसका उल्लेख शुक्ल ने एक पृथक् कोटि (३० ठ० ३) में किया है।

डॉ० मनोहर ने 'रीति काव्य की भूमिका' तथा 'देव और उनकी कविता' में साधारणीकरण की विस्तृत और विद्वत्पूर्ण चर्चा की है। उनकी एकदम सुरक्षित मनोवैज्ञानिक है। उन्होंने भट्टनायक और अभिनवभूषण का हवाला देते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि 'साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई कवि अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह समा के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक ॥ गुरुजी में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति उत्पन्न है।' आगे चलकर उन्होंने इसे और साफ करते हुए कहा है कि 'हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं।'।

वाजपेयी जी अनुभूति शब्द का व्यवहार न करके 'समस्त काव्य प्रक्रिया' शब्द का व्यवहार करते हुए कहते हैं कि साधारणीकरण कवि की 'समस्त काव्य प्रक्रिया' का होता है। काव्य प्रक्रिया अनुभूति की अपेक्षा व्यापक शब्द है। इसमें कवि की अनुभूति, विचार, दृष्टिकोण, अभिव्यक्ति आदि सभी बातों का समाहार हो जाता है।

संदेह में 'नया साहित्य नये प्रश्न' में साहित्य की अनेक महत्वपूर्ण नई पुरानी समस्याओं का सन्तुलित और विचारपूर्ण हल प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि सभी प्रश्नों के विवेचन में शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रमुखता दी गई है फिर भी साहित्योत्तर मूल्यों के यथोचित मानवश में उन्होंने कमी अनास्था नहीं प्रकट की है। यथायथा ही दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण तथा उसका साहित्यिक मूल्यानुचितन, नवीन राष्ट्रीय दृष्टिकोण, भावावस्था साहित्य की रूपरेखा तथा उसके भविष्य ॥ निर्देशन, भारतीय समीक्षा शास्त्र की पुनर्जागरण की आवश्यकता आदि बहुत से विषयों के समावेश तथा सन्तुलित विवेचन में वाजपेयी जी ने सम कयात्मक और नवीन

विचार पद्धति अग्रेसर है। वह अपने आपमें एक आदर्श समीक्षा सरणि बन गई है।

इस पुस्तक से प्रतीत होता है कि आज भी वाजपेयी जी का व्यक्तित्व विस्मयनीय है, यह उनके साहित्यिक विकास की नई मजिद है। प्रस्तुत पुस्तक में उनके विचारों में जो संतुलन और प्रौढ़ता तथा भाषा शैली में जो स्पष्ट निखार दिखाई पड़ता है वह उनकी भारी प्रौढ़तर कृतियों का चोकर है।^१



घालिङ्गण राय

अतिमा • आधुनिक और पुरातन का संतुलन

१

पन्थ की नवीनतम कविता समग्र की पहली कविता की पहली पंक्तियाँ हैं

तुम कहते उषार देखा पद,

मैं स्तब्धता का दीप जलाऊँ।

निश्चय ही, इसके 'तुम' और 'मैं' किसी के भी प्रतीक क्यों न हों, भावक्यों की ओरों में यह रचना कवि का ही चित्रण करती जान पड़ेगी। स्वर यही चिर परिचित स्वर है, पथन की शैली वही मनीर्भाति वाली पदचाली शैली है, भाषा वही पुरानी प्राथमिक भाषा है—और, एक प्रसार में देखा जाय तो, कथ्य भी वही पुराना आत्म विश्वास का उद्घोष है। "मैं प्रभात का रहा वृत्त निव, नय प्रकाश स-देशवाह स्मित", "मैं मानस पर्वत, अक्षय पथ"—अपने सवथा सनीय और सनिय होने का जाया, भिन स-धों में सहा, वय प्राप्त करि बहुधा करते रहे हैं। बहुधा इस तरह का दावा करना ही खूबरे की पहली गद्य की तरह भावक्यम के कान लड़े करने का काम करता है। कवि जब यह पृष्ठता है कि

नव विकास पथ में तुम मैं अथ,

कदा न भीर बन फिर मुस्कान ?

तो मानो प्रातःकाल उठर देता है "इस कारण नहीं, क्योंकि अब तुम मुस्काना भूल गए हो"—और एक बार भूलकर फिर मुस्काना साधा नहीं जा सकता, भले ही मुस्काने की प्रक्रिया को दुहराते क्यों न रहा जाय।

पत जी की यह कविता पढ़े साहस की कविता है। यह स्वीकार करने में उन्हें कुछ भी सकोच नहीं हुआ कि "मैंने कब जाना भिषि का मुख ?"—न हम अस्वस्थ और अनुभूति के कारण उन्हें इस आत्म गण (अथवा चुनौती) के देने में ही कोई सकोच हुआ कि

आओ तम के मूल पार कर,

नव अस्वस्थ मुख तुम्ह दिखाऊँ।

१ नया साहित्य भवन प्रकाश, शेरक—नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशक—विद्या मन्दिर

हम कवि का आम नण स्वीकार करके उसके साथ करते हैं। इसे हम आम नण ही मानेंगे, चुनौती नहीं। 'उत्तरा' की भूमिका के बाद कवि उम स्तर से बहुत ऊँचा उठ गया जिस स्तर पर लोग चुनौतियाँ देते और स्वीकार करते हैं। बाह्य और आन्तरिक का सामञ्जस्य कव्व सचरण के द्वारा करने का क्षमता रखने वाला कवि हमें आम नण ही दे सकता है, चुनौती नहीं। वह हमें अपने साथ तम के कूल पार करके नव अरुणोदय टिलाने ले जायगा और इस तरह प्रमाणित कर देगा कि वह 'प्रभाव का गहरा दून नित नव प्रकाश सन्दर्शवादस्मिन्'। 'अतिमा' की कविताओं में यही आमन्य निहित है।

२

समग्र के छोटे से विश्लेषण में पता चले कि ने समग्रहीत कविताओं का तीन भेदों में विभाजन कर दिया है। एक भेदी प्रकृति सम्बन्धी कविताओं की है, जिनके अतिरिक्त 'अधिकतर' ऐसी रचनाएँ समग्रहीत हैं "जिनकी प्रेरणा युग जीवन के अनेक स्तरों को स्पष्ट करती हुई सज्जन चेतना मनीन रूपका तथा प्रतीकों में मृत हुई है।" अब प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त एक भेदी इस प्रकार की कविताओं की हुई, जो 'अधिकतर' हैं, इसलिए तीसरी भेदी में वे होंगी जो इन अधिकतर कविताओं के अलावा हैं। यही अज्ञा होमा कि हम समग्रहीत कविताओं का अनुशीलन इ हों तीनों अर्थों में करें। कवि और उसकी कृति के साथ हम सम्ममद इसी प्रकार तादात्म्य स्थापित करने में सबसे अधिक सफल हो सकेंगे।

प्रकृति सम्बन्धी कविताओं में दो प्रमुख हैं 'जम दिवस' और 'जमाचल के प्रति' दोनों इस समग्र की अन्य सभी कविताओं से आकार में बनी भी हैं। दोनों ही उस पावत्य प्रदेश से सम्बन्धित हैं जहाँ कवि अपने जीवन के उस काल में भावी काय कृतियों के लिए प्रकृति से प्रेरणा पाता रहा। 'जम दिवस' में पहले अपने घर द्वार, स्नेही सम्बन्धियाँ, पुरस्कार और परिजनों के अव्यक्त सुदर शब्द चित्र गन्धित कर, उनका हमसे परिचय कराने के बाद कवि यही भावप्रवणता और उत्कृष्ट शिल्प कौशल का परिचय देता हुआ एक साधारण प्रादेशिक प्रेम कथा का हृदयप्राही चित्रमय अंकन करता है। इसमें कवि को कितनी सफलता मिली है यह नीचे की दो पक्तियों ही प्रमाणित कर देंगी

गूँज रही होंगी मिरि बन अम्बर में कुहरी खाने,

और पास खिच आये होंगे दो जन इसी बहाने।

इसके बाद, अधिक गर्मगोर स्वर में, कवि अपने जम स्थान और जम काल को नव युग के अरुणोदय का प्रतीक मानकर प्रस्तुत आत्मन्यों के सहारे अपने विवक्षित जीवन दर्शन को अभिव्यक्ति देने की चेष्टा करता है। कवि कहता है

या निमिच्छ मिश्र नययुत या अवतरित हो रहा निरक्षय

वहिर तब का धूम खीर हँसवा या नव अरुणोदय।

इसीजिष्ट सम्भव हिमाद्रि का स्वर्गो मुख आरोहण

युग सनाभि मिश्र के मन क हित रहा महत् आकषण।

कविता वहाँ पूरी हो गई थी। उसके बाद प्रतीकों के नागदंतों पर कवि अपने दर्शन वसन दर्शने में लग गया। मात्र शिखर के वन पर कविता का सा प्रभाव इन प्रतीकों में भी है।

मकता है—पर यह प्रभाव हा है, मान नहीं।

‘कर्मोन्नत के प्रति’ कवि की नगाधिप के प्रति, उसके और अपने गौरव के अनुपप, विपुल हेम मुद्राया से परिपूर्ण मद्राज्जलि है। इसमें भा अत में कवि ने प्रतीकों के सहारे दार्शनिक प्रयत्नना की अटक देने की चेष्टा की है, पर यह कविता इनके बोझ को सह सकती है—यही नहीं, इसके सहारे अटकाया जाकर निदग्ध चि तन सहज ही फलितमय हो गया है। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे, एक इस बात का प्रमाण देने के लिए कि कवि की हेम मुद्राएँ परे सोने की हैं, दूसरा इसका कि कविता (यद्यपि उमरी अपेक्षा नहीं करती, फिर भी) दार्शनिक प्रयत्नों की सहज सुन्दर क्षमता से न केवल सँभाल लेती है अपितु उन्हें और भी कँचा उठाने में समर्थ हो सकी है। पहला उदाहरण है

रागहस सा विरहा मति मुक्ताम नोहिमा जल में
सोपों के पत्तों की छहरा रग छटा जल यल में।

ध्रुवो वाप्य पप्रब्धियों में रँग भरते कला सुघर कर,
सुरधनु नखबों में किरणों की द्रवित काति कर वितरित,
रग गप्य क लता सुवम स गिरि दीप्ति अतिरम्पित
देउदाह रन पीत सुहाती प्रामथ्य सी सुन्दर।

और दूसरा

रके मूक मू मानस गह्वर, रके स्तब्ध गिरि कन्दर,
(सतियों क पुम्बित्त भमिल से पीकित निनका अन्तर।)

विधु प्रतीका में प्रसार होने की तुमसे दीवित।

भमिल छित्त, भरजता अन्तर, उद्देहित जन सागर,
जट चेतन की दृष्टि निनिमिष लगी ज्योति शिखरों पर,—
मानवता का दिक् प्रशस्त दम्भयन तुम्हीं पर आधित।

यह कवि की परम सफलता है कि इस वशान के शात पट पे टका जाकर नगाधिप मिट्टी का ढेर नहीं हो जाता, प्रत्युत और भी कँचा उठ जाता है। ‘गिरि प्रान्तर’ का कृत्रिम चित्र शिल्प के सहारे अपने आपकी प्रकाश में सुरक्षित नहीं रख पाया। शिल्प बहुत पुराना हो चुका, चित्र की कृत्रिमता प्रकट हो ही जाता है। पर ‘पतझर’ सफल और सुन्दर कृति है, जो बरबस कीट्स के ‘ओड’ काटम’ की वाट दिलाती है। ‘पतझर’ कीट्स की प्रत्यात कविता से कम गम्भीर नहीं है, पर उ कृष्ट शिल्प और कँचे दशन के बावजूद, कविता की दृष्टि से यह कीट्स के ‘ओड’ की समता नहीं करती। पत जो की अतिशय प्राथम्य भाषा एक ऐसा दुबह धार है जिसे पीठ पर लादकर कविता लटकावने लगती है, यककर बैठ जाती है और लाख कोशिश करने पर भी अपने मुँह पर सहज मुखान नहीं ला पाती। छायावादी युग की काव्य भाषा का मोह पत जो की बहुत सी कविताओं को उसी प्रकार विर्वीच बना देता है जैसे बहुधा उनका दार्शनिक, उपदेशात्मक स्वर उन्हें मुक्त विहग या उडाने न देकर पर काटकर पिंजड़े में बन्द कर देता है। पिंजरे में बन्द होकर भी विहग तो विहग ही कहलायगा, पर कहलाये जाने की वजह से ही उड तो नहीं पाया।

समग्र की विशिष्ट कविताएँ वे हैं जिनकी ओर पन्त जी ने यह कहकर संकेत दिया है कि उनमें “सूचन चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में, युग जीवन के अनेक स्तरों को स्पष्ट करती हुई, का यामि-यक्ति की प्रेरणा मूर्त हुई है।” ‘अतिमा’ की सबसे ऊँची कविताएँ ये न भी हों, सबसे अधिक आकर्षक अवश्य हैं। इनमें नवीनता है—ऐसी नवानता, जो बलात् भावक को अपनी ओर आकृष्ट करता है। पर क्या यह नवीनता सचमुच प्राणगत आधुनिक है? उत्तर के लिए कविताओं पर दृष्टि निक्षेप करें।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि समग्र की दूसरी कविता ‘गीतों का दण्ड’, इस द्वितीय (नवीन रूपकों तथा प्रतीकों वाली) श्रेणी में रखी जानी चाहिए अथवा नहीं, पर यदि न भी रखी जा सके तो भी इसका पता लगाने के लिए इस कविता का महत्त्व और मूल्य समग्र की किसी भी कविता से कम नहीं है, कि कवि स्वयं आधुनिकता है अथवा मात्र नवीन, क्योंकि समग्रहीत कविताएँ एक वष की अवधि में ही लिखी गई थीं। ‘गीतों का दण्ड’ भी ‘नव अरण्योदय’ की तरह कवि की ओर से एक संदेश अथवा विज्ञापन है। ‘नव अरण्योदय’ में कवि ने हमें याद दिलाया था कि वह ‘नव प्रभास का रक्त दूत नित अब ‘तीनों के दण्ड’ में हमें आमंत्रित करता हुआ कहता है—

यदि मरणोन्मुख वतमान से

ऊब गया हो कड़ु मन

तो मेरे गीतों में देखो

नव भविष्य की झोंकी।

जयदेव ने इससे कहीं कम दावा किया था। ‘यदि हरिस्मरणे सरस मनो, यदि भिलास कलासु कुवहस, मधुर कोमलकांत पदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्’ इसमें कवि इतना ही कहने का साहस करता है कि यदि उस दिशा की ओर जाना चाहते हो जिधर वह स्वयं जा रहा है, तो उसके साथ ही लो। पन्त जी इससे अधिक आशा दिलाते हैं, उनकी कविता इसकी अपेक्षा नहीं करता कि भावक उस प्रकार का पदार्थ चाहता हो जो वह द सकते हैं, वह संदेश सुनना चाहता हो जो उन्हें सुनाना है—इतना ही चाहिए कि उसका मन वतमान, मरणोन्मुख वतमान, से ऊब गया हो नव भविष्य की झोंकी देखना ही उसके लिए वांछित सजीवनी है, और वह सजीवनी कवि के पास है। यह स्वर अचेष्ट का नहीं, सिद्ध का है, ईशान प्रेरित आधुनिक जिज्ञासा का नहीं, प्रयोगशाला से बाहर आकर प्रयोग की सफलता की घोषणा करने वाले लघुकाम आत्म विश्वास का है, एक्सेस्ट का दर्शन करके लौटते हुए तेजसिंह का है। पर यह कीन ॥ ‘वतमान’ है जो मरणो मुख है, जिसकी मरणोन्मुखता के बीच रहते रहते मन कड़ु हो गया है। कवि इस कड़ुता इस याधि की जुझाओर याचना-सी करता हुआ जन मन के याचिप्रस्त होने के जुझाओर लक्ष्य हमें बताता है

उठते हों न निराश लाह पग

रुद रजास हो जीवन।

‘लोह पग’ मशीन सम्मता के प्रति संकेत है—पर यह आज का स्वर है अथवा बीसवीं शती के

प्रारम्भिक दशक का ? कवि आगे कहता है

मिष्ट बालुका यन्त्र,—लिसक हो

सुके सुनहले सख सख,

तकौ वादा में बन्दी हो

लिसक रहा घर स्पन्दन ।

बालुका यन्त्र की रिक्तता मा स्पष्ट रहते है—वर्तमान के मरथो मुग होने की ओर । पर आज का उर स्पन्दन क्या सचमुच तकौ और काटा ॥ ब ही है ? क्या यह द्वितीय महा समर के पहले की युग मन स्थिति का चित्रण नहीं है ? आज का युग स्वायत्तता का नहीं सजाति का, अथवा पतञ्जी की 'अतिमा' के अनुसार अतिजाति का, युग है यह कविता पक्षीत धर्म पृथ नि शब्द, निराकार जन मन के का कक्ष में घुट रही थी, प्रकट होने में जो विलम्ब हुआ यह वर्द्ध स्वर्ण के इन कथन की सरयना प्रमाणित करता सा जान पड़ता है कि 'कविता मायोद्वेग की शान्त मन पुनरावृत्ति है ।' कवि का मन विमल और स्वच्छ शांत है, उसका अतीन्द्रिय आभरण आनंद की उपलब्धि के लिए है । कवि के शब्द हैं

यदि वयाध की चकरचौध स

भूट रहि मन निष्कल,—

हूयो गीतों में, निजका

चेतना द्रवित अंतरतल ।

'अनपूरे घूरे, गरी का घूरे सख अग' बूढ़न वाल क लिए ही यह गीता का पण है जिसमें वह अपना 'श्री नव आनन' देख सकता है ।

उस 'उर्ध्व सचरण' का आग्रह, जिसकी व्याख्या कवि ने 'उत्तरा' की भूमिका में की थी, हमें 'अतिमा' में सर्वत्र मिलता है । 'ज म त्विष' में हम 'दिमाद्रि का स्वर्गोत्तल आरोहण' देखने हैं जो 'कूर्मावन के प्रति' के 'शारवत शिखरों' में निपटा, शान्त और समुत्थल हो जाता है । 'नव आगण' में हम देखने हैं कि

रगत प्रसारों में उड़ नूतन

प्राण मुक्त करत आरोहण

और जहाँ सचरण नहीं है वहाँ कर्वां मुखता ही सचरण का स्थान ले लेती है । 'बाह्य मोहर' में

भू को अ धकार का है भय,—

शिखरों पर हँसता अरुणादय

यह 'हँसना' निश्चदेह उर्ध्व सचरण का ही निमात्रण है ।

पर 'अतिमा' का स्वर केवल उर्ध्व सचरण का ही हो, ऐसी बात नहीं है । 'विशेषा' शीर्षक विशुद्ध रुमाना कविता में हम कवि शिखरों की नहीं अतलताओं की पावनता की बात कहता मिलता है; समतल प्रदेश पर खड़ा गाता है

कौन स्रोत ने ?

ये किन आकाशों में खोए

किन अवाक् शिखरों से भरत ?



किस प्रशान्त समतल प्रदेश में
रनत फन मुत्ता रव भरत !
ये किन स्वच्छ अलकतार्यों की
कोन नीलिमाओं में बहते ?
किम सुख के स्पर्शों से स्वर्णिम
हिलकारों में कंपत रहते !

कविता इतनी सुन्दर और सरस है कि उसमें थोड़ी सी पास्तियों उद्धृत करके सन्ताप नहीं होता, पर एक छोटे से लेख में थोड़ी सी पंक्तियाँ ही उद्धृत की जा सकती हैं। कुछ पंक्तियाँ और देते हैं

कीन कोस दे !

अज्ञा भी निरवास—रूपहले
राग मराओं के स गान
निरत सात्विक उर सरसों में
शुभ्र सुनहली ग्रीवा मान ।
शोभा की स्वर्णिक उद्यान से
भर जाता सहसा अपजक मन,
उगते मधु छन्दों के नूपुर
अलिखित नीलों के प्रिय पद धन !

जिस तरह शैली में नवीनता का आग्रह नहीं है, स्वर ध्वनि का चिर परिचित छायावादी स्वर ही है, फिर भी यह कविता श्लाघन के योग्य है, क्योंकि सुन्दर ही नहीं, सरस भी है। मने सरस ज्ञान बृम्भक कहता है, क्योंकि यह कविता की सहायता से पत की के का प पर सामा यतया लगाए जाने वाले एक आरोप का आशयन ग्रहण करना सुकर हो सकता है। रस की मनना जिस शाय काव्य का नाम है। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि शिल्प की दृष्टि से कितनी भी उद्विग्न क्यों न हो, कविता यदि भाव के मन को रसाद्र नहीं कर पाती तो भाव के लिए वह कविता नहीं है। पर जिस मन को रसाद्र करना कविता का दायमात्रिक काम और सवमा य धम है वह मन कर्मण्य छुनकते हुए उद्वेगों का पात्र नहीं है, वह विशद चेतना भूमि है जिस पर भावना और विचार, हृन्म और भस्वि के समान अधिभार के साथ निवास करते हैं और प्रभाव डालते हैं। रस केवल भावार्थ नहीं है, अनुभूति केवल इन्द्रियाधिन नहीं है। 'विश्राम' में (और अपनी अधिभार सफ़्त कविताओं में) प १ का जिस रस की सृष्टि करते हैं वह साधारणतया स्वीकृत पारम्पर्य से वैधान है, यद्यपि अथ में, यन्त्रि लेखना का सहज प्राप्ति अतीन्द्रिय रस है। पतजा की कविता का उस भावकर्म के लिए कोर मूल्य नहीं है जो रस की सदीय परिभाषा करता है—पर उस भावकर्म के लिए सम्भवतः सौँख लेन की प्रक्रिया ही जीवन है। नये विचार का आघात जिनके लिए ऐत्तिक अनुभूति की ही प्रमाणा स्थानिनी शक्ति नहीं रखता उनके लिए पत की कह सकते हैं 'मानसिक विमर्श, साधन विमर्श' है।

यह बात 'अनिम' की बहुत सी—यह कहना भी अनुचित न होगा कि अधिभार रचनाओं

के लिए कही जा सकती है। इनमें कुछ असाधारण कृतियाँ हैं, जैसे 'स्फटिक वन', जो छाया वाली सड़का ॥ आधुनिक भावों में पण की काव्यमयता की सफल उपलब्धि है,—कुछ सुंदर, शीतल पर निष्प्राण चित्राकृतियाँ हैं, कुछ सर्वथा अक्षयत्वमय परकारिता हो जाने से मात्र शब्द शिल्प के द्वारा बना ली जाती हैं, जैसे 'नेहरू युग', और कुछ ऐसी हैं "जिनकी प्रेरणा युग जीवन के अनेक स्तरों को स्पष्ट करती हुई सूजन नेतना के नवीन रूपों तथा प्रतीकों में मूर्त हुई है।"

४

अब तक हम जिन कविताओं को देख रहे थे उनके विषय में यह कहना सम्भव नहीं है कि वे इस विशिष्ट श्रेणी में आयेगी या नहीं—आप नहीं। पर जिनके विषय में संदेह हो ही नहीं सकता वे हैं—'सोनजुही', 'आ धरती कितना देती है, कौए, बतलें और मेढक', प्रकाश, पतिते और त्रिपलियों, बैकुल, स्वर्णमृग आदि। इनमें सम्भवतः 'सोनजुही' हृदयतम है और 'बैकुल' अपेक्षाकृत सबसे कम सफल हो सकी है। 'सोनजुही' से कुछ थोड़ी सी पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करना निरर्थक होगा, क्योंकि एक तो यह कविता समूची उद्धृत करने योग्य है, दूसरे इसे आधुनिक हिन्दी कविता के प्रायः सभी पाठक जानते ही हैं। इसके अंत में भी पन्त जी दार्शनिक प्रवचन लिखने देने का लोभ सवरण नहीं कर पाए—और यह प्रवचन कविता के साथ मिलकर एक नहीं हो पाया, लिपि ही रहा। इस तरह की कविता के साथ यह ध्यान दार कुछ दानसद्वय के दग का लगता है, जो अपने कलाकार व्यक्तित्व को उपदेशक और विचारक व्यक्तित्व का करखीला गुलाम समझता था। भाव्यरस 'सोनजुही' का दार्शनिक निरूपण कविता से स्पष्ट इतना असम्भवतः जान पड़ता है कि भावक के लिए उसे अलग रखकर कविता का आस्वादन करना मुश्किल ही नहीं स्वाभाविक हो जाता है।

इसमें ही पन्त जी की सफलता और असफलता का एक साथ परिचय मिल जाता है। यह उनकी सफलता है कि अपने जीवन दशन की केंची बरफीली पहाड़ी चोटी पर भी उन्हें काव्य कुसुम मिलने हैं। उनकी असफलता यह है कि उनमें से बहुत से कुसुम निगल होते हैं। 'सोनजुही', 'आ धरती कितना देती है' आदि कविताएँ अपना ही हस्ततः विषय जान पड़ती हैं।

इन कविताओं में यदि 'सूजन-नेतना के नवीन रूपों की खोज न भी की जाय तो मा उनके कवित्व में कोई कमी नहीं आती, हाँ, उनकी नवीनता अवश्य अदृश्य हो सकती है। तो क्या मात्र नवीनता लाने के लिए ही कवि ने उनमें 'नवीन रूपों और प्रतीकों' की निम्न प्रक्रिया का समावेश किया है? ऐसी आर्ति 'सोनजुही' को देखकर हो सकती है, क्योंकि 'सोनजुही' इन नवीन प्रतीकों का भार आगामी से नहीं उठाती—कहना तो थोड़ा चाहिए कि उठाती ही नहीं। पर अन्य रचनाओं के विषय में यह कहना अशाय होगा। 'कौए, बतलें और मेढक', 'स्वर्णमृग' आदि ऐसी कविताएँ भी 'अतिमा' में मिलेंगी जिनका सूजन ही इन प्रतीकों को काव्यात्मक प्रेरणीयता देने का नाम दे। इस तरह की रचनाओं में सम्भवतः सबसे सफल और सबसे केंची कविता 'संदेश' है, जो आरम्भ में ही अपनी शक्तिमत्ता का परिचय देती हुई प्रतीकों में प्राण वायु का संचार करती चलती है और अंत होते होते सच्ची कविता की यह सम्पन्नता

प्राप्त कर लेती है जो अक्षय और अपरिहाय होती है और जिसका आयुष्य उसके ग्रथ से कदा-
‘यापक और सफल होता है। ‘स देश’ के आरम्भ की पंक्तियाँ हैं

मैं खोया खोया सा, उचाट मन, जान क्य
सो गया तन्वत पर लुढ़क अलस नौपहरी में,
तु स्वप्नों की छाया से पीड़ित, दर तलक
उपचेतन की महरी निद्रा में रहा मग्न।

जब सहसा खोल खुली तो मरी छाती पर
था अस-तोष का भारी, रीता बोझ जमा,

इतने मैं मेरी दृष्टि पश पर जा झकी,
निम पर पाँव की चिटी, डलती, नरम धूप
तिरछी की चौखट को कुछ लम्बी, तिरछी कर
यी कमक रही दूटे दृषण क डकक सी—

इस प्रकार कवि हमारा परिचय उस धूप से कराता है जो स देश वाहिका बनकर आइ थी।
कैसे स-देश ही सकता है कि यह सचमुच धूप नहीं है, मान प्रतीक है। अपराह्न में उन्मत्त
मन लेकर सो रहने के बाद उठने पर जिस रिक्तता का अनुभव हम सबको होता, हो सकता है
उससे यह, ‘अवताप का भारी, रीता, बोझ’ क्या भिन्न है? पर इस सावधानीपूर्ण वैशिष्ट्य
का तोप नहीं हुआ है। असाधारण, कि तु सहज, सिद्धास्तता का परिचय देता हुआ काव्य ‘बाद
की चिटी, डलती, नरम धूप’ को ऐसी विलक्षणता दे देता है कि उससे लिए स देशवाक्य का
काव्य अनुसृत य असाधारण नहीं रह जाता। यह कविता छायावाद और आधुनिक युग की भाव
भूमियों के बीच से गुज़री, दोनों से कुछ भिन्न पर दोनों की सम्पत्ति है और पंक्तियों के काव्य की
अत्यन्त परिणति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। ‘अतिमा’ ॥ आधुनिक है, न पुरातन
उसकी साधना और सीमा इसमें है कि वह दोनों को एक दूसरे से मिलाती और एक का
दूसरे का पूरक बनाने की चेष्टा करती है।^१



डॉ० रामरतन मटनागर

वर्तमान कविता में नये गीति स्वर

‘दिवा लोक’ में सम्भूनाथ सिंह की ४३ कविताएँ स्पष्टीत हैं। इन कविताओं में से अधिकांश
प्रगीतात्मक हैं, यत्रापि लय और छन्द के अनेक प्रयोग इन प्रयोगात्मक कविताओं में मिलेंगे।
गजल, सॉनेट और लोक गीतों की धुन से समीपत कुछ रचनाएँ भी हैं, परन्तु वे अधिक नहीं

१ ‘अतिमा’ लेखक—सुमित्रानन्दन पन्त नारायण—भारती भरदर लखर से,
इलाहाबाद।

है। यह स्पष्ट है कि 'दिवालो' के कवि की प्रमुख प्रवृत्ति गीतात्मक है और इसी सन्दर्भ में हमें उनकी इस कृति को परचना होगी।

समग्र में सबसे अधिक रचनाएँ कवि के वैयक्तिक सुख दुःख से अनुप्राणित हैं और मिलन वियोग, दर्प विपाद के स्वर्णों को सुप्रति करती हैं। इस कोटि की रचनाओं में छायावादी प्रगीति काव्य के सन्दर्भों, मृति विषयों और प्रतीकों का प्रचुर रूप से प्रयोग है और एक तरह से हम उन्हें उन गीत धारा से सम्बन्धित कर सकते हैं जो छायावादी गीति काव्य के विभाग के रूप में परवर्ती युग में चल रही है। यह गीत धारा उस मध्य सृष्टिवादी (या प्रतीकवादी) धारा से अलग अस्तित्व रखती है जो नये काव्य का एक प्रमुख अंग है, परन्तु उसका विकास उनके समानांतर ही हुआ है। कवि ने छायावादी प्रगीतों से ही बहुत कुछ नहीं सीखा है, उन पर गहन के छुटा, लोक गीतों की धुनों और संगीतात्मक प्रेरणाओं का भी श्रवण है। यह स्पष्ट है कि रामभूनाम सिंह की ये रचनाएँ इस गीत धारा के ही अंतर्गत आती हैं।

इन गीतों में से कुछ में कवि ने अपने भीतर के विषय का बड़ा मार्मिक अंकन किया है। "मैं सभी का हूँ न कोई चित्तु मेरा।", "दिन हैं खोए खोए, भूली भूली रातें।", "तुम्हें याद मेरी न आती कभी क्या?", "है वही चोंद, पर दूसरी चोंदना।", "जी सक्" चुपचाप" और "आवाइस प्रथम प्रजल" रचनाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इस विषय की गहन छाया का चरमोत्कृष्ट हमें उन पंक्तियों में मिलता है जहाँ कवि जीवन की ही नहीं, मरण की भी चुपचाप स्वीकार कर लेता चाहता है

तुम पुकारों पार स जल,
स्वप्न सुनूँ स्वरकार क जल,
मैं तुम्हारा प्यार ले लव,
प्रिय तुम्हारे धरण पर भर
भी सक् चुपचाप।
प्रिय, मैं जी सक् चुपचाप।

मिलन और अलगाव के गीत योड़े हैं, परन्तु उनमें कवि का आध्यात्मिक वापसि की भी प्रवृत्ति बहुत सुन्दर ढंग में हो गई है। 'छवि दर्शन', 'स्वप्न से दूर' और 'तृप्ति' जैसी रचनाओं में आत्मा की परिपूर्ण उपलब्धि की बड़ी सुन्दर और कुछ अभिव्यक्ति हुई है, जैसे

भर दिष्ट आन तुमने अमर गान से।
स्वप्न सच हो गए।
मनु घन गी गए।
प्राण फिर चोंदनी
अक में सो गए,
दूर तुम से हुआ मैं अचल तम प्रहर,
पृथिमा चण बना एक सुखान स। (तृप्ति)

कुछ गीतों में प्रकृति का भी सुन्दर चित्रण है, जैसे "चोंदनी", 'मनु प्रकृति' और 'सागर की पृथिमा' शीर्षक रचनाओं में। अंतिम वाक्य में सागर के हिललोलित जल पर प्रतिबिम्बित पूर्ण चन्द्र की छटा को वर्णना के सम्पूर्ण ऐश्वर्य से उभारा गया है। अंतिम दो पंक्तियाँ

जल की समपूर्ण गुफा ज्योतिष,
 मथ कण में एक रूप विम्बित,
 पारसी ज्योति शिखर अनगिन,
 विपरी है लहरों में नवित
 चल जल के शोशमहल में, ली,
 विनली का दोषस्तम्भ दिला ।

पर तु इन स्वतंत्र प्रकृति गीतों को छोड़ दें, तब भी अन्य रचनाओं में प्रकृत सम्बन्धी उपमानों और प्रतीकों का व्यापक रूप से और कभी कभी एकदम नवीन सम्बन्धों का उपयोग हुआ है, जो कवि की रसात्मक प्रकृति पर अच्छा प्रकाश डालता है ।

दूसरी कोटि की रचनाएँ वे हैं जिनमें कवि ने युग सत्य को प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा की है या जिनमें उसकी राष्नात्मिक अभिव्यक्ति परियोजना सम्बन्धी चेतना स्पष्ट रूप से उभर आती है । समग्र की पहली कविता 'स्वप्न और सत्य' में ही अपने काव्य के आदर्श रूप की ओर कवि ने संकेत किया है । यह कहता है

सुम्ह मुजावा हारा
 मन बेधारा ।
 जिसका कहीं न हति अथ
 यह अनन्त नीरव पथ
 फिर भी जिस पर प्रति पल
 करता है अतीत कोलाहल
 मुखिरत प्राथा का धन,
 खजो राम राम में मुरखी निस्वन,
 बतमान स कितना सुगद पक्षायन ।
 पर चिक्के मन,
 यदि चरणों में है गति

छर में कम्पन, ता अतीत क्या बन सकता है य धन ।

'ज्ञान की आग', 'पथ में', 'बढ़ रहे चरण', 'सुखित टाप' और 'विश्व मर' शीर्षक रचनाओं में प्रगतिशील जीवन और विकासमान भावना चेतना का ही पुनरुद्दीप्तिमान है । कवि ने हुए चरणों के आत्म गौरव और भाग्य की कठिनता का वर्णन करता हुआ कवि उ है प्रगति का प्रतीक बनाकर उपस्थित करता है

पथ पर बढ़ रहे चरण ।
 धम सीकर स सिंचित,
 भूगर रचकण मण्डित,
 कूलों सञ्चयमानित,
 शूलों स अभिनन्दित
 अकित कर चिह्न निरल,
 गिरि पथ बढ़ रहे चरण ।

एक अन्य रचना 'बम पथ' में उसने युग की कमख्यता को ललकारते हुए साक्ष्य के चिरकयी जीवन दर्शन को इस प्रकार अभिमनित किया है

हो ध्वेय का ध्यान,
दिन रात सम मान,
मन मत करो झूल,
बढ़ते रहो, तट कि मरुभार ।

पथ को करो प्यार ।

कवचन के 'हार मत' गीत की तरह यह गीत भी बम की कञ्चस्वित्ता और नये जीवन की अदम्य गतिशीलता का अभिनन्दन करता है। 'बन देवता' कविता में नये जागरण के सङ्घर्ष में कवि की विचार धारा का पूरा स्वरूप मिलता है। रात चली गई है, प्रभात हो गया है परन्तु जन जीवन को सुखि नहीं मिली है। अगला नहीं खुली है। कवि एक 'नई दाढ़ता' का अहसस कर रहा है। जन जीवन के इस गत्यवरोध और आन्तरिक कुपटा का बचन कवि अत्यन्त सफल प्रतीकों में करता है

गहन मिला पर न पल मिल रहे,
किरन मिली पर न कमल खिल रहे,
पथ मिला पर न चरण हिल रहे,
दीप सनत नयों से निम असीम वेदना,
कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन देवता ?

और अन्त में कवि प्रश्न करता है

कब तक यह धनूत यह प्रवञ्चना ?
कब तक यह कष्ट भ्रष्ट अर्थना ?
कब तक यह मोह मरणा साधना ?
क्रान्ति शान्ति समता आनन्द हेतु क्या कही,
मलमल कर कद्र न होगे क्या जन देवता ?

जन जीवन की इस अन्तर्वर्ती व्यथा को कवि पदचानता है और नये विरवास की स्वर्ण शिक्षा से मयिहत आशा का प्रतीप लेकर प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता है। इसीलिए उसकी रचना नये माध्य से ओत प्रोत है। उसका निराशावादी स्वर अन्त में अदम्य रूप से आशावादी हो उठा है, क्योंकि वह एक नये अशागत सबेरे की कल्पना का अभिनन्दन करता है जब मनुष्य ऊर्ध्वबाहु हो उद्धोषित कर उठेगा कि

हम अनवर

शक्ति के हैं केन्द्र जीवन क प्रणता ।
चुड़ तिलके काल धारा के विनेता
अब मनेंगे, एक एक नहीं सहस शत
एक हो कर । आम मुक्त समष्टि चेत
यकित होगा, काल के रथ पर चढ़ेगा ।
प्राणवत्, नई दिशाओं में बढ़ेगा ।

समूह की जिस अन्तिम कविता 'विश्व मेरे' से ये पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं, वह निश्चय ही बड़ा मार्मिक बन पड़ी है और उसमें नई आशा के स्वर तथा सुन्दरता से बँध सके हैं।

परन्तु स्वप्न और सत्य के इन दो छोरों के बीच जो मातृक क्षण कवि ने पकड़े हैं, वे इनसे कहीं अधिक मार्मिक हैं और उनमें हमें ऐसा चान्चल्य मिलती है जो अन्यत्र दुर्लभ है। 'एक क्षण', 'आधी रात', 'आज' और 'हिमालय सम्बन्ध पॉन्च सॉनट' में हमें कवि की कला का सुंदर निखार मिलता है। गाथा काव्य की ठमसता, केन्द्रीयता, आत्मनिष्ठा और रसग्राही भावुकता इन रचनाओं में पूर्ण रूप से परिलक्षित हुई है। उदाहरण के लिए 'आज' शीघ्रक कविता में मेमिका की अमर्यादित उपलब्धि को कवि ने कितनी मातृकता से, कितन मोह से पकड़ा है और प्रत्येक शब्द में नये उपमानों में, नई भाव-भूमिमा से उस उपलब्धि को विभूषित किया है। ये क्षणों के फूल सहज में बँध नहीं पाते। परन्तु इन्हीं के बँधने में कला का साधकता है। शम्भूनाथ सिंह का काव्य में ये क्षण बड़ा सुंदरता से बँध गए हैं।

हिमालय सम्बन्धी सॉनट पद्यक का इस समूह में अपना स्वतंत्र स्थान है। इसमें कवि ने पुराण गाथाओं, प्राकृतिक प्रतीकों, वस्तु चिह्नों और कल्पना रेखाओं के माध्यम से हिमालय के अप्रतिम सौन्दर्य और अविनाशनीय रहस्य से स्नेह का यत्नपूर्वक गहरा बोझा है। यह चित्र कवि की पौराणिक मूर्तिमत्ता का नमूना है।

धी पावती धरती जलती तप से निनख,
या महाकाल उषो समाधिस्थ निद्रा-अवल,
सहसा कहत अनग घनु स शर छुट पड़े,
बन पञ्चबाण क पुष्प बरसते ये बादल।

अंतिम सॉनट में कवि ने सचमुच ही प्रस्तर के अन्तर के रहस्य जोतों को ढूँढ निकाला है।

इन छोटी रचनाओं में ही हमें शम्भूनाथ की काव्य शक्ति का सुन्दर परिचय मिल जाता है और उनके काव्य विकास को देखकर मन आश्चर्य होता है। उनकी प्रतिभा गाथात्मक होठ हुए भी क्लासिकल रचनाओं से अनेक सूत्र ग्रहण करती चलता है और उद्दान भीतर बाहर की दो अनिवार्य विभिन्न और द्विरोधी वस्तुएँ न मानकर स्वयं सत्य का काव्योच्च गठन-बन किया है। समग्र भाषा और प्रतीकों एवं प्रयोगों का नए भूमि का जो भौंकी इस रचना में दिखलाई देता है वह आगे और भा निखार पाए तो समसामयिक काव्य की प्राप्ति ही होगा। हिन्दी कविता का भविष्य न वास्तविक प्रस्त काव्य के हाथ में सुरक्षित है, न पश्चिम से उधार लिये अनगण प्रयोगों में। नवान काव्य भूमि के उद्घाटन के लिए बलपना और बला के क्षेत्र में नई साधना की अपेक्षा है। इस सफल में इस साधना के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं।



प्रयागनारायण त्रिपाठी

रीति, गीति और नई कविता

‘नाव के पाँव’ में जगदीश गुप्त की ५७ कविताएँ सम्प्रदीत हैं। इन्हें दो खण्डों में विभाजित किया गया है—‘नाव के पाँव’ और ‘टूटती लहरें’। समग्र की भूमिका में जगदीश जी ने इस विभाजन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, “प्रथम खण्ड में मेरी सन् १९५१ के बाद की प्रायः सभी कविताएँ सम्प्रदीत हैं और द्वितीय खण्ड में इसके पूर्व की कुछ कविताएँ। नई और पुरानी रचनाओं को एक साथ मिलाकर रखना मुझे उचित नहीं लगा और पिछली कृतियों में सर्वथा छोड़ भी नहीं सका। कुछ पूर्वाभास देने की दृष्टि से और कुछ शायद मोह के कारण।” जगदीश जी के उक्त कथन से इस समग्र की कविताओं पर विचार करना काफी सरल हो जाता है। इस विभाजन के फलस्वरूप हम न केवल एक विशिष्ट कवि-व्यक्तित्व के विकासक्रम को हृदयगत करते हैं प्रसृत द्विती कविता के एक महत्त्वपूर्ण सङ्ग्रह को भी देख सकते हैं और क्योंकि इस परिदृश्य में ‘टूटती लहरें’ के अन्तर्गत कविताएँ पहले आती हैं, अतएव पहले में हरी खण्ड की कविताओं पर विचार करेंगे।

इस खण्ड की दो द्बलन कविताओं के अन्तर्गत अधिकांश गीत हैं और प्रायः सभी सुन्दर गीत हैं। लगता है जैसे गाव शैला हा नगदाश जी की अपनी शैली हो। प्रवाद, परि-माजन, शब्द मैत्री, मात्रा सवेग—प्रत्येक दृष्टि से ये गीत अपनी विशिष्ट स्थान बनायेंगे, इसमें सन्देह नहीं। पर इन गीतों पर पूर्ववत् और तत्कालीन गीतकारों की छाया भी स्थान स्थान पर सुस्पष्ट है। जब कवि लिखता है

यह चाँद ज्योति का कमल फूल

तारक क्षितरे किजवक जाल

ज्योत्स्ना पराग की धवल भूल

यह चाँद ज्योति का कमल फूल

उर का कलक काला अँवरा

बन रुग में अमृत मरद भरा

रस की बूँदों में सभी पाँव

उ मरद मरमाती सुँदी आँस

मृच्छित सुम्बन रत्न विमुक्त गाव

बैसा उठना लक गया भूल

यह चाँद ज्योति का कमल फूल

—तो हमें बरबस प्रसाद और महादेवी का स्मरण एक साथ हो जाता है। चाँद कवि का विशेष त्रिप उपमान प्रतात होता है। सम्पूर्ण समग्र में—नई कविताओं में भी चाँद—और चाँदनी का उल्लेखाने छाया हुआ है। ‘यह चाँद ज्योति का कमल फूल’, ‘मुकुमार चाँदनी रही भूत’, ‘देख शशि को आ रही होगी तुम्हें भी बाद मेरी’, ‘यह चदन या चाँद मैं हूँ-बना’, ‘यह चाँद सी रात’, ‘याद पिछ्छा चाँदनी रातें करें आओ’, ‘तबसाइ सी खिली उ राद’—ये हैं विभिन्न कविताओं की कुछ पंक्तियाँ, जो कवि की पद्मासक्ति को व्यक्त करती

हैं। जिन गीतों से ने ली गद् है, वे अपने आप में, सग्रह से बाहर, बहुत समीचीन प्रताप होते। किन्तु सग्रह में एक बगह चुप बाने पर इन्होंने बगनीश गुप्त के इस कथन को ही सत्य निश्चय कर दिखाना है कि “परम्परागत अनुकर तथा कृत्रिम माध्यम में नवीन अनुभूतियों को अधिक समय तक व्यक्त नहीं किया जा सकता।” यह एक प्रकार से अन्ध्रा ही दृष्टि कि ‘नयी कविता’ के सम्प्राप्त बगनीश गुप्त ने स्वयं अपने ही मोह के माध्यम से मोहाविष्ट कवि समुदाय की दुबलताओं और असफलताओं पर स्पष्ट प्रकाश डाल दिया।

परन्तु पुराने माध्यमों में भी नई अनुभूति कितनी मिनकर सम्मुख आती है, इसे ‘चौन्नी और चौ’ कविता में देखिए

रख दिया पथ ज्वालि क आबतनों स चौद ने
रात की बेसी किरण की रँगलियों स खोसकर
चौब अपन का लिदा अनगिन वनों स चौद ने।
थाद है वह नौबुछों को सौवली द्वावा बनी ?
शाम की मुकुमार बूँदों स मरी पलकें जग,
शाममानी चौद स कहती कपूरी चौदनी।

इस प्रकार ‘दी मुकुमर’ की यह पंक्तियाँ

नीले अम्बर ॥ ७ की
घरती एक समाधि है।

बहुत हा सशक्त और गहरी काव्यात्मक संवेगा से ओत प्रोत हैं, जिनके सम्मुख ‘सच हम नहीं, सच तुम नहीं’ जैसी पंक्तियाँ बहुत दूरका लगती हैं—पीछी और काम्य गुण विहान।

परन्तु ‘चौ’ विचारी और कल्पना चित्रों की दुनिया का मोह त्यागकर आज के कवि को शीम ही चरता पर उतर आना पड़ता है—आज की वस्तु स्थिति का प्रकार पर और ‘पंक्तिव की चौहदियों क तकचे पर।’ ‘नौब के पौव’ शीघ्र खण्ड के अतगत समाविष्ट कवि ताओं में इसी अवतरण की सशक्त और इमावगर अभिव्यक्तियाँ हैं। इनमें सबसे दूर सुने ‘दिखता हुआ अहन्’ लगा। यह बगनीश का की सर्वोत्कृष्ट कविताओं में एक है, क्योंकि इसमें बहोँ उनका अपना व्यक्तित्व बोल रहा है, वही उनका कलाकार अपने अनुभूत की कलाकार की निर्व्यक्तिता के साथ घुसकर रह सका है

मैं बिगड़ गया हूँ
अपने ही चारों ओर।
भरा एक अश—सामने क नीम की
जगी टहनियों में जगी टण्डम पीछी
पत्तियों क बीच डलक गया है—
और टन्हींक साथ
पतझ क रूप किन्तु सुमारी मरी
झोंकों की चार स—एक-एक कर
नाचता-गिरता बहरता पिरता
जगहों जैसी भूरी सूखी भूज मरी घाम पर

उतर रहा है—उबर रहा है।

मेरा दूसरा अश वषा के बाद क घब डन
छोये भटके हलधे दुधियारे पादला के साथ
आकाश में दोस्त रहा है,
जिमें न जल है न जलन, न थोले, न गलन,
कभी कभी सियाह थोले मँडराती दुई
इधर से उधर निकल जाती है
किन्तु ये टहरते नहीं—रुकते नहीं।
मेरा एक तरल अश—गंगा की लहरा पर दिन रात तिरता है।

डॉक्टर के साथ साथ उठता है, गिरता है।

इनकी कोरा से टपकती सूदा सा,
दुस्त बनाता दुग्या—कैल जाता है—कैल जाता है।
इन सबसे अलग एक गहरा अश—मेरा ही
चौद के सोने के उन दागों में आ बिपा है
निह चौदगी रूप-जल से धो धोकर हार गइ।
पर जो अमिट थे—अमिट हैं,
मेरे इन सब बिलो बिलो घराओं को
कोन सँभोले

मुझे कौन पूरा करे,
पीली पत्थिया को फैलते जल टूटा में कौन चौंके
बढ़ जायेंगे वे।

काले दागों पर बहके सफेद बादला को कोन साधे,
ढक जायेगा चौद, रो जायेंगी थोले।

यह तथा 'दुस्वा के सौंके', 'अँपेरा और पथीला दद', 'गमल की परछाई', 'गंगा तब का एक रेत' ऐसी कविताएँ हैं जो जगदाश गुप्त की ओर से हमें आश्चर्य बनाती हैं। इनमें वह शक्ति है, वह बिम्ब ग्रहण करने की क्षमता है, वह संवेदनात्मक तात्प्राप्ति है, आस के जीवन व्यर्थ के प्रति वह सारा चेहना है, जो नई कविता का आनंद है। इसने विपरीत 'आदया' और 'अव्यक्त बुध्मन' जैसी कविताओं में न तो कोई स्वप्न जीवन दृष्टि है, न संवेदना। एक उलझी अनुभूति का धुँपला सा आभास मात्र उनमें मिलता है। यह नई हिंदी कविता के लिए अभीष्ट नहीं है, लुग्यावादी या रहस्यवादी कविता के लिए भले ही इसका कुछ महत्त्व रहा हो। इसी प्रकार 'अभिव्यक्ति का संकट', 'कहा सुना', 'क्या कहोने' जैसी कविताओं में कवि कलाकार की निर्दयविवेकता तक नहीं उठता सका है, फलतः अभिव्यक्ति दलभी टूट डी।

कला की दृष्टि से मुझे ऐसा लगता है कि जगदाश गुप्त अपने आपकी परम्परागत वाक्य शैली से मुक्त नहीं कर पाए हैं। 'रब की मैरवला', 'न जल हो न जलन', 'निज माल पर रुमाल', 'बिस्ती कपि की कसी रस में बसी'—ऐसे मोहक शब्द समूहों के जाल में वे प्रायः डलभ जाते हैं। यह बात नहीं कि आज का कवि रीतिकालीन शब्दों से दर्य का सर्वथा तिरस्कार

करके का प रचना करता है, पर उनको वह उहड़ स्वाभाविक रूप में ही रचाकर करता चाहता है, कृत्रिम रूप में नहीं। उहड़ क्या, ऐसे नये वाक्यांशों का मां जैसे 'कैनाइन टीप' या 'स्नेगी तह' हमें कबया अज्ञात रूप में हा म्पीकार करना होगा। उहड़ बरबस खींच लाने से कविता का हित न हो पायगा। जगदीश जी ने एक दो जगह पाकरण की भूलें भी की हैं जैसे 'अधसुले द्वार' की यह पंक्ति

“मैं ही अपने स कहा किया अपनी गाथा।”

या 'लो फिर सुनो' की यह पंक्ति—

“कि चितका हर त्रदस पर हावने बाढ़ा चरत हा” पर म ध्यान लेता हूँ की इस प्रकार की भूलें, भूजें हा हैं, जान बूझकर तोड़ा गइ पाकरण की कठिपौं नहीं।

'नांव के पौंव' नइ कविता क एक यशस्वा कवि का समग्र है। अत इसकी और समी प्रमुद और सवेनशाल पाठक का ध्यान आकर्षित हाना स्वाभाविक है। परंतु मुझे आश्चय न होगा यदि 'नांव क पौंव' क पाठक मरी ही तरह, कुल मात्राकर, इस समग्र से निराश हा—कम हैं कम पहले यशह की आचकाश रचाओं की और ॥ मैं समझता हूँ कि यदि जगदीश की रचनाओं को काल क्रम स न सँबाकर मिले तुले रूप में रलत तो समी के लिए अधिक अन्धा होता।

परम्परासुसार ११ शत पुस्तक की छुवाइ सझाइ पर भी कहना उचित मालूम होता है। इस दृष्टि से 'नांव के पौंव' एक आन्ध्र प्रकाशन है। जगदीश की स्वय एक अन्ध विनकार हैं और उहान समा कविताओं का निचोड उनके नीचे न्ये गए लघु चित्रों में दे निया है। सब पूछिए ता कइ चित्रा को देखन के बा' कविताएँ उनके सम्मुख फीकी लगने लगती ह। निनकार जगदीश को मेरी भूरि भूरि बधाइयों।

यह जगदीश जी का पहला कविता समग्र है। जगदीश जी म अनुभूत है। व अनुभूत का सचाइ क साथ उक्त करन के लिए आकुल-आकुल रहते हैं। वे अपने और अपना के दु ल वनों में गहराइ तक डतर सकते हैं। वे इन दु ल वनों को सशक्त श न और निम्नों के मा उम स हम तक पहुँचान का इमानदार चष्टा करत हैं। वे समी दुलम गुण हैं, जो जगदीश से मविध्य में व कृतिदाँ निलाकर रहग जिनके राजगत की वैशरी म मैं 'नांव क पौंव' का शान्ति अभिनन्दन करता हूँ।



डा० वामिन मुखर्जे

मानस की 'रूसी' भूमिका

प्रस्तुत रचना क सम्बन्ध में यह सुनकर बड़ा उन्मुक्ता हूँ की यह दुलरा साहित्य क अवधारणों क लिए अदभुत महत्वपूर्ण है। उसे पढ़कर और निराश हूँ। प्रोफेसर बरारीकोव

१ नांव के पौंव बंधक—जगदीश राम, प्रकाशक—प्रिन्सविद्यालय प्रकाशन, गारसपुर।

की सहृदयता तथा तुलसी पर उनकी श्रद्धा के स्पष्ट प्रमाण अवश्य मिलते हैं लेकिन इसमें कहीं भी ऐसी मामूली नहीं है, जो तुलसी के अध्ययन के लिए अनिवार्य अथवा महत्वपूर्ण कहीं जा सकती हो। अनुवादक का कहना है प्रियर्सन आदि पाश्चात्य लेखकों की अपेक्षा प्रो० चटर्जीकोव का ऐतिहासिक दृष्टिकोण विशेष रूप से उल्लेखनीय है।^१ कि तु आलोच्य पुस्तक के विश्लेषण से स्पष्ट है कि 'वाल्मीकि रामायण' के पाठ का राम कथा साहित्य लेखक का मानने नहीं आया, यहाँ तक कि 'अध्यात्म रामायण' का भी उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त तुलसी की अन्य रचनाओं का भी निरीक्षण नहीं हुआ है। अतः तुलसी का प्रस्तुत अध्ययन अविशेष रूप से अधूरा तथा अपूर्ण ही होगा।

प्रथम अध्याय। 'तुलसी का युग' अत्यन्त सक्षिप्त है (पृ० १-८)। इसमें विशेष रूप से भारतीय संस्कृति पर सुभलमान विवेकाओं का प्रभाव प्रस्तुत किया गया है। यह प्रभाव तुलसी की फारसी शब्दावली तथा विशेषकर नये धार्मिक पथ के उद्भव में परिलक्षित है, "हिंदू समाज ने अपने को दो सफा के बीच पाया। एक ओर तो असह्य अत्याचार, लूट पाट और शारीरिक यज्ञणा की आपदा थी और दूसरी ओर मुसलिम प्रभाव से महत्वपूर्ण ढंग से प्रस्तुत धार्मिक विरोधी शास्त्रांश (Heresies) आदि से उत्पन्न हिंदू समाज की आंतरिक छिन्न मिश्रता का संकट" (पृ० ८)। गोस्वामी तुलसीदास ने इन सफा को दूर लिया, उन्होंने "अपनी आराज उठाई और घोषणा की कि छुटकरा मिलेगा, तथा यह भी कहा कि मयकर बकर शासकों से देश तथा उसकी संस्कृति की (युद्ध के समय) रक्षा देशवासियों की एकता में छूँदनी पड़ेगी" (पृ० १०)। 'तुलसीकृत रामायण—ऐतिहासिक रसम्भ के रूप में' नामक नये अध्याय में (पृ० १३६-४०) लेखक फिर मुसलमान शासकों के प्रति तुलसी के भावों का उल्लेख करते हैं। अब तक अनुसंधानकर्ता यह मानते चले आ रहे हैं कि "तुलसी वास्मीकि के संस्कृत-काव्य का अनुसरण करते हुए पौराणिक नायक तथा धूमिल अतीत की कल्पनात्मक चटनाओं का वर्णन करते हैं। हमारे समय तक, एक भी अनुसंधानकर्ता ने, आवश्यक रूप में तुलसीदास के काव्य के अपने युग से तत्काल के प्रश्न पर विचार नहीं किया है। इस तथ्य की निरीक्षण बहुत कठिन नहीं है कि कल्पनात्मक नायकों के देश और जिया कलाप में तुलसीदास तत्कालीन भारत का चित्रण अत्यन्त स्पष्ट कर रहे हैं। विशेष स्पष्टता से तुलसीदास मुसलमान शासकों की ओर से हिन्दुओं पर किये गए अत्याचार और हिंदू समाज की बिभ्रितता का वर्णन करते हैं।" दामना के शासक राजा रावण से इस देश की सवावे और नष्ट करते हुए, भारत के मुसलमान शासकों को पहचानना कठिन नहीं है।^२ प्रमाणस्वरूप बालकाण्ड से रावण चरित की कुछ पंक्तियों, अयोध्याकाण्ड से भारत की एक उक्ति ("ब्रह्मविद् धरम दुहि लेही") तथा उत्तरकाण्ड से कलियुग का विस्तृत वर्णन उद्धृत किया गया है। कलियुग के वर्णन पर तुलसी के समय की परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट है, उसे प्रायः सब समालोचक मानते ही हैं। लेकिन रावण में मुसलमान शासकों को पहचानना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

'तुलसीदास और उनकी कारागरी प्रतिभा' शोधक द्वितीय अध्याय में (पृ० ६-१६) लेखक ने तुलसी की जीवनी विषयक सामग्री के अभाव की ओर निदर्श किया है तथा उनकी

१. देखिए भूमिका, पृ० ६६।

२. पृ० १३६-१३७।

बाद रचनाओं का उल्लेख किया है। बीजनी के सम्बन्ध में प्रो० बरानीकोन तुलसी की रचनाओं का अध्ययन सबसे आवश्यक समझते हैं वे मानस का यह उद्धरण देकर—

सा में सुमति कहऊँ केहि भोंवि । अजु सुराजु कि गाइर तातो ॥

कविहि अरथ आखर बसु सौँचा । अनहरि ताक मतिहि नर नाचा ॥

कहते हैं कि “ग्रन्थे विषय में इससे अधिक दृढ़ (Concrete) उद्गार हमें तुलसीदास में नहीं मिलते (पृ० १४)। इस उक्ति से स्पष्ट है कि लेखक ने ‘विनयपत्रिका’ अथवा ‘कवितावली’ का अध्ययन नहीं किया है।

द्वितीय अध्याय में ‘तुलसीदास की रामायण की कथावस्तु’ का संक्षिप्त वर्णन किया गया है (पृ० १७-४२)। इसमें भी वह अशुद्धियाँ हैं। उदाहरणार्थ—चित्रकूट पर राम का निवास जानकर “आकाशरानी देवता जगली जातिवीं, कोल और किरात का रूप धारण करके जंगल के किनारे पर बस गए” (पृ० २५)।

‘तुलसीदास की रामायण की प्रवचनत्मकता’ नामक चौथा अध्याय सबसे विस्तृत है (पृ० ४३-६२)। इसमें प्रोफेसर बरानीकोन ने पाँच कारणों का विश्लेषण किया है, जिनका प्रभाव मानस की प्रत्यक्ष योजना पर पड़ा है, अर्थात् (१) पूजनीय साहित्यिक परम्परा (२) कवि के साम्प्रदायिक और दार्शनिक सिद्धांत, (३) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा (४) निम्नलिखित छंदों का तथा (५) तीन साहित्यिक भाषाओं का प्रयोग। पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा का विश्लेषण ‘मानस’ तथा ‘वाल्मीकि रामायण’ मानस की तुलना पर निम्न है। कहीं भी ‘अध्यात्म रामायण’ अथवा मानस के अध्यायों का अध्ययन तो दूर, उल्लेख भी नहीं मिलता। उदाहरण स्वरूप अहल्या की कथा ठीक गढ़ है, जिसकी ओर तुलसीदास अनेक माधुर्य करते हैं, लेकिन जिसे वाल्मीकि ने उद्गार से वर्णित किया है। लेखक की धारणा है कि वाल्मीकि के अनुसार अहल्या गौतम के शाप के कारण १०,००० वर्ष तक पत्थर बन गई थी, सच बात यह है कि ‘वाल्मीकि रामायण’ में अहल्या के पत्थर बन जाने का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। कवि के साम्प्रदायिक तथा दार्शनिक सिद्धांतों के विषय में लेखक का दृष्टिकोण यह है कि वाल्मीकि के नायक एवं यक्ष राजकुमार राम अथवा परब्रह्म के अवतार माने जाते हैं। बालकायक का प्रायः आधा भाग रामचरित (जम, बालकीदास, निवाह) का सम्बन्ध रखता है, अगर कहा जाता है—“पहले कायक का केवल थोड़ा ही अंश राम से सम्बन्ध है जो तीन चौथाई में राम के दार्शनिक स्वरूप, नैतिक समस्याएँ और राम के अवतार के तत्त्व की निश्चितता का निश्चय है” (पृ० ५७)। भारतीय काव्यशास्त्र के (विशेषकर महाकाव्य के लक्षण सम्बन्धी) नियमों के पालन में भी मानस की प्रवचनत्मकता का प्रभावित किया है इसके सम्बन्ध में प्रो० बरानीकोन मानस के वर्णन का, जिनमें राम का नपुंसक प्रधान है, तथा उनके मुद्रावर्णन का उल्लेख करते हैं। इसके अन्तर्गत लेखक तुलसी द्वारा प्रयुक्त विभिन्न छंदों का विश्लेषण कहते हैं। वे ममय चौगढ़, दोहे, सारंग और ‘छंद’ का निरूपण करते हैं, ‘छंद’ से इनका अभिप्राय दरि गीतका है (चवपैया और त्रिमयी का उल्लेख नहीं मिलता)। दो दोहों के बीच में चौपाइयों का चलती हुई सदा के विषय में इनका विचार यह है—“चूँकि तुलसीदास की कविता के वत मानस रूप में, महत्त्वपूर्ण परिणाम में कृति की गढ़ है, यह सम्भव है कि कतिपय स्थिति में यह ११ीं दूर चौपाइयों काद में प्रविष्ट प्रमाणित हो सके” (पृ० ६८) दोहे (सारंग), और चौपाद के

पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में इनकी धारणा यह है कि दोहे (सोरहे) ने द्वारा "सामान्यतया कहानी आरम्भ की जाती है या चार या अधिक चौपाइयों से निरूपित निरूप्य व्यक्त किया जाता है। वह निष्कर्ष कहानी को और आगे प्रेरित करता है, जो चौपाइयों के रूप में चलता है" (पृ० ६६)। 'छन्द' (अर्थात् हरिगीतिका) के विषय में लेखक का विचार इस प्रकार है— "छन्द में कथा का प्रयोग कभी नहीं हुआ। यह काव्य के कथाओं के बीच मातृतिरक से पूर्ण निश्चय के लिए पुनर्निर्माण करता हुआ प्रविष्ट होता है और पूर्ववर्ती चौपाइयों में जो कुछ कहा गया है उसे विशेष प्रकार से साथ लेकर चलता है। इसका प्रयोग अन्य छन्दों के साथ नियमित रूप से नहीं हुआ है" (पृ० ७०)। मानस के पाठक जानते ही होंगे कि अयोध्याकाण्ड में हरिगीतिका का प्रयोग नियमित रूप से ही हुआ है और कि बालकाण्ड उत्तरार्द्ध के हरिगीतिका छन्दों में पुनरावृत्ति मान नहीं हुई है, इनमें कथानक को भी आगे बढ़ाया गया है। लेखक यति भग को निम्न लिखित परिमाणों देते हैं— "पंक्ति के भाव के कुछ अंश का दूसरी पंक्ति में मौलिक रचनात्मकता करना" (पृ० ७२)। उदाहरणार्थ

तब हनुमाय लखैस क सीस जुग सर पाप ।

कोरे भये बहुत बड़ चिनि तोरय कर पाप ॥

इस प्रकार के स्थलों के विषय में लेखक समझते हैं कि प्रत्येक की सम्भावना अधिक है। मानस की प्रत्येक योजना पर प्रभाव डालने वाला अन्तिम कारण यह है कि मानस में तीन साहित्यिक भाषाओं का प्रयोग हुआ है, अर्थात् अवधी, ब्रज और संस्कृत। अन्तिम के विषय में लिखा है, "स्पष्टतया संस्कृत के प्रयोग का प्रधान उद्देश्य कविता की पूर्ववर्ती परम्परा से सम्बन्ध करना है" (पृ० ७४)। ब्रज का प्रयोग, लेखक के अनुसार, हरिगीतिका छन्दों में हुआ है। अवधी तथा ब्रज का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार समझाया गया है— "जब अवधी में लिखे गए वस्तु विषय की पुनरावृत्ति और उस विकसित करता हुआ चौली की उच्च मर्यादा की अभि पंक्ति के लिए ब्रज का प्रयोग करता है" (पृ० ७६) और "ब्रज मर्यादापूर्ण पुनरावृत्ति का प्रयोग करती है और उच्च चौली की विकसितता को प्रदर्शित करता है" (पृ० ८०)। इसमें कोई संदेह नहीं है कि मानस की भाषा साहित्यिक अवधी है, वह बहुत से स्थलों पर संस्कृत गर्भित तथा ब्रज रचित अवश्य है, किन्तु हरिगीतिका छन्दों में ब्रज के स्वतन्त्र प्रयोग के विषय में प्रो० बरानासोन्का निष्कर्ष आत्मक है। प्रस्तुत अध्याय के अन्त में मानस के प्रवेश का पता लगाने के तीन उपाय बताए जाते हैं— (१) चूंकि तुलसीदास स्पष्टतया इंगित करते हैं और कह बार दोहराते हैं कि उनकी कविता राम की विस्तृत कथा से मिलती है, वह सोचा जा सकता है कि तुलसीदास की कविता की बाल्मीकि की कविता से समानता या नैकत्व का सदेव वाद की चीज है, जो कि उद्देश्य का निकटता से प्रवर्तित हुआ", (२) दो दोहों के बीच चौपाइयों की अधिक सराया, (३) सुभाषित का प्रयोग "बहुत सा चौपाइयों के बाद इसके प्रयोग का सत्य किसी छुट्टी की ओर संकेत देता है और पाठक के कल्पित होन का संकेत दे सकता है, जो कि बाद की प्रसिद्धता के फलस्वरूप घटित हुआ।" अविमल उपाय का कोई उदाहरण नहीं दिया गया है, प्रथम उपाय निराकार है तथा दूसरे उपाय के विषय में मेरा निवेदन यह है कि मानस में अर्द्धांगी समूह इतना अनिश्चित है कि इसके आधार पर प्रवेशों का पता लगाना वैज्ञानिक नहीं होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस अध्याय में एक और बहुत ही आत्मक

धारणाओं का प्रतिपादन है और दूसरी ओर कथानक तथा प्रबन्ध-कला का इतना विस्तृत विश्लेषण होने पर कहीं भी विभिन्न सजा। अथवा रचना-क्रम की समस्याओं की ओर सकेत नहीं किया गया है।

‘तुलसी का कविता का विशिष्ट स्वरूप’ शीर्षक अध्याय में (पृ० ८२-१०२) लेखक ने रूसा पाठकों को भारतीय काव्य के प्रसिद्ध उपमानों का परिचय दिया है। अगले अध्याय में ‘तुलसीदास का साधनात्मक विचार’ प्रस्तुत किये गए हैं (पृ० १०४-१२०)। इसमें विशेषकर उन बातों का उल्लेख होता है, जो पारंपारिक पाठकों के लिए नवीन हो—ब्रह्म, बोध और सत्त्व का सम्बन्ध, अवतारवाद का मान्यता का समन्वय। ‘तुलसीदास के धार्मिक विचार’ नामक अध्याय में (पृ० १२-१२०) लेखक ने मानस में उल्लिखित देवताओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—(१) वैदिक देव मन्त्रों के देवता—इन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, सरस्वती (२) ब्राह्मणत्व के युग के देवता—ब्रह्मा, विष्णु और शिव। इस सिलसिले में तुलसीदास के सम्बन्धों का उल्लेख हुआ है, अर्थात् इनका शैली तथा वैष्णवों की उपासना का सामन्त-स्थिति करने का प्रयास। (३) परब्रह्म, जो राम के रूप में अवतार लेते हैं। ‘तुलसीदास के सामाजिक एवं नैतिक कथन’ (पृ० १२१-१३५) शीर्षक अध्याय अत्यंत सक्षिप्त है। इसमें तुलसी के समान सम्बन्धों के विचारों में विरोध प्रकट करने का चेष्टा का गढ़ है। एक मक्ति मार्ग में प्रेम का ही सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और जाति भेद को मान्यता नहीं मिलती और दूसरी ओर श्रद्धा से स्थलों पर वंशाश्रम धर्म का प्रतिपादन किया गया है। लेखक का अनुमान है—“सम्भवतः इनकी कट्टर परम्परागत आत्माओं उन ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई प्रतीत होती हैं, जो निरस देह तुलसीदास की प्रभुता और लोकप्रियता के सहारे अपने को ऊँचा उठाने की चेष्टा कर रहे थे” (पृ० १३२)। वास्तव में तुलसीदास के सामाजिक विचारों में कोई विरोध नहीं है। सब मक्ति के अधिकारी अवश्य हैं, लेकिन सब को अपने वश का समावेश करना चाहिए। वंशाश्रम धर्म का प्रतिपादन मानस में इतना प्रबल है कि उसे ब्राह्मणों द्वारा प्रक्षिप्त मानना यह कहना ही है। अन्तिम अध्याय, ‘अनुवाद के स्वरूप के विषय में’ (पृ० १४१-१५४), रूसा पाठकों के लिए ही है, इसमें अनुवाद-सम्बन्धी कठिनाइयों और विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

प्रो० बरान्सीकोव की रचना की उपर्युक्त पुस्तिका से विद्वान् अनुवादक अभिभूत नहीं हैं। उन्होंने इनकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना अनुचित समझकर यह अभिप्राय कायम रखा कि उनके लिए छोटा किया है। अभिप्राय होत हुए भी यह काय अव्यक्त आशय ही है, क्योंकि उत्तर भारत के महत्तम कवि के विषय में आमक धारणाओं को यथासम्भोजन रोकना ही चाहिए। अनुवादक ने अपनी विस्तृत भूमिका में कुछ अशुभकूल लेखक की त्रुटियों की पूर्ति की है तथा तुलसी सम्बन्धी अपने विचार भी प्रकट किये हैं। ‘मिम राजाधर’ तथा ‘गौतम चन्द्रिका’ नामक पुस्तिका के विषय में, जिनकी हस्तलिपियाँ काशी में सुरक्षित हैं, अब कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रामाणिक विद्वानों के होने पर इन दोनों रचनाओं के सहारे तुलसी के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत ही बढ़ेगी (दे० भूमिका पृ० २६-२७)। प्रस्तुत अनुवाद का परिशिष्ट ‘मोक्षमार्गी तुलसीदास और उनका कृत्यों के सम्बन्ध में प्रमुख विदेशी विद्वानों के विचारों का सारांश’, अत्यन्त उपयोगी है। इसमें गार्सो द टासी, प्रियधन, आदि विद्वानों के तुलसी

सम्बन्धी विचारों का हिन्दी में अनुवाद और संकलन किया गया है। इसके लिए अनुवादक विशेष रूप से बन्नाई के पात्र हैं। इस परिशिष्ट में मैक्फाई का अभाव स्पष्टता है, आपने मानस पर २५४ पृष्ठ का ग्रन्थ लिखकर अमेजी में तुलसीदास की लोकप्रिय रचना का सबसे विस्तृत विश्लेषण किया है। (दे० The Ramayan of Tulsidas, J M Macfie, Edinburgh, 1930) १



लक्ष्मीकांत वर्मा

संज्ञस्त पात्रो की घटनाहीन कथा

१

परम्परागत उपवास शैली को लेकर बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि आधुनिक मानव जीवन की कथा को व्यक्त करने में यह उतना सफल माध्यम नहीं सिद्ध हो रही है जितना कि उसे होना चाहिए। बाकी भीमा तक इस कथन में एक सूक्ष्म सत्य भी निहित है, क्योंकि उपवास के तथ्यांकित माध्यम और उसकी रुढ़िग्रस्त शैली आज के जीवन की अनेक मानसिक स्थितियों और विभिन्न परिस्थितियों को सम्पूर्ण समग्रता के साथ ग्रहण करने में असमर्थ ही नहीं, अनुभव शून्य भी है। इसके कई कारण हैं—(१) सप्रथम तो यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आज उपवास न तो केवल मनोरंजन की वस्तु रह गया है और न ही वह केवल कथा प्रवाह का माध्यम मान रहकर जीवित रह सकता है। (२) दूसरा कारण, जिसे स्वीकार करने में सकोच नहीं होना चाहिए, आज के मानव जीवन की कथा यथाथ से पृथक् केवल कल्पना के आधार पर नहीं पक की जा सकती। (३) आज मानव जीवन की ग्लिप तटस्थता का भी कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि आज के सापेक्ष मूल्यों की खड में व्यक्ति आचरण का आग्रह है और इन आग्रहों के बीच ही जीवन का नया इतिहास निरूपण प्रक्रिया निरूपित होता जा रहा है। (४) यह मानना होगा कि आज की जीवन परिधि अपेक्षाकृत पूरे जीवन वृत्त से बहुत बड़ी होने के साथ अधिक व्यक्तिवादी भी हो गई है। किसी भी कथा के तत्त्व में व्यक्ति मर्यादा और समाज तत्त्व के परिमेलण सर्वथा नये आयामों और शक्तियों की माँग कर रहे हैं। (५) मानव मनोविज्ञान की जटिलता भी आज की कथा शैली की संवदना को प्रभावित करती है। परम्परागत शैली की सामाज्य हैं और इन सीमाओं के भीतर आज की मानव गाथा का विस्तार होना कठिन है।

अस्तु, उपेक्षित 'अर्थ' का नवीन उपवास आधुनिकतम जीवन की जटिलताओं को

१ मूल लेखक—स्व० श्री० ए० पी० बरानीकोव। अनुवादक—डॉ० केसरीनारायण शर्मा। प्रकाशक—बिना मंदिर बरनवल।

आज से २० साल की पृष्ठभूमि में रखकर परम्परागत उप-यास शैली के माध्यम से यत्न करने का प्रयास है। यही कारण है कि आधुनिक जीवन की समस्त समस्याएँ, मनोव्यथियाँ और अनुभूतियाँ केवल चिह्नित के रूप में ही यत्न होकर उभरी हैं, उनमें वह औचित्य नहीं आ सका है जो किसी भी सफल उप-यास के लिए अपेक्षित है। इससे भी अधिक विचित्र बात इस उप-यास में यह है कि उनका भाव स्थल इस सम्पूर्ण कृति में ऐसे ही जो केवल शिष्टपगत दुरुद्धता के कारण पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाए हैं। पात्रों के विश्लेषण में भी स्वयं लेखक का वक्तव्य प्रधान है। पात्रों का कार्य-व्यवहार और उनकी स्वाम्याप्तता की अपेक्षा लेखक का मोनो-अधिक अत्यन्त समझा गया है। ऐसा लगता है जैसे अश्वजी अपने पात्रों की इतना आधिक्य नियंत्रित और अनुशासित रखना चाहते हैं कि उनका प्रत्येक आचरण स्वाम्याप्तक भले ही न हो, उनके मनोमुक्त होना स्वाम्याप्तता से भी अधिक श्रेयस्कर है। आधुनिक उप-यास शैली को देखते हुए उनकी यह रचना प्रशंसा रखी नहीं उतरती और सब ऐसी परिस्थित में केवल ऐसे 'हिप्पाटिक' पात्र बनकर रह जाते हैं जिनमें रीढ़ की हड्डी तक उधार ली हुई मालूम पड़ती है, जैसे उनका स्वयं का अस्तित्व कुछ है ही नहीं।

७

ए. यानी ड्रालोपो ने इ. ही परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर लिखा है

The novelist's characters must be with him as he lies down to sleep and as he wakes from his dreams. He must learn to hate and to love them. He must argue with them and even submit with them.

किंतु अश्वजी ने इसके विपरीत पात्रों के साथ जीवन चेतना का ससग स्थापन करने की अपेक्षा 'हिप्पाटिक' की शैली का प्रयोग किया है। यहाँ एक अ-छे उप-यास में लेखक और पात्रों का अनुभूत्यात्मक सम्पर्क इसमें यह स्फूर्ति पैदा कर देता है वहाँ अश्वजी का उप-यास इस अनुभूत्यात्मक सम्पर्क के अभाव में मात्र चेतनाशय स्थिति पैदा करके पात्रों की काठ के पुतले या नक्का हुआ प्रतीत होता है। 'बन्नी बन्नी ऑर्ले' का प्रत्येक पात्र अपनी स्वाभाविक मन स्थिति में नहीं रह पाता। उसके ऊपर एक और 'देवाजी' का आतंक है और दूसरी ओर लेखक का आवाश्यक हस्तक्षेप। कहीं कहीं तो ऐसा लगता है कि ये पात्र अपनी अनुभूत स्थिति से विस्थापित तो हैं ही, साथ ही लेखक की पैनी दृष्टि से इतने अधिक बँधे हैं कि उनकी निष्कृति ही नहीं हो पाती। उप-यास के सभी पात्र स्वयं अपनी प्रकृति में तटस्थता निभाने में निपुण हैं। न तो उनमें शुल मिलकर घटना विकसित करने का प्रयास है, न उन पात्रों की इसकी स्वतंत्रता ही प्राप्त है।

अस्तु 'बन्नी बन्नी ऑर्ले' केवल सत्रस्त पात्रों की घटनाहीन कथा बनकर रह जाता है। समूह का समूह दबी हुई इच्छाओं (repressed wishes) का एक विकास दल है, जो देवाजी जैसे आदशवादी नेत्रों के खोपलेन को चित्रित करने के लिए मोम के पुतले या कोमल और कठोर काठ की मोहरों का निर्माण है। यदि देवाजी का खोपला आदर्शवादी इस आन्तरिक मानसिक अदृश्यता के कारण यथायत्न स्वीकार करने में असफल रहा है तो दूसरी ओर वह यथायत्न भी उतने सशक्त स्वरों में नहीं उभर सका है जितना कि उप-यास के विस्तार को देखते

हुए आवश्यक है। ऐसा नहीं है कि उप यास में तीव्रतम अनुभूतियों की अवहेलना की गई हो, किन्तु यह सत्य है कि केवल लेखक के अनावश्यक हस्तक्षेप के कारण वे नहीं उभर सकीं। शैली मत रूढ़ियों और उनकी दुरुद्धता के कारण माध्यम यथार्थ को नहीं वहन कर पाया है।*

इस उप-यास की मन स्थिति यह है कि सारी कथा परोक्ष की घटना बनकर सामने प्रस्तुत होती है। यह परोक्ष ही आतंरिक वातावरण को पैदा करता है। प्रायः सभी पात्र एक-दूसरे की शक्ति दृष्टि से देखते हैं। देवाजी अपनी यमपत्नी से आतंरिक हैं, मधोबत साहब देवाजी को सौम्यता से आतंरिक है, शानीबी स्वयं अपनी आदर्शवादिता के मिथ्या बोझ से तन्त्रित हैं, तोरगराम अपनी मूर्खता से पान्थित है, समीत अपने वैचारिक प्रश्न से आतंरिक है, बाणी अपने मानसिक दबावों के कारण कण्य है, नवा अपने सहस्रारों से प्रताडित है, तदस्ता एक पञ्जाब के साथ समझौता करता घूम रहा है। सारा आभम विफल मन स्थिति वाले व्यक्तियों का ऐसा विचित्र सङ्गम है कि स्वभाविकता और औचित्य दोनों को टेंग पहुँचती है।

यद्यपि यह सही है कि आत्म के सामाजिक गठन में व्यक्ति का स्वाभाव एक बहुत बड़ी समस्या बनकर उपस्थित हो गया है, फिर भी इस उप-यास का एक भी पात्र न तो आदर्शवादी जीवन के प्रति अंधा रहता; हुआ हिसलाह पड़ता है और न इस सामाजिक बाह्यारोपण के प्रति विरोध ही कर पाता है। कोई भी निजी प्रतिज्ञा (Self commitment) जीवन के सम्पूर्ण अस्तित्व से बड़ी नहीं हो सकती, किन्तु इस उप-यास में किन समावधानों का आभाव मिलता है, वे विचित्र हैं।

(१) क्या कोई भी सामाजिक व्यवस्था समूची मानव आस्था को इस प्रकार विधीर्ण कर सकती है कि उस वातावरण में कोई भी ऐसा पात्र न विकसित हो जो समस्त दुराग्रहों के प्रति विरोध कर सके या उनके विरोध में नये उभरते हुए जीवन सखी की सफलता या सफलता के साथ प्रस्तुत कर सके? (२) यदि यह मान भी लिया जाय कि अशक्यता का विश्वास 'कम्यून' या आभम के जीवन के प्रति नहीं है तो क्या समाज जैसे नायक का चुपचाप समस्त कम्यून आदर्शों को त्यागकर जोरी से भाग जाना उचित है? यदि है तो इससे 'कम्यून' की रूढ़ियों में कमी कहाँ आती है। (३) कम्यून का देशीमेष्टेड जीवन क्या इतना कठोर सत्य है कि उसके विरोध में कुछ भी कहना असमय है? समाज का जो नायक है, जो शिक्षित और जागरूक सदस्य है उसका इन योग्य विचारों के विरुद्ध आत्म समर्पण यह सत्य करता है कि कोई भी व्यवस्था—चाहे वह आभम के रूप में हो या कम्यून के—व्यक्ति स्वातंत्र्य की हत्या करती है। (४) एक सत्य, जो समस्त उप-यास के कथा तत्त्व से स्वतः विकसित होता है यह यह है कि इस प्रकार के 'कम्यून' अथवा आभम में फासिस्टवादी अधिनायकत्व का प्रधान स्थान होता है, जो मनुष्य से उसकी समस्त विरक्त शक्ति और चित्त शक्ति को छान लेता है, साथ ही उसे आत्मा के विरुद्ध समझौता करने के लिए बाध्य भी करता है। (५) फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि इस प्रकार का जीवन उन श्रुति परिणामों में उपजता है तो फिर समीत और बाणी

* 'The desire for worthiness in the artists' mind depends upon the conception of ideal forms which if not attainable are at least conceivable. The belief in a conceivable perfection of expression is at the very root of all artistic effort. No true artist is ever long satisfied with his own attainments.' —H Caudwell

जैसे पाना के सामने तीरथराम जैसे निम्न वर्ग के व्यक्ति का पराजित होना आवश्यक हो जाता है और यदि वह इस पराजय को स्वीकार न कर लेते हैं तो फिर उस समस्या को खण्डित करने की शक्ति किसमें आयेगी ?

जात जो भी हो, समस्त उपवास को पाने के बाद ऐसा लगता है कि लेखक व्यक्ति स्वातन्त्र्य के पक्ष में है। आश्रम और देवादी सामूहिक जीवन न खोलते आश्रमवादी के प्रतीक हैं। व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता इस प्रकार के रेजीमेण्टेड जीवन से घृणित होकर ही रक्षित रह सकता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि लेखक की समस्त सहायुभूति बाह्यारोपित सामाजिक तत्त्व पर नहीं है, जिसमें कुण्डलाओं और कुत्सित मनोवर्षियों का बाहुल्य है। अश्वत्थी के उपवास के ये निष्कर्ष यापक मानव जीवन की व्यक्ति निष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हैं। आश्रम के मनुष्य को किसी भी आदर्शवाद के माध्यम से (चाहे वह गांधीवाद हो या कम्युनिज्म, चाहे वह देवादी का आश्रम हो या जो राजनीतिक पार्श्व का कम्युनिज्म) रेजीमेण्टेड जीवन प्रणाली की घुटन में नैद करके नहीं रखा जा सकता। हो सकता है कि अश्वत्थी का नायक संगीत चुपके से उस समस्या से फरार होकर मुक्त हो जान में ही सफलता मान ले, किन्तु यापक मानव जीवन का प्रतिनिधि व्यक्ति उस रेजीमेण्टेड जीवन के प्रति खोद करने में नहीं चूकेगा और उसका चोट करना शायद अधिक यथाथ भी होगा।

३

साथ ही मनोवैज्ञानिक आधार पर 'बनी बनी ओर्गेन' दबी, कुण्डलाग्रस्त मन स्थितियों वाले पाना का एक समूह है जो पुनर्स्थापित उमर में पुनर्गठन विकसित होता है और वह उमर आरंभ घुटन प्रसा है कि उसने शिष्टन में प्रायः सभी पाप अद्विष्टिमान मन स्थिति में पैन टैंककर रह गए हैं। चाहे वह उपवास का नायक सगास हो, चाहे वह बागी हो, चाहे रामतीर्थ हो या देवा की की धमपनी हो, सभी विद्विष्ट हैं। देवादी की पत्नी का व्यक्तिव तो "कामरूप कमन्दा" के दश वा उस बादगुर्गनी सा है जो प्रत्येक पान को भेट या धकरी बनाकर रखने में ही रस लेता है और सोच पाना की कृत्रिम हलचल ठीक उसी प्रकार लगती है जैसे सब के सब एक ठहरान में अपने हुए काटाणु हैं, जो केवल अपना जीवन परिचय मान पानी की सतह पर कृत्रिम छेत्ता द्वारा देते हैं। जो इनसे घृणित वे केवल विना प दाखी की भौति केवल पराजित में दबी दबी अम गुणता प्रकट करते हैं। वे न तो जीवन की मूल प्रकृति को अपना पाते हैं न अन्तर्भावगतियों में रस हा ले पाते हैं। साथ उपवास जिन विरोधाभास में पनपता है उसमें वे पट के बल धरकने वाले जीव लगते हैं—लगते हैं इसलिए कि यदि वे सफलता के साथ ऐसे चित्रित किये गए होते तो भी कला की दृष्टि से उसमें कोई आपत्ति नहीं होती, किन्तु जहाँ ता इस बात का है कि वे कैसे मां नहीं हो पाए हैं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अभाव माध्यम की शिष्टन और प्रणयिता की दृष्टि से कमचोर बना देता है।

संगीत और वाद्यों का मौन प्रम भी इसी प्रकार का है जिसमें स्वास्थ्य की अपेक्षा दम्य मानसिक काइ अधिक है। विरोधाभास यह है कि संगीत प्रो- नायक है, जिसकी परती मर चुकी

१ You try to replace quality by quantity and forget that all quantities raised to an infinite power are the same By pounding on the keys with a hammer you merely break the string

—Middleton Murry

है और वाणी का अत्यंत कुँआरापन—जिसे समीत न ही बालिका के रूप में सर्वप्रथम स्वीकार करता है—उपवास के स्तर को स्वामाविष्ठा नहीं दे पाते। समीत भी उपवास के अंत तक पुरा तीर्थराम का प्रतिरूप बन जाता है। यह भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य होता यदि समीत के व्यक्तित्व को लेखक के पूर्वाग्रहों से मुक्ति मिल पाती। लेकिन ऐसा न होकर वह एक असंतुलित यौन जिज्ञासा से प्रताड़ित प्रेतात्मा बनकर हो रह गया है। ठीक इसी प्रकार का व्यवहार वाणी का परित्र है। वाणी का समूचा व्यक्तित्व उस रेजिमण्डेड कम्यून टाइप जीवन के शिखर न इतना कगारु है कि उसकी निष्प्राण बड़ी बड़ी आँतें ही उपवास में आ पाई हैं उसका व्यक्तित्व नहीं। कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि वाणी समीत के जीवन में स्वतः अपनी इच्छा शक्ति से प्रवेश करती है कि तु उसका समूचा व्यक्तित्व आवश्यक सीमाओं में केवल समझौता बनकर रह गया है। उपवास का हल्का रोमांच आश्रम के विद्येन से आगे नहीं बढ़ पाता। यदि यह उन रेजिमण्डेड जीवन का परिणाम होता तो भी उचित होता। कि तु ऐसा न होकर वह समूह उपवास के डॉन्च के दोष के कारण हुआ है इसलिए यह मनोवैज्ञानिक क्षमता भी विचित्र लगती है।

देवा जी जैसे पात्र आज हमारे समाज में बहुत मिल जायेंगे कि तु उपवास में देवा जी का व्यक्तित्व भी उन समस्त सम्भावनाओं के साथ नहीं प्रस्तुत हो सका है। जैसा कि स्पष्ट है उसका एक मात्र कारण यह है कि क्या देवा जी और क्या उपवास का कोई और पात्र राय किली जादूगर की भोली में बंद खिलौने के समान हैं जिनका स्वयं का कुछ अस्तित्व ही नहीं है, वे केवल प्रशिक्षित किये जाते हैं स्वयं प्रश्न नहीं करते। राय बड़ा बात है कि लगभग दो दाढ़ लो^१ शब्दों के इस उपवास में केवल एक छोटी सा घटना गुलाम नबी को लेकर घटती है बाकी सारी कथा वर्णमालाभर भागलक उपज है। वक्त य में भा कोई रस नहीं रह जाता, क्योंकि परिस्थितियों का तप और उत्पन्न, उसकी उलझन और उलझना में व्यक्तित्व को अपना पाठ निभाते का कोई अवसर ही नहीं आता। कुछ पात्र तो ऐसे हैं कि बिना उनके कथा की स्थिति में कोई परिणाम नहीं आता जैसे भयंकर साहब, न दलाल या कुम्हारविह इत्यादि।

कुछ पात्र तो अद्विककृतित से कवल मूक छाया की भोंवि उपवास में आते हैं। जिनका न तो कोई महत्त्व है और न कोई आकार प्रकार। उपवास या नाटक में ऐसे पात्रों का क्षणिक प्रवेश निषिद्ध नहीं है कि तु जब कभी ऐसे पात्र लाए जाते हैं तो शिथिलता की पूर्ति के लिए वे प्रस्तुत होते हैं उपवास के वे जीवन तत्त्व होते हैं और अपने उस क्षणिक जीवन काल में अपना एक अद्विष्ट प्रभाव भी छोड़ जाते हैं। 'बड़ी बड़ी आँतों' के पात्र इस प्रौढता के साथ नहीं आते। परिणामस्वरूप वे महत्त्वहीन पैगशाद के रूप में केवल पैर की तरह उपजते हैं और भिंट जाते हैं।

वाणी और समीत को जिस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भाव स्तर पर 'अश्क' की विनाशत करना चाहते थे उसमें भी सफलता नहीं मिली है। दूसरा एक मात्र कारण यह है कि सहायभूति और प्रेम के भाव स्तर में जो मूल अंतर है उसको जाने बिना ही इन पात्रों का चित्रण किया गया है। वास्तव में सहायभूतिपरक रागात्मकता (Sympathetic feeling) और प्रेम भावना

१ 'What is making his works seem old fashioned is precisely his afure of truth to detail' — Delcroix

(Love feeling) में बना बाराक अन्तर है। बाणी का तथाकथित प्रेम केवल सदानुभूतिपरक रागात्मकता की सीमा तक विकसित हो पाता है। इन दोनों भाव स्तरों को लेकर भी अछा ट्रेजेंस लिखी जा सकता है, किन्तु इन दोनों भाव स्तरों को एक दूसरे में मिला देने से और अवक स्थापित न कर पाने से उप यास सवथा कमजोर हो गया है।

यहाँ पर अब बात कह देना और भी आवश्यक है कि निराशा और उप यास में वही अन्तर है जो Frustration और Tragedy में है। तीरथराम निराश और पराजित पाने हैं। सगीत केवल अपनी दुःखद मन स्थिति के नाते विपादमय है किन्तु उप यास के अ त तक पहुँचते पहुँचते इन दोनों पात्रों का आचार एक प्रकार का हो जाता है। तीरथराम की तरह सगीत भी बाणी को देखकर बकरा जाता है। बाणी की घारी सक्रियता और सम्भावना को सगीत केवल आश का आट में उपेक्षित और तिरस्कृत करके वास्तविक वस्तुस्थिति में बहा कर बैठता है जो तीरथराम करता है। इस कुसरा हाथ से सगीत पु स्तवहीन नायक की मौलि भाग जाता है। वह परिचितिया का सामना करने के बजाय उनसे बचकर नदल जाना हा भयस्कर समझता है। ऐसा इसलिए हो सका है कि सगीत और तीरथराम के संस्कारों का आत्ममग्न स्वयं लेखक को नहीं हो पाया है। यही कारण है कि उप यास मानस्तर पर कनिष्ठ परम्परा के विरुद्ध विद्रोहात्मक भावना प्रस्तुत करने के बजाय निराशा (Frustration) ही स्थापित कर पाता है।

देवूष और प्रब्रह्मों का मलौल उठाने के बजाय, या उनको तोड़कर नये स्वरूप और सुन्दर विधान को विकसित करने के बजाय, उप यास में उनका समथन और उनका अप्रव शक्ति के सामने पराजय स्वीकार करने की भावना अधिक सकल रूप से यस्त हुई है। सरा उप यास इहाँ देवूष के वातावरण में लिपटा हुआ है। याणा भिन्न और डार्क ग हाल के माध्यम से अपना प्रत्येक विकसित करना चाहता है, पहिले प्रेमया के समान किंचन स लगे हुए टब में जूटे बरतनों की रखते समय केवल मौन आँखों के सकत हा उमरा हुआ अनुराग इतनी बना कथा का सुनपाव करता है। इहाँ देवूष का नाम्प्लेस तीरथराम को भी है जो अद विक्षिप्त उद्विग्नता का प्रतीक बना फिरता है। जाना ली और स्वयं देवाका का देवूष हा सनस्त यनहार करना ता उपयुक्त है हा। ऐसा स्थिति में हुआ यह है कि उप यास का कथानक भी सुन्दर रह गया है। इस बदले होना यह चाहिए था कि इन देवूष और प्रब्रह्मों का असमथता साधारण जीवन के स्वस्थ यनहार के समस्त उमरकर सक होती। इस हाइकोण से एक बार फिर यह कहना पड़ता है कि माध्यम के शिल्प का चुनाव (Choice of medium) यह मय या साधा सादा वण होना तो शायद अधिक सकल होता।

पड़ नो हुर उप यास का मनोवैज्ञानिक अध्ययन। परिप्रेक्ष्य एवं हाइकोण की हाइ से भा इस उप यास को देखना आवश्यक है, क्योंकि शिल्पगत एवं कथा के मनोवैज्ञानिक विकास के अभाव में यदि मात्र दृष्टिकोण या परिप्रेक्ष्य (Perspective) की नवीनता उसका "हृ" या पड़ता भी किता उगत मानव मूल्य से सम्बन्धित हो तो भा रचना का महत्व बन जाता है। इस निशा में भा हमें उप यास में विशेष नवीनता नहीं मिलना पड़ता। एक आर हा इसका केवल इतना छाया है कि उसम सामित परिस्थितियों के वातावरण में और कथानक के चयन में इस बात का कम सम्मान हो सकी है। इससे साथ यह सम्मानना नष्ट भी हुई है।

किंतु परोक्ष रूप में व्यक्ति स्वातंत्र्य और समूह निर्देश का सपना इसमें अधिक उभरकर आया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह उपयोग किसी भी प्रकार के रेजीमेण्ट जीवन की असफलता सिद्ध करने का प्रयास है। 'अश्क' की आश के इस युग के इस बलवन्त प्रश्न से अपने को नहीं बचा पाए हैं। निश्चय ही कथानक के लिए चुना गया स्थल कोई राजनीतिक कम्यून नहीं है फिर भी देवा की का आश्रम मूल रूप में कम्यून के आधार पर ही विकसित हुआ है और वह बंद ऐसे प्रश्न उठाता है कि तिनका सम्भव कम्यून के बाह्योपित मतवाद और व्यक्ति के व्यक्ति स्वातंत्र्य से है। इसमें न देह नहीं कि उपयोग का उद्देश्य इस बाह्योपित समूह चेतना की अपेक्षा व्यक्ति विवेक को अधिक मूल्यवान मानना है और इस बात की प्रेरणा देता है कि इन योगे आदशा के माध्यम से जीवन का सत्य नहीं देखा जा सकता, व्यक्ति की आत्मनिष्ठा और उसके स्वतंत्र का मिटाकर कोई भी आन्तरीक स्वस्थ रूप से नहीं विकसित हो सकता। केवल इस सत्य का सम्पूर्ण जिस रूप से उपयोग में विकसित हुआ है वह आधुनिक तम मूल्यों को उभारकर खड़ा है। यद्यपि सक्रिय रूप से लोग उस व्यक्ति गयादा का सपना नहीं दे पाया है किन्तु भी जिस अर्थ में और जिस माता में वह सत्य उत्पादित हुआ है वह प्रशस्तनीय है।

एक समस्या और भी बहुत तान दग से व्यक्त हुई है और वह यह कि क्या अभियोगी सरकार ने वर्ग विशेष मुक्त हो सकता है? गुलाम नबी का व्यक्तित्व यह प्रश्न प्रस्तुत करता है। समीत इस प्रश्न को गलत सिद्ध करने का प्रयास करता है कि तु बड़े रेजीमेण्ट अनुशासन में इन सामाजिक प्रश्न पर प्रयोग करने का अवसर नहीं मिल पाता। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस प्रकार के आश्रम या कम्यून द्वारा मूलभूत समस्याओं का निराकरण करना लौकिक तथैव असम्भव समझता है, क्योंकि इस प्रकार के जीवन में बनाबंद अधिक होती है, यथार्थ कम। दूसरे यह कि इस प्रकार के प्रत्येक जीवन में व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा अर्थ सामूहिक अनुशासन के नाम पर किसी व्यक्ति विशेष को समर्पित कर देना पड़ता है जिसका परिणाम यह होता है कि छोटे से छोटे मानवीय प्रश्न पर भी व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से विचार करने की आजादी पाना कठिन ही नहीं असम्भव भी हो जाता है।

उपवास में गुलाम नबी का प्रवेश बहुत ही सफलता से उपवास को उभार दे सकता था। अंत में जाहे सगास की उस समस्या पर सफलता मिलती या न मिलती—ये प्रश्न दूसरे थे—किंतु यह समस्या उपवास को एक गहराई प्रदान कर सकती थी कि तु शिल्पगत कमजोरी के कारण यह सफलतापूर्वक उभारा नहीं जा सका है और असाधारण पुष्ट के वातावरण में इस पात्र की अकाल मृत्यु भी हो जाती है। बावजूद कि उपर्युक्त मनोप्रतियोगों से यह उपवास मुक्त होता और तब इस पृष्ठभूमि में कथा का स्रोत स्वाभाविक रूप में विकसित होता।

अंत में यह कहना आवश्यक है कि 'अश्क' की का यह प्रयास सराहनीय है, क्योंकि इससे उनके निचार नेशन पर काफी प्रकाश पड़ता है। वह व्यक्ति मर्यादा के समर्थक है, साथ ही वह उस रेजीमेण्ट जीवन के विरोधी भी है जिसमें मूठे आन्तरीक के नाम पर बाह्यिक स्वतंत्रता नष्ट होती है। इसके अतिरिक्त इस उपवास से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि अश्क की सरकार चुनत गुलाम नबी जैसे मनोविज्ञानिक प्रतियोगों वाले दयनीय वर्गों के प्रतिनिधि के प्रति उस प्रकार नहीं सोचते जिस प्रकार कि रेजीमेण्ट जीवन विधान में सोचा जाता है। जहाँ तक इन

सामाजिक विवृतियों का प्रश्न है, लगता है अश्वकी निश्चयन उतारता के समथक है।

इस आशा कर सकते हैं कि अश्वकी इस प्रकार की अवस्थाओं पर दृष्टि हो स्वन ज्ञाता के साथ कि नु अश्वकी शीत शिल्प का परिचय देत हुए अधिक सम्पर्शी कृत दंग। उप यात्र की छपाई और गेट अप मुद्राचपूण है। हिन्दी उप यात्रा की प्रकाशन विधि को देखते हुए यह पुस्तक सुन्दर दंग से छपा गई है। इसके लिए 'नालाभ प्रकाशन' की प्रशंसा का आभार चाहिए।^१



मोहन रायेश

एराटन चेखव एक डटरव्यू

अक्टूबर १८८६ में एलेक्सा प्लेश्चेव के नाम से एक पत्र में चित्रा नालता या "मेरे लिए ससार की सबसे पानन वस्तु है मनुष्य का शरीर, उसका स्वास्थ्य, उसकी प्रातमा और बौद्धिक शक्ति, उसका प्रेरणा, स्नेहशीलता और आत्मा। इसी का रूप में बसत होने वाले अन्धाचार और और करन से पूरी आत्मा।" २१ द्र यादव न चेखव के इसी मान्यता की व्यक्ति को उद्दिष्ट शरीर का प्रातय से 'एराटन चेखव एक डटरव्यू' में प्रस्तुत किया है।

इस पुस्तक के सम्भव में पहला उल्लेखनीय बात इसका शिल्प है। नामक लेखकों और कलाकारों के साथ कालवारा डटरव्यू लिखन का बात बर नवा है, परन्तु उस डटरव्यू में उस लेखकों की समा उन्नियों प्रामाणिक रूप से उसकी हा, यह प्रयत्न नया अवश्य है और रायेश यादव ने जिस सफलता के साथ उसका सम्पादन किया है उससे सम्भव कह बगई निश्चित होना पड़ता है। पुस्तक की वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने से पूर्व लेखकों के चित्रों के स्थित पत्र और सम्पादन पत्र पड़े हैं, इसका अनुमान हर पृष्ठ के नीचे स्थित गए पुस्तक सहेता का दलक हो सकता है। परन्तु यह एक ही रा में चेखव के मुँह से जो वाक्य कहलाव गए हैं, उह तीन तान, चार चार अलग अलग से लेकर इकट्ठा किया गया है। इससे पुस्तक के वातावरण में कहीं अवयथायता या बनावटापन नहीं आया, यह इसकी बहुत बड़ी सफलता है। इसके आन्तरिक मापन के छिटपुट दन वाले बाइ में दण्ड सत्ता पर पड़े हुए उह महान् वयाकार ३ इन्च से लेने आन का निम्न और गमय भी लेखकों ने बड़ी रक्षा है जब डाक्टरों ने जुड़ लोगो को उनका मिलन की अनुमान दे दा थी। "आदम" कहकर उनके सगणत के लिए चेखव के अपन अनर्वात हाथ कानन से लेकर, चित्रों के घर से निराला निराला के यह कहने तक कि "सुदृढ है गिना दिल" कहीं यह आभास भा नहीं

१ यही वही प्रॉप्स सत्यक—उप द्वाता 'अश्व', प्रकाशक—बीलाभ प्रकाशन प्रयाग।

दोता कि यह इस्टर्यू कान्यनिक है, मिस उस स्थिति के जहाँ लेखक ने समसामयिक हिंदी साहित्य का कुछ समस्याओं की ओर संकेत किया है। परन्तु पुस्तक का यह अंश और दृष्टि ने महत्वपूर्ण है।

बन्धुत लेखक ने पुस्तक का रचना ही इस उद्देश्य को लेकर की है कि हिंदी साहित्य के आग के गतिरोध के प्रश्न और नये लेखक की वैयक्तिक समस्याओं को चेन्नै के जोषा के परिपक्व मर्यादित यह निष्पत्ति का सच कि हमारी आज की परिस्थितियाँ हमारे लिए नई हैं। परन्तु हात-दाम में उनकी पुनरावृत्ति दोता रहता है कि इस काल के आलोचक का संप्रकाशन साहित्य में गतिधन का आभास होता है, क्योंकि आलोचक को गतिरोध का नारा ही अपनी स्थिति के लिए सबसे सुगम्यजनक प्रभाव होता है। चेन्नै के काल में भी गोल सेव और उनके साधियों का मत था कि नये लेखक काई बड़ा बाधा लिए हैं। नहीं करते, क्योंकि उनमें विचारों का गहराई का अभाव है। और आज हिंदी के कुछ आलोचकों की लेखनी से प्राप्त करने को मिल जाता है कि आज के लेखक को समाज के महान अंधकार में हाथ मारे नहीं सूझता और कि नई कहानी में उलरोडर क्या तब का हास हो रहा है। ने उद्घोषणाएँ, उस काल की आवाजों का तरह है कि जो सुनता है वही मारा जाता है। चेन्नै ने जिस विप्लविली के साथ आलोचक की स्थिति का वर्णन किया है, उसे पढ़कर सब कुछ झुंझ जाता है और जोर से कह रहा लगान को मन होता है।

‘एडटन चेन्नै एक इस्टर्यू’ की रचना का एक और भी उद्देश्य है जो कम महत्वपूर्ण नहीं। चेन्नै को उनके बाद के अधिकांश आलोचकों ने सवार का सबसे सफल तथा शिल्पी माना है, हालाँकि स्वयं चेन्नै ने अपने जीवन के अन्तिम इतने तक कहा कहना रहा कि उन्होंने जो कुछ लिखा है सब बूढ़ा है और वे अपने मन की एक भाँति नहीं। (लेखक पाए)। सच के साथ चेन्नै का रचनाओं को करने वाले अनागत का उनके जीवन और व्यक्ति में निरवस्था होने का प्रामाणिक है। चेन्नै के व्यक्तित्व का सामान्यतः करने वाली अधिकांश सामग्री, जिसमें चेन्नै के पद, सम्मेलन और चेन्नै के सम्बन्ध में दूसरों के हास और सम्मेलन सम्मिलित है, या तो अप्राप्त है और या साधारण पाठक का आनंदन का सामर्थ्य से बाहर की चीज है। उस सारी सामग्री का निचोड़ इस पुस्तक में देकर राजेंद्र यादव ने सामयिक और उपयोगी काम किया है।

पुस्तक के अंत में इस्टर्यू कला के सम्बन्ध में निरवस्था के विचारों की छाछीलेदर करते हुए लेखक ने हिंदी के ‘स्लेक्काई’ इस्टर्यू साहित्य पर अच्छा ध्यान दिया है।

यदि इस्टर्यू का समाप्ति एक सपना देखकर जाने के रूप में नहीं जाती तो अधिक अच्छा होता। इस तरह की पारंपरिक कृति का तर्जुमन अवधारण आवश्यक नहीं होता। बल्कि उससे अध्यापक का भ्रष्टता लगने से अपेक्षित प्रभाव में कमी आ जाती है। लेखक को करने पाठक की सूक्ष्म में अधिक विश्वास होना चाहिए।^१



१ ‘एडटन चेन्नै एक इस्टर्यू’, लेखक—राजेंद्र यादव प्रकाशक—जयपुरिया प्रकाशन, कलकत्ता।

रामस्वरूप चतुर्गदी

संस्कृति संघर्ष और वैयक्तिक सम्बन्ध

संस्कृति संघर्ष की मूल संवेदना पर आधारित कई प्रकार के कथानक हिन्दी कथा साहित्य में हमें मिलते हैं। जब से हिन्दी का अपना उपन्यास साहित्य विकसित हुआ है, लगभग सभी से या उसके कुछ पूर्व से हमें इस संस्कृति संघर्ष के संकेत मिलने लगते हैं। जैसा प्रायः सभी नर्म के आलोचकों ने स्वीकार किया है, अपने आधुनिक रूप में उपन्यास का 'फॉर्म' हमें पाश्चात्य से मिला है। अंग्रेजी से इस साहित्यिक विधा न बगला साहित्य में प्रवेश पाया, और अनुधातों के माध्यम से यह रूप फिर बगला से हिन्दी में आया। प्रायः उसी समय से आरंभ हुए कुछ उसी प्रवेश द्वार से, आगल तथा भारतीय संस्कृतियों का संघर्ष हिन्दी भाषा प्रदेश में माध्यमता हाता दिया देता है। हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुप्त' में इस संस्कृति संघर्ष का लक्षण विद्यमान है। सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों के इस तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में अपने जन्म के साथ साथ उपन्यास अपने लिए सामाजिक क्षेत्र में उभर आया। इसी बात को दूसरे ढंग से भी कहा जा सकता है कि अपने प्रारम्भिक क्षण में उपन्यास लेखन की एक प्रमुख प्रेरणा संस्कृति संघर्ष की यह सामाजिक शक्ति थी और सम्भवतः यह कहना तो कुछ न कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण अवश्य ही हो जायगा कि हिन्दी साहित्य में इस संस्कृति संघर्ष का ही उपन्यास के माध्यम को जन्म दिया। जो भी हो, हिन्दी उपन्यास के इतिहास में इतना तो स्पष्ट ही दिखा देता है कि अपने विकास के प्रथम युग में साहित्य की इस विधा ने अपने अधिकांश कथानक संस्कृति संघर्ष के परिवेश से लिए, यन्त्रि आगे चलकर अन्यथा प्रेरणाएँ भी पर्वत सरपों में मिलने लगीं और हिन्दी उपन्यास की यह प्रथम तथा मौलिक प्रेरणा कुछ क्षण पड़ गई।

डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल का नवानतम उपन्यास 'काले फूल का पौधा' इस संस्कृति संघर्ष की भावना से ही प्रेरित है। उनके पूर्व के उपन्यासकारों के समय तक सम्भवतः इस संघर्ष की प्रकृति बहुत स्पष्ट न हो सकी थी, परन्तु आधुनिकतम समय में डॉ० लाल ने सामाजिक इतिहास की इस विशेष परिस्थिति का गहरा तथा संवेदनशील विश्लेषण किया है और उसके सम्बन्ध में रचनात्मक तुलनाओं की ओर अपनी उत्कृष्ट कला के माध्यम से ध्यान भी दिये हैं। लक्ष्मीनारायणलालजी का यह तीसरा उपन्यास है। इसके पूर्व के दो उपन्यास 'धरती की आँखें' तथा 'बया का घोंसला और छोंप' हमारे ग्रामीण जीवन के निज थे, परन्तु इस तीसरी कथा कृति में उपन्यासकार ने हमारे नागरिक जीवन को उसकी सभी बदलिताओं के साथ अन्वित किया है। कहा जा सकता है कि कला के इस परिवर्तित कार्य क्षेत्र ने उनके दृष्टिकोण को विस्तार दिया है तथा उनकी संवेदनशीलता को और भी अधिक उभारा है। इस दृष्टि से उनका क्षेत्र का यह विधास अत्यन्त शुभ है।

आलोच्य उपन्यास को पढ़ते समय उसकी कई विशेषताएँ पाठक के समक्ष बहुत उभर कर आती हैं। 'काले फूल का पौधा' के कथानक के निरूपण में सबसे बड़ा खतरा या 'प्रिजुडिस' का। जिस समस्या को लेकर उपन्यासकार चलता है उसके परस्पर कई विरोधी पक्ष हैं और प्रायः इन्हीं विरोधी पक्षों में से कोई न कोई पक्ष उपन्यासकार की सहस्रभूति बड़े तीव्र ढंग

से अज्ञित करने में समर्थ हो सकता था। इसके परिणामस्वरूप अथ पद्मा के प्रति 'मेलुटिस' का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाना जाता। परन्तु पाठक के लिए यह सन्तोष तथा प्रसन्नता का विषय है कि उसके उप-यासकार ने संस्कृति संघर्ष के इस कथानक में अपनी 'मेलुटिस' को कहीं डमरने नहीं दिया है। समस्या का विश्लेषण करने वाले दो मौलिक तथा निष्पक्ष परन्तु सहजभूतिपूर्ण दृष्टिकोण से किया है। दो संस्कृतिवादी के विरोध के फलस्वरूप हमारे सामाजिक जीवन में जो गतिरूप उत्पन्न हो गया है, उसकी वह तक जाने का यत्न उप-यासकार ने किया है, और इस यत्न में वह निम्न वेद बहुत कुछ सफल भी हुआ है।

'काले फूल का पौधा' एक प्रति पत्नी की कथा है। प्रति है देवन—परम्परागत भारतीय परिवार का एक सदस्य, परन्तु पश्चिमी संस्कृति का प्रशंसक तथा अनुयायी। आधुनिक शिक्षा दक्षिण के दृष्टिकोण ने उसके चरित्र को इतना दुबला बना दिया है कि वह तेरे हुए भी विदेशी संस्कृति के बहुत से आचरणों का वह मुक्तकण्ठ से विरोध नहीं कर पाता। पत्नी है गाता—भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित तथा अपनी प्रकृति में अत्यन्त ही उदात्तपुरुष। पश्चिमी संस्कृति का आवरण तथा वाञ्छनीय प्रभाव का साथ वह अपने दृष्टिकोण में पूरा भारतीय है। गा से बहुत ही कोमल तथा सुदुर्लभ—पत्नी का भारतीय आदर्श के बहुत निकट। विदेशी संस्कृति के उन तत्वों के अतिरिक्त, जो उसके चरित्र में ऐतिहासिक तथा सामाजिक विरासत के फलस्वरूप रुढ़ि भाव से आ गए हैं, वह किसी भी अथ बाह्य तत्त्व को अपना प्रति की उत्पत्ति इन्द्रा के वायव्य स्वीकार नहीं कर पाती। इसके अतिरिक्त एक और है गीता के माता पिता—काव्य मुक्त परन्तु परम्परा तथा मर्यादा का आदर करने वाले। दूसरी ओर है देवन का मित्र बर्ग, जो सतत 'नाइट क्लब' के वातावरण में रहता है, और उसी दृष्टि से आचरण करता है। फिर है एक बंगाली परिवार, देवन का पड़ोसी, जिसने पश्चिमी संस्कृति के तत्वों को अपने कपड़ों से आरोपित किया है। इन्हीं चरित्रों के बीच का संस्कृति संघर्ष 'काले फूल का पौधा' की प्रमुख संवेदना है। देवा और गाता यद्यपि चरित्रों के टाइटल हैं, परन्तु इससे उनके वैशिष्ट्य में कोई कमी नहीं आती, क्योंकि उनके पीछे उप-यासकार की अपनी प्राणशक्ति है। उप-यास कथे भारत मध्यमार्थ नागरिक समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसके अधिकांश सदस्य भारतीय संस्कृति को नुकीली और सुगम समझकर उसका प्रतिपादन तो कर चुके हैं, परन्तु इसके स्थान पर विदेशी संस्कृति को भी आत्मसात् नहीं कर सके। फलतः उनके व्यक्तित्व को लाले, पारसी तथा आचार रहित हो गए हैं।

जहाँ तक उप-यास के कथानक का सम्बन्ध है, उसकी दूसरी बड़ी विशेषता है उसमें प्रस्तुत लेखक की निरुद्धिमानता। कथावस्तु के माध्यम से उप-यासकार ने जिस जीवन नाम की ओर संकेत किया है, उसके सम्बन्ध में वह अनिश्चितता का भी नहीं है। सारी की सारी समस्या के प्रति उसका दृष्टिकोण विश्लेषणपूर्ण होने के साथ ही स्पष्ट तथा सुनिश्चित भाव है। जिस आचरण को उसने मर्यादाहीन तथा हेय माना है, उसके प्रयोग में उसकी 'युद्धा' कहीं भी अस्पष्ट नहीं होने पाई है। साथ ही जिस जीवन प्रणाली को उसने अपने समाज के लिए वाञ्छनीय तथा हितकर समझा है, उसके 'टिप्पण' उपस्थित न करने पर भी (अन्ततः उप-यास एवं सूत्रों का माध्यम तो नहीं ही है) उसकी स्पष्टता हमारे सामने एकत्र स्पष्ट हो जाता है। उप-यास के कथानक में निहित इस मौलिक इमानदारी के अतिरिक्त जो तत्त्व हमारा ध्यान

सहसा ही आकषित कर नेता है, वह है क्या निबहने की निता न सरलता। आत्मा से अन्त तक उप यास के वातावरण में एक सादगी है, जो पाठक के रस बोध में अत्यंत प्रिय सिद्ध होती है। 'काले फूल का पौदा' के कथानक अगवा गठन में कहीं भी बलितता का अंश नहीं है। यह एक प्रमुख कारण है, जिससे उपयास पाठक के मन को इतना छू पाता है।

पाठक के मन को गहराई तक छू पाने का एक दूसरा कारण है उपयास का विशिष्ट चरित्राङ्ग। सम्पूर्ण कथा कृति में चरित्राङ्कन एक सुषुप्तिपूर्ण तथा सुकुमार ढंग से हुआ है। चाहे प्रधान पात्र हो चाहे पार्श्व चरित्र, वे सब के सब एक अन्तर्गत सा मयादा से बँधे हुए हैं। इससे यह अर्थ नहीं कि चरित्रों का विकास सहज तथा स्वाभाविक न होकर एक निश्चित लक्ष्य से नियोजित है, बल्कि यह कि उसका गठन पाठक के मन पर एक अत्यंत मृदु प्रभाव छोड़ जाता है। उपयास के वातावरण में यह भद्रता तथा मिठाई सबके ऊपर है, इसी वजह से देह नहीं, परन्तु ये तत्त्व कथानक पर ऊपर से आरोपित नहीं किये गए, वे कथनक में आप से आप विकसित हुए हैं। उपयास में सबसे कम चित्रित परन्तु अनुपात में सम्भवतः सबसे अधिक सशक्त चरित्र आया दादा का है, जिसमें उक्त दोनों तत्त्व बड़े प्रभावपूर्ण तथा मार्मिक ढंग से मिश्रित हुए हैं। गीता का 'यत्किञ्च तो मानो आगत्य सा पवित्र है, उसका अध्ययन मन को शान्ति तथा सतोष देता है। देवन का चरित्र भ्रमिष्ठ होता हुआ भी कहीं स्तर भ्रष्ट नहीं होता। सरोज, जो गीता की सहली है, सम्भवतः वायव्यारिक अधिक है, परन्तु स्निग्धता उसके यत्न में भी कम नहीं। पिशा परिचयमा सत्कृति की अवस्था शिखर है, समाज के प्रति उसके मन में प्रतिरोध का भावना है, किन्तु उसके हृदय का मूल मानवीय खोल बार बार उभर आता है। संस्कृति सपन का द्वारा हुआ मुक्त जीवन का वह अनेक बार घल करती है और वह बार तो विजय के एकदम निकट आ जाती है। ओम भी, जो पश्चिमी सत्कृति के उन्मत्त तथा असंयमित तर्कों का प्रबल समर्थक है, गाता के सतत पवित्र भावत्व तथा कभी कभी पिशा के मन से उभरने वाला पवित्रता के प्रमाण के फलस्वरूप अधिक सीला नहीं हो पाता। गीता की आत्मा के 'यत्किञ्च तो मानो उसके स्वामिनी के दृष्टिकोण को ही पुष्ट किया गया है। देवन के पड़ोसी ब्याली पारनार की पार्श्व कथा भी उपयास की मूल संवेष्टता को दाह तथा प्रभावपूर्ण बनाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर 'काले फूल का पौदा' के सभी चरित्र पात्रों के मन पर अपनी विशिष्टता की गहरी छाप छोड़ जाते हैं। इसीलिए उपयास के वातावरण में तनान आने पर भी वह कहीं तीखा नहीं होता। ऐसा जान पड़ता है मानो उपयास के सभी चरित्रों में गीता के 'यत्किञ्च' की सुकुमारता तथा मिठाई किसी न किसी रूप में अवश्य प्रतिफलित हुए है, जिसके फलस्वरूप कथानक के आवेशपूर्ण स्थलों पर भी आचरण की मयादा कमा भग नहीं होती।

उपयास ने समस्त वातावरण को एक मद्धता तथा मिठाई देने का बहुत कुछ अर्थ उसकी भाषा को दिया जा सकता है। इस प्रसंग में अपनी पूर्वा कृतियों से 'काले फूल का पौदा' का अंतर बहुत स्पष्ट देखा जा सकता है। प्रस्तुत कथा कृति की भाषा प्रायः सबकुछ ही समान रूप से समृद्ध है। उसका माद्व चरित्राङ्कन की विशिष्टता में सहायक सिद्ध होता है। निराल शिल्पिन न होना पर भी उसका ध्व या मृक प्रमाण कथानक का बोधलता तथा भद्रता व साथ में खाता है और सबसे अधिक बढ़कर तो भाषा का अर्थ गाम्भीर्य है। अनावश्यक कथोपकथन तथा वयन प्रायः नहीं के बराबर है और भाषा भीन में जो शक्ति के समान स्वाभाविक रूप से

बामन आ जाते हैं, उनमें भाषा की समृद्धि सहज ही द्रष्टव्य है। उपन्यास की गायिका के स्वतन्त्र चिन्तन का एक स्थल है—

“यह कितना बड़ा दायित्व है।

कैसा आदर्श स्वप्न है ? मैं अब स्वप्न नहीं देखूँगी, भोला होता है।

बस, चलती चलूँगी—जो यथार्थ है, आज यही माय है।

स्वप्ना का दायित्व, इसका वहन कौन करेगा ? कैसे होगा ? पारों ओर तो अ तविषेय है। मैं अकेली, झूठ हूँ। जिसे मैंने अपनी आत्मा में बाँधा, सँजोया। जिसके ‘मैं’ में मेरा आस्तित्व हुआ, वह ‘मैं’ तो नहीं बचता। अभीष ही रहा। न जाने क्या चाहता है ? और उस चाह में वह निरंतर अकेला होता चल रहा है।”

उपन्यास में यह और इस प्रकार के अ य स्थल ‘अज्ञेय’ के ‘नदी के द्वीप’ की भाषा का अनायास ही स्मरण पिला देते हैं। इस प्रकार की भाषा की विधि सभी सम्मन हो पाती है, जब लेखक के विचार उसके मन में एकदम स्पष्ट हो चुके हों और इन विचारों का मूल स्रोत उसकी स्वातन्त्र्य हो। सरल तथा प्रयासहीन भाषा उत्कृष्ट कला का माध्यम बनने के लिए कलाकार के पास स्वतः उपलब्ध हो भी जाती है। फिर भी उपन्यासकार की यह प्राज्ञता तथा संस्कार की हुई भाषा उसके लिए एक अतिरिक्त दायित्व बन गई है, क्योंकि भावस्थ में भाषा के इसी स्तर का निवास उससे अपेक्षित होगा और इस दायित्व निर्वहन को एकाएक ही बहुत आसान नहीं कहा जा सकता।

औपन्यासिक विधान की दृष्टि से भी ‘काले फूल का पौधा’ एक सफल कथा कृति सिद्ध होती है। ‘टेकनीक’ के नवीनतम आविष्कारों के बावजूद कहाँ कहने का दग आमूल परिवर्तित नहीं हो सका है, भविष्य में कभी हो सकेगा, यह भी संदिग्ध है। प्रस्तुत उपन्यास कह छोटे छोटे खण्डों में विभक्त है। सभी प्रमुख पात्र कम से कम एक बार एक खण्ड में अपनी कथा कहते हैं। कथानक का यह विभाजन सर्वथा नवीन हो, ऐसी बात नहीं। इलाचन्द्र ‘बापू’ की ‘पत्नी की रानी’, ‘अज्ञेय’ की ‘नदी के द्वीप’ तथा हिंदी का कह अन्य कथा कृतियों में इस टेकनीक को अपनाया गया है। उपन्यास में यह विधान अपेक्षाकृत परिभग साध्य है। एक खण्ड को दूसरे खण्ड का पूरक होना पड़ता है अथवा आत्म कथन में पात्र अपने साथ न्याय नहीं कर सकते। परंतु इस टेकनीक का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसके द्वारा एक पात्र अन्य पात्रों के सम्बंध में भी उभरता है। इससे उसके चरित्र के सभी आवश्यक पहलू चारे चारे पाठक के सामने आ जाते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि इस विधान में कथा खण्डों का क्रम तथा संयोजन बहुत महत्वपूर्ण है, अतः उपन्यासकार को अतिरिक्त ध्यान देकर कथानक को गठित करना पड़ता है। फलतः अभ्यास में विभाजित कथानक में उतनी एकसूत्रता तथा स्वाभाविकता सुरक्षित नहीं रह पाती, जितनी इस प्रकार के कथा संयोजन में रहती है।

दो साल के इस उपन्यास में कथा खण्डों का विभाजन औपन्यासिक तत्त्वा को ध्यान में रखकर किया गया है। विभिन्न पात्रों का चरित्र उद्घाटन आवश्यकतानुसार होता जाता है और प्रायः खण्डों से नहीं बरकर स्वतः पात्र के कथा से उसके चरित्र के आग्रह स्पष्ट होते चलते हैं। इस क्रम में पाठकों की पुनरुक्ति को नचाया गया है, केवल बड़ी घटनाएँ एक से अधिक बार वर्णित हैं। जिन्हें एक से अधिक पात्रों ने अपने अपने दग से बताया है। दो पात्रों के पार-

स्वयं को चित्रित करने के लिए खण्डों का विधान अलग से हुआ है। घटनाओं को सानेतिक रूप में यज्ञ करने के लिए निम्न स्वयं अथवा स्वयं का माध्यम स्वीकार किया गया है। गीता की अपने शिशु के प्रति चिन्ता तथा उसके मन की आशका बड़े कोमल भाव चित्र द्वारा यज्ञित की गई है—

अनेक निष्ठत, अपरूप, अस्पष्ट स्वयं को वह देखता रही। सुबह चार बजे उसका सुलार कुछ कुछ उठता। नींद आ गई उसे। तब देता—अथाह, बहुत दूर तक फैला हुआ एक सरोवर है शांत गम्भीर, मानो उस पर कभी कोई लहर ही नहीं उठती। पृणमासी की रात है। जैसे ही नौद उस सरोवर के भीचा नाच आता है, तब किसी किनारे से सगमरभर का बना हुआ एक विशाल भजन घीरे घारे सैरता हुआ आकर रुक जाता है। भजन के स्ने कण पर एक शिशु खेल रहा है। खेलते खेलते वह अशेष सरोवर में गिरने लगता है। फिर एकाएक अँवरा हो जाता है।

आधुनिक उपन्यास में 'ड्रीम सीन्स' का विधान बहुत प्रचलित हो गया है। बहुत से कथानकों में तो बाहर से जाड़ा प्रतीत होता है। परन्तु प्रस्तुत स्वप्न आलोच्य उपन्यास की गठन का एक आवश्यक भाग जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस भाव चित्र के द्वारा इस स्वप्न को व्यक्त किया गया है, वह कथानक का मूल प्रकृति से बहुत जेन खाता है। चरित्रात्मक, कथानक तथा भाषा शिल्प की सुदृढता और सुदृढि इस स्वप्न विधान में भी बहुत ही स्पष्ट है।

उपवास का शिल्प सचन निखरा होन पर भी कथानक का अन्त हमें सन्तोष नहीं दे पाता। यह डीक है कि जीवन के समान ही उपवास के कथानक की गति कहीं भी रुक सकती है और हम उसमें इस प्रकार बाधा नहीं दे सकते। परन्तु औपन्यासिक कला का एक बहुत बड़ा भाग उसके प्रारम्भिक तथा अन्तिम अंशों के गठन में निहित रहता है। 'फाले फूल का पौधा' का अन्त कथानक को अचूक नहीं छोड़ता, पर उसका समापन उठना कलात्मक नहीं बन सका जितना कलात्मक उसका आरम्भ है। घटनाक्रम के नियोजन तथा विस्तार की दृष्टि से उपन्यास के अन्त में कोई कमी नहीं, परन्तु उसके आत्म दो अचूकता में कलात्मक पूर्णता नहीं आ सकी है। देवन और गीता के एक मात्र पुत्र सागर की मृत्यु हो चुकी है। गीता अपनी माँ के घर है और देवन भी वहीं आया हुआ है। घर के ऊपर के कमरे में देवन और गीता का अत्यन्त वरुण तथा सचनशील वातावरण होता है। देवन न गीता को धक बार अगर से पाया है और इस मिलन का माध्यम रहा है उनका मृत शिशु। इसके उपरान्त—

गीता ने बहुत घारे स कहा, "देवन! ओ देवन!" तुम मेरा यह कथा पामो—यह शायें कथा। और मुझ इस जीने स नीचे उतार दो।" देवन न उसे कह चुका तक देता। दोनों एक दूसरे को देखने लगे, जैसे दृष्टि ही में वाणी हो, और वाणी को अनुभूति को बाँप ले। देवन उसे सानियों पर बहुत घीरे घारे उतारने लगा। गाता क पर हर सीनी पर कॉप जाते थे लेकिन वह उतरती जा रही था।

और यही उपवास का अन्त हो जाता है। उपवास का यह समापन कथानक को पूर्ण तो कर देता है, परन्तु पाठक के मन को सहारा तक नहीं छू पाता। देवन का गाता को जीने से उतारना न तो सांकेतिक ही है और न ही वह कथानक के विकास की दृष्टि से अथपूर्ण है। वरन्तु उपवास अथवा कहानी का अन्त करना अपने आप में ही एक कला है। विश्व तथा

साहित्य में उप-यासों के अन्तर्गत प्रायः अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं। डॉमस हाई का 'टैस', रॉन्सटॉफ का 'ऐना कैरेनिना', डिबैच का 'टेल ऑफ दू सिटीज', रोम्या रोलॉ का 'थोकिस्तिक', शारत् का 'शेप प्रन' अथवा 'आकाश' और हि दी में 'अज्ञेय' का 'शेखर' और 'नन्दी के द्वीप', जैनेन्द्र का 'त्याग पत्र', मगधवीचरण वमा का 'रेडि मेडे रास्ते', धमवीर भारती का 'सुनाहों का देवता'—इन सभी उप-यासों के अन्तर्गत पाठक के लिए अविस्मरणीय हैं। उपन्यास के इन समापनों में कलात्मक अक्षलात्मकता रहती है। जीवन की भाँति ही अपूर्ण तथा आकस्मिक होने के साथ साथ वे कला की दृष्टि से बहुत पूर्ण हैं। इसीलिए उप-यास का अन्त एक और तात्त्विक स्वाभाविक होता है, परन्तु दूसरी ओर बहुविधित तथा बहुचिन्तित भी होता है। इन दो विरोधी तत्त्वों का सफल संश्लेष ही उप-यास के अन्त की अत्यन्त मार्मिक तथा अविस्मरणीय बना देता है।

'काले फूल का पौधा' का शीर्षक अत्यन्त प्रतीकात्मक है और इस प्रतीक का निर्वाह उप-यास में पूरी सफलता के साथ हुआ है। 'काले फूल का पौधा' तुलसी के बिरबे को कहा गया है। गाता के बनारस के घर के आँगन में यह पौधा बरबे में लगा हुआ है और देवन के पास आकर ललनक के बिना आँगन वाले 'डि देवन' में उसने उसे पति की अनिच्छा के बावजूद गमले में स्थापित किया है। गेरु से राम नाम आकर वाले बरबे की तो बात सोचना ही बर्दाश्त-वर्ध है। गाता का कौशल कम मानो इस बरबे से गमले तक का यात्रा है। गमले की संस्कृति से वह अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ पाती, उस सारे वातावरण से वह असम्पृक्त रहती है। अतः वह अपने बरबे के पास ही लौटती है और साथ में देवन की भी ले आती है। प्रतीक की दृष्टि में यही उप-यास की मूल कथा है।

तुलसी के काले फूलों वाला पौधा इस कथा-कृति का प्रतीक चिह्न है और उपन्यास का समस्त वातावरण भी मानो तुलसी की पवित्र तथा शान्त सुगन्धि से आकाशित है। कथानक की सुकुमावता तथा भद्रता को और भी गहरा बनाने में तुलसी के बिरबे के प्रतीक ने पूरा पूरा सहयोग दिया है। तुलसी के पौधे को कथानक से हटा लीजिए और उप-यास की आधी मार्मिकता समाप्त हो जायगी। संस्कृति संघर्ष गीता के लिए बरबे और गमले के बीच है, परन्तु देवन के लिए वह तुलसी और स्वीट पी के बीच है। विजय, यदि इस आत्मोपलब्धि की हम विजय का ही नाम दें, तो अन्त में बरबे में लगे हुए तुलसी के बिरबे की ही होती है। परन्तु इस विजय ने कहीं कड़वा अथवा विरहदा नहीं छोड़ी है, क्योंकि वह शरीर से हटकर मन की मन पर विजय है।

नवीन प्रवृत्तियों से परिचालित उप-यासों के क्षेत्र में 'काले फूल का पौधा' का अपना विशिष्ट स्थान है। हि दी की शीर्षस्थ कथा-कृतियों में इसकी गणना हो सकती है। ऐसा कलात्मक अस्ति-ही हमें हि दी उप-यास के मन्विष्य के सम्बन्ध में आश्चर्य बनाता है। हि दी सरार डॉ० लाल से और भी विनम्र तथा परिमार्जित कथा-कृतियों की आशा करेगा, यह उम्हें भूल जाना चाहिए।^१

१ 'काले फूल का पौधा', लेखक—डॉ० लक्ष्मीनारायणजाल, प्रकाशक—भारती मण्डार, इलाहाबाद।

शिवप्रसाद सिंह

सवेदनात्मक तत्त्वों की एकसूत्रता

हिन्दी के जिन चार नये कथाकारों के वर्तमान से हम आश्वस्त और मविध्य के प्रति आशावित हो सकते हैं, उनमें कमल जोशी का नाम भी शामिल है। पिछले षष्ठ वर्षों से कमल जोशी कहानियों निम्न आ रहे हैं और उन्ने कभी कहानियों लिखी हैं। हालाँकि सुदन की उन्नत राशि आवश्यक रूप से कला की उत्पत्ति कोत्ति नहीं करता किन्तु कमल जोशी की रचना में ऐसे तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जिन्होंने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से उद्दाने अन्तः और शक्ति का परिणय दिया है, जो एक तद्वय कथाकार के लिए कम सिद्धि और महत्व की वस्तु नहीं।

वस्तुतः कमल जोशी पिछला पाणी के तद्वय व्याकार हैं। मैं 'पिछली पीढ़ी' शब्द का प्रयोग किसी अन्यथा मतान से नहीं कर रहा हूँ और न तो मेरे विचार 'पीढ़ी' पिछली या पुरानी होने के कारण कोई कम महत्व हा रचना है। इस विशेषण का प्रयोग मैं कमल जोशी के साहित्य के नैरन्तर विकास की दृष्टि में रखत हुए कर रहा हूँ। कमल जोशी अपना वन स्थिति के कारण उस स्थान पर लगे हैं जहाँ से वे पुराना विरासन के साथ नव प्रभावों की अच्छी तरह आत्मसात् कर सकते थे, किन्तु उनकी कहानियों में वस्तु और शिल्प का जो सौम्य ग्लानि पड़ता है, उसमें कथा साहित्य के अत्यन्त साम्प्रतिक प्रवृत्तियों का अत्यन्त प्रभाव पड़ा है। उनकी कहानियों के वे भी समग्र हमारे सामने हैं। इसके पहले चार के चार नाम से उनकी समग्र छन चुका है। इन रचनाओं में वस्तु चयन और शैली शिल्प दोनों की उन्नत परिणति ग्लानि पड़ती है किन्तु यह कोशल बड़ी है जिसे प्रायः पिछले लाग अपनाया करते थे। ये सभी कहा-
नियों प्रायः मध्यवर्गीय जीवन से सम्बद्ध हैं। कहीं कहीं वे मध्यवर्गीय कालों में भी लिखते हैं किन्तु अनेकाना कम। मध्यवर्गीय का जीवन पहले से कितना अधिक शाखा, तान और तन्मयों से आच्छादित है, इसे कमल जोशी विचारत अवश्य होंगे किन्तु उनका रचनाओं में इस जीवन का वाचि विवरण या स्तराय आगत हो ग्लानि पड़ता है, गहर उठरने का आकाश या मान-
सिक मयताओं का अरने की डालन का 'रिस्क' नहीं ग्लानि पड़ता। सम्मन है छोटी कहानी का कनवैत इन विचार भूमिका को संभालने में बहुत सक्षम नहीं है किन्तु उनके समवर्तक दूसरे कथाकारों न नागरिक जीवन के जिस मूल दृष्टि, अनेकाना आगत तोला परिस्थितियों, धुन, कृष्ण, विद्वान आदि की कहानी के माध्यम से उभरा है वह भी महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। मोरारों के बारे में उनके कहानी समग्र की भूमिका में बानेय वाक्य लिखता है उसकी कहानियों में मनस्त्व की स्थान नहीं था, कारण कि तब तक इस विचार-संरूप का आविष्कार ही न हो सका था, ये कहानियाँ मुख्यतः एकाना साक्षी साक्षी, रचना प्राकृत्य की पूर्णता से रोमित कमी-कमा मात्र निक पर आगारित ग्लानि पड़ती हैं। कमल जोशी की कहानियों के लिए मोरारों के लिए लिखित उपयुक्त पक्तियों का उद्धरण उपयुक्त कहा जा सकता है हालाँकि जिस वस्तु तत्त्व का मैं ज्ञात कर रहा हूँ उसकी दृष्टि से यह उद्धरण किसी अन्तः की ओर सकेत नहीं करता। कमल जोशी के इन दो सचनों में तेरह कहानियाँ समग्रत हैं, जिन्हें हम मुख्यतया चार भेषियों में रख सकते हैं। कुछ ऐसी कहानियाँ जो सामाजिक समस्याओं से प्रेरित

हैं, बहुत सम्भव उनके मूल में आर्थिक प्रश्न है—जैसे 'शेवरी गली', किसका वेग, पैटर्न की बीबी', 'फूला की माला' आदि। 'शेवरी गली' का रमजान कल व शीत से ठंडा है, वह न चाद कर भागम गलत करने के लिए शराब पीता है और 'अपेरी गली' में लड़कियाँ हुआ चल देता है 'किम्का वेग' बगल के अकाल के समय एक गरीब के 'पेटे की कहानी' है जिस निपूता श्रीमर पालता है, और सच्चा बाप बन्ने के प्रति सहज प्रेम प्रशिक्षित करने में जेल भेज दिया जाता है, 'फूलों की माला' में शरणागति लटकी आराधना देा कृष्ण के लिए माला लेकर मंदिर होते होते बेटे बेइया गली में जाती और अतः भीत मोंकर पेट पालती है—इस प्रकार की कहानियों में कमल जोशी अपने पूर्वज या अग्रज कथाकारों से त्रामे नहीं बढ सके हैं, मेरा खयाल है कि ऐसी कहानियाँ में उनकी प्रतिभा को जो ठोस जमीन मिलनी चाहिए वह प्राप्त नहीं हो सकी है।

दूसरी श्रेणी में वे कहानियाँ आती हैं जो किंगी अति सामान्य उपलब्ध वस्तु या वे द्रव्यमात्र किती मनुष्य की सर्वदना को, दद को उभाटने के लिए लिखा गई हैं। 'पत्थर की श्रौं' की 'चश्मा', 'लिटकी' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं जिनमें कमल जोशी को अत्यन्त सफलता मिली है। 'चश्मा' कहानी में बुद्ध मनोहरप्रसाद का दैन्यजित्त दद, चश्मे का दूट जाना तथा घर वालों की उपेक्षा से उत्पन्न क्रोध भाव का जमका समाचार पाकर वैस निगलित होता है, इसका बडा ही सजाव चित्रण लेखक ने उपस्थित किया है, 'चश्मा' कहानी प्रथम श्रेणी की कृति है। 'लिटकी' मनुष्य के मानसिक रहस्य की लिटकी है जिसमें कभी कभी उसका अवलोकन रूप भोजन लगता है। इन कहानियों में कमल जोशी ने दिग्गज कथा साहित्य की वस्तु रचन की नई दिशा की ओर प्रेरित किया है।

तीसरी श्रेणी में वे कहानियाँ आती हैं जिनमें लेखक किनी मानसिक दृष्टि की ओर गत करना चाहता है। 'प्रतिनिधिया' कहानियों की सरोज अपने भारी पति बलराज से सम्बंध विच्छेद कर लेती है और जमका जमका युक्त को अपना जीवन सगी निराश्रित करती है। बलराज ने लड़की के पिता से दण्ड में, जहाँ वह नौकरी करता था, शाग करने का प्रस्ताव किया था। यही बलराज एक बदसूरत काली लड़की से शादी कर लेता है तो सरोज इस समानार की मुनने के बाद जमका से विराह करना अस्वीकृत कर देता है। 'इच्छत की सातिर' 'पहला पाप' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। 'पहला पाप' के रामेश्वर बाबू इमानदार रहन की लाज, शक्ति के बानसुर एक दिन गरीबी से तंग आकर घूम लेते हैं—इन कहानियों में कथाकार की हम सामान्य घरातल पर ही पाते हैं।

चौथा श्रेणी में मैं कुछ ऐसी चरित्र प्रधान कहानियाँ रखूँगा जो अपनी शिल्प आदि की कमजोरियों के बावजूद हमारे मन में गहरी पीडा और सहज सम्बन्धना उत्पन्न करने में सफल होता है। 'गुँगा यौन' और 'गहरा मौसम' ऐसी ही सफल कहानियाँ हैं जिन्हें भूतना कटित दे। पुरु और अपने पति के लिए बाहर से प्रत्यत कैप्टन शिव लगने वाली नालिमा का त्याग मन को अत्यंत मय देता है। गुँगा यौन का गुँगा लटकी अपनी मातृमित्र और प्रसहायता से हमारे मन में अभिस्मरण्य दर्द जगा देती है।

इस प्रकार हमने देखा कि मनुष्य की दृष्टि से कमल जोशी किसी प्रचुरता प्लाट या मानविक संघर्ष आदि की मौलिकता के लिए नहीं बल्कि इस जीवन से एकसूत्रीय सर्वदनात्मक

तत्त्वों के चयन के लिए बघाड़ के पात्र हैं।

शिल्प की दृष्टि से कमल जोशी को तारीफ़ होती है, क्योंकि वे सीधी सान्नी भाषा में 'मुनिश्चित कथानक' को सगुलिन दम से प्रकट करते हैं। यहाँ भी कमल जोशी विद्युत् की पादी के प्रतिनिधि कथकारों के अनुगामी ठहरते हैं। प्रतीकों, ममझवियों, वातावरण के नये प्रयोगों और कथा गठन के लिए प्रकटित, स्मृति, राशद विचार शृङ्खला, स्वप्न, सामेयिक ध्वनिया आदि का प्रयोग उनकी कहानियों में कम से कम पाया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि इन्हें शिल्प से नये का धनिवार्य अंग माना जाय किन्तु यह कौशल तो है ही और नये कथाकार को यह अंग साधना के बाद प्राप्त हुआ है। कमल जोशी की भाषा का मैं प्रशंसक हूँ, उसकी स्पष्टता का फायदा। सुस्पष्ट दम से भाषा विचारों की स्पष्टता और सफाई योजित करती है। निर्लज्जता भाषा में किम्पागोद की शक्ति उन्हें प्राप्त है किन्तु कहीं कहीं जब वे शब्द या जैनेन्द्र की भाषा के मोह में पड़कर सूक्ष्म, भावमूचक दृश्यों को बाँधने के लिए उलझी भाषा की शरण लेते हैं तो बड़ी बुरा स्थिति उत्पन्न हो जाती है ^१

'मन और प्राणी में अपमान तथा पश्चात्ताप का द्विप भर गया। प्रथम अभिज्ञता की निष्ठुरता से वह बहुत देर तक अप्रस्तुत हो बैठी रही' अचानक प्रेम करने वाली लड़की बाद में जब अपने प्रेमी को अविवशनाय पाटो है तो उसका अस्तित्व का विचार लेखक करना चाहता है किन्तु ऊपर की पंक्ति जितनी अस्पष्ट हो गई है। ऐसे प्रयोग कई स्थानों पर मिलते हैं। विशेषतः 'गूँगा यौवन' की कहानियाँ में। शायद ये पहले की कथानियाँ हैं। प्रस्तुत। कहीं कहीं कमल जोशी को अलंकार आदि देने का मोह भी होता है। यह उचित ही है किन्तु वहाँ अतिरिक्त का ध्यान भी रखना चाहिए। एक प्रसंग देखिए विपला का पति विनोद पर नारी में आतंक है। विपुला पत्नी उस औरत के सबेरे एक कमरे और सेज की बात सोचती है और उसके अपने शयन कक्ष का तुलना करते हुए सोचती है ^२

यह कमल कौन का खराब है। विद्युत् कदरे प्रकाश में चमक रहा है। तब विद्युत् की 'मा का गोद' का तरह कोमल और 'रमणीय' है, यहाँ लेखक ने अतिरिक्त का ध्यान नहीं दिया और अलंकार मोह में मौ की गोद को रमणीय कह दिया। इस तरह के मौका पर थोड़ा ठहरकर सोच लेने की जरूरत है।

कमल जोशी की कहानियों का अंग प्रायः दो तरह से होता है। लेखक किसी 'दृष्ट' का तद्दारा लेकर एकत्र अंग प्रशिक्षित मोह उपस्थित करता है जिससे नाटकीयता का पूरा अन्त उपस्थित होता है। 'दृष्ट' अन्त के लिए एक कौशल तो है किन्तु यह दुबारा तलवार भी है, चूक नहीं कि गए। यहाँ यह दृष्ट कहाना के कनेक्टर से उत्पन्न होता है वहाँ तो उससे नद ताकत पैदा होती है जैसा कि 'बहुर मोहर' में। किन्तु यहाँ यह दृष्ट कहाना से प्रेरित विषय जायगा वहाँ अपने भार से कहानी ऊँचा की तरह अमनुलिन होकर जीवन अन्तर से गिरती निम्नाई पड़ेगी। जैसा 'नौ रातों' में। विपुला औरत के घर में आकस्मिक घटना का सहारा लेकर एक चोर को घुसा दिया गया और वह यहाँ जानते हुए कि यह एक एस० पी० का घर है, घुस गया, यहाँ जानकर कि चोर की औरत बामार है एस० पी० का पत्नी ने पति की मात्र

१ 'गूँगा यौवन', पृ० ७।

२ 'पत्थर की रातों' पृ० ६८।

साहित्य दे दी—आदि । कमल जोशी की कुछ कहानियाँ में अज्ञानक अन्त उपस्थित हो जाता है । इस तरह की (Abrupt ending) कहानी को सख्त चित्र या टूटी तस्वीर, की हालत में बना देती है । मैं यह यहाँ कहता कि ये किसी उपदेशक की तरह अन्त में एक स्टेटमेंट दे दे । माना कथाकार निष्पक्ष साक्षी (Impartial witness) मान हैं, बायाधीश नहीं । कि तु बैठा यामस हाम ने लिखा है कि क्याकार कहानी सुनान की प्रयोजनीयता (Justifying its telling) तो याचित करनी ही होगी । ऐसा भी नहीं कि ये स्टेटमेंट नहीं देते जहाँ देते हैं वहाँ कहानी के शिल्प का हास भी होता है । 'श्रीवैरी गली', 'छाया चित्र' आदि अतः यचित कहानियों में जब कि 'भाठ' में ये अनावश्यक रूप से अन्त में कहते हैं "सिर्फ़ टा ही व्यक्ति जीवित नहीं रह सकते और भी बहुत से व्यक्तियों की आवश्यकता होती है ।" 'पत्थर की आँख' अत्यन्त उच्च कोटि का कहानी है कि तु लेखक ने उसके अन्त को इतना अभिधात्मक (Flirt) बना दिया है कि सुदरता में कमी आ गई है । नर मनान मालिक कलाकार से पृथक्ता है कि अगर यह बात सके कि उसकी (मनान मालिक की) कौन सी आँख पत्थर का है तो यह उसे एक महीना की और मुहलत दे सकता है । क्याकार बता देता है, इस पर मनान-मालिक पृथक्ता है कि आपने कैसे पढ़ना—“जब आपने सिर्फ़ एक महीना कहा तब मने स्थित और किया कि आपकी भाई आँख में न जाने कैसी एक कोमल कदवा की आभा खेल गई, फिर समझने देर न लगी कि वही आपकी पत्थर की आँख है । यह तो स्वाभाविक ही है कि आपकी पत्थर की आँख में हल कोमलता की आभा पहले भगवती” जाहिर है कि नीचे की पंक्ति अनावश्यक है और इसके आ जाने से साकेतिकता (Suggestiveness) में कमी आ गई है ।

गूँगा जीवन (को प्रकाशक की गलती से 'मूँगा की माला' के नाम से प्रकाशित हुई है) तथा 'पत्थर की आँख' दोनों ही हिंदी कहानी के लिए सब की वस्तु हैं । 'पत्थर की आँख' की छपाई, आगण आदि तो असम्भ्रम हा मनोरम है, उस टक्कर की रूप सजा, साफ़ छपाई हिन्दी की कम पुस्तकों में दिखाई पड़ती है । इसके लिए प्रकाशक च यशद के पात्र हैं । मैं अन्त में लेखक को उसकी गौरवमयी साहित्य वाचना के लिए बधाई देता हूँ । कमल जोशी की ये कृतियाँ उनके उच्चल भविष्य की ओर साधारण सकत करती हैं ।^१



^१ यह समीक्षा श्री कमल जोशी की कहानी 'पत्थर की आँख' में सम्बन्धित 'कल्पना' में प्रकाशित बाद विवाद के पूरा चिन्ती जा चुकी है ।

'पत्थर की आँख', लेखक—कमल जोशी, प्रकाशक—रश्मि प्रकाश, चित्तरजन एजेन्सी कलकत्ता-३ ।

'गूँगा जीवन', लेखक—वही, प्रकाशक—नवयुग प्रकाशन, दिल्ली ।

नाटक जैसा न होकर रेडियो के 'फ्रीजर' जैसा है, जो किसी विशेष पर्व और विशेष चरित्र पर लिखा जाता है। सभी 'नये समाज' का आदर्श नाटक के अंत में कोरस गान में स्पष्ट किया जाता है।

उक्त तथ्य किसी साधारण नाटककार द्वारा सिद्ध हुआ होता तो यह सर्वथा अमाल्य और क्षय होना। 'नया समाज' का नाटककार वर्तमान नाट्य साहित्य का एक प्रतिनिधि और शक्तिशाली नाटककार है। इस प्रकार मैं हम नाटककार में बहुत बड़ी आशा रखते हैं, क्योंकि उनकी मर्यादा और स्तर में हमारे हिन्दी नाट्य साहित्य का भविष्य छिपा है।

'नया समाज' रंगमंच की सरलता की दृष्टि से अपेक्षाकृत सफल है। नाटक में पात्र गोड़े हैं और छुड़ीत घण्टे का कार्यक्रम है। वस्तु निर्देश भी नया है। दोनों अंशों में कुल मिलाकर छह दृश्य हैं और छहों दृश्य प्रायः एक ही कमरे में आते हैं।

अभिनय की दृष्टि से एक विशेष बात इसके कथोपकथनों के साथ से जुड़ी है। प्रायः कथोपकथनों का रूप कलात्मक है। लेकिन कुछ स्थानों पर कथोपकथन 'स्वगत कथन' की शैली में प्रयुक्त हुए हैं, वहाँ इसका रूप शिथिल हो गया है।

कुछ दृश्यों का तो आरम्भ ही नाटककार ने स्वगत कथनों के माध्यम से किया है, जैसे, प्रथम अंक में दूसरे दृश्य का आरम्भ 'कामना' के स्वगत कथन से और दूसरे अंक में दूसरे तथा तीसरे दृश्य का आरम्भ क्रमशः 'रूपा' और 'कामना' के स्वगत कथनों से हुआ है।

नाटक के प्रायः सभी पात्र नाटकीय ढंग से उभारे गए हैं, लेकिन उदात्त आदर्शों का समान भाव इस तरह से चरित्र विधान के चारों ओर मेंढराता रहता है कि नाटक की प्रेम विष्णुता में बाधा उपस्थित होती है। नाटक की चरम सीमा और उससे नाटक का एकान्त प्रभाव चरित्रगत सिद्ध करने का है, जहाँ

हमें समाज बदलना होगा, आगे बढ़ो बढ़ा।

ऊँच नीच है नहीं कहीं भी, मिलकर चढ़ो चढ़ो।

नया सगन है चाँद नया है

भरती नई नई।

सृज नया, नई आशा है

नयी उमंग खती।

[कोरस]

लेकिन 'नये समाज' का यह सत्य इस नाटक में 'रूपा', 'खडू' और 'मनोहर' के बीच 'कामेडी आफ़ सार्स' का शैली और तन से घराया गया है, यहाँ इस नाटक की शक्ति क्षीण हो जाती है और हमारे मन पर विरोध का प्रभाव अधिक पड़ता है, और यह विरोध 'नये समाज' की हँसी उड़ाने जैसा लगता है।^१



^१ नया समाज, लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक—भारतजीवी प्रकाशन, नई दिल्ली।

गिरिजाकुमार माथुर

निकप नवीन दृष्टिकोण का प्रतीक

हिन्दी का नया साहित्य अब प्रयोगशाला का कच्चा अवधाना माल ही नहीं रहा बल्कि प्रतिदिन बढ़ अधिक यत्नसिध और रूप मण्डित होकर बाहर आ रहा है, 'निकप' इस बात का एक संयोजित प्रमाण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'निकप' में जो कुछ निकला है वह सब का सब भ्रष्टतम है और बाकी जो उसकी परिधि के बाहर है या लिखा जा रहा है वह निम्न स्तर का है, बल्कि यह एक प्रस्तुत सकलन को देखकर एकत्र रूप से अनुभव होता है कि पिछले पंद्रह वर्षों की उपलब्धि किन नये रूपों में धारे धार टल रही है। जिन लोगों की यह स्पष्ट धारणा या कि नई शैली का कृतित्व एक सकलिकालीन स्याणक आवेग या फैशन मान है, अध्यायी परिस्थिति है, या जो इस आशा में जी रहे हैं कि दस पाँच साल की यह हवा अपने आप बह हो जायगी सब पुनः युग उनके पास लौटकर आएगा उह 'निकप' और निकष जैसी दूधरी नौजों की देखकर नमश निराश होते जाना पड़ेगा। आप की बिलदा हुर उपलब्धियों जब इस प्रकार समग्रोत रूप से सामने आयेंगी तब इनका असली महत्त्व शत होगा और उचित मूल्यांकन हो सकेगा। 'निकप' का स्वागत सबसे पहले इस दृष्टि से होना चाहिए।

प्रकाशन वस्तु य से लेकर सम्पादकान तक में जिस बात को सबसे अधिक धोर कर कहा गया है वह यह है कि 'निकप' उच्च साहित्यिक कृतियों का सकलन होगा। भ्रष्टता, सजीवता, रसमयता, नया सौंदर्य बोध, यथाथ दृष्टि उस कृतियों की कसौटी होगा व कि किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक पक्षधरता। निकप जैसा साधक और मौलिक नाम या इसी कारण उसको दिया गया है और यद्यपि उसमें कुछ गैर मामूली कविताएँ भी सम्मिलित की गई हैं, पर मुख्य रूप से उसे गद्य सफलन कहना ही उचित होगा। गद्य कवीना निकप वदति' वाली ठुकि के अनुनार (जहाँ से सम्मवत सफलन का नाम लिया गया है) गद्य कृतियों का ही अधिक प्रतिनिधित्व इसमें लिया गया है। हमें देखना है कि इसका निर्वाह समग्र में कहाँ तक हुआ है तथा किस सीमा तक 'निकप' में भ्रष्टता और पक्षधरता का अभाव प्राप्त होता है।

'निकप' में एक सम्पूर्ण लघु उपवास (सोया हुआ जल) दो उपवासों के अंश (गाथा, खाली कुर्ची की आत्मा), एक नाटक (मैं आहूँ), सात कहानियाँ (कोयला भइ न राख, रसप्रिया, पाँच का दैत्य, सेब सुने दिन सूनी रातें, फुलबसिया, गुल की बन्नी), तीन लघु कथाएँ (तीन रोने वाली औरतें मोती और पुखरी सड़क, बहू पगडंडी) और द कविताएँ और एक अनुवाक, तीन योग लेख, दो व्यक्तिगत लेख (पसनल प्रसे), एक डायरी और एक कला समीक्षा समग्रोत है। काफी सामग्री है। इनके अतिरिक्त साठे नौ पृष्ठ का सम्पादकीय भी है जिसका विवेचन अलग से होना सिर्फ इसलिए ही अपेक्षित नहीं है कि वह स्वयं एक स्वतंत्र निबन्ध है बल्कि इसलिए भी कि जो कुछ इसमें जिस तरह कहा गया है वह कह विवादास्पद प्रश्न सामने उपस्थित कर देता है। सम्पादकीय वस्तु एक नीति विषयक घोषणा होती है एक 'श्रोत आला' गृह्य है, जो समग्रोत सामग्री पर लगाव जाती है। अर्थात् ऐसे सकलन का सम्पादकीय पत्र आप आशा कर सकते हैं कि जो लेख उसमें समग्रोत किये गए हैं वे

कदाचित् एक ही स्कूल के हैं। 'निकय' की अभिनाश रचनाएँ इस बात का प्रमाण नहीं देती। इसलिए हम पहले रचनाशा को ही परखेंगे।

सारा सफल पद जाने के बाद सबसे पहली बात जो मन में आती है वह यह है कि 'सोपा हुआ बल', 'सड़क बाहर की मोटर की', 'सुने तिन सूती रातों', 'गुलबी बल्बों', 'सेर' तथा पतली, अज्ञेय, श्रीराम वर्मा और प्रो. द्रकुमार जैन की कविताएँ ही विशेष महत्त्व की हैं, साधारण से ऊपर हैं। शेष सामान्य सामान्य या सामान्य के कद स्तर पर हैं।

पतली की कविता 'गोनबुद्धी' कभी हुई, प्रौढ़ और साफ सुथरी होने के साथ ही उनके उत्तराशानीन दृष्टिकोण की भी परिचायक है, जिसमें घरेलू की जीवनी शक्ति में प्रेरणा लेकर नवीन मानस सत्पत्ति के विकसित होने की कल्पना है। नई छवि का इसमें विशिष्ट प्रयोग है, जो पतली के लिए सहज रहा है। शब्द चित्र का साक्षेप्य और उनकी सजीवता दृश्य है

"एक टॉग पर उबक लड़ी हो
मुग्धा लप से अधिक बड़ी हो
पैर डठा, कूरा पिहली पर घर
मुठ्ठा मोड़ चित्र बग सुन्दर
उठ सँगूठ के बल ऊपर
उड़ने की अव लूने अम्बर
सोनाबुद्धी की बैल हड्डोली
आदमी लड़ी छपर पर"

अज्ञेय की रचना 'सोप' एक शक्तिशाली रचना है और उसका गद्य भी सीधा है। पहले ही सक्षेप और सरलता से एक व्यापक बात कही गई है। कविता का श्रुत्युद्दिष्ट ध्यान खींचने वाला है। इस कविता पर यह लाइन नहीं लगाया जा सकता कि यह डी० एच० लारेंस की 'हैनक' नामक कविता से मिलती-जुलती है, या उससे उत्प्रेरित हुई है। यह सही है कि इन दोनों रचनाओं के शीर्षक एक से हैं और यह भी सम्भव है कि उक्त विषय पर अज्ञेय का ध्यान पड़ा गया हो तो डी० एच० लारेंस की रचना की श्रुत्युद्दिष्ट उनके मन में कहीं पड़ी हो। पर इस साम्य के अतिरिक्त कविता में और कोई साम्य नहीं है, दोनों की विचार-बद्ध बिलकुल अलग है। बल्कि 'हैनक' से अधिक निकट की रचना डी० एच० लारेंस की लिज़ार्ड (Lizard) लगती है जिसका साक्षेप्य और 'एपोच' अज्ञेय के 'सोप' से मेल खाता है। विचार-वस्तु यहाँ भी विभिन्न है।

'सोप' इस समूह की विशिष्ट कविताओं में से एक है, यद्यपि उसे सबसे अलग करके महत्त्व देकर क्यों छपा गया है यह समझ में नहीं आता।

श्रीराम वर्मा लिखित 'चक्यूह' एक सुगठित और श्रेष्ठ रचना है। पुराने प्रतीकों को नये ढंग से उभारा गया है और आज के व्यक्ति जीवन तथा सामाजिक समस्याओं की बहुत अच्छे संकेत तथा योजना से प्रस्तुत किया गया है। इस कविता को पढ़कर चित्र कला का 'वाश शिल्प' याद आ जाता है जिसमें सूँची के दो चार 'स्ट्रोक' से ही पूरा चित्र स्पष्ट हो जाता है। यही विश्वास और भविष्य की आस्था के साथ कवि कहता है

भरी आमा
 झुन में भी अधिक झुन है
 सुमद्रा स भी अधिक धारणशीला ह
 और अभिमन्यु स भी अधिक क्षुत्तिधमा ह
 क्योंकि मैं बसमान को अपना छोटा भाई
 मानता हूँ
 जिस में त्रिधर बाहूँ मोड़ सकता हूँ
 और उसे अपने प्यार क सहारे दिव और मर
 बना सकता हूँ

रचना में शब्दों की मिल-पड़ता ध्यान देने योग्य है। साथ ही उसकी भाषा, उपमान, रूप-संयोजन (संश्लेष) भाषा का कलात्मक अविधि और अभिव्यक्ति के रज्जु (Restraint) से जो बाधावरण उठान होता है उसमें एक सहज, हल्का स्पर्श है, जो विपन के लिए अत्यंत उपयुक्त बैठता है। वह उस कठोर यथाय का संकट करता है जिससे सभा चल रहा है। इस प्रकार कविता पौराणिक प्रथाओं के आस पास है। उत्तमकर नहीं रह जाता। 'जेलर हूँ' के मामले में रचना विज्ञान गढ़ है। उसमें लय का अभाव है, यद्यपि गति का नहीं है। लेकिन कविता का गुण लय है और भाव गति गद्य का। जब तक कविता में लय न हो उसे गद्य से पृथक् करना कठिन है। इसका समाधान यह कहकर दिया जाता है कि कविता गद्य-गीत में मिली गई है। पर एक तो गद्य गीत कविता के लिए कहाँ तक उपयुक्त है वह प्रश्न विचारणीय है, दूसरे गद्य गीत का यह अर्थ क्यापि नहीं है कि साधा-सादा -व लिखकर उसे कविता की सजा दे दा जाय। कविता में गद्य गीत के तत्त्व को अगाकार करने का तो यही उद्देश्य शत होता है कि छन्द भावना के पाछे चले न कि भावना छन्द के, अथवा छन्द के सम्बंध में यह आवश्यकता कवि को हो कि भावामि व्यक्ति के हित में उसका गति या लय को आचर्यकता पढ़ने पर सोचा भी जा सके, एक या दो ठाल कन्वियों कम की जा सकें या बना दा जायें, लयात्मक सम्भाषण शैली का आचार लिया जाय, प्रभुत्व (Inevitable) शब्द स्थान पर इसलिए कीट अन्य पदार्थ चयन न रखा जाय कि ऐसे मात्रा घटती या बढ़ता है, या मात्रा और छन्द पूरा करने के लिए निरर्थक शब्दों का चयन ही भरमार न करती पड़े। सारांश में कवि भावना के अग्ररूप छन्द की तोड़ने-भरोन्ने की सुविधा हो।

इस अवस्था में भी छन्द की शत पहली ह, छन्द ही वाली लय हो। छन्द का मूलभूत पैरान ही बंध नहीं होगा तो गति का स्वतंत्रता कहीं से ला जा सकता है। 'चक्र पूर की पत्तियों आगि से अन्त तक गद्य की पत्तियों हैं। गद्य में इससे भिन्न रूप में उसे नहीं लिखा जा सकता। गद्य-गीत छन्द की सीमा में ही सफल हो सकता है, उससे बाहर रहकर नहीं।

बीरेन्द्रकुमार जैन का 'वह गढ़ है फूल बीनन' समग्र की एक और उत्कृष्ट कविता है। इसमें त्रिध रहस्यमय, चामत्कारिक, चातुर वातावरण का निर्माण किया गया है वह बड़ी सफलता से अर्जित हुआ है। गाँव की प्रगाढ़ गाथाओं (ballads) में ऐसा भावना यव-यव मिलती है, विशेष रूप से मानवा और सुनैलसण के लोक-गातों में। जैसे बहन और बीरम वालाव से कमल के फूल तोड़ने जाते हैं, बहन आगे चकर चल में समा जाता है, एक कमल

फूल बनकर रह जाती है और माद पल्लताता रह जाता है। वीरेन्द्रकुमार ने इस लोक भावना के सूत्रों को लेकर नये दग से रचना में प्रस्तुत किया है। लोक जीवन की आत्मा पक्ति पक्ति में खोलती है। किसानियों की आवाजें, रेशमी ढबड़े वाले की पेरी, घर में सितारी वाला, मनिहार खिलौने वाला, कातुली मेंबे वाला, इन सबकी आवाजें हमारे लोक जीवन में बड़ी हुई हैं। किने वाले साद का प्रकरण न केवल चित्रमय, शक्तिपूष्ण और प्रभावोपात्क है बल्कि वह उस रहस्यमय गिजुष्टान का आवश्यक अंग बनकर आता है। रचना में जिस रहस्य गर्भित वातावरण की सृष्टि की गई है उससे कोलेरिब की कविताओं के सुपरनेचुरल तत्त्व का एकाग्र ध्यान आ जाता है। यही दूरी का भान, जादुई वातावरण, नमस्कार भरी स्थितियों, जो रोमानी कविता की विशेषताएँ होती हैं, इस रचना में हैं।

छन्द का अभाव यहाँ भी मौजूद है। किन्तु पक्तियों गद्यात्मक बड़ी हैं। शब्दों का चुनाव और क्लम संयोजन ऐसा है जिसमें गति के साथ उतार चढ़ाव भी है। उतार चढ़ाव का यह तत्त्व छन्द के अभाव में कविता को गहरा गद्य होने से बचा लेता है। इस दृष्टि से छन्द न होते हुए भी निम्नांकित पक्ति अथ पक्तियों की अपेक्षा अधिक सफल है

“सध्या के मरुप घर की दीवारा पर मॉडने के लिए”

इस पक्ति का यदि विश्लेषण किया जाय तो यह लगभग बराबर के चार ‘फीट’ में विभाजित हो सकती है—

सध्या के । मरुप घर की । दीवारा पर । मॉडने के लिए ।

जिसमें लगभग सभा गति अथवा के अन्त में एक स्वर प्रति बरमान है। ‘दीवारा पर’ वाले अर्थ की पन्ने समय आगले शब्द ‘मा’ शब्द को अनिवार्यतः साथ लेकर पढ़ना पड़ता है, जिसके अन्त अर्थ के अन्त में भी एक स्वर प्रति आ जाती है। इस प्रकार पक्ति में लय का एक पैटर्न कायम हो जाता है और छन्द का अभाव नहीं पड़ता।

विकसित लय पद ही छन्द है, पर मान लय पद से भा राम चल सकता है अथवा यह एक नये छन्द का निर्माण बिन्दु बन सकता है। जहाँ यह भी हो वह गद्य है। गद्य यहाँ मान गद्य रहकर कविता के लिए अनुपयुक्त होता है और कहाँ से किस प्रकार वह छन्द का रूप धारण करने लगता है उक्त सूत्र सीमा क्षेत्र का तन्त्र करना ही इस विश्लेषण का लक्ष्य है। पिछली कविता ‘चक्रव्यूह’ के छन्दभार में उपयुक्त लय तक का अभाव है, इसीलिए उसकी पक्तियाँ इस कविता में अधिक गद्यात्मक हैं। आजकल गद्य की तरह से बहुत कविताएँ लिखी जाने लगी हैं, पर गद्य कहाँ लय पान लगता है लयात्मक पैटर्न बनाने लगता है इसका विशेष शान अधिकांश लेखकों को नहीं है। वाक्य विहिन का नकल करना आसान है, वाक्य विहिन बनना मुश्किल है।

सप्रह की यही चार कविताएँ निशिष्ट हैं। अथ काव्याओं में जगदीश गुप्त की कविता ‘भी फगी’ और कुँवरनारायण की कविता ‘आशय’ का उल्लेख किया जा सकता है, यद्यपि कुँवर नारायण की कविता उत्तरी विकृत या चोखाने वाली नहीं है बितने कि पहले तीन शब्द ‘आमाशय, यौनाशय, गभाशय’ से लोगो की रचना पैदा होता है। आ बालकृष्णराव, विजयदेव नारायण साही, रवाद्र अमर और कालि चौधरी की कविताएँ भावनाकुलता और ताप की कमी के कारण मन में बहुत भीतर नहीं बैठती हैं। बालकृष्ण रावकी की कविता में

जमीन तो नष्ट है पर बुद्धि और तक बोलता है, भावना नहीं। नये कवि मलयज की रचना 'हम स्वप्नपथी हैं' में परता और आत्म प्रतारणा (self pity) का आवेग है, इसलिए वाक्या का अंतिम अक्षर पहले से मेल नहीं खाता। महादेवी की रचना मौलिक नहीं अनुवाद है इसलिए उस पर अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, मौलिक कृतियों का सफलन में अनुवाद को स्थान देना विचारणीय बात अवश्य है।

सफलन के मध्य अक्षर में सबसे पहले दृष्टि खींचने वाली चीज सर्वप्रथम दृष्टाल का 'सोया हुआ जल' है। यह सबका नया प्रयोग है जिसका आधार मध्यवर्गीय तथा, अतृप्ति इत्यादि (मस्ट्रेशन) का है। इसके लखड़ाचित्र एक पात्र विशेष का मानसिक प्रतिक्रिया और स्वप्न दर्शनों के द्वारा सूत्रबद्ध किये गए हैं। लेखक के अनुसार इसे सिनेरियो शिल्प में लिखा गया है पर आगे से अत तक सिनेरियो शिल्प का आभास भी नहीं मिलता। सिनेरियो शीन प्ले या चित्रालेख होता है और फिल्म पट की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखा जाना है परदे पर कोई दृश्य किम भीति, किस एंगिल से कितना आना चाहिए इस दृष्टि से हर स्थान पर कैमरा परिचालन के निर्देश उस आलेख में होते हैं। संवाद बोलने, आंगिक और भाविक अभिनय करने का निर्देशन भी रहता है। वस्तुतः सिनेरियो को अनुप्रास में लिखी सम्पूर्ण फिल्म कहना चाहिए। इस रूप में 'सोया हुआ जल' नहीं लिखा गया है, बल्कि दृश्यगत स्थितियों को छोड़कर उसका शिल्प फीचर के अधिक निकट है। फीचर में जिस प्रकार छोटे अक्षरों को गैरिटर के माध्यम से छोड़ा जाता है लगभग उसी प्रकार की दृश्य स्थितियों को पहरेदार के कल्प विकल्प के माध्यम से यहाँ सम्बद्ध की गई हैं। इसलिए 'सोया हुआ जल' की उपमास कहने के बजाय वातालाप शैली में लिखित एक प्रतीकवाचक दृश्य रूपक कहना अधिक उचित होगा।

लेखक की भाषा तथा स्थितियों का वर्णन बड़ा मार्मिक और आकर्षक है। मध्यवर्गीय जीवन की इस इत्यादि, अतृप्ति और व्यास का चित्र सामान आता है उसने अनुप्रास दर्द और उदासी का वातावरण भी दिया गया है—

‘रात अधरे में सोया हुआ जल का जल। नाचती नुड रीसमी के पीछे हरे दूध। छटखट। एक काली परछाई का जल का जल पर से रेंग जाना।’

मध्यवर्गीय जीवन वास्तविकताओं में तृप्ति और अतृप्तियों और स्वप्नों में इच्छा पूर्णियों (wish fulfilment) लेखक के अनुसार यही उसकी परिभाषा है। वह दुनिया एक गणतन्त्राला या होटल की तरह है, सम्भवतः इसीलिए होटल की घटना का ने द्रष्टव्य बनाया गया है। इस दुनिया में ब्रिज और ट्रिक्स चलते हैं, लड़कियों की फिराक रहती है, प्रेयसी को लेकर प्रमी घर से भाग जाते हैं, मामयों अपने नावह से पूर किये हुए रोमास की अतृप्तियों को स्वप्न में पूरा करता है छोटे भाद अवचेतन मन में भावियों का पान की अतृप्त कामना रखते हैं, शराबकाद कमरों में फ़ोंसा से लटकते पाये जाते हैं। सबहारा मान्ति में विश्वास रखने वाली आदश का नाम पर खफर खच पाने के लिए खून बन करने का निश्चय करते गिरते हैं, क्योंकि 'वे नीच प्रेषित' और हाथ में बोलल लिये झूमते फक्कड़ शराबी उस दुनिया के सबसे बड़े फलसफी होते हैं।

सारांश में 'सोया हुआ जल' में मध्यवर्ग का यहा चित्र है। अस तोष, अतृप्ति और

तृष्णा से भरा हुआ वह वर्ग है जिसकी मुख्य भूल रोमास और सेक्स की भूल है। इस वर्ग की श्रुतियों और उस तोप में एकाग्र आर्थिक अभाव का जिन भी लेकर ने धर दिया है, जैसे बेकारों की रचना में निगुणित पत्र की प्राप्ति या भूतों की खानदार दावत की प्राप्ति पर उसका शकित दर्शन दर्शन के रूप में ही आता है, ठमकर नहीं। आदि से अत तक इस वर्ग की मुख्य श्रुति सेक्स की के रूप में अन्तिम हुई है। जिसके अन्तर्गत प्रेम की विफलता, वैवाहिक जीवन का विषय, वैदिक भूल का दमन, इन्द्रियाकुलता, कुपडा, यौवन, वर्जना आदि आती हैं। लेखक का प्रस्तुत विश्लेषण इस अक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण उपादरूप से स्पष्ट होता है।

“अस्त व्यस्त वसना और शिथिल सुभाषा में, कस अर्थात् घासी स्त्रियों, सुन्दर वस्त्रों में सजी हुई स्त्रियों, बगी अचनगी स्त्रियों, आलिंगन बड, हँसती, गाती, प्यासे होंठ बढ़ाती स्त्रियों द्वारा और बिजरी हुई हैं और सिमितकर एक बड़ी लम्बी कतार में यात्रि गाला के भीतर प्रवेश कर रही हैं। कमरों के दुरवाये खोलेकर गा रही हैं भीतर पक्षियों पर ली रही हैं, प्रेमालाप कर रही हैं। नाच रही हैं, गा रही हैं।

यह परियों का जमावादा क्यों है ?

क्योंकि आदमी ने अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण जगा रखा है, बसकी इच्छाओं वृत्त नहीं हैं। ये सभी भूले हैं, प्यासे हैं, यह उनकी मोग है।”

इसी व्याप और सडप के आधार पर ‘सोचा हुआ जल’ की रचना हुई है। लेखक के अनुसार मध्यवर्ग की इन सारी समस्याओं का हल किसी भौतिकवादी परिवर्तन से नहीं पलिक ऐसी जाति से होगा जिसका आधार बरुणा पर, सवेदना पर और मानवता पर होगा, क्योंकि ‘बाह्य परिस्थितियों के बदलने से काम नहीं चलेगा, आदमी को भीतर से बदलना होगा।’

प्रश्न यह नहीं है कि नये परिवर्तन का आधार बरुणा, सवेदना और मानवता पर हो या नहीं। मानवीय आधार से किसी को क्वापि हार नहीं हो सकता। प्रश्न यह है कि क्या हमारे समस्त मध्यवर्ग का केवल यही रूप है जो यहाँ प्रस्तुत किया गया है, क्या उसकी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक समस्याएँ कुछ नहीं हैं, क्या मात्र सेक्स और उसके उत्पन्न कुपडाएँ ही उसकी सारी खराबियाँ की बड है, जिसके कारण आदमी को भीतर से बदलने की आवश्यकता दिखाई देती है। फिर यह मध्यवर्ग कौन सा है ? क्या एक विशेष प्रकार का उच्च वर्ग नहीं, जिसके सामने शायद ‘सेक्स’ ही मुख्य समस्या होती है ? यदि सेक्स ही उसकी समस्या का मूलधार है तो फिर भीतर से बदलने का अर्थ केवल यह रह जाता है कि आदमी की इच्छाओं पर नियन्त्रण न रहे, उसकी इच्छाओं वृत्त हो जायें, बह खुलकर अपनी वैदिक प्यासों की सुझाता बले। फ्रायड के साइको एनेलिसिस का यही हल है और यदि हृदय परिवर्तन को ही लिया जाय तो शून्य म तो वह हो नहीं सकता, उसके लिए यथार्थ की पीठिका भी आवश्यक है। यह ‘यथार्थ’ सेक्स या सेक्सगत कुपडाएँ नहीं हो सकती, क्योंकि वह ‘भीतर’ की चीजें हैं। तब बाह्य परिस्थितियों के परिवर्तन के बिना उसका क्या आधार हो सकता है। आदमी के संस्कारों में उसकी बाह्य परिस्थितियों तथा उनसे उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ, दृष्टियाँ, आदतें आदि दोनों ही सम्मिलित होती हैं, इसलिए आदमी को बदलने

के लिए दोनों का परिवर्तन आवश्यक होता है। जो दोनों का सामञ्जस्य और सम वय बरके चलता है वही परिवर्तन मानवीय और मानव योग्य होता है। इस प्रकार विश्लेषण और निष्कर्ष दोनों ही दृष्टियों से 'सोया हुआ जल' में एक तरह का उल्लंघन नजर आता है।

आत्मी की समस्या सेक्स की ही नहीं है, सेक्स की किशोर भावना से ऊपर उठकर समाज की है, संस्कृति की है, व्यवस्था की है, रचना की है, निभाए की है,। वह आज अनेका नहीं है, अंतरांगीय है। 'सोया हुआ जल' में हमें यह दृष्टिकोण नहीं मिलता, पर वह एक श्रेष्ठ कृति है, उसका शिल्प अत्यंत सफल, उत्कृष्ट और नया है और वह लेखक की गहरी, अनुभूतिमयी और बारीकियों में जाने वाला दृष्टि का भी पारस्परिक है।

'निष्कप' की तीन अथवा कहानियाँ मानवीयता का इससे एक भिन्न स्तर प्रस्तुत करती हैं। ये कहानियाँ हैं 'भूल की बनी', शांति मेहरोत्रा की 'सूज दिन सही रातें' और खुशीर सदाय की 'सेष'। इसानी सदाय, सदानुभूति, बख्शा का एसा अतः प्रवाह इन कहानियों में है जो हमें उसके पात्रों और घटनाओं से एकात्म कर देता है और हमारे मन में वही मर्यदा पैदा करता है जो इनके पात्रों ने तथा लेखक ने पात्रों को चमकते समय अनुभव का होगी। ऐसा केवल इसलिए नहीं होता कि इन कहानियों के पात्र तथा घटना स्थितियों सार्वजनिक 'टाइम्स' हैं, एक सिमटे हुए बग़ावतों की नहीं हैं, निम्नी विशेष प्रकार की समस्याएँ और अभिजात म्याँ होती हैं पर इससे कहीं बड़ा कारण यह है कि लेखक ने उन समस्याओं और कंगले भावावेगों को बड़ी तिताइ से अनुभव करके पकत किया है, जिसने साधारणीकरण सम्भव हो सके है। तानों ही कहानियों इस बात का सकल उदाहरण हैं। उनमें लेखकों का एतद्वत शुद्ध मानवीयता का है, नैसा हाट मौस के बन आत्मी का आत्मी के प्रति होता है, यानी वह जो आदम सदाय, मत मठा-दार, पुत्र चारणाएँ, मेर, भक्तता, अहभाव, पक्षपात का चरमा चलाए नहीं रहता या स्थिति विशेष में इन्सान की नस्ल के किसी व्यक्ति को पडा देखकर इन बातों को भूल जाता है। इन कहानियों में सँवे बँधे (सैट) निदान्त, सम्प्रदाय या आइडोलोगी की थोपा थापी नहीं की गई है। उनकी घटनाओं को किसी दृष्टि विशेष से कोइ हेतु या मुकाम देकर प्रस्तुत नहीं किया गया बल्कि इंसान के रिश्ते से इंसान को देखा गया है। यह इन कहानियों की उनी विशेषता है और इस नाते इ ह सही भावी में 'हरन' बना जा सकता है।

'भूल की बनी' (नाम की मौलिकता का लिए भारतीय को बग़ावत के बिना मन नहीं मानना) की विशेषता चरित्र निष्कर्ष है। सहर की गली गली और गली के लावारिस बच्चे, गुलकी, पैरा बुआ, साबुन वाली सती निरमल की मौ इन सबका चरित्र अपने अपने दायरे से जुग जुदा अक्ति हुआ है, जो एक साथ मिलकर हमारे मनों की गलियों में बसने वाले निचले वर्गों के जीवन और उनकी राचयों, समस्याओं का एक सश्लिष्ट चित्र सामने लाता है। 'ऐ मर कुलमुँ है' की गाली स कहानी का आरम्भ उस समस्त अभिशप्त निम्नी का प्रतीक मान बन जाता है जिस घूरा की दुनिया में आदमी और पशु, कुत्ते और साथ निरजते गली क बच्च अस्तित्व के एक ही स्तर पर रहते हैं।

शांति मेहरोत्रा की कहानी में 'सिपुएशन' की विशेषता है। जीवन का मोह, ममता और गहरी संवेदना उसके लिए मुलम है, यह इस कहानी में ग्लूब यन्त दूर है। एकाकिनी

बुद्धि, जिसका अपने को छोड़कर कोई सम्बल नहीं है, जो हर मानसिक तिनके का सहारा देती है, जिसका दूसर जीउन का नहीं करता, फिर भी वह उसे सुट्टी से पकड़े हुए है यह सब विशेषण बहुत अच्छा और मर्मभेदी बन पड़ा है। बड़ी सफलता और भारीकी से लेखिका ने अपने 'दाह' के मन की हालत पकड़ ली है। घर की जिन छोटी छोटी बातों, काम काज और आतों के बीच उड़ोने बुद्धि का नक़्का लींचा है वह एक गृहिणी हो कर सनती थी। इसलिए उनकी कहानी में पारिवारिकता का अनूठा स्पर्श मिलता है।

रुबोर सदाय का 'सेव' भी साधारण से काफी अलग कहानी है। उसका शिल्प 'हंज' का है। मानवीय संवेना से युक्त उसका तात्पर्य बड़ा कीमल तथा आश्चर्य की हल्की अप्रसुद्धों और एक प्रकार के अनिश्चय कोरेपन से अनुप्राणित है। कोरेपन का यह मायूम आवरण उसकी कहानी को और गहरा बनाता है। मानवीयता का एक नया ही दृष्टि उसमें प्रस्तुत किया गया है।

'मैं अपनी कदना से परेजान या और उसे मेरी कदना की आवश्यकता नहीं मालूम हो रही थी।'

'वह होता तो नहीं पर येन मुहकरीया जैस कह रहा हो कि अपनी कदना का श्रेय लेना चाहते हो तो हमारी 'यया' को क्या क्षतिरजिन कर रहे हो।'

'मैं सबैश्न ही द सक्ता था इसलिए मरे शुद्ध स निक्करा 'धबराओ नहीं, ठीक हो जायगी लड़की'। अब सोचता हूँ कि यज्जय इसके अगर मैं प्युला 'आस कौन सा दिन है' तो कोई कर क पक्ता।'

क्या बुझीला व्यर्थ है।

इन कहानियों के बाद डॉ० रघुवंश की कहानी 'पाटी का दैत्य' एक कुण्डित मनोविश्लेषण से पूछ रचना है। निषय तथा सेडिंग नया है, पर मानवता का तीव्रतापन कुछ कम है।

निषय और व्यक्तित्व लेखों में सबसे मौलिक और आश्चर्यजनक अनंतकुमार पापाण का 'व्यक्तित्व लेख 'सहक बाहर की, भीतर की' है। फ्री अस्वामिपदशन के टेक्नीक से बढ़ लिया गया है और उसका व्यंग्य अष्ट है। वां रहित स्वतंत्र चिंतन का प्रमाण उसमें है। भीताल शुक्ल का 'स्वयं भीम और वर्षा' भी बुद्धिपूर्वक भरा सफल ग्रन्थ है। कुट्टिप्रासन (सम्भवतः अक्षय) का मार्ग दर्शन मन्दार कीज है यद्यपि यह शुद्धगुणा है, हँसता नहीं। विद्यानवात निषय का निषय 'हल्दी, दूध और उमि अलु' हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं की अत्यन्त सुन्दर और रोमानी दृष्टि से प्रस्तुत करता है।

सकलन की श्रेय सामग्री में कैशचप्रसाद मिश्र की कहानी 'कोयला भई न राख', फणार्थरनाथ रेणु की 'रसप्रिया', डॉ० रागेय रायन के उपन्यास का अर्थ 'पाया', लक्ष्मीकांत वर्मा लिखित 'राजनी कुर्सी की आत्मा', कैशचन्द्र वर्मा का हास्य-लेख 'कलित ज्योतिष और बाहन योग', भगवन्तराय उपाध्याय का 'मूल्यांकन', अमितकुमार के 'डायरी के कुछ पृष्ठ', (जिसकी पाठ चाण सिर्फ यह है कि कविता में समीप के नये स्वप्न और अक्षरों की स्वतंत्र स्थिति को गम्भीर बात करके अतः में एक समूचे पद्याश को गद्य की पक्तियों की तरह लिए दिया गया है), डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल का नाटक 'मैं आइना हूँ', प्रमाकर माचवे तथा शम्भूनाथ सिंह

की दो अन्य कविताएँ तथा त्रिपिन अग्रजाल, गंगाप्रसाद पांडेय और वैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा की तीन लघु कथाएँ आती हैं। ये सभी लेखक प्रतिष्ठित और प्रतिभा सम्पन्न हैं और प्रस्तुत सामग्री से अधिक श्रेष्ठ श्रीलं भी लिखते रहे हैं।

अतः हम सम्पादकीय वक्तव्य का विश्लेषण करेंगे। सम्पादकीय का इन स्थापनाओं से मतभेद नहीं हो सकता कि श्रेष्ठता ही साहित्य का मापदण्ड होना चाहिए, मानवीयता तथा नैतिकता ही नये साहित्य का परम मूल्य है और यह कि साहित्य का सौंदर्य मर्यादा, अनुपात, संतुलन, व्यवस्था में निहित है। इन मूल्यों को साहित्य में प्रतिष्ठित करने के लिए ही आज का साहित्यकार यथाथ से जुक्त रहा है और यह भी ठीक है कि साहित्यकार का पाठकों के प्रति गम्भीर दायित्व है, अन्ततः सामर्थ्य और सम्भावनाओं से युक्त 'जन' को ठीक अपना अंशदान देना है, "भूल, मित्रता और कल्पित, आत्मप्रक्षोभत कुहालोच में न भ्रमण कर वास्तविक सन्धियों से अलख मित्रता है।" पाठक को या 'जन' को, जो यत्र या पशु बनाना चाहते हैं ऐसे प्रतिगामी विचारान्धों से प्रलग्न हटकर मुक्त सुखन करना है।

यहाँ तक यह तक और विश्लेषण ठीक है, सम्भाव्य है। पर इन स्थापनाओं से जो निष्पन्न निकाले गए हैं वहाँ कुछ कल्पना और अतिरिक्तता का अंश आ गया है। कहा गया है कि अब तक का अधिकांश साहित्य पाठक या 'जन' को बहकाने वाला था, क्योंकि उस अधिकांश के पीछे प्रचारार्थक, उपयोगितावादी, रोमांचक, सेवसी या पुराणपरवी दृष्टिकोण काम करता था। अब जब इससे दूसरे प्रकार का नया साहित्य सामने आ रहा है तो वे प्रवृत्तियाँ, जो मानव की पशु या यत्र बनाना चाहती थीं, जो पाठक को केवल "बहकाने वाली अनुभूतियाँ, पिछले स्तर और सस्ती अभिव्यक्ति के योग्य ही समझती थीं" वे इस नये कृतित्व पर दुरुहता का आरोप करती हैं। सम्पादकीय में यहाँ तक यह लिया गया है कि चूँकि आज अनुभूतियाँ अधिक मार्मिक और असाधारण हैं इसलिए उनका अभिप्राय भी जटिलतर है। इसी कारण श्रेष्ठता, उचितता के माप उनमें एक अवश्यम्भासी दुरुहता आ जाती है।

हम नहीं समझते कि दुरुहता ही श्रेष्ठता का कसौटी है और जो श्रेष्ठ साहित्य होता है वह दुरुह होता है। हम यह भी देखते हैं कि इस दुरुहता की आश में आज बहुत सा साहित्यात कृतित्व भी सामने आ रहा है जिसमें खामखाद काद नया दर्शन देने के लिए उद्वल वृद्ध, तीव्र मरोड़ की जाती है। हम यह भी नहीं मानते कि असाधारण मार्मिक और गहरा अनुभूतियों का अभिप्राय आश्चर्य रूप से जटिल होता है। बल्कि इसके विपरीत पुनः-एक महान् साहित्य में शिथिल गहरी, मार्मिक और श्रेष्ठ अनुभूतियाँ हमें मिलती हैं वे उतनी ही सहजता और सरलता से एक का गढ़ हैं। श्रेष्ठ साहित्य का तो लक्षण ही यह है कि वह अत्यंत जटिल अनुभवा को अत्यंत सहज और स्वप्ना रूप से व्यक्त करता है, जटिलताओं को पचाने उसमें से शावजनीय सत्य का असल डोरा निकाल लाता है। अपने अंतिम विश्लेषण में हर चड़े से बड़ा सत्य इतना सरल, सहज और ओलों के इतने निकट होता है कि लोग उसे भूले रहते हैं, उसका खयाल ही नहीं करते। वही जब श्रेष्ठ साहित्य के द्वारा उद्भासित होता है तब सहसा लोगों का ध्यान उसकी ओर जाता है और सदा से निष्कृति होने के कारण वह सबको स्तब्ध प्रभाव होता है। इसलिए यह कहना कठिन है कि दुरुहता श्रेष्ठता या गहनता ही का लक्षण है, मानसिक उलझाव (Confusion) या

कुहासे का नहीं। नये साहित्य की दुरुद्धता और उगतियों के आलोचक बहुत से नये पुराने विचारवान्, स्वतन्त्र चिन्तक भी रहे हैं, जिनके बारे में यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि वे मानव को यत्र या पशु बनाना चाहते हैं। फिर यह पाठक कौन हैं? नया साहित्य में साधारणतः रुचि रखने वाला आम शिद्धि पाठक, विशेषतः दीक्षित पाठकों का एक सीमित वर्ग या स्वयं लेखक ही, जो आज आपस का पाठक है? और यह भी प्रश्न महत्वपूर्ण है कि आज कौन पाठक को यत्र या पशु बनाना चाहता है। हमें तो ऐसी किसी प्रवृत्ति का भय नहीं मिलता, जो आज जीवित हो या जिसका कोई अस्तित्व ही हो। हमारे साहित्य में जो प्रचारवात्मक, अतिवादी, हिंसात्मक प्रवृत्ति योद्धे निम्न के लिए आदर भी वह कभी की समाप्त हो चुकी है अपनी मौत मर चुकी है और उस प्रवृत्ति के निम्न होने के न लक्षण है, न कल्पना को ह सम्भावना है। प्रयत्न करने पर भी यह वहाँ तक नहीं पहुँच सकती, क्योंकि एक तो उसके पीछे निहित लक्ष्य और स्थायी की बहुत जल्दी पोल चुल गई, दूसरे इस देश की आत्मा ने पक्षितपद्धता, रेजीमेंटेशन और नफरत के विद्रोह को कभी स्वीकार नहीं किया, उस वक्त भी स्वीकार नहीं किया था। इसलिए अब उस प्रवृत्ति को अपनी सारी स्थापनाओं का बेध लक्ष्य बनाना न केवल एक निषेधात्मक (Negative) दृष्टिकोण अपनाना है बल्कि उसे डर का एक मिश्रण भूत खड़ा करना है। हमें सचेत अवश्य रहना है कि तु एक विकट चीज का बार बार इतने विस्तार के साथ चिन्तन करने से लोगों की धारणा यह भ्रम पैदा हो सकता है कि सम्भवतः नये साहित्य की कमजोरियों को छिपाने के लिए एक देवुनिया जा रहा है, दुबलताओं को रेशनेलाइज किया जा रहा है। ऐसी ही बातों के कारण लोगों की 'यक्तिवादिता' आदि का भ्रम होने लगता है। आज वाग और सम्प्रदाय से सब कुछ चुके हैं और उनसे ऊपर उठकर, केवल मनुष्य समय की माँग है। ऐसी सूरत में एक निष्पक्षवात्मक (Positive) दृष्टिकोण ही रचना उचित है और यह कहना पचाप्त है कि नया साहित्य साम्प्रदायिकता, पक्षधरता, पक्षितपद्धता, रेजीमेंटेशन, नफरत का विरोधा और असीम प्रतिभा और सम्भावना सम्पन्न 'मनुष्य' मनुष्यत्व तथा मानव-व्यक्तित्व की प्रगति का साथी है।

परिचय

सन्तुलन

लखक—प्रभाकर माधवे प्रकाशक—
आमराम पण्डित लखक, पृ० १२२
मूल्य २) २० ।

हिन्दी में आलोचना के नाम पर आज
विपुल साहित्य प्रकाश में आ रहा है। अन्तिम
वास्तव में आलोचना की कोटि में किना
साहित्य आता है, यह विचारणीय है। प्रस्तुत
निबन्ध पुस्तक इस दृष्टि से एक अभाव की पूर्ति
करता है। यह तीन भागों में विभक्त की गई
है (१) कला और साहित्य, (२) आधुनिक
कविता, और (३) आधुनिक गद्य।

पुस्तक के सर्वोत्कृष्ट निबन्ध हैं— 'कला
समादा का कुछ समझाएँ', 'ममी कवियों की
विरह पद्यना' तथा 'हिन्दी गद्य की कुछ
आवश्यकताएँ'। 'कला समादा का कुछ सम
झाएँ' में कला के प्रयोजनों तथा समादा के
मानक्यों पर लेखक ने गम्भीरता से विचार
किया है। आज का कलाकार कल्पना प्रधान
होकर मानविक जगत् में स्वतन्त्र विचरण
करने पर भी एक विशेष मर्यादा तक ही उस
स्वातन्त्र्य का उपयोग कर सकता है। साथ ही
समादा की भावनाओं आलोचकों की भाँति
वैयर्थ्य न होकर समाज शास्त्र तथा मानव
शास्त्र इन दो महत्त्वपूर्ण शास्त्रों से दृष्टि प्राप्त

करनी ही चाहिए। इसके अतिरिक्त कला में
शैली एवं शिल्प विधान अधिक मुख्य हैं
अथवा वस्तु तत्त्व—इस पर भी विदेशी
विद्वानों के मतों की लखक ने प्रचुरता से उद्धृत
किया है। आलोचना के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर
भी विस्तार से विचार किया गया है। लेखक को
आधुनिक कला प्रयोगों के प्रातः समादा के
सहिष्णु होने में आस्था अधिक है। आलोचना
रचनात्मक हो, इस बात पर लेखक ने बल दिया
है। यद्यपि लेखक महान् लेखकों, आलोचकों,
मनोवैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों के विचार सग्रह
के कारण बहुत बोझिल हो गया है, फिर
भी इसमें विषय का प्रवर्धन सुन्दर हुआ है
तथा समा आधुनिक समाधा समस्याओं का और
उक्त करता है। 'ममी कवियों की विरह-पद्यना'
में अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी, उर्दू तथा फारसी
की रहस्यवादा काय वादाओं की भाँति
देखने को मिलती हैं। सम्यक् रूप से इन सबकी
सामाय प्रवृत्तियों का अन्त में विवेचना भी
की गई है। यह लेख बहुत रोचक, उपयोगी
और सुन्दर बन गया है। 'हिन्दी गद्य की कुछ
आवश्यकताएँ' में हिन्दी के कोष-साहित्य,
याना साहित्य, बाल साहित्य इत्यादि १८
साहित्यिक विभागों में अमी एक नए काय का
संगत विवरण तथा उनकी विधियों में हुए कार्य
से तुलना दी गई है। इसके अतिरिक्त उचित
विचारों का और संयत भाँति किये गए हैं।

इसके अतिरिक्त 'आधुनिक साहित्य और मनोवैज्ञानिक', 'मासिक' और 'सौन्दर्य शास्त्र', 'श्रौतिय क्या?', 'आलोचना रचनात्मक हो', 'नई हिंदी कविता में छंद प्रयोग', 'नाटक और आधुनिक समस्याएँ', 'उपन्यास में मनो विज्ञान' शीर्षक लेखन पठनीय हैं और साहित्य की तत्काल समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। दीप निबंध साहित्य के विचार्यों के लिए उपयोगी हैं। ऐसे लेख या तो प्रियकरात्मक हैं प्रथमा सूत्रतत्त्वक, जैसे 'आधुनिक साहित्य और विश्व कला', 'संस्कृत एकाकी के प्रकाश', 'मारते-दु के नाटकों में सामाजिक परिष्करण', इत्यादि।

समी निबंध लेखक के विस्तृत अध्ययन का परिचय देते हैं। यद्यपि निदेशी अवधारणाएँ एक उद्देश्यों का माध्यम हैं जिससे लेखी में शक्तिशाली अर्थ और आशा है, कि वह साथ ही अपना माध्यमों को भी उत्कृष्ट लेखक ने दोनों के बीच सद्गुण स्थापित कर लिया है।

कुछ लेख छोटे, अपूर्ण तथा मात्र सूत्र नामक हैं, जैसे 'छायावाद का भविष्य' इत्यादि। ऐसे लेखों में प्रकाशिता अधिक उमरकर आदि है।

कुल मिलाकर पुस्तक समग्रतया तथा अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। समी लेख आधुनिकतम साहित्यिक समस्याओं से हिंदी के पाठकों को अवगत कराते हैं। मान्यता की से हिंदी संपादक भी भक्ति परिकल्पित है और वह कृति उनकी मर्यादा के अनुकूल ही सम्भीर और प्रौढ़ है।

प्रश्न की अशुद्धियाँ हैं। छपाई सतोष जनक है। पुस्तक का मूल्य ४) २० पृष्ठ सरया का दृष्टि से अधिक होत हुआ भी सामग्री की दृष्टि से क्षम्य है।

—रवाम मोहन

बगला की आधुनिक प्रेम कहानियाँ

सम्पादिका—मृदुला देवी, प्रकाशक—
अखण्ड भारत प्रकाशन, कलकत्ता।

इस पुस्तक में बगला के प्रमुख लेखकों की एक एक कहानी का अनुवाद दिया गया है—तापसकर गद्योपाध्याय, प्रबोध सायल, वनपुत्र, मनोज भट्ट, मेनेन्द्र मिश्र, अचित्य कुमार सेनगुप्त, विभूतिभूषण सुन्दरपाध्याय, सुबोध घोष, आशापूर्णा देवी, नरेन्द्र नाथ मिश्र, गजेन्द्रकुमार मिश्र, सुमध नाथ घोष, वाण्य नाथ और देवेशचन्द्र दास। इन नामों में बगला के करीब करीब सभी प्रमुख कहानी लेखकों के नाम आ गए हैं, पर कद लेखकों का, जैसे नारायण गद्योपाध्याय का, न होना परतकता है। फिर सम्पादिका महोदया ने इन्हें प्रेम कहानियों का नाम क्यों दिया, क्योंकि प्रेम के साथ और भी उपादान तो रहते ही हैं। कद कहानियों में तो प्रेम का कद कोट सम्पन्न नहीं है, जैसे प्रबोध सायल की कहानी। कदाचित् व्यापारिक दृष्टि से यह नामकरण हुआ है, यह अनुचित है। फिर यह मृदुलादेवी की कौन हैं? बगला साहित्य में तो इनका नाम कोट नहीं जानता, हिंदी की भी वह कोट सुपरिचित लेखिका नहीं।

इनका अनुवाद भी सतोषजनक नहीं हुआ है। ऐसी सुंदर कला कृतियों के अनुवाद में और भी अधिक सावधानी परती जानी चाहिए। फिर भी इन कहानियों से बगला कहानी साहित्य की उत्पत्ता का ज्ञान पाठकों को हो जायगा। ऐसे समग्र और प्रकाशित होने चाहिए, और हिंदी के कहानी लेखकों का भी एक समग्र बगला में प्रकाशित हो। इस काम की कलकत्ता के प्रकाशक ही कर सकते हैं।

—सन्मधनाथ गुप्त

‘अभियान’, ‘बदलता युग’ और ‘अन्तराल’

(१) अभियान—प्रकाशक—श्री स्वाम
स्वरूप जैन, ३१, गोलकुण्डा, इन्दौर
(मध्य भारत) ।

(२) बदलता युग—प्रकाशक—श्री
दीनानाथ बुक डिपो खजुरी बाजार, इन्दौर ।

(३) अन्तराल—प्रकाशक—पुस्तक साहि
त्यकार सघ, धार (मध्य भारत) ।

य तीनों श्री मद्र द्र भटनागर की कविताओं के संग्रह हैं । ‘अभियान’ और ‘बदलता युग’ के स्वर प्रायः एक ही हैं । दोनों में मार्क्सवादी विचार धारा को भावोत्प्रेषक परिवेश देने का जो प्रयत्न किया गया है उससे काव्य के स्वाभाविक गुण, रागात्मकता का प्रभाव क्षाय पड़ गया है । किंतु ‘अन्तराल’ में कवि अपनी सहजता और स्वाभाविकता के कारण अभिप्रेत को उचित ढंग से कहने में सफल हो सके हैं ।

‘अभियान’ में कुल छत्तीस कविताएँ हैं । नौ प्रशस्तियों (१ प्रेमचन्द, २ तुलसीदास, ५ गांधीजी तथा १ बलिया पर) को छोड़कर शेष अथ कविताओं में कवि ने सामाजिक व्यवस्था, वर्ग विद्वेष, शोषण तथा पराधीनता के प्रति क्रान्तिकारी ‘अभियान’ के लिए आह्वान किया है । इन सबका मन पर यापक प्रभाव नहीं पड़ता । सम्भवतः इसलिये कि लेखक ने यथार्थ के प्रति रागात्मक अनुभूत न बनाकर आवेशपूर्ण भाषण को छुं दो पद्धत कर दिया है । ‘मशाल’, ‘बचन मुक्त’, ‘मृत्युदीप’, ‘अंतर ज्वाला’, ‘प्रलय संगीत’ आदि अधिकांश कविताएँ इसी कोटि की हैं । रूप निधान की दृष्टि से ‘चेतिहर’, ‘तेजों में’, और ‘अभियान’ में कुछ नवीनता नाटकीय तत्त्व भरने के कारण मिलती है । छंद में

गति भग का दोष अधिकांश कविताओं में है । एक बात जो आकर्षित करने वाली है वह है कवि की अपनी आस्था के प्रति इमान दारी । जिस भी विषय वस्तु को लेखक ने ग्रहण किया है उसमें ओज और उसके शम्पूर्ण निश्वास का बल दिखलाई पड़ जाता है ।

दूसरे संग्रह ‘बदलता युग’ में भी वही आवेश है, किंतु कुछ परिमाणित रूप में । इसमें कवि की अनुभूति का क्षितिज अधिक यापक हो गया है । कुल बयानीस कविताओं में अनेक कविताएँ यथा ‘बगाल का अराल’, ‘नौतैलिक विद्रोह’, ‘सम्प्रदायिक दंगे’, ‘आवाद मस्तर को उड़ा लेता’, ‘दमित नारी’, ‘साम्प्रदायिक विष’, ‘हम एक हैं’, आदि ऐसी हैं जिनका महत्त्व इसीलिए है कि कवि का मानस अपने युग में गुजरने वाली, सामाजिक परिस्थितियों से स्पर्धित होता रहा है, ऐसा नहीं कि उसने जन जीवन से अपनी ओरों बदली थी किंतु इनमें कुछ ही ऐसी हैं जो स तुलित पाठक के मन को छू सकें । जहाँ कहीं भी कवि ने मानवीय तत्त्वों को स्पर्श किया है उसकी वाणी ममस्पर्शी हो उठी है ।

इन दोनों काव्य संग्रहों की अपेक्षा श्री मद्र द्र भटनागर का कवि ‘अन्तराल’ में कहीं अधिक प्रसन्न और विकसित रूप में सामने आता है । जगता है जैसे एक लम्बे अन्तराल के बाद कवि के मस्तिष्क से विचार और वादों की घनाई फूट गई हो और उसका हृत्तन्त्र व्यक्तित्व अपने वास्तविक रूप में उन्मिल हो उठा हो । इसमें न तो पूर्वग्रही विचारों के प्रति आग्रह ही है, न सीमित विषयों का बचन ही । आशा निराशा, प्रणय, प्रभृति आदि क्षेत्रों में कवि ने प्रवेश किया है और स्वातन्त्र्य स्पर्शों को मार्मिकता के साथ यक्त करने का प्रयास भी । जहाँ एक ओर प्रणय के बीच कवि आशा विराधा, आनन्द और अश्रु के

बीच मुखरित हुआ है, वहीं दूसरी ओर प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित किया है। 'तुम्हारी मौम का कुकुम्', 'याद', 'द मेम', तथा 'दलती रात', 'प्रसात की हवा', 'बटाई', 'जल वृष्टि' आदि कविताएँ ऐसी ही हैं। इन सभी में रागात्मकता और आत्म निवेदन की प्रशस्तता है। विद्वान् भूमिका लेखक श्री विनयमोहन शर्मा के इस कथन से "अन्तराल का कवि जब आत्म भाग्य को आहत होता है तब वह छायावादी शैली की अपनता ले, और जब वह अपने से बाहर जाँकने लगता है तब उसमें स्व-द्रुतता आ जाती है। यहाँ तक सम्भव हुआ है उसने अपने को छायावादी कुहासे से सयया गया लिया है।" अधिक असहमत नहीं हुआ जा सकता। कवि स्वातन्त्र्य कवि व्यक्तित्व की कहीदी है। इस दृष्टि से मदनमोर की अपने को परलपित कर सकें तो उत्तम हो। प्रस्तुत काव्य समूह को देखकर हम मन्मथर को से भविष्य में काफी आशावान हैं।

—हरिमोहन

पुनरुद्धार

लेखिका—भीमती कचनकता सधर पाज, प्रकाशक, अहमदाबाद प्रबल सस, दिवली, मूल्य ३), पृष्ठ संख्या १९८।

इस की दूसरी खतानी ने पुनरुद्धार में कुशला को परास्त करके मारवालों ने हिंदू राज्य की स्थापना की थी। इस सम्बन्ध में वाशी प्रसाद जायसवाल के अनुसंधानों के आधार पर कुछ सुन-समझ करके लेखिका ने 'पुनरुद्धार' की रचना की है। इस उपयास का ऐतिहासिक आधार बहुत सीधा है। लेखिका ने स्वयं

कहा है।

"नवनाम और वीरसेन के अतिरिक्त सब ही पात्र कल्पनिक हैं। घटनाओं में से मारवालों का मध्य प्रदेश की पहाड़ियों से घिरे इलाके में लगभग पचास वर्ष तक अशान्त बान करने और लगभग १४० ई० के आस पास उत्तराखण्ड में आकर पुराता को परास्त करने अपना साम्राज्य स्थापित करने तथा अश्व-मेव यज्ञ करने के अतिरिक्त सब ही कल्पनिक हैं।"

इन घोषों से ऐतिहासिक सकेतों के आधार पर लेखिका ने कल्पना द्वारा उपयास गढ़ा है। सूर्य तथा ॥ चन्द्रमाल और विशालाक्षी के विछोह का लेकर लेखिका ने उपयास में मान्यता उत्पन्न की है। विशालाक्षी की मृत्यु के पश्चात् चन्द्रमाल को लेकर ही भावनाओं के आचार पर कथा आगे बढ़ती है। यहाँ लेखिका नये ढंग का भावनात्मक वातावरण प्रस्तुत करती है। अथवा छोटी घटनाएँ भी जोड़ी गई हैं, जो उपयास की रोचकता को बढ़ाती हैं।

शिर और राष्ट्र के प्रति आभ विश्वास तथा कर्तव्यविष्ठा की उपयास के पात्रों की प्रेरक शक्ति है। हिंदू धर्म और हिंदू राष्ट्र की स्थापना की भावना ही सारे उपयास में छाई हुई है।

उपयास में उस काल की सामाजिक परिस्थित के चित्रांकन का प्रयत्न नहीं है। जो चित्र उपस्थित किये गए हैं वे भी कल्पनाभूत हैं। लेखिका ने कुशाओं से मिलकर बौद्ध धर्मावलम्बियों के राष्ट्रश्रीही होने की भी कल्पना की है वह अनेतिहासिक है। इसके लिए प्रसिद्ध बौद्धमित्र बुद्धशेष के सुद महास्थविर पर हला और जालसाज के जो आरोप लगाये गए हैं वे निर्मूल ही नहीं अनुचित भी हैं। पश्चिम भारत में बौद्ध धर्म

नासाधन्यता को प्राप्त हो जाता था, परन्तु उसके कारण भिन्न थे। ऐसे आरोप मुख्य पाठक को खटवते हैं, क्योंकि इनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है।

इस प्रकार उपवास कहने भर का ऐतिहासिक है। पात्र और घटनाएँ तो कल्पित हैं ही इसमें एक भाव विचार और वातावरण को भी अनैतिहासिक ही कहना चाहिए।

—शिवनाथ

अवधी और उमका माहित्य

लेखक—डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित एम० ए० पी० एच० डी०। प्रकाशक—सरस्वती सहकार, दिल्ली की ओर सराजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ संख्या १४० (मूल्य २) रुपये।

श्री जेमचंद्र 'सुमन' के सम्पादन में सरस्वती सहकार, दिल्ली ने प्राचीन तथा अवाचीन मारताय भाषाओं का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित करने का जो आयोजन किया है वह नितान्त स्पृहणीय है। हिंदी में यह प्रथम प्रयास है। इस प्रकाशन के द्वारा एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हो रही है। इस ग्रंथ माला में अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत ग्रंथ इसी माला का एक प्रसून है।

इस ग्रंथ के लेखक हैं डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित एम० ए०, पी० एच० डी० जिन्होंने एतद् साहित्य का प्रचुर अध्ययन किया है। प्रस्तुत पुस्तक में नौ अध्याय हैं, जिनमें अवधी भाषा, काव्य, छंद, मुहावरे और लोकोक्तियों का वर्णन किया गया है। अवधी भाषा के अन्तर्गत निदान, लेखक ने इस भाषा की उत्पत्ति, क्षेत्र और विस्तार, विभिन्न बोलियों

तथा उनके विभिन्न रूपों का उल्लेख किया गया है। इस भाषा को तीन बोलियों—अवधी, बजेली और छत्तीसगढ़ी का नाम निर्देश तो किया गया है परन्तु इनके नामने नहीं दिये गए हैं। यदि इन तीनों को समूचे दे दिये जाते तो इनके भेद को समझने में पाठकों को बड़ी आसानी होती। अवधी का संक्षिप्त पाकरण, जो नवें अध्याय का विषय है, यहाँ दे दिया गया होता तो अच्छा होता। 'अवधी काव्य' इस पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण अध्याय है। इसमें लेखक ने गीरगाथा काल से लेकर आधुनिक काल तक अवधी कविता की उत्पत्ति और विकास की कथा का बड़े सुंदर तथा संक्षिप्त रूप से वर्णन किया है। अवधी के उत्तम कवियों का विवरण प्रस्तुत करते हुए लेखक ने धरनी नास को भी—जिनका जम विहार के छपरा जिले में हुआ था—अवधी का कवि माना है। परन्तु यह मत चिन्तन्य है। धरनीदास जी भोजपुरी भाषा के कवि थे। उनकी कृतियाँ में कुछ अवधी 'क्रिया पदों के प्रयोग' मिलने से ही उन्हें भोजपुरी से पसीकृत अवधी में लाना कहों तक उचित है इसे दोषदा पाठक मली भौति समझ सकते हैं।

डॉ० दीक्षित ने आधुनिक कवियों—जिनमें प० बलभद्र प्रसाद दीक्षित 'पत्नीस', प० बशीर शुकल और प० चंद्रभूषण त्रिवेदी 'रमद काका'—मुख्य हैं—का कुछ विस्तार के साथ वर्णन करके इनके साथ बड़ा योग दिया है। लोक कवियों की इस ग्रंथ में आधुनिक काल में अवधी का प्रति लोक कवि को ज्ञात करन में बड़ा काम किया है। 'रमद काका' की कविताओं के उदाहरण सुंदर दिये गए हैं परन्तु उनकी प्रतिनिधि स्वरूप, लोकप्रिय कविता 'बोला होइगा' को न पाकर कुछ निराशा होती है। 'अवधी लोक गीत साहित्य' का वर्णन समुचित रीति से नहीं हुआ है। इसे कुछ अधिक

पुलकित करने की आवश्यकता थी। आशा है अगले संस्करण में इन बातों का ध्यान रखा जायगा। इस पुस्तक को प्रस्तुत करने के लिए लेखक बन्नाई का पान है। आशा है इस ग्रन्थ का समीक्षक द्वितीयांश अग्रगण्य होगा।

—हृदयदेव उपाध्याय

मीठी कसक

लेखक—डॉ. राजेश्वर शुक्ल पृष्ठ ० पृ०

प्रकाशक—जनजाणी प्रकाशन, कलकत्ता, मूल्य १॥), छूट सरकारी १६६।

‘मीठी कसक’ में लेखक का हृदयकथन कहानी से स्पष्ट है। यह लेखक का प्रथम प्रकाशन है। इसलिए उसकी कुशलता बड़ी कम, कहीं बेसी माना ने प्रकट हुए है।

कहानीकार ने अभिस्तर समस्याओं को मनोवैज्ञानिक स्तर पर हाँक दे और मानसिक स्तर पर ही उनको सुलझाने का प्रयत्न भी किया है। पात्रों के मन में उठे हुए भावों को, विचारों के दृष्टि को प्रमाणपूर्ण शैली में व्यक्त किया है। कुछ कहानियों में (मानवता, आजादी, हृदयकथन की लालसा में) वह समस्याओं को सामाजिक स्तर पर भी देखता है।

कहानीकार का सबसे उज्ज्वल पक्ष वहाँ व्यक्त हुआ है जहाँ वह जीवन में देखी हुई घटनाओं और सामने आने वाले व्यक्तियों का आते हमारे सामने सद्यःस्थिति पूर्वक रखा है। ऐसे स्थलों पर कहानी अथवा उसका एक मास स्केच का रूप ले लेता है। लेखक रोचक ढंग से व्यक्ति का चरित्रों को बताता चलता है। गान का मोला, समस्या, भरे बाप की मौत, मछु ऐसे ही रेखाचित्र हैं। इन्हें लेखक की सज्जग दृष्टि ने प्रोत्साहन कहानी में संजोया है। इन कहानियों के पान सबीब हो उठे हैं।

कहानियों के कथानक विभिन्न सामाजिक स्तरों से लिये गए हैं, परंतु उनमें सामाजिक और विस्तार नहीं। अनेक स्थलों पर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से असंतोष प्रकट हुआ है। एक बप, मानव, भेंट का आचार बड़ी विस्तार है। पर सामाजिक सम्बन्धों की भूमिका छोटे से क्षेत्र में सीमित है। चौदह कहानियों में प्रेम कथानक अथवा उनका एक रूप है। पर लेखक में समस्या के वयार्थ के स्तर पर जुझने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। यह भावना ‘कुतूहल’ और ‘भेंट’ में स्पष्ट रूप से उभरी है। कहानीकार बहो भी समस्याओं के विचारण अथवा ठोस वास्तविक कारणों की खोजने के लिए उत्सुक नहीं है।

इनमें पात्रों की समस्याओं से दूर कोरा शून्यता में लगे जाने की प्रवृत्ति लक्ष्य होता है। ऐसी कोरी कल्पना कहानियों की कमजोरी है। बार बार एक ही कारण द्वारा उत्पन्न विधान से पाठक कष्ट जाता है।

इस आशा करते हैं कि लेखक और निकट से जीवन को देखकर उसके दर्द को, उसका समस्याओं को समझने का प्रयत्न करेगा। तब वह ‘अपना दर्द कम करने के लिए’ ही नहीं, दूसरों का दर्द दूर करने के लिए भी लिखना सीखेगा। कल्पना और भावना के सघन प्रयोग में ही साहित्य की सम्भावनाएँ निहित हैं।

—शिवनाथ

हिन्दी के आलोचक

हिन्दी समीक्षा का यावहारिक पक्ष निरंतर निरंतर गति से बढ़ रहा है उसे देखकर लगता है कि अमर जेल की तरह साहित्य पाठकों को आकर्षित करके कहीं उनकी रक्तमाहिनी शिराओं को निरपट न बना दे। समीक्षा के शास्त्रीय पक्ष

पर तो श्रीमती अनधिकारियों की कलम नहीं उगी है कि तु १७४७७ का यापार वहाँ भी शुरू हो गया है। किता भी कला कृति की परख या मूल्यांकन का ज मसिद्ध अधिकार मानकर आलोचना लिखने वालों की आज हिंदी में कमी नहीं। आज किता रचना के सम्बन्ध में चार सतरें लिखकर आलोचक कहलान का आनाही रहता है। फलतः हिंदी में कृता विक आलोचकों का रेखा तैयार हो गया है। कदाचित् इस बात का अनुभव करके भीमती शचीरानी युद्ध ने 'हिंदी के आलोचक' नाम से कतिपय विशिष्ट अधिकारी आलोचकों का परिचय कराने के लिए सवा चार सौ पृष्ठों के इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ में जो प्रथित नहीं हुए वे आलोचक नहीं—ऐसा तो सम्पादक का भी अभिमत नहीं, कि तु जो 'विष गया सो मोती, रह गया सो पत्थर' की बात स्वतः सिद्ध है।

'हिंदी के आलोचक' पुस्तक में द्विवेदी युग से लेकर आधुनिक काल तक के आलोचकों की स्थान मिला है। इन आलोचकों की अभिवृत्ति, शैली आदि का परिचय कराने के लिए विभिन्न विद्वानों के स्फुट लेखों का सफलन करके सम्पादित करने यह पुस्तक तैयार की है। कलास लेखी के अन्तराल में लगभग पचास विविध कोट के आलोचकों की समेता गया है। मुख्य आलोचक—१७४७७ पर स्वतः लेख हैं, ठनीस हैं। मनोविरलेपक आलोचकों पर दो लेख हैं, जिनमें तीन लेखों पर प्रकाश डाला गया है। प्रगतिशील आलोचकों में से छ का चयन किया गया है, जिनमें 'दिनकर' और मगवनशरण उपाध्याय भी हैं। फुत्कर आलोचकों में जिन चौदह रत्नों को चुना है उनका परिचय नितान्त स्केची और एकाङ्गी है। हिंदी के इतिहास लेखक आलोचकों पर भा एक लेख है कि तु उनका आलोचक रूप की विवृति लेखक नहीं

कर सका है। 'शास्त्रीय आलोचकों' पर एक कला प्रभात्मक कोटि का लेख है जिसमें लेखक ने पचास सूचनाएँ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'हिंदी में शोध काय' लेख में डॉ० घारे द्रवर्मा ने अनुसंधानपरक प्रश्नों का नाम परिगणन कराया है। प्रश्नों की विवेचना का अभाव स्वतंत्रता है। 'तुलनात्मक समालोचक' लेख भी अप्रभूत सा तथा अपने क्षेत्र का अवगाहन कराने में सवया असमर्थ है। 'हिंदी के माया वैज्ञानिक आलोचक' लेख में कतिपय माया वैज्ञानिकों का परिचय है। माया विज्ञान और आलोचना का बादरायण सम्बन्ध स्थापित करते ही इस क्षेत्र को पुष्पक के कनेवर में रखने का साहस सम्भव है।

'हिंदी के आलोचक' को पढ़कर हिंदी के बड़े छोटे जिन पचास समालोचकों का परिचय मिलता है वह उनका सशक्तपूर्ण कृतित्व का आभाव न देने पर भी शैली सकत की दृष्टि से पर्याप्त है। सकलन तैयार करते समय भारते दु युग के आलोचकों की दृष्टि में रखकर एक लेख प्रारम्भ में होता तो आधुनिक युग के आलोचकों का खाका पूरा हो जाता। प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण मठ और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमरत्न' की आलोचना पद्धति का उल्लेख हिंदी आलोचना में होना अनिवार्य है। विशिष्ट आलोचकों के चयन के सम्बन्ध में सम्पादक ने अपने निबन्धन में जो लिखा है उसे हृदयगम करके भी हम उनका ध्यान हिंदी के उन लघुप्रतिष्ठ लेखकों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं जिनका नामोल्लेख इस सकलन में नहीं हुआ। श्री डॉ० रामाशकर शुक्ल 'रसाल', प० कृष्णशकर शुक्ल, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० रामरतन भटनागर और प० सीता राम चतुर्वेदी ऐसे जिनके किसी प्रकार भी हिंदी के आलोचक वर्ग से बहिष्कार नहीं किया जा सकता। प० कृष्णशकर शुक्ल

तो आचार्य शुक्ल जी की परम्परा के बड़े मुल्यमें हुए समय आलोचक हैं जिनका कसम यामकर बैठ जाना हिंदी साहित्य का दुर्भाग्य है। अन्य चारों विद्वान् लेखकों ने भी समीक्षा के शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों के पुर करने में अपना अमिट योग दिया है। ऐसे उपयोगी सफलन हैं। इस श्रेष्ठ के आलोचकों को ध्यान न मिलना प्रमाद ही कहा जायगा। यह ठीक है कि आलोचकों के चयन में सम्पा

दिका का अपना विवेक ही प्रमाण रहा है, कि भी उनका दायित्व तो साहित्य के प्रति है।

सम्पादिका को इस सफलन की तृटियों का ज्ञान है और उन्होंने अपने निवेदन में चयन सम्बन्धी बात का संकेत करते हुए सुझाव भी पाहे हैं। विश्वास है कि मुस्तक को अविकाचित उपयोग बनाने के लिए हमारे उपर्युक्त संकेत सुझाव का काम देंगे।

—विजयेन्द्र स्नातक

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकें

एन्म वम	अमृतलाल नागर	दत्त ब्रन्स, अन्नमेर
एक तिल हत्तार दास्तौं	"	पुस्तक निगृह, लखनऊ
आर पाद की माला	शिवप्रसाद सिंह	स्वरूपनी मण्डिर, बनारस
बत्ती बत्ती आँखें	उपेन्द्रनाथ 'अश्व'	नीलाम प्रकाशन, इलाहाबाद
महिला शासन	निरंजीलाल 'नारायण'	राजेश पब्लिशिंग्स, गाँगापाना
अधी आग	मुमगल प्रकाश	आरा प्रकाशन, पटना ३
नारी का रूप भूगार	सावित्रादेवी बर्मन	राजमल प्रकाशन, दिल्ली
हिंदू सम्प्रदाय	(अनु०) डॉ० वामुदेवशरण	"
	अमृतलाल -	
सोने का नीपू	श्रीमती किरण 'विचित्र'	"
निशिकांत	श्री विष्णु प्रभाकर	आत्मासम एण्ड सन्स, दिल्ली
प्रथम सुमन	श्रीमती सत्यवती शर्मा	" "
आलोचना के सिद्धान्त	योगेश्वर राय 'ब्रह्म'	" "
दुलसी साहित्य और सिद्धांत	यशवन्त शर्मा	" "
राधाकृष्ण	राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह	" "
बिम्बी	धीर राय 'श्रीधर'	" "
गाँवों के बाल नाटक	परिताप गाँव	" "
बालकों के चरित्र	सत्तराम 'विचित्र'	" "
सचित्र 'यग त्रिनो'	अरुण	" "
कला की पराज	समझानी	" "
भूत भाग गया	अरुण	" "
छुनीसगढ़ की लोक कथाएँ	चन्द्रकुमार अमृतलाल	" "
मेरे निबंध जीवन और जगत्	गुलाबराय	गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
हिंदी साहित्य की दार्शनिक	निरंजनरत्न उपाध्याय	साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
पृथग्भूमि		
भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक	रेखाएँ परशुराम चतुर्वेदी	साहित्य भवन, इलाहाबाद
सत कबीर दर्शन	राजेंद्र सिंह गौड़	" "
संगीतक कवियों की हिन्दी	नर्मन्धर चतुर्वेदी	" "
रचनाएँ		

राजस्थानी मीलों की कहानतें	(५) फूलची भाइ भील	साहित्य सस्थान, उन्नाव
आदिनिवासी मील	जोधसिंह मेहता	" "
राजस्थानी मीलों के लोक गीत	(६०) फूलची भाइ मील	" "
ओम्हा निर घ सयह (४ भाग)	गौरीशंकर हीराचन्द ओम्हा	" "
पृथ्वीराज रासो (प्रथम भाग)	(सम्पा०) कविराज मोहसिंह	" "
पार्वती	भारतानन्द	मंगल मन्दन, नयापुरा, कोटा
आवाज सुरीला कैसे करें	लक्ष्मीनारायण गग	संगीत कार्यालय, हायरस
मं चरती पञ्चाश की	नरेन्द्र चार	काचित प्रकाशन, पटना (पञ्चाश)
महात्मा गांधी का स देश	छेक्काम 'पाल्लवेरु'	भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ
मगवान् झुड़ का स देश	"	" "
मगवान राम का स देश	"	" "
मगवान् कृष्ण का स देश	"	" "
नई मिट्टी नया खेरा	निरवनाथ 'तवरा'	प्रतिमा प्रकाशन, दरभंगा
पहली हार	सुशीलेश्वर 'मिर'	भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ
भूमि के भगवान्	"	" "
बिन खोना तिन पाइयो	अयोध्याप्रसाद गोपलीय	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
सावित्री	गौरीशंकर मिश्र, 'दिनेन्द्र'	प्रथमाला कार्यालय, पटना
चिनगारी	(अनु०) लक्ष्मिनाथ पांडेय	" "
समीक्षा शास्त्र	डॉ० दशरथ ओझा	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
मारसेडु	सठ गोविन्ददास	ओरिएण्टल बुक डिपो, दिल्ली
रहीम	"	" "
रक्त और रंग	खनूशाला मयहल	ज्ञानपीठ लामिटेड, पटना ४
पञ्चावत	(सम्पा०) डॉ० बागुदेव	शरण अथवाल साहित्य सन्स, चिरगाँव (भौसी)



21760

आलोचना

कालिदास साहित्य के स्थायी मूल्यों
की समस्या

प्रतीकवाद

कवि प्रेरणा का स्वरूप और काव्य प्रक्रिया

साधारणीकरण तथा आचार्य मुन्शी

इलाचन्द्र जोशी की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ

दस्तोएवस्की की कतिपय आधुनिक समीक्षाएँ

रामविकास शर्मा

रामरतन भटनागर

धोनारायण मिश्र

रामलाल सिंह

अनन्त शतुर्वेदी

योगेश्वर शर्मा

न मा सि व आ लो च ना

वर्ष ४ अंक =

पृष्ठाङ्क १८

अप्रैल, १९७६

वार्षिक मूल्य (२)

इस अंक का ३)



◆ सम्पादकीय		—हिंदी साहित्य में राम कथा का अध्ययन	
—सम्पादकीय वक्तव्य	१	रामचन्द्र विहारी	१९
◆ निरन्तर		—भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा	
—कालिदास साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या		रामलाल मिश्र	११
रामविलास शर्मा	३	—आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान	
—प्रतीकवाद		रामरत्न भट्टनागर	१०१
रामरत्न भट्टनागर	२७	—पर आँलें नहीं भरीं कमलाकांत पाठक	१०६
<u>समस्या और चिन्तन</u>		—पद्मावत—मूल और सनीवनी याख्या	
—कवि प्रेरणा का स्वरूप और काव्य प्रक्रिया		कमलाकांत पाठक	१०८
श्रीनारायण मिश्र	४४	—हिन्दी अलंकार साहित्य डॉ० भगीरथ मिश्र	११४
—साधारणीकरण तथा आचार्य शुक्ल		—लोक साहित्य का अध्ययन डॉ० सत्येन्द्र	११६
रामलाल मिश्र	६१	—‘साहित्य वाता’ और ‘आलोचना के सद्भाव’ डॉ० शम्भूनाथ सिंह	१२०
<u>अध्ययन भारतीय लेखन</u>		—हिन्दी साहित्य पर सूफीमत का प्रभाव	
—इलाचन्द्र बोशी की औपन्यासिक प्रवृत्तियों		रामचन्द्र विहारी	१२७
अमरत चतुर्वेदी	६३	—भारत सम्प्रदाय दत्तात्रेय पाण्डेय	१३१
<u>अध्ययन विदेशी लेखन</u>		—भारतीय संस्कृति डॉ० राजबली पाण्डेय	१३३
—स्तोत्रकी की कतिपय आधुनिक समीक्षाएँ		—भगवान् बुद्ध	
गंगाधर झा	७८	राजबली पाण्डेय	१३६
◆ मूल्यांकन			
—जहान ः पद्य			
प्रकाशचन्द्र गुप्त	८३		



सम्पादकीय

सम्पादकीय वक्तव्य

पिछले कुछ वर्षों से हिंदी साहित्य के उच्चतर विकास का प्रतिनिधित्व करने वाली जो पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, उनमें 'आलोचना' का विशिष्ट स्थान है। समीक्षा के क्षेत्र में यह हिंदी की प्रमुख पत्रिका है। यद्यपि इसके सम्पादन में अकाधिक परिवर्तन हुए हैं और इनके छोटे बीजक में कुछ उभार चढ़ाव भी आये हैं, फिर भी इसका सम्पादकीय स्तर और इसकी लेख सामग्री एक विशेष भूमि से नीचे नहीं उतरी। इस पत्रिका के कई विरोधांक प्रकाशित हुए हैं, जिनका हिंदी साहित्य में स्वागत किया गया है और जिनमें पर्याप्त प्रामाणिकता पाई गई है। 'आलोचना' ने अनेक नये और उदीयमान लेखकों को प्रोत्साहन देकर साहित्य के रंगमंच पर ला खड़ा किया है। मुलाके हुए विचारों की एक परम्परा भी उसने चलाई है। इस अंक से पत्रिका का सम्पादकीय दायित्व मुक्त कर जा गया है और मेरे सम्पादन में प्रकाशित होने वाला यह एक पहला अंक है। उद्देश्य है कि इस अंक के प्रकाशन में आपेक्षा से अधिक विजम्ब हो

गया है और इसकी सम्पूर्ण सामग्री मेरे मनो मुकूल नहीं हो पाई है, किंतु हम आशा करते हैं और हमारा यह प्रयत्न होगा कि आगामी अंकों से पत्रिका अधिक नियमित और व्यवस्थित रूप से प्रकाशित होती रहे।

'आलोचना' का क्षेत्र साहित्य की समीक्षा तक सीमित समझा जाता है। इसमें रचनात्मक कृतियों के लिए स्थान नहीं है। इस सीमा के रहते हुए पत्रिका को अधिक से अधिक व्यापक और सार्वजनिक बनाने का लक्ष्य हमारे सामने है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हम उन समस्त लेखकों को आमंत्रित करते हैं जो समीक्षा के सीमित क्षेत्र में ही नहीं, विचारों के विस्तृत क्षेत्र में अपनी कृतियों का लाभ हमें दे सकें। साहित्य समीक्षा अन्ततः विचार बगल की वस्तु है। यदि हम उसे किसी सकीर्ण दायरे में ढाल देते हैं और केवल आच की साहित्यिक कृतियों की आलोचना प्रत्यालोचना और आज के विविध मतवादों के उद्घापोद तक सीमित कर देते हैं, तो हम पत्रिका का आधिक उपयोग ही कर पाते हैं। वैसी स्थिति में एक छोटी सीमा में बँधकर पत्रिका निरंतर एक छोटे समूह के ही काम की रह जायगी। उसमें केवल ऐसे

लोगों की अभिकृति होगी, जो या तो स्वयं लेखक हैं और अपनी कृतियों की प्रशंसा चाहते हैं, अथवा पाठक हैं जो कुछ भी पढ़ने को तैयार बैठे हैं। किन्तु इस छोटे समुदाय के बाहर हिन्दी में लेखकों और पाठकों का एक विशाल समूह है जो अच्छी साहित्यिक कृति और प्रेरक साहित्यिक विचार के लिए उद्दिष्ट और लाला यित है, फिर भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाता। हम चाहते हैं कि इस विशाल और निम्नित समाज के लिए 'आलोचना' समुचित विचार सामग्री दे सके। हम यह भी देखते हैं कि हिन्दी का यह विशाल पाठक समुदाय पूर्णतः अलग ठिठ है। हिन्दी में अच्छी पुस्तकें और अच्छी पत्रिकाएँ कम क्यों विकती हैं? इसलिए कि हिन्दी का यह बड़ा पाठक समाज केन्द्रविहीन है और उचित दिशा दर्शन के अभाव में साहित्य के प्रति उदासीन हो गया है। हमारी पत्र पत्रिकाएँ इन निम्नित पाठकों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझती।

लकों से ही लेखकों का काम चल जाता है। यह बड़ी ही दयनीय स्थिति है। हिन्दी में साहित्यिक स्तर पर लेखकों और पाठकों के एक राष्ट्रव्यापी संगठन की आवश्यकता है। सभी समूह साहित्यों के पीछे ऐसे संगठन हुआ करते हैं। 'आलोचना' पत्रिका द्वारा अपने सीमित साधनों का उपयोग हिन्दी के लेखकों और पाठकों के ऐसे ही राष्ट्रीय संगठन के लिए करना हमारा लक्ष्य होगा।

आज हिन्दी के समीक्षा क्षेत्र में अनेक वादा का प्रचलन हो गया है। इन वादों के माध्यम से बहुत ही नयी तुली विचार दृष्टि पाठकों के सम्मुख रखी जाती है। मतवादों की अधिकता और उनकी कट्टरता के अनिष्टकारी परिणाम हमें साहित्य में अपनी आँखों देख रहे हैं। एक तो इनसे साहित्यिक क्षेत्र में खराब दृष्टियाँ बन रही हैं। छोटे छोटे गिरोह बनने

की आशंका हो रही है। दूसरे, इन मतवादों के कारण स्वतन्त्र रचनाकारों, कवियों और लेखकों के मार्ग में बाधा भी पड़ रही है। उनकी सृजन सम्पत्ति स्वच्छता, प्रत्यक्ष अनुभव सम्पत्ति स्वाधीनता और उनका सम्पूर्ण विचार स्वातन्त्र्य संकटग्रस्त हो रहा है। किसी भी मतवाद को किसी समय साहित्य जगत में आतिशयिक प्रमुखता नहीं मिल जाना चाहिए। रचना और समीक्षा के बीच उचित सतुलन आवश्यक है, किन्तु इस सतुलन में भा रचना को सदैव प्राथमिकता दी जानी चाहिए। जब समीक्षा साहित्य सृष्टि का नियन्त्रण करने लगती है, तब निर्माणकारी प्रतिभा बिना कुण्ठित हुए नहीं रहती। मतवादी की अधिकता से न केवल साहित्य में दल और सम्प्रदाय बढ़ते हैं, बल्कि साहित्य-जगत में शय और भूट उत्पन्न होती और फैलती है। लोग यह समझ नहीं पाते कि किसकी बात सही है, किसकी नहीं। यह खारी स्थिति प्रशस्त साहित्यिक चेतना के प्रसार में बाधक है। 'आलोचना' पत्रिका द्वारा हमारा लक्ष्य होगा कि इन विभिन्न वादों में विभेद की अपेक्षा उनकी पारस्परिक समानता की आर दृष्टिपात करें, जिससे एक समन्वित साहित्यिक दृष्टि का उद्भव सम्भन हो। साथ ही हम इनमें से किसी एक या अनेक वादों को साहित्यिक रचना पर हानी होने की स्थिति भी नहीं आने देना चाहेंगे।

हिन्दी में प्रचलित विभिन्न वादों और उनके अनुयायियों की कृपा से साहित्य समीक्षा की गतिविधि भी शोचनीय हो रही है। किसी विशेष कृति को किसी एक साहित्यिक सम्प्रदाय के लोग प्रशंसा की आसमानी लँचाइ तक पहुँचा देते हैं और दूसरी ओर उसी कृति की समीक्षा करने वाले भिन्न सम्प्रदाय के समीक्षक उसकी भरपूर निंदा और विगहणा करते हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य के विकास और निम्नित

पाठकों और नये लेखकों के सम्मुख बड़ा सशय और सफ़ट उपस्थित हो जाता है। वे यह समझ नहीं पाते कि कौन समीक्षक कथ्य की बात कह रहा है, कौनसा नहीं। हम नहीं चाहते कि हिन्दी के इन निर्दोष और निष्पक्ष पाठकों और साहित्य प्रेमियों को ऐसे सफ़ट का सामना करना पड़े। हमारी सतत चेष्टा होगी कि नवीजा सम्प्रदायी सन्तुलित प्रतिमान और नमोन्नत दृष्टि उनके सम्मुख रखी जाय।

अनेक बार आज की साहित्यिक कृतियों को समझने और उनका आकलन करने में बड़ी कठिनाइयाँ प्रस्तुत होती हैं। किसी कृति की मूल प्रेरणा क्या है, लेखक की जीवन दृष्टि क्या है, और वह अपनी कृति द्वारा पाठक-समाज को किस प्रकार प्रभावित कर रहा है, यह समझना कठिन हो जाता है। सीधी सीधी और स्पष्ट उद्देश्य वाली रचनाओं को छोड़ दीर्घ, तो आज के अधिकांश लेखक और कृतिकार उक्त जटिल प्रश्नों की खोज कर रहे हैं। वह प्रश्न साहित्य के मर्म में पहुँचकर उसे पहचानने का, लेखक और कलाकार की मनोवृत्ति तथा उसकी मानसिक स्थिति और आशय को समझने का है। आज अनेक कृतियों पर भी प्रकाशित हो रही हैं जो समाज की विवृतियों को नग्न रूप में चित्रित करती हैं। इनका चित्रण पाठकों में किस प्रकार की प्रेरणा पैदा है? क्या वे उन चित्रित विवृतियों में समने लगते हैं या उनके प्रति विद्रोही हो उठते हैं? एक ही कृति से अनेक पाठकों को अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि हमारा पाठक समुदाय साहित्यिक चेतना से सुसम्पन्न नहीं है। हमारे समीक्षक उनका उचित मार्ग दर्शन नहीं करते। यदि कोई कृति व्याप्यात्मक है तो पढ़ने वाले उसे वास्तविक मान लेते हैं। यदि कोई दूसरी कृति शृंगारिक है और झिझके चित्रणों

से भरी हुई है तो पक्षमाही समीक्षक यह समझने की चेष्टा करते हैं कि यह कृति व्याप्यात्मक है और आज के समाज के झिझके जीवन का चित्रण दिखाती है। इस प्रकार नवीन कृतियों के सम्बन्ध में गलत निर्णय और भ्रामक प्रभाव पैदा हो जाते हैं। कभी किसी कृति में सामाजिक जीवन की असंगतियों को बड़ी गहरी अनुभूति के साथ अंकित कर दिया जाता है और लेखक वहीं अपना कार्य समाप्त कर विराम ले लेता है। परन्तु पाठक समझते हैं कि लेखक की दृष्टि एकांगी और भ्रष्टात्मक है। उसने अप्रकार को ही देखा और चित्रित किया है, प्रकाश की ओर उसकी दृष्टि गई ही नहीं। किन्तु पाठकों का ऐसा समझना कदाँ तक ठीक है? इस प्रकार की अत्यन्त असंगतियों और विभ्रम नये साहित्य और उसकी कृतियों के सम्बन्ध में पैदा हुए हैं। 'आलोचना' द्वारा सम्यक् साहित्यिक बोध देना हमारा कार्य होगा। हम किसी साहित्यिक कृति में कोई ऐसी वस्तु नहीं देखेंगे, जो उसमें नहीं है, किसी ऐसी वस्तु की उपेक्षा नहीं करेंगे, जो उसमें है। जान-बूझकर या अनजाने में जो वितथ निर्णय दिये जा रहे हैं, उनसे सतर्कता पूर्वक बचने की हम सतत चेष्टा करेंगे।

आज के वक्तव्य का यह आशय नहीं है कि साहित्य के सम्बन्ध में नये वैद्वान्तिक मतों और विचार सरणियों की हम पूर्ण उपेक्षा करना चाहते हैं। पश्चिम में अनवरत शोषों के परिणामस्वरूप साहित्य विषयक जो वैज्ञानिक विचारधारा प्रतिष्ठित की जा रही है उसकी अवहेलना कैसे की जा सकती है? किन्तु इस सम्बन्ध में हमें दो-तीन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा। पहली बात यह है कि एक विचारों और मतों का अर्थ अध्ययन हमारे किसी काम का न होगा। जिन तथ्यों के आविष्कार और निर्माण में यूरोपीय पद्धत

जीवन व्यापी माधना करते रहते हैं, उन्हें हम छिन्तुपुत्र अध्ययन से उपलब्ध नहीं कर सकते। इसके साथ ही यह भी विचारना है कि पश्चिम के अन्त विभिन्न मतवादों में समुचित अविति और समीकरण अब तक नहीं किया जा सका। न केवल साहित्य की मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय उपपत्तियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं और परस्पर विरोध में जाती हैं, बल्कि मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय शोधों की अनेक शाखाएँ आपस में ही मतभेद और मतांतर रखती हैं। पश्चिम के इस अर्थ में प्रकाशित 'नेस्तोएवस्की के साहित्य की चार समीक्षाएँ' शीघ्र लेख इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। बड़े बड़े ज्ञानार्थ और शोधक भी जब किसी बड़े लेखक की कृतियों के मूल्यांकन में हतना मतभेद रखते हैं तब सामान्य जनो की क्या चर्चा! केवल धारणा और निवृत्ति में ही नहीं, निष्ठा और आशयन में भाइनम परस्पर हतनी पूरी है कि हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि साहित्यिक प्रयोजन के लिए ये शोध और सिद्धान्त अग्ने में पयात नहीं हैं और इनका प्रिनियोग रचनात्मक कृतियों में करना और भी सहायक है। अतएव, यदि हिन्दी साहित्य की सीमा में इन पश्चिमी सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है तो सबसे पहले इनका सम्यक् अध्ययन आवश्यक है। फिर यह जानना जरूरी है कि ये सिद्धान्त रचनात्मक कृतियों में किस सीमा तक लागू हो सकते हैं, और अन्त में, साहित्यिक कृतियों की समीक्षा के लिए विरोध अभ्यास भी आवश्यक है। सिद्धान्तों का ज्ञान और उनका कृतियों में उपयोग दो अलग-अलग बातें हैं। इनको एक में मिला कर चलना किसी प्रकार उचित न होगा। तबरा और सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यूरोप की ये सैद्धांतिक सोचें एक विशेष

समाज और संस्कृति से सम्बद्ध हैं। उस समाज और संस्कृति का सघात उन देशों के साहित्य से भी हुआ है। कवियों और लेखकों ने सामानिक जीवन से प्रभावित होकर अपनी कृतियों प्रस्तुत की हैं। मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की बहुत सी शोधों की भूमिका उन साहित्यिक कृतियों में मिलती है। हम कह सकते हैं कि यूरोप का सैद्धांतिक और रचनात्मक साहित्य वहाँ के तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन से अत्यधिक है। एक को लेकर हम दूसरे या तीसरे को छोड़ नहीं सकते। जब हम हिन्दी साहित्य की वर्तमान कृतियों में पश्चिम के किसी सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं तब यह भूल जाते हैं कि वह सिद्धान्त भी एक विशेष परिस्थिति की उपज है। क्या हिन्दी भाषी समाज की भी वही परिस्थिति है जो यूरोप की है? इस प्रश्न का उत्तर हम पूर्णतः नकार में ही दे सकते हैं। ऐसी स्थिति में साधी समस्या यह उपस्थित होती है कि अपने राष्ट्रीय जीवन में और उस जीवन की विभिन्न प्रतिक्रियाओं से सम्बन्धित साहित्य में पश्चिम के उन सिद्धान्तों का व्यवहार कहाँ तक सम्भव और समीचीन है।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना है कि यूरोपीय संस्कृति अब एक बहुत बनी हलचल से होकर गुजर रही है। न केवल वहाँ के दार्शनिक विचार डॉगडोल हो रहे हैं, बल्कि एक नई प्रतिक्रिया में उनमें बहुत से उलट-पेर भी होते जा रहे हैं। सिद्धांतों ने तीन शताब्दियों से यूरोप में जो संस्कृति विकसित हुई थी उसे आज के पश्चिमी विचारक फाउस्टियन (Faustian) संस्कृति के नाम से पुकारते हैं। फाउस्टियन संस्कृति व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य, उदात्त लालसा और मौलिक विकास की संस्कृति कही जाती है। आज इस संस्कृति के विरुद्ध एक बनी प्रतिक्रिया आरम्भ हो चुकी है और यूरोप के प्रमुख विचारक एक नवीन संस्कृति की रचना

की नींव डालने की चिन्ता में हैं। स्वातंत्र्य का जो आदर्श परिचय में प्रचलित था, वह आज व्याप्य और देय माना जाता है। इसके बदले सामाजिक दायित्व, समता, नैतिक व्यवहार और आचरण आदि नये आदर्शों का आग्रह किया जा रहा है। बहुत से नये विचारक और भविष्य द्रष्टा आज एक नई सस्कृति की पुकार उठा रहे हैं, जिसे वे मध्ययुग की धार्मिक सस्कृति का नई परिस्थिति के अनुरूप नवोन्मेष का नाम देते हैं। उनका मुकाम भारतीय और एशियाई सस्कृति का और भी कम नहीं है। ऐसी स्थिति में हम यह कह सकते हैं कि यूरोप अपने पिछले सामाजिक आदर्शों को छोड़ चला है और वह नये जीवन-तत्त्व की खोज में है। प्रश्न यह है कि क्या उन स्वतंत्र आदर्शों को हम आज अपने समाज में और अपने साहित्य में अपनाने जा रहे हैं? यदि नहीं तो हमारे आज के सामाजिक और साहित्यिक आदर्श क्या हो सकते हैं?

यदि हम योनी की दूरवर्ती भूमिका लेकर आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास को देखें तो उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों स्पष्ट दिखाई देंगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आरम्भ होने वाले आधुनिक साहित्यिक युग की मूल रागिनी माधुरिक रही है और गाम्भीर्यता की ओर घटती चली आ रही है। भारतेन्दु युग में रीति काल की दृष्टिकोण प्रवृत्तियों का शेष था। स्वयं भारतेन्दु वैष्णव भक्ति परम्परा के अनुयायी थे और उनकी अधिकांश कविनाएँ भक्ति परक हैं। परन्तु भारतेन्दु के काल पर धीमास्वतंत्रता की श्रृंगारिकता की इतनी घनी छाया है कि उनका काव्य कृतियों को मात्र कवियों की परम्परा में मान लेने में बड़ी कठिनाई होती है। कहना पड़ता है कि भारतेन्दु व्यक्तित्वगत प्रेरणा ही ता मायात्मक भक्ति की ओर खिंचे थे, परन्तु वे अपनी समकालीन रीति परम्परा के बोझ से भी

आक्रान्त रहे हैं। वह उनका वैयक्तिक सघर्ष था, जो उन्हें रीतिकव्य की ऐहिकता और भक्ति का यक्षी भावनात्मकता के बीच एक या दूसरी ओर पारी पारी से खींचता रहा। परन्तु भारतेन्दु और उनके युग की वास्तविक देन भक्ति और रीति के इस सघर्ष में नहीं पाई जाती। उनका अग्रणी कार्य नई सामाजिक चेतना को प्रतिबिम्बित करने में था और वह चेतना एक शब्द में राष्ट्रीय थी। इस "दायक चेतना के अन्तर्गत विदेशी राज्य की भलाइयाँ सुराइयाँ, हिन्दू मुसलमानों के आपसी भगदौ और मतभेद तथा भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों और वर्गों की अलग अलग समस्याएँ थीं। किन्तु कुल मिलाकर नवीन राष्ट्रीय एकता और विकास की प्रभाती ध्वनि ही इन कवियों और लेखकों की वाणी में व्यक्त हुई। विशेषकर इस युग के गद्य साहित्य और प्रमुख रूप से नाटकों में इस नवीन राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति हुई है। हरिश्चन्द्र युग की इस नए वास्तव राष्ट्रीय भावना को प्राचीन सस्कृति के पुनरुत्थान और रीति रिवाजों की नई सामाजिक नैतिकता के नियामक नियोजित करने का कार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके समकालीन लेखकों और कवियों ने किया। एक प्रकार से यह कार्य हरिश्चन्द्र युग की राष्ट्रीय चेतना को परिपुष्ट करने वाला रहा है, परन्तु कविता के माध्यम के क्षेत्र में इसने कुछ संतिरोध भी उत्पन्न किया था। एक तो जनभाषा की खोजी हुई परिपाटी के विरुद्ध छंदी-बोली का क्या काय माध्यम आरम्भ में अनगढ़ था। दूसरे, लेखकों और कवियों के ऊपर द्विवेदीजी के अतिरिक्त आचार्यत्व का दबाव भी था। कदाचित् इसी दबाव की प्रतिक्रिया में नये छायावादी कवि आका के क्षेत्र में एक नई चुनौती देते हुए आय थे। छायावादी काव्य पर देशी और विदेशी कितने भी प्रभाव रहे हैं, परन्तु मुख्यतः उसके

एक हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा समाज के द्विवेदीकालीन विकास में मिलते हैं। यदि हम छायावाद युग के दो प्रमुख कलाकार प्रेमचन्द और प्रसाद को एक साथ लेकर देखें तो ऊपर का तथ्य स्पष्ट हो जाता है। प्रेमचन्द के उप-यासा में द्विवेदी युग की नैतिकता की ओर आश्रयवाद की छाया है। प्रसाद के काव्य में इन दोनों का विरोध है। वे नीतिवाद के निरुद्ध स्वच्छन्दतावाद की भूमि पर पूरी तरह उतर आए थे। इस दृष्टि से वे प्रेमचन्द से एक भेणी आगे के कलाकार हैं। परन्तु दूसरी ओर राष्ट्रीय और सामाजिक विकास की यथार्थ भूमि पर प्रेमचन्द प्रसाद से एक भेणी आगे हैं। प्रसाद ने अपने उन गाला में जिस सामाजिक विकास की मातात्मक कल्पना की है, प्रेमचन्द ने उनी विकास को एक वास्तविक समय के माध्यम से चित्रित किया है। यहाँ प्रेमचन्द प्रसाद से अधिक राष्ट्रीय और सामाजिक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी युग के परचातु आने वाला छायावाद युग प्रसाद और प्रेमचन्द जैसे मिन प्रकृति के साहित्यकारों का सृजन करते हुए भी विकासमान राष्ट्रीय और सामूहिक चेतना से सम्पन्न है। छायावाद को कुछ समीक्षकों ने व्यक्तिवादी, पलायनवादी अथवा भेनावादी जीवन दृष्टि का परिणाम बताया है। किन्तु, यदि हिन्दी साहित्य के विकास की सांस्कृतिक छूट भूमि पर देखा जाय, तो छायावाद वस्तुतः हरिश्चन्द्र और द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय विकास भूमियों को अधिक गहराई, उबरता और प्रसार ही देता है। वह किसी भी अर्थ में साहित्य का परचातुगामी या पीछे ले जाने वाला युग नहीं है।

छायावाद-युग को पार कर जब हम नवतर युग में प्रवेश करते हैं तब हमें सबसे पहली अभिगता यह हाती है कि साहित्य में सामूहिकता का स्वर मग्न पड़ने लगा है और लेखकों में व्यक्तिनिष्ठता और स्वच्छन्दता

बढ़ने लगी है। छायावाद युग में प्रसाद और प्रेमचन्द जैसे दो भिन्न प्रकृति के लेखकों के बीच भी राष्ट्रीयता का एक सुन्दर सम्बन्ध बना हुआ था, परन्तु आज के किन्हीं भी दो या अधिक विशिष्ट लेखकों के बीच कोई सम्बन्ध सूख डूँड निकालना कठिन हो गया है। याद आज के लेखकों और कलाकारों में कोई सम्बन्ध सूख है भी तो वह अनास्था और अविश्वास का है, जो एक नकारात्मक वस्तु है। दूसरा सूत्र मनुष्य की एक ही दशावृत्तियों का, पशु वृत्तियों का है—आहार, गन्ना, भय और मैथुन का सूत्र। किन्तु इन सूत्रों को पकड़कर साहित्य और मनुष्यता कितने पग आगे बढ़ेगी? छायावादी कवि और लेखक किसी न किसी सम्मानित विचारधारा का विश्वास करते थे। परन्तु नये कवि और लेखक अपने को एक अश्वेय आवरण में छिपाकर चल रहे हैं। ऐसे लेखकों से हमारा सामद निवेदन होगा कि वे अपनी वैचारिक स्थिति स्पष्ट करें। यूरोप में हासो-मुसी माव धाराओं के कलाकार मा अपना जीवन अभिमत व्यक्त करने में हिचके नहीं हैं। फिर हमारे लेखक ही क्या हिचकें?

वे कौनसे तर्क हैं जो नये लेखक अपनी कृतियों के पद में देते हैं? छायावाद युग के साहित्य को कल्पनाशीली और वास्तववादी बता कर वे एक नये यथार्थ की बात कहते हैं। छायावाद में कल्पना की प्रधानता तो थी, किन्तु वह एक मावात्मक और राष्ट्रीय दृष्टि से सम्पन्न कल्पना थी। उसमें व्यक्तिवाद तो था, परन्तु एक ठोस समष्टि चेतना से ऊन्नत। उसके स्थान पर नये यथार्थ का स्वरूप क्या है? उसकी रचनात्मक प्रेरणा और समता कितनी है? यह नया यथार्थ किस प्रकृतिवादी प्रकृति पर आधारित है, वह राष्ट्रीय विकास के उपकरणों में बहुत कुछ रिवत है। आज के मनोवैज्ञानिक उपवास लेखक जिस यथार्थ के चित्रण का दावा

करते हैं, उसका क्रियात्मक रूप क्या है ? यथार्थ और सत्य की खोज के व्यस्त होकर ये लेखक अधिकाधिक अन्तर्भावो दत्ते जा रहे हैं। कुछ लेखकों ने एक नये स्वातंत्र्य का भी उद्घोष किया है, जो आज यथार्थवादी रोमांच के नाम से पुकारा जाता है। इस अभ्यास के स्वातंत्र्य का आज शहर से शहर तक सुदीर्घ मिलन के रूप में चित्रित किया जाता है। क्या यह उषा पांडित्य के सस्कृति का चरम चिह्न नहीं है जिसे आज पश्चिम का समाज भयभीत होकर छोड़ रहा है ? पिछले गिरणुद्ध का और उससे उत्पन्न नई परिस्थिति का हवाला देते हुए यह भी कहा जाता है कि आज के जीवन में भय की विभीषिका समाप्त हुई है, इसलिए नवीन साहित्य में कोई स्थिर और नेत्रवर्ती निष्कार दृष्टि आ ही नहीं सकती। नये लेखक अपनी इस कमजोरी का हवाला इस प्रकार देते हैं, जैसे वह कोई वास्तविकीय वस्तु हो। स्वतंत्र्य की उपलब्धि के अनन्तर नये लेखक एक उल्लासमय जीवन का अभूतपूर्व साक्षात्कार कर रहे हैं, अतएव उनकी रचना में उमंग विनोद और उन्मत्तता आनी ही चाहिए। साहित्य की मार्क्सवादी पाठ्या का समर्थन करते हुए नये लेखक यह भी कहते हैं कि आज के मध्यमवर्गीय लेखकों द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला साहित्य दिग्भ्रमित और दिशाहीन होने का पाप है। इस प्रकार जितने हैं उतनी बातें सुनकर आज का पाठक एक बड़े असमंजस की स्थिति में पहुँच गया है।

हम जानते हैं कि लेखकों का एक बहुत बड़ा समूह इन आज के सभी प्रवृत्तियों से कोई नाता नहीं रखता और वह इस अस्मदमरे वातावरण में उलझने या खो जाने की किसी प्रकार तैयार नहीं है। हम उन नामाओं से भी अपरिचित नहीं हैं, जो इन स्वाधीन चेतना साहित्यिकों के मार्ग में पग पग पर आती

और उनके साहस को तोड़ना चाहती हैं। हमारे ये कमरे और सघर्षशील लेखक उन परिस्थितियों से टकरा रहे हैं जो उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय और मानव स्वतंत्र्य के मार्ग में बाधक होकर खड़ी हैं। ऐसा करते हुए वे न तो समाज के किसी अधिकारी वर्ग की अनुमित परका करते हैं और न शासनवर्ग के दायों में बिक जाने की तैयार हैं। क्या आज के समाजिक जीवन में वैयर्थों और विहृतियों की कमी है ? हम तो दफते हैं। एक स्तर-स्तर पर असंतुष्टियाँ हैं, अनाचार हैं, अपराध हैं। क्या लेखकों के लिए उत्तेजनाकारी दृश्य कम हैं ? उनकी कर्मक्षमता को चुनौती देने वाली हीनताएँ नहीं हैं ? असत्य हैं, और हमारे अनेकानेक लेखक उन सफा डटकर सामना करने में सलग्न हैं। सब पूछिए तो ये लेखक ही उस साहित्यिक परम्परा के अग्रिम प्रतिनिधि हैं जो मारते-तुफान से लेकर आज तक विकसित होती चली आई हैं। 'आलोचना' द्वारा इसकी एक प्रकार से सरदर्शन करना हमारा कर्तव्य होगा।

हमारे लिए यह कम ऐन की बात नहीं है कि हिन्दी के साहित्यिक प्रतिमान अब तक अनिश्चित और ढोंकाबोला बने हुए हैं। सर्वमान्य और सर्वस्वीकृत तथ्यों की अतिशय कमी है। साहित्य के व्यवस्थित विकास के लिए यह स्थिति घातक स्थिति है कि हम अपने प्रमुख कवियों और लेखकों के सम्बंध में भी कोई निश्चित धारणा नहीं रखते। विदेशों में भी साहित्यिक प्रतिमान बदलते हैं पर उनका बदलना युग संस्कृति के परिवर्तन का घोटक होता है। यूरोप में साहित्यिक मान्यताओं में मलमेल विभिन्न राष्ट्रीय साहित्यिक दृष्टियों के अंतर के कारण भी होता है। पर हिन्दी में कोई भी कच्चा पक्का लेखक किसी भी दिन निश्चित होकर कोई स्वेच्छा चारी सम्मति दे डालता है और उस पर लोग

गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगते हैं। कारण यह है कि हिंदी माधो समाज अब तक सुगठित समाज नहीं है। उसकी साहित्यिक चेतना नम्रगत सत्कारों से परिपुष्ट नहीं हो पाई है। हिंदी का पाठक, नवसाक्षर विद्यार्थी की तरह, बिना प्रश्न किए ही सब कुछ स्वीकार करने को तैयार रहता है। यों तो किसी भी समय इस प्रकार की निरीहता साहित्य के लिए शुभ लक्षण नहीं है, परन्तु आज की साहित्यिक आपाधापी में इसके घातक दुष्परिणाम हो सकते हैं और हो रहे हैं। यद्यपि प्रतिमान का स्थिरीकरण एक दिन का काम नहीं है, फिर भी दूरवर्ती लक्ष्य के रूप में यह काय सदैव हमारे सामने रहेगा।

समय आ गया है, जब हम अपनी प्राचीन पोथियों को खोलकर यह देखने का प्रयत्न भी करें कि नये साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में वे कहाँ तक हमारा साथ दे सकती हैं और उनका आघात लेकर हम किस प्रकार आगे बढ़ सकते हैं। हमारे देश में एक प्राचीन और समृद्ध साहित्य शास्त्र भी मौजूद है जिसका सम्यक् अनु-

शीलन हमें करना चाहिए। वर्तमान युग विज्ञान की शोषों से मग्न पड़ा है। हमारे प्राचीन सिद्धान्त उच्चतम मनीषा की उपज हैं, परन्तु उनमें नयीन और आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों का योग नहीं है। हमें अपने प्राचीन सिद्धान्तों को इतिहास की प्रष्टभूमि पर रखकर देखना होगा। उन विभिन्न सिद्धांतों की मौलिक दृष्टियाँ क्या हैं? उनमें परस्पर कितना अंतर है? और पारस्परिक आदान प्रदान से उनकी किस प्रकार प्रगति हुई है? यह काम प्राचीन शोध के उद्देश्य से निरवाचालियों तथा दूसरी संस्थाओं में किया जा सकता है। परन्तु 'आलोचना' पत्रिका में हमारा प्रयोजन उन सिद्धान्तों की ऐसी छानबीन करना होगा जिससे हम उन्हें नये उपयोग में लाने के योग्य बना सकें। इसका यह अर्थ नहीं कि हम ज्ञान के क्षेत्र में पुनः तनवादी हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि हम अपने राष्ट्र के वर्तमान सभ्यतिकाल में प्राचीन और नवीन की एक सुसम्बद्ध और समन्वित भूमिका खोजी हुई देखना चाहते हैं।

निबन्ध

रामविलास शर्मा

कालिदास साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या

[साहित्य के स्थायी मूल्यों की छानबीन करते हुए कालिदास की शर्चा करना स्वाभाविक है। वह भारतीय साहित्य के सबसे स्थायी कवि हैं। जताश्रित्यों से सहृदय काव्य प्रमत्त उन्हें कविकुलसुर कहे जाते हैं। जिस समाज व्यवस्था में उनका जन्म हुआ था, वह नष्ट हो चुकी है या नष्टप्राय है, फिर भी उनका काव्य सौष्ठव न तो नष्ट हुआ है, न भविष्य में नष्ट होता दिखाई देता है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह काव्य सौष्ठव समाज निरपेक्ष है, वह ऐसे शाश्वत सौन्दर्य की व्यञ्जना है जो देश काल की सीमाओं के परे है? क्या कालिदास की काव्य महिमा इस बात के लिए प्रबल तक नहीं है कि साहित्यकार को सामाजिक उथल पुथल से दूर रहकर सौन्दर्य की एकांत साधना करनी चाहिए?]

१

कालिदास जिस समाज व्यवस्था से परिचित हैं और जिसे वह अपने साहित्य में प्रतिबिम्बित करते हैं, वह चार वर्णों में विभाजित है। इसमें श्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मणों का है जो सभी के पूज्य हैं। क्षत्रिय सभी की रक्षा करने वाले हैं। वैश्य व्यापार आदि कार्य करते हैं और शूद्र दूसरों की सेवा करते हैं। अपनी रक्षा के लिए प्रजा एक निश्चित कर राजा को देती है। यह व्यवस्था इतनी रुढ़ हो चुकी है कि वर्ण का निश्चय कर्म से नहीं, जन्म से होता है। शम्भूक जन्म से शूद्र था, इसलिए उसे तप करने का अधिकार न था। उसके 'अपभार' से एक ब्राह्मण का पुत्र अकाल ही मृत्यु को प्राप्त हुआ, इसलिए तप करते हुए शम्भूक का सिर फाटकर राम ने उस ब्राह्मण के लडके को लिला लिया (रघुवंश, सर्ग १५)। दुःखत अपने पुत्र के हाथ में चक्रवर्तियों के लङ्का देखते ही पहचान जाते हैं कि वह किसी राजा का पुत्र है और चक्रवर्ती बनने के लिए पैदा हुआ है। मुदक्षिणा के गर्भ में लोकपालों के अश विद्यमान हैं, इसलिए उसके पुत्र को चक्रवर्ती होना ही चाहिए (रघुवंश, सर्ग ३)। राजा लोग दो काम करते हैं—भोग और युद्ध। दोनों से लुट्टी मिलने पर योग साधते हैं। यद्यपि वे प्रकृति रचक प्रजा की प्रशंसा करने वाले हैं, फिर भी यह पृथ्वी उनके भोग के लिए है। रघु ने अज को पृथ्वी ऐसे सौंप दी,

मानो वह दूसरी इ दुमती हो (रघुश, सर्ग ८)। साता को वनवास देन के बाद राम ने पृथ्वी का ही भोग किया (उप० सर्ग १५)। दुष्यत प्रतिज्ञा करते हैं कि अनेक रानियों के रहने हुए भी उनके वहाँ दो ही की प्रसिद्ध होगी—एक तो पृथ्वी की, दूसरी शकुन्तला की। प्राचीन कवियों ने पृथ्वी को माता और अपने को उसका पुत्र कहा था। अब वह भोग की वस्तु बन गई है। कवि रानाओं के चाटुकार बन गए हैं। सरस्वती यह देखकर सिर धुनने और पछताने के बदले चारों के बगट में बैठकर रघु की स्तुति करती हैं (रघुश, सर्ग ४)।

समाज-व्यवस्था के प्रति कालिदास उदासीन नहीं हैं। उनका एक निश्चित दृष्टिकोण है। वह प्रचलित समाज-व्यवस्था का पोषक है। वह व्यवस्था अत्युत्तमशील न होकर काफी रुढ़ हो गई है। उसकी गहरी छाप कालिदास के काव्य पर है। यह छाप उनके काव्योक्त्य में सहायक न होकर एक बाधा बन गई है। कालिदास और उनके अनेक—संभवतः अधिकांश—सामयिक काव्य प्रेमियों की सहृदयता को यह देखकर घबरा न लगा होगा कि पृथ्वी नारी के समान मोग्या है, सरस्वती राजाओं की स्तुति करती है और शूद्र के तप करने पर उसका सिर काट लिया जाता है। उस समय की सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी ही थीं, यह कहा जा सकता है। तब कालिदास की रचनाओं में इस तरह के प्रसंग साहित्य के स्थायी तत्व हैं या अस्थायी? यदि स्थायी हैं तो आज के कवि—साधारण कवि नहीं, रवीन्द्रनाथ, भारती, निराला जैसे कवि—उन पर क्यों रचनाएँ नहीं करते? यही नहीं, कालिदास के दृष्टिकोण से विरोधी विचारधारा अपनाकर वे महान् कृतियों कैसे दे सके हैं? यदि अस्थायी हैं तो स्वीकार करना होगा कि कालिदास साहित्य के सभी तत्व समान रूप से स्थायी नहीं हैं, कुछ उनमें अस्थायी भी हैं और वे हमारे लिए अनुकरणीय नहीं हैं।

पृथ्वी मोगने के लिए युद्ध करना आवश्यक है। रामायण और महाभारत में युद्ध अन्वय के प्रतिफल के लिए था, राम, कृष्ण, अर्जुन आदि वीर इसीलिए आग्रह पार्श्व के रूप में चित्रित किये गए थे। लेकिन कालिदास के रघुशरी राजा यश के लिए विजय प्राप्त करने चलते हैं (रघु०, सर्ग १)। युद्ध आदि के वर्णन में अतिरिक्त चिन्तों और कल्पना चमत्कार का बाहुल्य रहता है। रघु वन निविनय के लिए चलते हैं तो सबसे आगे उनका प्रयाण चलता है, उसके बाद सेना का बोलाहल, उसके बाद धूल और सबसे पीछे सेना (रघु०, सर्ग ४)। इ दुमती के माथ लौटते हुए अब अपने विरोधियों से युद्ध करते हैं, तब एक योद्धा सिर कटने पर देवता हो गया, विमान पर चढ़कर स्वयं पहुँच गया और वहाँ से सुगन्धना के साथ समर भूमि में देखने लगा कि उसका धर्म अब भी नाच रहा है (रघु०, सर्ग ७)। दो योद्धा एक साथ मारे जाकर स्वयं पहुँच गए और वहाँ एक ही अप्सरा के पीछे मगन भी करने लगे (उप०)। कुमारसम्पन्न में योद्धा हाथियों पर ऐसे बाण चलाते हैं कि हाथियों के सिर पहले गिरते हैं, बाण पीछे (सर्ग १६)। जिन योद्धाओं को हाथियों ने उछाल दिया, उनके प्राण ऊपर ही स्वयं चल गए, शरीर नीचे आ गया (उप०)। दो योद्धाओं ने एक दूसरे का गिर काट दिया, स्वयं पहुँचकर वे अपने घड़ी का नाच भी देखने लगे (उप०)। कालिदास की महान् प्रतिभा भी उनके युद्ध वर्णन की प्रभावशाली नहीं बना सकी। युद्ध वर्णन में उन्होंने परम्परा का निराह मान लिया है। उनकी चमत्कार प्रशंसा की शैली उनकी प्रकृति वर्णन की सहज शैली से एकदम भिन्न है। युग नियोग की कृति का

अनुसरण भर तूहाने किया है, उत्साह और तपस्या का अभाव स्पष्ट है। यह भी उनके काव्य का स्थायी तत्त्व नहीं है, वरन् राजाश्रय प्राप्त कविता की रूढ़ि में उत्पन्न दोष है।

युद्ध के बाद दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सुप्रमोद है। युद्ध का अर्थ है नारी। कालिदास के अधिसाध रचना अनेक पत्निका बाले हैं। पतिव्रत वम स्त्रियों के लिए है, पुत्र पलायन से प्रायः मुक्त हैं। पुरुष मोक्षार्थ, नारी मोक्षार्थ है। इसलिए भोक्ता के लिए कोढ़ कायम नशा है। विविध पत्नियों के प्रसिद्धि प्रमोद नृत्य के लिए वाद्ययंत्रिताएँ हैं (सु०, सर्ग ३), यक्ष का मन्त्रेश ने जाने काला मेघ पत्न्यस्त्रियों के साथ निहार करने वाला क सहाम यौवन की जानकारी प्राप्त करता हुआ जाता है।

‘य पश्यस्त्री रतिपरिमज्जाप्रारिभानावराणां

सुदामानि प्रपद्यति शिखारेमनिर्घोषजानि।’

और भी—

“अवसास्वतो नावपदं सुखानं मय्यर्थागनिन्दु

नामाद्यन्ते तदधि मयुरश्रेणिदीर्घानि कटाक्षानि।”

वेरपात्रि इस नागर संस्कृति का अभिन्न अंग है। उनके बिना उनके सहाम यौवन का सगात अधूरा रहेगा। ये पश्यस्त्रियों थीं, ऐसे काल में उनका शरीर विरक्त था। सहृदय रसियों के दुर्भाग्य ने साहित्य का यह स्थायी तत्त्व भी अन्ध मिटता जा रहा है।

भोग के उत्कर्ष के लिए मनुष्य आवश्यक तत्त्व के रूप में ग्रहण किया गया है। रस के नैतिक मर्यादा के साथ अनु का यश भी बांटे हैं। आज की देराने वाली स्त्रियों में कुछ से आसक्तता निकलने वाली स्त्रियों भी हैं, अन्ध इन्द्रमती के लिए निन्दा करते हुए दाग करते हैं कि उसने अन्ध के अधोपे मनु को दिया था, उसमें भी अन्धकारों स्मरणला मनु का सेवन करती हैं (सु०, सर्ग ६)। यह कहना कठिन है कि कालिदास के समाज में (या उनकी कल्पना में) कौन अधिक पाता था—स्त्रियों या पुरुष। कालिदास ने मन्दिराला रमयियों का उल्लेख अधिक किया है। रति निन्दा करते हुए इस बात पर शोक प्रकट करती है कि आश्रय ने धुनती और बोलने में अटपटाती प्रमदाक्षा का मधुपान काम के बिना “यथै जायगा। ‘माला निरामिनित्र’ में इरावती कहती है, लोगों की उक्ति है कि मधुपान से स्त्रियों भी शोभा विशेष रूप से बढ़ जाती है। इसलिए मधुवान् शकर ने अन्धकगीपन मन्त्र अम्बिका को भी पिला दिया, रति निन्दा भी महिलाओं की तरह “वृक्षमालाभयन स्तम्भकथ” उनका भी वैसी ही लया हो गई। मधुपान की अनिश्चयता भोगात का अतिशयता की ही सूचक है। मधुपान और वेरपात्रि में कौन श्रेष्ठ है और कौन निम्न है, इसका निर्णय पाठक करें, किन्तु यदि पूर्णमान मयनी वाली प्रमदाक्षा का वर्णन करि न कर तो क्या इसे साहित्य के एक स्थायी तत्त्व का अभाव माना जायगा ?

नारी भोग की उन्मुख है, इसलिए शृंगार रस के सिद्ध कवि द्वारा नर नारी के परस्पर-मन्द का उल्लेख सामाजिक ही है। लड़कों मनुष्यों की सृष्टि इसलिए हुई है कि भोगियों का रस वासर एकरस न होकर विभिन्न प्रकृति परिवेशों में सरस बना रहे। सर्ग में ‘नितम्ब विन्दै’ तथा “स्तनै = “स्त्रियो निद्राद्य शसपति कामिनाम्” (श्रुतुसहार, सर्ग १)। क्या का तो कहना ही क्या ? चित्तली चमकते ही अपराधी प्रियों को भी देखियों क्षमा कर देती

हैं। युष्मात्मा में विहार करते हुए विष्णुओं और उनकी प्रेमिकाओं के लिए बागल पत्रों का काम करते हैं (कुमारसम्भव, सग १)। यति क्या की खूँदें नहीं हैं तो सुरतज्ञानि दूर करने के लिए शिमावात है (मेघदूत)। कालिदास के कामीचन शृंगार रस में ऐसे दूषते हैं कि सिर उठाने का नाम नहीं लेते। उनके आदर्श भोगा भगवान् शक्र ई जो आदर्श योगी भी हैं।

समद्विचस निशीय मगिनन्तस्त्र शम्भो

शतमगमदत्ना साममेका निश्व ।

न तु सुरत सुलेम्बशिखी न तृष्णो बभूव

ज्वलनं ह्य समुद्रान्तमस्त-चक्षीषे ॥ (कुमारसम्भव, सर्ग ८)

दिन रात भोग करते हुए सौ वर्ष एक रात की तरह बिता देने पर भी यक्षबानल की तरह सुरत मुग से वह छिनतृष्ण ही रहे।

शिवजी तो योगी थे, उनके लिए सब कुछ सम्भव था। लेकिन शिवजी के इस भाग पर चलने वाले रघुवरी राजा अग्निवर्ष्य की बुरी दशा हुई। यह रमणियों से भरी हुई पानशाला में जैसे ही जाते थे जैसे कमलिनियों के बीच हाथी जाता है। रमणियों उनका गुंटा मड़ पीती थीं, वह रमणियों का। अतः में उन्हें क्षय रोग हो गया, वे दूसरों का सहारा लेकर चलने लगे। अन्त में पुत्र का मुँह देते बिना ही वह चल बसे। कालिदास ने भोगवाद का यह परिणाम लिखाया, यह अच्छा किया। किन्तु यह उ होने 'रघुवश' में दिखाया है, उसके अन्तिम सग में। 'रघुवश' को उनकी अन्तिम रचना माना जाता है। यदि यह सत्य है तो अग्निवर्ष्य का अतः कालिदास की अन्य रचनाओं में वक्षित भोगवाद पर का छी टिप्पणी है। यह रोग उस समाज-व्यवस्था में लग चुका था जिसमें एक अवकाशमोगी वर्ग दूसरा की अर्जित सम्पत्ति के बल पर भोग (और योग) के सिवा दूसरी बात सोच ही न सकता था। उस रोग का जो परिणाम हुआ, उसे भारतीय इतिहास का हर निष्कर्षी प्रन्धी तरह जानता है।

इस भोग के साथ योग का सार है। योग ने चमत्कार से असम्भव बातें भी सम्भव हो जाती हैं। शुक वशिष्ठ ने ध्यान लगाया और उ हँ मालूम हो गया कि त्रिलोक के पुत्र क्यों नहीं होता। कार्तवीर्य नाम के योगी मुक्त करने चलते थे तो उनके हथार हाथ निकल आते थे, इसलिए कोई राजा उनका सामना न कर सकता था (रघु०, सग ६)। एक महर्षि ऐसे थे जो हिरनों के साथ रहते थे और घास खाते थे (दमाङ्कुरमात्रवृत्ति) और इस 'तप' से इंद्र को भय हो गया था। किस शम्भू ने तप करके ऋषि व्यग्रथा का टहलपन किया था, वह वृद्ध की ढाल पर उलटा लटका हुआ था और उसके मुँह के नीचे आग जल रही थी। इस तरह के तप का अधिकार ब्राह्मणा के लिए सुरक्षित था। शरीर को इस तरह बह देते से आप्पात्मिक उन्नत होती थी। नहीं उपनिषदों का रहस्य चित्तन और वहाँ यह उलट लटकने की निया। कालिदास की सामाजिक विचारधारा—राजा, प्रजा आदि के सम्बन्ध में—वाल्मीकि और व्यास से पिछली हुई है, उसी तरह योग के विषय में उनका दृष्टिकोण उपनिषदों की तुलना में पिछड़ा हुआ है। आगे चलकर तुलसीदास ने इसी चमत्कारवाद का प्रबल विरोध करके अपना मार्ग प्रतिष्ठित किया था।

पशुपति का अलग चलन था। नि स देह कालिदास को जीवमात्र स एम था। उनके तपोवनों में पहुँचते ही राजा अपना घनुष अलग रख देते हैं। लेकिन धार्मिक रुढ़ि के रूप में

उन्हें पशुवलि स्वीकार थी। जिस घोर के दुष्पन्त की झँपटी मिली थी, वह उन भोनियों का हवाला देता है जो पशुमरण के गवय धर्म में प्रवृत्त होते हैं।

कालिदास के समान की विशेष धार्मिक उपलब्धि पुराण थे। पुराणों से महाकवि ने अपने काव्य सौन्दर्य की ही बहुत सी सामग्री नहीं ली, उनसे उन्होंने कुछ ऐसी बातें भी ली हैं जो वेदाओं तथा काव्य को पुराण बना देती हैं और इससे काव्य सौन्दर्य घट जाता है। रघुवंश में वेदाओं द्वारा निष्ठा की स्तुति कुमारसम्भव में ब्रह्मा की स्तुति आदि ऐसे ही प्रसंग हैं। रघुवंश के अठारहवें सर्ग में कवि ने राजाओं के नाम गिनाकर पुराणों की तरह वशावली लिख डाली है। पुराणवाद ने यहाँ उनके काव्योत्कर्ष को प्रायः नष्ट ही कर दिया है। कालिदास का कलात्मक दृष्टिकोण एक कुशल चित्रकार का है। साधारणतः वह पुराणों से ऐसे वस्तु लेते हैं जो सौन्दर्य बोध को नितारने वाले होते हैं। लेकिन रुद्रिया का पालन करते हुए उन्होंने दिन के पहचान से कुछ भी नहीं कराया, ब्रह्मा के चार मुक्तों द्वारा पहचान के छह मुक्तों का सुम्भन भी कराया है।

चनप्रमोदाभूतरमिताम्रमुखश्चतुर्भिः प्रचुर प्रसादः।

प्रयोऽसुम्भद्विधिरादिबुद्ध पञ्चानन पटसु गिर मुचित्रम्॥

ऐसे तो ब्रह्मा के लिए सब कुछ सम्भव है लेकिन देवताओं का जितना ही मानवीकरण हो, उतना ही काव्य के लिए उपयोगी होते हैं। असुम्भर का प्रसंग होता ही बिना ठीक रहता। इस विचित्र व्यापार का कारण अनेक बौद्धिक रुढ़ियों को स्वीकार कर लेना है जिससे काव्य कला की क्षति हुई है।

बौद्धिक रुढ़ियों के अतिरिक्त कालिदास ने अनेक काव्यगत रुढ़ियाँ का अद्वयवाच्य भी किया है। उनके सुदृढवाच्य का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके अतिरिक्त आत्मवार्तिक वचन इसी कविता के अन्तर्गत आते हैं। शुक्राचार्य ने रीतिवादी कवियों के जिस चमत्कारवाद का विशेष किया था, उसके बीच कालिदास में विद्यमान है। उनमें इस तरह का कल्पना निरास मिलता है—दश, तारे, कुसुम आदि देवदर लगता है कि ये रघु का यश है। शिवजी ने पार्वतीजी की आँखों में लगाने के लिए अपने तीसरे नेत्र से ही काकल पार लिया। शिवजी के पुत्र पञ्चानन अपना हाथ शिवजी के गिर पर बहती दूध गंगा में डाल देते हैं और जब दूध लगती है तब उनके तीसरे नेत्र से उसे सँक लेते हैं।

कालिदास की काव्य कला का अध्ययन उनके समय की समस्त व्यवस्था से अलग करके नहीं किया जा सकता। उस व्यवस्था को मुलाकर एक महान् कवि में उपर्युक्त चमत्कारवाद की व्याख्या करना कठिन हो जायगा। कालिदास के समय में वह समाज व्यवस्था पूरी तरह परिपक्व हो चुकी है, इतनी कि उसमें हास के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। इस व्यवस्था ने महाकवि की चेतना को सीमित कर दिया है। राजाओं के सम्बन्ध में उनके विचार उनके चरित्र चित्रण पर प्रभाव डालते हैं। बाल्मीकि की तरह वह अपने आदर्श पात्रों के मानवत्व की घोषणा नहीं करते—त्रैलोक्यपति दोषो मानुषेण मया जित। जो शिव के समान देवता हैं, पहचान के समान देवपुत्र हैं, राम के समान अवतार हैं, उनके चमत्कारों का तो पहचान ही क्या, दुष्पन्त जैसे राजा भी इन्द्र की सहायता करने पहुँच जाते हैं। राम को विजय प्राप्ति के लिए मगीरथ प्रयत्न करना पड़ा था, बाल्मीकि के राम मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से अपरिचित नहीं।

कालिदास के राजा बड़ी सरलता से विजय पा जाते हैं। उनमें रामायण और महाभारत के वीरों की प्रयत्नशीलता का अभाव है। युद्ध में अनेक चमत्कार दिखाने वाले ये राजा वास्तव में निष्क्रिय लगते हैं। उनकी सक्रियता प्रायः भोग्या नारी को देखकर जाग्रत होती है, उनकी मुख्य मानसिक यथा विरहजन्य होती है। स्त्रियों और मां निष्क्रिय हैं। ओष्ठ रगने और भ्रू सञ्चालन में वे पटु होता हैं। नखजनों की पीठा ने जानता है। वे वात्स्यायन का प्रयोगशाला की सजाव मानव मूर्तियाँ हैं। उनमें प्राचीन महाकाव्यों की वीर नारियों के जो टप और सघर्ष की क्षमता नहीं है। कालिदास के समाज में नारी का पक्षित्व दबा दिया गया है। वीर नारियों का स्थान वेश्याओं और अतिरिक्तार्थ ने ले लिया है। अथ नारियों अविवर्तन प्रेमिका मान रह गई हैं। चरित्र चित्रण में कविमुल्लसुक आदि कवि से बहुत पीछे हैं और इसका कारण उस समय के सामाजिक वातावरण से उनका कला का राहुरा सम्बन्ध है।

सामन्ती की आश्रय प्राप्त काव्यता चमत्कार प्रधान हो चुकी है। कालिदास की अत्युत्त उत्प्रेक्षाओं में ही यह चमत्कारवाद नहीं दिखाई देता, उनके साधारण कथा प्रवाह में भी यह प्रयत्न दिखाई देता है कि हर छंद में कोई विशेष आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न किया जाय। इस कारण उनके कथा बखन में वह ओजपूर्ण प्रवाह नहीं है जो वाल्मीकि की विशेषता है। उनकी कविता सुंदर है लेकिन उसमें उस गारमा का अभाव है जो यास की विशेषता है, जो मनुष्य की चेतना की भावना के एक उच्च परावर्तन पर ले जाती है। चारन चित्रण की दृष्टि से उनका काव्य जगत् सीमित है। इसलिये उन्होंने मनुष्य के जिस मानवगत का उद्घाटन किया है, वह तुलसादास की तुलना में सीमित है। शृङ्गार रस के अतिरिक्त वे जिस रस को छूते हैं उसमें उन्हें अपेक्षाकृत कम सफलता मिलती है। इसलिए पायश्रवा ने शृङ्गार को रसरस घोषित करके उनके सीमित मानवगत को एकमान मानवगत बना दिया है। वाल्मीकि और तुलसी के साथ यात्र करने के लिए कालिदास की इन ऐतिहासिक सीमाओं को याद रखना आवश्यक है। निस्सन्देह प्राचीन समाज व्यवस्था से उन्होंने बहुत कुछ पाया, किंतु यह भी सही है कि इस व्यवस्था की उसकी धार्मिक और साहित्यिक रुढ़ियों की गहरी छाप उनके काव्य पर है और वह सदा उनके चक्षुष्य में सहायक नहा हुआ है।

२

कालिदास का काव्य साहित्य एक और पूर्ण विकसित प्राचीन समाज व्यवस्था का प्रतिबिम्ब है, दूसरी ओर वह उसकी हास्योन्मुखी प्रवृत्तियों और निर्जीव सृष्टि की प्रतिबिम्ब भी है। बग चुक समाज के अनेक महान् साहित्यकारों का तरह कालिदास में भी अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध हैं। वे अन्तर्विरोध उनके धार्मिक और दार्शनिक विचारों में, उनके राजनैतिक और सामाजिक विचारों में, उनके सौन्दर्यबोध और मानवगत में सन्न-पुनाधिक भाषा में मिलते हैं। इसीलिए कालिदास की सामन्ती व्यवस्था का चारण समझना बहुत बड़ा भ्रम है, किंवा सामन्त विचार का चारण समझना और भी बड़ा भ्रम है। कालिदास का साहित्य उस काल का समाज-व्यवस्था की प्रतिबिम्बित करता है, साथ ही उसका बहुत बड़ा भाग उस व्यवस्था से मुक्त होकर एक कल्पना लोक की सृष्टि भी करता है। इसलिये कालिदास में जो कुछ भी मिले, उस सभी को हम उस युग का सामाजिक यथाय नहीं मान सकते।

कालिदास साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या

कालिदास ने अनेक राजाशा के वैभव का वर्णन किया है, किन्तु इन सभी के चित्र यथा जीवन से नहीं लिखे गए। अनेक पात्र आदर्श राजाओं के रूप में कल्पित किये गए हैं। राजा श्लीष के कारागारों में बंद भी बनी न या जिसे वह पुत्र व मोक्ष पर छोड़ते। राम सोम पराट् सुतर से, इसलिए प्रजा अश्वघोष हो गई। कालिदास ने रघुनशी राजाशा को आसमुद्र द्वितीय कहा है। समग्र देश की एकता और उस पर एक ही चक्रवर्ती सम्राट् का शासन उनका आदर्श था। देश के सामने उ होने यथार्थ चित्रण के बदले एक आदर्श चित्र ही रखा था। दुष्प्रता यह घोषणा करते हैं कि राज्य में विषका कुटुम्बी न रहे, वह दुष्प्रता को अपना कुटुम्बी समझे। एक ओर राजा ने लिए धृष्टी भोग का साधन है, दूसरी ओर वह प्रजा का मायावण कुटुम्बी भी है।

कालिदास ने राजाओं के वैभव का वर्णन किया है, किन्तु मानो इससे उ तोष न होने पर यह बराबर प्रकृति की ओर भागते हैं या कल्पना लोक रचते हैं। यह आकस्मिक धात नहीं है कि दुष्प्रता और शकुन्तला का प्रेम नगर के बगले तपोवन में होता है। शिव और पार्वती के प्रेम की भूमि न घमादन आदि अनेक पर्वत हैं। अलका पिलाम और वैभव का कल्पना लोक है। वहाँ के कर्मा मणियों से बने हुए हैं। यज्ञ के अर्घ्य स्थल सितमणिमय हैं। यक्षबालाएँ कनक-सिक्ता कैंकर मणियों की छिपाती हैं और फिर उ ह हूँ देने का खेल खेलती हैं। अपने हुड्डल पीले बाने पर कप के रत्नमयी पर वर्ण पवती हैं तो वे बुझते नहीं हैं। उनकी सुरतनित अङ्गलानि दूर करने के लिए चक्राकत मणियों ने कल्पित दु टपकते हैं। उन्हें अपनी सारी शृङ्गार-नामनी कल्पदृष्ट से प्राप्त हो जाती है। यज्ञ के घर की कापी में स्वर्ण कमल पिलते हैं। उसके उगम में इ द्रुनाल मणिदल मीठाशोल है और वह 'कनक कदली वेणु मेघदीप' है। इस तरह के काल्पनिक वर्णन कालिदास में अ यव भी हैं। आश्चर्य की आलोचना की शब्दावली ने हम कहने कि कालिदास रोमांटिक काव्य हैं। श्री मंगलशरण उपाध्याय ने मेघदूत के लिए लिखा है—'It may stand to proclaim the inauguration of a romantic era in Sanskrit poetry' (India in Kalidasa पृ० १८५)। सस्कृत काव्यचक्र में रोमांटिक युग का आरम्भ हुआ, यह कहना कठिन है। अश्वघोष का यह है कि कालिदास एक महान् रोमांटिक कवि हैं और विश्व के प्रथम रोमांटिक कविता में से हैं। उनकी रोमांटिक कृति नर-नारी के प्रेम के वर्णन में, प्रकृति चित्रण में, उनके सूक्ष्म हृदय बोध में और पौराणिक मायामयों के सौन्दर्य-बाली उपयोग में सर्वत्र दिखाई देती हैं।

कालिदास की समान व्यवस्था के भोगवाद का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यूरोप में १६वीं सदी से पहले ओ काव्य लिखा गया है, उसमें प्रेम की बराबर अधिकतर धातना की प्रतिष्ठा है। यूरोप के प्राचीन (यूनानी) साहित्य की चर्चा करते हुए वैज्ञानिक समाजवाद के संस्थापक एंगेल्स ने राज्यसत्ता और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उद्भव पर लिखे हुए अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में यह मत प्रकट किया है कि यूनानियों के लिए प्रेम का इतना महत्व था कि उदे इसकी भी चिन्ता न रहती थी कि निम्न वे भोग कर रहे हैं, वह नारी है या नर। उनका सनेत यूनान में खुशामत पुरुषों में प्रचलित अप्रानृतिक व्यवहार की ओर था। यूरोप में नवजागरण (रिनेसंस) के प्रथम कवि इटली के दान्ते ने व्यक्तिगत प्रेम को उच्च साहित्य में प्रतिष्ठित किया। उनसे अनेक शतान्दियों पहले महाकवि कालिदास ने भारतीय काव्य में व्यक्तिगत प्रेम की प्रतिष्ठा

की थी। व्यक्तिगत प्रेम से तात्पर्य उस प्रेम से है जो एक पुरुष और एक नारी के बीच अनुपम रहता है। पुरुष के लिए अनक क्षणियाँ अपने जीवन और सौन्दर्य के कारण भोग्य नहीं होतीं, बल्कि उसका हृदय केवल एक से ही प्रेम करता है।

कालिदास के नायक बहुधा अनक पत्नियों वाले होते हैं, किन्तु प्रेमी के रूप में वे एक से ही हार्दिक स्नेह करते हैं। स्त्रीप की अनक पत्नियों हैं लेकिन वह प्रेमी सुवर्चिषा के हैं। यही हाल दुष्यन्त का है। लेकिन इनसे भिन्न उनके अन्य प्रेमी पात्र हैं जो एक पत्नीप्रीति हैं। यद्यपि अलका में विलास की सभी सामग्रियाँ हैं, लेकिन वासना के क्लृप्त से गिरे होन पर भी वह कल अपनी मित्रा से स्नेह करता है और वह मित्रा भी अलका के विनाशमय वातावरण में पूर्ण क्षितिज पर हिमालय की शाय कलामान सी शय्या पर पड़ी रहती है। इसी प्रकार शिव और पार्वती का प्रेम है। इन्द्रुमती के लिए अब की उक्ति साहित्य के इतिहास में अद्भुत है—

गृहिणी सचिव सखी मित्र मित्र शिष्या क्षलिते कक्षाविधा।

कदम्बा विमुग्धन मुरमुखा हरसा रवां बहु किं न मे ह्वम् ॥

यूरोप में प्रेम के सबसे बड़े गायक रोनी रकर्स पत्नी ता क्वा किसी एकमात्र प्रेमिका के लिए भी ऐसी उत्कृष्ट प्रेम व्यञ्जना नहीं है। यूरोप की अधिकांश मध्यकालीन कविता में विवाह-सम्बन्ध से बाहर अन्य प्रेम का कीतन है। क्वेन मिल्टन ने अपने महाकाव्य 'पैराडाइज लॉस्ट' में विवाह प्रेम का अभिनन्दन किया है। जब तक विवाह का आधार कुल, गात्र और सम्पत्ति के विचार रहते हैं, तब तक विवाह के साथ प्रेम का आस्वादन दुर्लभ ही होता है। काव्य में दुर्लभ ही रहा है। किन्तु भारत में नारी के लिए अपना प्रेमी चुनने का आदर्श रहा है—कम से कम काव्य में वह आदर्श बना रहा है—इसलिए विवाह और प्रेम में कोई आधारभूत विरोध नहीं रहा है।

इन्द्रुमती ने अब को पिता के कहन से नहीं, स्नेहा से स्वीकार किया था। शिवों कहती हैं कि हरयर के बिना इन्द्रुमती को आत्मतुल्य कल्प केव मिलता। इसीलिए वह गृहिणी सचिव, सखा, शिष्या सभी कुछ है। उसका न रहन स अब के लिए सगार सूना हो गया है। नारी स्वयं पति चुनती है, इसलिए कालिदास ने अनक बार विवाह से पहले पुरुष और स्त्री के प्रेम का चित्रण किया है। इन्द्रुमती ने अब का देखने ही उड़ अपनी दृष्टि से बर लिया। अन्य रामायणिक कवियों की तरह कालिदास में भी प्रथम दर्शन ॥ ही प्रेम का अभ्युत्थ होता है। इन्द्रुमती की तरह शकुन्तला दुष्यन्त को देखने ही उन पर मोहित हो जाती है। कालिदास ने इस प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम का वर्णन ही नहीं किया, दीर्घ साहचर्य के बाद स्थिर रहने वाले प्रेम की अभिव्यचना भी की है। यद्यपि उसकी पत्नी दोनों ही विरह की आशा में चलते हैं। शकुन्तला और दुष्यन्त दोनों ही बिल्छोह में बह पाते हैं। अब अपनी पत्नी को सग के लिए वा बैटन पर कवण शिनाप करते हैं। प्रेम भर नारी में असमानता का भेद नहीं करता। विरही पुरुष भी होता है, नारी भी। यह कहना कि भारतीय साहित्य नारी के विरह का ही वर्णन करता है, कालिदास को भारतीय साहित्य की परिधि से बाहर निकाल देना हागा।

अब का कहना है कि वह शाब्दिक रूप से क्षितिपति थे, उनका वास्तविक प्रेम इन्द्रुमती से था। कालिदास के राजा शाब्दिक रूप से राजा हैं, अपने वास्तविक रूप में वे प्रेमी हैं। उनके राज्य-सञ्चालन आदि का वर्णन कवि ने रुढ़ि का पालन करने के लिए किया है। उसका

वास्तविक लक्ष्य उन्हें प्रेमी रूप में चित्रित करना है। फिर यक्ष और शिव तो सामन्त नहीं हैं। नारद ने मन्त्रिभ्यश्चायं की भी कि पार्वती शिव की एकमात्र पत्नी और उनके आगे शरीर की स्वामिनी बनेगी—

समादिदेशैकवधू भवित्री प्रेम्णा शरीराधरं हरस्य ।

पार्वती की शरियों ने उन्हें आशीर्वाद दिया, “अपराधदृष्ट प्रेम समस्य ।” आठवें प्रेम अपराधदृष्ट ही होता है। पार्वती ने शिव के आगे शरीर पर अधिकार करने अपनी शरियों के आशीर्वाद की पीछे छोट दिया। यक्ष के लिए उसकी पत्नी “जीविता म द्वितीय” है। अनेक स्थलों में कालिदास ने सवैत किया है कि मानव प्रेम इस जन्म से पहले और उसके बाद भी स्थिर रहता है। अज अपना शरीर छोड़ने पर स्वर्ग में इन्द्रपत्नी से फिर मिलते हैं। काम के भस्म हो जाने पर भी रति उसे पुन प्राप्त कर लेती है। पार्वती ने पूर्ण जन्म में सती रूप में शिव से प्रेम किया था। सहस्रो राक्षसों में इन्द्रपत्नी ने अज को ही चुना, इसका कारण पुनर्जन्म की पहचान है। इस तरह के कथा प्रसंगों में प्रेम की रहस्यवादी व्यञ्जना का संकेत मिलता है।

यह अनिवार्य था कि प्रेमी यदि कालिदास नहीं न कहीं रुझिया से टकराते। उन्होंने मरसक रुझियों की रक्षा की है, फिर भी शाप देन वाले दुवासाओं से वह सदा अपने प्रेमीत्वों की रक्षा नहीं कर सके। यक्ष अपने प्रेम के कारण स्वाधिकार प्रमत्त हो जाता है, शकुन्तला अनयनता दुष्प्रवृत्ति का प्यान करती हुई दुर्वासा का सत्कार नहीं कर पाती। यही नहीं, उसने शत प्रेम किया है, दुष्प्रवृत्ति से ग घर्ष बिनाह किया है। इस पर बाद में उसे जाने भी हुनने पड़ते हैं। स्पष्ट है कि कालिदास की सहायभूति शकुन्तला के प्रति है, न कि दुवासा के प्रति। किन्तु दुर्वासा के शाप के कारण अमिश्रित यक्ष की तरह दुष्प्रवृत्ति और शकुन्तला दोनों को यातना सहनी पड़ती है। शाप जाने वाली देवियों बहुतों अम्बरद्वारों की कथाएँ हैं। शकुन्तला मेनका की कथा है, उसके पिता कौशिक राजा के एक राजा थे। किन्तु शकुन्तला कौशिक मेनका के विधिवत् पाणिग्रहण का परिणाम न थी। क्या इस तरह की अमिश्रित अम्बरद्वारा की खन्तान से राजा को विवाद करना चाहिये। कालिदास का उत्तर निम्न है कि यक्ष में है। ‘विक्रमोत्तरीय’ में पुरुषा की प्रेयसी वर्तनी है। उवसी भी शापवश लता बन जाती है, क्योंकि वह स्त्रिया के लिए निषिद्ध वन में चली गई थी। अज की प्रिय पत्नी इन्द्रपत्नी पूर्ण जन्म में अम्बरद्वार थी, जिसे श्रुति ने शाप देकर मनुष्यलोक में जन्म लेने के लिए बांध दिया था। अम्बरद्वारा का अम्बरद्वारा की कथाओं के प्रति यह प्रेम क्या महाकवि के जीवन की निमी विशेष घटना की ओर इंगित करता है? इतना निश्चित है कि इस तरह का प्रेम सामास्य रुझियों से दूर है।

यौवन और सौन्दर्य से कालिदास के प्रेम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भोगवाद के अतिरिक्त उनमें मरे पूरे जीवन की आनन्दकामना है। जैसे रस मरने से चिन टिल उठता है, वैसे ही यौवनागम से नारी का सौन्दर्य निखर जाता है (कुमारसम्भव, सर्ग १)। यौवन स्त्रियों को मान तजने की सीख देती है क्योंकि यौवन चला जाने पर फिर नहीं आता (पुण्यश, सर्ग ६)। मिटरन ने ईश की सुन्दरता का वर्णन करते हुए लिखा है कि शैतान उन्हें देखकर टगा सा रह गया और एक क्षण के लिए दूसरों का अभगल करने की वृत्ति भूल गया। कालिदास ने भी उस रूप का वर्णन किया जिससे मनुष्य चामत्कृत होकर पापवृत्ति भूल जाय। उमा का सौन्दर्य भी “पापवृत्त्ये न” था (कुमारसम्भव, सर्ग ५)। शारीरिक सौन्दर्य के वर्णन में कालिदास जहाँ

विभिन्न अंगा की अलग अलग सुश्रुता की चर्चा करते हैं, वहाँ समग्र रूप का आभास देने के लिए वह उसे अपायित कल्पना लोक की वस्तु बना देते हैं। शिवा उमा के लिए कहते हैं— 'त्रिलोक मोदय मित्रोदित वपुः' उमा के शरीर में मानो तीनो लोकों का सौम्य उदय हो गया था। यन्त्र की पत्नी "शुक्तिविषये सृष्टि राधेव धातु" है। त्रिधाता ने अपना प्रथम कृति के रूप में उसीको सँवारा था।

शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त की समझ में आता है कि उद्यानलता और वनलता में क्या अन्तर है। शकुन्तला का सौन्दर्य वनलता का सा है। उसका वपुः अव्याज मनोहर है। बलकल पहने हुए भी वह मनोज्ञ मालूम होता है। वह अनायास पुष्प है, जलून किसलय है, अनाविद्ध रत्न है, अनास्वादित नव मधु है, उसका अन्तर रूप पुष्पों का अत्यन्त फल है। प्रेमी की रूपतल्लीनता उस आत्मविभार कर देती है। अन्य भावों का भोग का लोभ न भी प्रकृत में नारीत्व का आरोप किया है। प्राकृतिक उपमानों से नारी की तुलना करते हुए वह रूपजन्य आनन्दतिरेक की व्यञ्जना मा करत है। आभरण पहने हुए उमा मञ्जुमाण्डल प्रदामा जैसी लगता है। रेशमा वस्त्र पहने हुए उमा "चोराद बल्लव सपनपुञ्जा" लगता है। नारा क प्रसाधनों में प्राकृतिक वस्तुओं का महत्त्व ही आचक है। उमा को देखकर उन शिव पहना बार विचलित हुए थे, उस समय वह बर्षिकार और साधारण पल्लवों से शृङ्गार किये हुए थी। चन्द्रमा का किरण दलकर शिव कहते हैं कि वे बौ के अङ्कुर के समान हैं और उनसे उमा के लिए क्यापूररचना हो सकती है। रोमाण्टिक शृङ्गार भावना की यह धरम परिणति है।

अन्य महाकवि ने तमाल के प्रवाल को अवतल बनाकर साता के 'बकाङ्कुरापायङ्कपोल' को और भी सुन्दर बना लिया है। इस तरह के उपमान आसाधारण रूप से सुन्दर तो हैं ही, उनसे कवि के तन्मय इन्द्रियबोध का भी पता चलता है। रूप, स्पर्श और गन्ध का एक साथ सम्मिश्रण दाय प्रवालमादाय सुगन्ध वचस्व में मिलता है। उनके लिए रूप मूर्ति की तरह प्राण हीन न होकर स्पन्दनशील है। वह अपने उपमानों द्वारा भावों उसका सजीव स्पन्दन ही प्रकट कर देते हैं। अग्रे कवि कीर्तन के सौन्दर्यबोध की उचित और यथेष्ट प्रशंसा की गई है। किन्तु कीदृश के लिए मूल रूप उस तरह आवृत और स्पन्दनशील नहीं है जैसा महाकवि काल दास के लिए। मनुष्य के विचार बल्ला जाते हैं, उसके भावशास्त्र में भी यथेष्ट परिवर्तन होते हैं, किन्तु उसका इन्द्रियबोध इनसे अधिक गायक होता है। इन्द्रियबोध के क्षेत्र में यह सदा सम्भव है कि सामाजिक विकास का दृष्टि से एक पिछड़ी हुई व्यवस्था का कवि शताब्दियों तक अपनी कोठे के रचनाकार के अभाव में अनामिका का साथक करता रहे। श्री कं अङ्कुर कालिदास के प्रिय उपमान हैं। उनसे स्पष्ट मादव, नेत्र सुलग्न रम और जीवन बिशा तानों ही अभिव्यक्त हैं। कालिदास के लिए सप्राण प्रकृति और चेतन मनुष्य में घानष्ट सम्बन्ध है। उसी सापेक्ष लता हो जाती है और पुरुरा का उमन की सी दशा में उसे मेटता दे, तो वह उसी रूप में परिवर्तित हो जाती है। कालदास का हृदय प्रकृति की जीवन बिशा से तमय हो जाता है। प्राकृतिक परिवेश में प्रेमीचन मिलते हैं, उनके प्रेम का सहज स्फुरण लता त्रिणों के मिलन जैसा लगता है। शकुन्तला की प्रिय नवमालिका न कालसदृश से स्वयंवर कर लिया है। जिस समय उमा ने शिव को किञ्चित्परिलुप्तधन अपना और निहारते देखा, उस समय स्फुरद् बाल कदव के समान अपने अंगों से भाव प्रकट किये। यह प्रेम जीवन की वह स्वामाजिक बिशा है

जहाँ मनुष्य की संवेदना, भावना और विचार एक ही राग में झूटते हो उठते हैं।

कालिदास के सौन्दर्यबोध का मूलधार उनका जीवन प्रेम है। यह जीवन मनुष्य, पशु और वनस्पति में सर्वत्र है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे विश्व में किसी शरीररूप चेतना के दृश्य करते हैं। उनके लिए यह जीवन चौर गोचर है, वह इन्द्रियबोध सश्रम न है, उससे परे नहीं। विलास और वैभव का यह कवि धरती के इतना निकट है जितना कोई भौतिकवादी कवि नहीं हुआ। उसे बषा के बाद धरती से उठने वाली साधी मुगध अत्यन्त प्रिय है। गंगा के शत में पर्यां होने पर हाथी बार बार तालों की मिट्टी खँघते हैं (सु०, सर्ग ३), बषा के कारण धरती से जो शरभ निकली उससे कदली की रिल्ली हुई लाल कलियों में गिराव क समय हवन का धुआँ लगने से सीता को लाल आँखों जैसी हो जाती है (उप०, सर्ग १२)। यज्ञ के छटा मेघ के सहायकों में धरती से उठती हुई गंध खँधने वाले हाथी भी हैं। देवगिरि को और जाते हुए मेघ को जो पवन स्रवणियों देगा, वह उसके निस्पृह से उल्लासित वसुधासंध सम्पन्न स्थल है। गेन यज्ञ के हृद्योल्लास के साथ वसुधा का गंधोल्लास भी लेकर अलका की ओर जाता है।

यह गंधोल्लास भारत की ही धरती का है। मेघदूत में भारत के ग्राम-नगरों और प्रकृति के प्रति अपूर्व अनुराग प्रकट किया गया है। इन्द्रमहा के स्वयंवर में राजाश्री के परिचय के बहाने भारत के सभी भागों की प्रकृति का परिचय दिया गया है। कालिदास के मानववाद में पराभक्ति के बीज हैं।

जीवन का जो उमार प्रकृति में दिखाई देता है, यही मानवमात्र में जीवन बनकर झलकता है। जो पवन मरी बालों से झुके हुए पल के पौधा को हिलाता है, वही गन्धुनर्ग के हृदय चंचल करता है (शत्रुघ्नहार, सर्ग ३)। पृथ्वी जैसे अपने गर्भ में बीज छिपाये रहती है, वैसे ही अग्निष्ठा की रानी अपना गर्भ में नया जीवन छिपाये रहती है। मानव और प्रकृति में जीवन विकास की यह रहस्यमय क्रिया कालिदास को समान रूप से आकर्षित करती है। पारचात्य साहित्य में गमयती नारी को यह महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ जो उसे भारतीय साहित्य में प्राप्त है। प्रभाव के शशिवाली शरीरों के समान लोमपाण्डु सुतराली सुदन्त्रिया सुंदर हैं। शशरथ की रानियों दानों से मरी हुई नाज की बालों के समान पीली पड़कर भी सुंदर हैं। नाज की मरी बालों के उपमान में बेगल रंग की ओर रुकत नहीं है, वरन् उस स्वाभाविक जीवन क्रिया की ओर भी संकेत है, जो प्रकृति और मानव के लिए समान है। रूप, रस, गंध, स्पर्श का सुख जीवन का ही सुख है। यह कालिदास की महत्ता है कि वह इस इन्द्रियबोध के साथ मूलतः जीवन के प्रति अनुराग प्रकट करते हैं। वनस्पति जगत् और पशुओं के प्रति जैसी सुकुमार सदाशुभ्रुति 'शमिशलशकुन्तल' के नीचे अक्ष में प्रकट हुई है, उद अयन दुर्लभ है और उसका कारण प्रकृति गापी जीवन के प्रति असीम अनुराग है। वशिष्ठ के आश्रम में मृग उदकद्वार रोककर राइ हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें भी श्रवणों की खतान की तरह नीवार में भाग मिलता है (सु०, सर्ग १)। कालिदास को तपोवन अत्यन्त प्रिय हैं, क्योंकि यहाँ सभी जीव वीरतामय हो गए हैं (सु०, सर्ग १४)। जिस हरिण पर दुष्यंत बाण चलाना चाहते हैं, उसके और राजा के बीच उपस्थित आकर पड़े हो जाते हैं। यही नहीं, जिस हरिण पर दशरथ बाण चलाना चाहते हैं, उसके और राजा के बीच हरिणी आकर पड़ी हो जाती है। न बेगल जीवन के स्पन्दन वरन् प्रेम के स्पन्दन से भी पशु जगत् वंचित नहीं है। इसलिए जब शत्रुघ्नना आश्रम

से चलने लगती है, तब उसका पुनर्तुल्य पाला हुआ मृग आकर उसकी राह रोककर खड़ा हो जाता है। कालिदास की कल्या मानव ही नहीं, जावमान को अपने आँदर समेट लेती है। इस कल्या का स्रोत क्या नहीं है, उसका स्रोत यापक जीवन के प्रति गम्भीर अनुराग है। पार्श्वाय रोमांटिक कवियों में रूप रस गन्धमय मानवीय और प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति अतिशय अनुराग है और कभी कभी उसने साथ अतीन्द्रिय, अगोचर विश्व यापा चेतना की उन्नायना भी है। कालिदास के लिए रूप रस गन्धमय सौंदर्य निर्जीव नहीं है न वह अतीन्द्रिय चेतना की ओर ही काल्पनिक उन्नत भरते हैं। वह सूक्ष्म इन्द्रियबोध और मार्मिक कल्या से समृद्ध जीवन के अद्वितीय कवि हैं। इस दृष्टि से उनकी रोमांटिक भावधारा एक अर्थ और उच्च स्तर की है। गोचर जगत् के समृद्ध जीवन के प्रति यह सघन अनुराग अन्तर ही साहित्य का स्थायी तत्व है।

३

यहाँ कालिदास के जीवन दर्शन का प्रश्न हमारे सामने आता है। सुषोष विद्वान् बा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि “शिव के स्वरूप का अर्थार्थ ज्ञान ही कालिदास के दर्शन और साधना का ज्ञान है” (मेषवृत्त एक अध्यायन)। उनका कहना है कि पार्वता सुपुत्रा नाडी का नाम है। मेरुदण्ड हिमालय है जिसके मातर सुपुत्रा है। शिवजी ने मदन की भस्म किया, तदुपरान्त उमा की तपस्या में सुपुत्रा नाडी द्वारा योग की साधना से शिव और पावती का विवाह हुआ, अर्थात् यक्ति की चिदात्मक शक्ति को अयोमुत्पत्ती की वह अन्तमुत्पत्ती होकर सहस्रदल में स्थित पर बिन्दु शिव से संयुक्त हो जाती है, फिर विषयो से उसे कोई भय नहीं रहता।

यहाँ कई शक्यों उत्पन्न होती हैं। पावती अर्थात् सुपुत्रा से विवाह होने के पहले ही ‘कुमारसम्भय’ के तीसरे सर्ग में शिवजी अन्तर ब्रह्म को अपनी आत्मा के आँदर बैल चुके हैं। इसलिए जहाँ तक शिव का सम्बन्ध है, उन्हें कुण्डलिनो जगाने का आवश्यकता नहीं है। यदि सुपुत्रा का कल्याण करना है तो शिवजी किचित्परिलुप्तप्रेय होकर उनक (पार्वती के) विन्मूलाधरोष्ठों को क्यों निहारने लगते हैं? और जब अपने विचलित होने का ज्ञान होना है तब ‘स्त्री सनिकर्ष’ परिहृत मिच्छन् सुपुत्रा का साथ छोड़कर अतृप्तान होने की आवश्यकता क्यों उत्पन्न होती है? काम को एक बार भस्म कर देने पर उसे फिर जिताने की आवश्यकता क्या थी? जब विवाह पक्का हो गया, तब ‘अद्विष्टता समागमोत्सुक’ (पावती परिणयोत्सुक — मल्लिनाथ) शिव के लिए तीन दिन काटना भी बठिन हो गया। इस पर महाकवि कहते हैं कि इस तर्क के भाव यदि शिव को स्पष्ट करते हैं, तब अर्थ ज्ञान ‘अवश’ (इन्द्रियपरतन्त्रम् — मल्लिनाथ) हो जाय तो आश्चर्य क्या? पार्वतीजी ने शिव को पाने के लिए तपस्या अवश्य की थी। शिवजी ने उन्हें अपनी शिष्या भी बना लिया, कि वह योगाभ्यास में शिष्या न थी वरन्

शिष्यता निष्ठुवनापदेशिन शकरस्य रहसि प्रपन्नया।

सिद्धि युवतिनैपुण्य तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीवृत्तम् ॥

निष्ठुवोपदेशिन का अर्थ है ‘गुरुतोपदेशु’। ऐसे गुरु से पावतीजी ने जो शिक्षा पाई थी वही ‘युवतिनैपुण्यम्’ दक्षिणा के रूप में उन्हें अर्पित कर दी। हो सकता है, योग की बातें सुन

शृङ्गावली में समझाई गई हो, किंतु आगे चलकर कालिदास कहते हैं—

एवमिन्द्रियसुखस्य कर्मन सेवनादनुगृहीतमन्मथ ।

इन्द्रियसुख के मार्ग के सेवन से मन्मथ अनुगृहीत हुआ । यदि इन्द्रियसुख का अर्थ अतीन्द्रिय आनन्द हो और मन्मथ का अर्थ सन्निधानन्द ब्रह्म हो, तब तो डॉ० अग्रवाल की व्याख्या ठीक मानी जायगी, वना कहना पड़ेगा कि ऐसी यादों अरविन्दवादी कवियों के लिए तो उपयुक्त है, शौन कवि कालिदास के लिए नहीं ।

डॉ० अग्रवाल ने 'मेघदूत' के सम्बन्ध में नम्रता के साथ लिखा है, "यह भी सत्य है कि कालिदास के समान उस समय का सम्भीर १६ वीं प्रयोगपूर्ण पारदर्शक आनन्द को नहीं कर सका ।" इसका कारण यह है—“काव्य में काव्यता समस्त उपदेश दिया जाता है । इसीलिए 'मेघदूत' के आराम आनन्द का स्वर से कुछ पता नहीं चलता ।” कवि ने स्थान स्थान पर जो शब्द, शिथिल और कैलाश का उल्लेख किया है, “इस सब बातों में एक ही अध्यात्ममय दृष्टिगोचर होता है, जिसके द्वारा काम का कर्मण्य दूर होगा और यह शिव का शान्तिमय प्राप्त कर अन्ततः अध्यात्म स्वाध्याय में निवेशित हो जायगा ।” ऐसा लगता है कि कवि ने अपना उपदेश अपनी “मिठाई व प्राणों को चढ़ा देने की इच्छा से” (डॉ० अग्रवाल की टीका) नहीं मेला, बल्कि कामरूप में ही अध्यात्मवाद प्राप्त करने के लिए उसे “काव्यसहित” उपदेश दिया है । मेघ महाकाल के मंदिर में पहुँचेगा । उस विभिन्न धाम के उपवन को “कमलों के पराग से सुगन्धित एवं कलमिठा करती हुई सुगन्धियों के स्तनीय द्रव्यों से सुगन्धित गंधवती की हवाएँ झूल रही होंगी ।” इन हवाओं से अपना मन मन शुद्ध करके वह सध्याकालीन आरती के समय घोर सम्भीर गर्जन करेगा, तब उसे अपनी इस भक्ति का पूरा फल मिलेगा । वह इस प्रकार “वहाँ प्रदोषरूप के समय पैरों की ठुमका से जिनकी कटिकिंकियी जब उठती हैं और रत्नों की चमक ॥ क्लृप्तमिल मूठा वाली चौरियों डलाने से बिकके हाथ तक बाँधे हैं, ऐसी वेश्याओं के ऊपर जब तुम धारण के मुद्रा के (कर्मप्रतिद्वन्द्व) करताकर उनके नयनों को तुल्य दाने, तब वे भी मौलों की चंचल सुगन्धियों से तुम्हारे स्वर अपने लम्बे नितम्ब चलाएँगी ।” (डॉ० अग्रवाल की टीका) यह फल पाकर वह रात में प्रियतम से मिलने जाती हुई अमिषारिकाओं के लिए निजली से प्रकाश कर देगा । महाकाल के दर्शन कराने के बाद ही कवि मेघ को यह परमज्ञान का तरंग बतलाता है—

शिव स्वाधी विद्वत्तमयना को विहातु समर्थ ।

अलका में दुर्गर के भिन्न शिव की वसता बालकर काम अपना अनुप नदाने से करता है, लेकिन “कामी जना को जीतने ॥ उसका मेवोरथ तो नागरी शिखियों की लोलाओं से ही पूरा हो जाता है, जब वे मौलें शिखी करके अपने कटाक्ष छोड़ती हैं तो कामीजनों में अचूक निशाने पर बैठते हैं ।” इस प्रकार शिखीशान्ति से मदन व्यापार में जरा भी बाधा नहीं पड़ती । अन्त में काम कर्मण्य भूल जाने पर मेघ के लिए सब बिल अध्यात्मविधि में निवेशित होने की कल्पना करता है, वह 'मेघदूत' की अन्तिम पंक्ति यह है—

सामुद्रिक गुणमपि च से विद्युता विप्रयोग ।

“हे कलपर, तुम्हें अपनी प्रियतमा विद्युत से क्या भर के लिए भी मेरे वैसा विप्रयोग न सहना पड़े ।” मिठाई से सुन्दर सयोग की अवस्था ब्रह्मानन्द प्रत्यक्ष हो सकती है, किंतु साक्षात् ब्रह्मानन्द नहीं ।

कालिदास अद्वैत सत्ता में विश्वास करते हैं, कि तु यह सत्ता गोचर ससार का तिरस्कार नहीं करती। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के आरम्भ में कालिदास ने जिन शिव की वन्दना की है वह जल, अग्नि, पृथ्वी, वायु, आकाश आदि आठ प्रत्यक्ष रूपों में सभी को टिप्पण देते हैं। इसलिए वह विशुद्ध अप्रत्यक्ष सत्ता नहीं है।

द्वय सघातकठिन स्तूल सूक्ष्मो जघुर्गुर ।

व्यक्तो व्यक्तेतरासि प्राकाश्य त विभुलिपु ॥ (कुमार०, सग २)

यह द्रव भा हैं, सघात कठिन भी (अशिश उपनाकार मगल द्रवित ल नीहार—निराला), यह स्तूल भा हैं, सूक्ष्म भी वह यक्ष भी हैं, अ यक्ष भी । कालिदास के लिए प्रकृति और पुरुष की सम्मिलित इकाई है—

स्वामामवति प्रकृति पुरुषार्थे प्रवर्तिनीम् ।

तर्हि निमुद्रासीन स्वमेव पुरुष विदु ॥ (उप०)

शिव भीय और भोक्ता दोनों हैं, इसलिए महाकवि वर्तमान युग के अनेक अद्वैतवादीयों की तरह जल चेतन के द्वैत से घीर्णित नहीं हैं । आधुनिक कवियों में उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के सच्चे उत्तराधिकारी आनन्दबाग्य जयराकरप्रमाण ये, जिन्होंने लिखा था—“एक तत्त्व की ही प्रधानता, वही उसे जड़ या चेतन । 'कुमारसम्भव' के पाँचों सग में हरि ने शिव की विश्वमूर्ति कहा है और महिलनामन विरह सूत्रिष्य' कहकर उसका चारण्य की है । वह विश्व ही शिव का मूर्ति है” (चिति का विराट्-वपु मगल—प्रवाद) ।

कालिदास का यह दार्शनिक दृष्टिकोण साहचर्य के लिए महत्त्वपूर्ण है । वह विश्व को शिवरूप मानते हैं, इसलिए उनकी सहस्रभुक्त का स्वर यापक है । वह मानवजीवन को क्षणमगुर और ससार को नाशावन् कहकर वैराग्य का उपदेश नहीं देते । अनेक राजाओं को सुनने में वैरागी बनाकर उन्होंने एक रुचि का अनुसरण मान लिया है । शिव साधना पृथक् घन में भी सम्मन है । वह रहस्यवादीयों की तरह परीक्ष सत्ता के गीत नहीं गाते, वह प्रकृति और मानव का प्राण स्वप्नन सुनते हैं और इस जीवन को अपनी कला का आधार बनाते हैं । इस अद्वैतवाद के कारण वह पौराणिक गाथाओं का का योचत उपयोग करते हैं और पुराण वादियों की तरह सैकड़ों देवताओं में अनावश्यक उत्पन्न नहीं करते । उनके लिए गंगा भी 'शम्भोरम्भोमयी मूर्ति (शम्भु की ही बलगयी मूर्ति) हैं और ब्रह्मा विष्णु-महेश—एकैव मूर्तिविभिन्न निष्ठा सा —एक ही मूर्ति के तीन भेद हैं । इस कारण वह धार्मिक आग्रहों से मुक्त पूर्ण कवि हैं ।

अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण कालिदास ने पौराणिक गाथाओं की रुचियों से बचते हुए साधारणतः उनका कलात्मक उपयोग किया है । यक्ष, किन्नर, गंधर्व, देवता, अप्सराएँ आदि उनके काव्य का जैसे ही अभिन्न अंग हैं, जैसे यूनान की देवगाथाएँ वहाँ के प्राचीन काव्य का अंग थीं । इसके साथ ही उन्होंने अशोक और बकुल के फूलने आदि की किन्नरियों का भी कलात्मक उपयोग किया है । मन्त्रियों मन्त्रिणी की कुली करती थीं तो बकुल फूल उठते थे । जहाँ शिव तप कर रहे थे, वहाँ काम के आने पर मुन्त्रियों के नृपसंजित चरणों की अपेक्षा भिन्ने बिना ही अशोक खिल उठा । इसी तरह सुन्दरी के मुख की कमल समभरक भीरा उसके पास आयेगा ही (चाहे वह मुख पारंगती का हो चाहे शकुन्तला का), यह भी

कालिदास के सौन्दर्यशास्त्र का एक सूत्र है। प्रचलित विश्वासों के अतिरिक्त कालिदास प्रकृति में मानवत्व का आरोप करके स्वयं नई रोचक गाथाएँ (myth) गढ़ लेते हैं। 'मेघदूत' इसका श्रेष्ठ निदर्शन है। कालिदास का युग उस काल के बहुत बाद का है, जब मनुष्य ने छत्र मानकर प्रकृति सम्पत्ती अनेक चित्रमय उद्भावनाएँ की थीं। कालिदास रोमांटिक इंगीलिश हैं कि वह उग धीरे युग का स्वप्न देखते हैं। स्वयं उनके युग के अनुभूत महाकवि में एक तीव्रण पौष्टिकता के दृश्य भी होते हैं। जिस चंद्रमा का कलह देकर अनेक कवियों ने कल्पना नमस्कार दिलाया था, उसके बारे में कालिदास को खन है कि चंद्रमा पर पृथ्वी की छाया पड़ती है। छाया कि भूमे शयिनो मल्लो नै निरविका शुद्धिमत् प्रभाभि (रघु०, सर्ग १४)। याल चंद्रमा जब बड़ा होता है, तब वह सूर्य का तेज पाकर हा बड़ा होता है पुष्य वृद्धि हरिदशयदीधि सेरनप्रवेशादिव बाजचंद्रमा (उप०, सर्ग ३)। इस प्रकार बीडिकता के कारण कालिदास की लोकोत्तर कल्पना के साथ यथार्थवादी प्रकृति का मिश्रण हो गया है। संध्यामग्न चादते हुए घोड़े (रघु०, सर्ग ५), शुक्र कर्म वाले सिर को खोले हुए सूर्य की बिजुलियों से व्यथित परादृश्य (ऋतुसंहार, सर्ग १), गुँद से लार और फेन निकालते हुए वृक्षकुल महिषीकुल (उप०), वर्षा का पहला गेंदला पानी जो बीडरजस्तृषानित है (उप०, सर्ग २), सभी औषधियों की व्यय करने वाला सनिरात (कुमार०, सर्ग २)—ये सब भी 'कुमारसमता' में हैं।

कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। उनके ससार की विभिन्न वस्तुओं का साम्य देखना के लिए वह सहज क्षमता निश्चय है जिसके बिना कोढ़ बरि नहीं हो सकता। उनके अधिवाश उपमान उनके सूक्ष्म दृष्टिबोध और सौन्दर्यमादिका वृत्ति के परिचायक हैं। जहाँ तहाँ उहाँन बड़े वाहता के साथ मौलिक उपमानों का प्रयोग किया है। अज के शोक के बारे में लिखा है—

तस्य प्रसन्न हृदय किञ्च शोकशङ्क प्लवङ्गशरीर इव सौधतल निभेत्। (रघु०, सर्ग ८)
जैसे प्लवङ्गशरीर सौधतल भेत्कर नीचे निकल जाते हैं, वैसे ही शोक ने अज के हृदय को नैष दिया था। अज की निजय में प्रसन्न इन्दुमती के मुख के लिए लिखा है कि निरासवाप्य के दूर जाने से जैसे वपय चमकने लगता है वैसे ही उसका मुख प्रसन्न हुआ। स्नान की हृद पार्वती ऐसी लगती हैं जैसे पर्वत्य जन से अभिविक्त प्रकुलजाया वनुषा हो। उनके अधिकांश उपमान प्रकृति से लिये गए हैं जिसने वहा परिणाम निकलता है कि अगर से अधिक उन्हें प्रकृति ही मिय है।

कालिदास का काव्योत्कर्ष उपमाओं तक सीमित नहीं है। उनकी कला का गूढ़ार उनकी हुकुमार सौन्दर्याएँ हैं। ये सौन्दर्याएँ वस्तुओं का रूप ही ग्रहण नहीं करता, वरन् उनके जीवन का स्पर्शन भी सुनती हैं। उनकी सहानुभूति जगह जगह सामंत व्यस्तता और सामंत काय परम्परा की लक्ष्मियों का पण्डित करता चलती है। नारी का सम्मान करने में वह वाल्मीकि की परम्परा का अनुसरण करते हैं। दुष्कृत के पास गर्मजती शकुन्तला को छोड़कर जाते हुए शारद्वत का कहना है कि पति की प्रयुता सर्वतोमुखी है, वह चाहे पत्नी को छोड़ चाहे ग्रहण करे और राज्ञेय उसे पति के घर में दाखी बनकर रहने की सलाह देते हैं। शकुन्तला कोष से दुष्कृत को पत्कारती है—“अनाय, दूसरा को अपने जैसा समझते हो। गुला से बके हुए कुर्छों की तरह वीन तुम्हारे सिद्ध धर्म का टोंग बरेगा?” और भी, “तुमने मुझे स्वच्छन्द ग्यारिणी बना डाला, अब टोंग किया। मैं पुत्रवश का निरास करने तुम जैसे व्यक्ति के हाथ पड़ गई,

जिसे मुँह में मरु है और हृदय में विष है ।” यही कालिदास न महाभारत की रोप-नदी शुक्लता की ही थोड़ी-सा झोंकी दी है ।

गमयती सीता की नव लक्ष्मण वन में छोड़कर चलना चाहते हैं तब वह राम को राजा रूप में स्मरण करती हैं—“वाच्यस्त्वया भद्रचरारस राजा ।” इससे बड़ी पत्रकार राम के लिए और क्या हो सकती थी ? यह स्वाभाविक या कि रोती हृद सीता को वापस बँधाने वही महाकवि आते जिन्होंने विलाप करते हुए कौञ्च पक्ष को देखकर पहला श्लोक रचा था । “शोक श्लोकवभागत” को स्मरण करत हुए कालिदास ने यह अनुपम छन्द लिखा है—

सामभ्यगच्छद्द्रुदितामुसारी वपि कुशोन्मादहृत्वा यत ।

निपाद विद्वाऽन्यदशनोत्थ श्लोकवभापद्यत यस्य शोक ॥

“पुराणमित्येव न साधु सर्वे”—वाल्मीकि के लिए यह उक्ति नहीं है । किसी सचित पुराणपूत की भाँति सौन्दर्यानाद के हृदय में आदि कवि के लिए भद्रा कथा हुई है, माना वाल्मीकि से हाड करते हुए कालिदास ने उनसे बहलाया है—

उरलात लोकत्रय कष्टकेपि सत्य प्रतिज्ञेयविकल्पनेपि ।

त्वा प्रत्यक्स्मारकलुपन्वृत्तावस्थेव मयुर्भरताम्रजे मे ॥

राम ने तानों लोकीं के कष्टक राक्षस का नाश किया, वह सत्य प्रतिज्ञ हैं और आत्मप्रशंसा भी नहीं करते । फिर भी तुम्हारे प्रति अकारण निदान-व्यापार में प्रवृत्त होने वाले राम पर मैं क्रोध करता हूँ ।

वाल्मीकि हा राम पर क्रोध कर सकते थे और कालिदास ही उसके बारे में यों लिख भी सकते थे ।

वनवास ही नहीं, उससे पहले भी कालिदास की भाव राम से अधिक सीता में है । लका से लौटने पर माताएँ आशीर्वाद देती हैं

उत्तिष्ठ वारते ननु साधुजोसौ वृत्तेन भर्ताद्युचिता सर्वैः ।

कृष्णं महतीर्ण इति प्रियार्हां तामृचतुस्ते प्रियमप्यभिध्या ॥

उन्होंने सीता से उठने को कहा और बोलों—निश्चय ही माद के साथ वह भता तुम्हारे ही शुद्ध व्रत के कारण भारा सकट से पार हुए हैं । इस पर कालिदास की टिप्पणी है कि यह बात प्रिय भी थी और सत्य भी ।

नारी सौन्दर्य के प्रशंसक कालिदास मातृत्व की बहना करते हैं । पावती को पाकर मना और भी शोभित हुई । जब पार्वती ने अपने पुत्र को गोद में लिया तब वात्सल्य रस की अति शयना से उनके स्तनों से दूध बह चला । अनेक स्थलों पर महाकवि ने सन्तान के प्रति इस ममत्व की अभियञ्जना की है । इस प्रकार सौन्दर्याना कवि मानवता की उच्चभूमि तक पहुँचते हैं । इस भूमि में प्रवाहित उनकी ककणा साहित्य का स्थायी तत्व है ।

साहित्य किसी विशेष सामाजिक परिस्थितियों में ही रचा जाता है । इन परिस्थितियों की छाप उस पर पड़ती ही है । किन्तु साहित्य किसी समाज-व्यवस्था का यान्त्रिक प्रतिबिम्ब नहीं है । सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्य रचने के उपकरण प्रस्तुत करती हैं, लेकिन इन वस्तुगत परिस्थितियों के साथ साहित्यकार का आभ्यन्तर प्रयास भी आवश्यक होता है । यह बिलकुल सम्भव है कि उपकरण श्रेष्ठ हों किन्तु उनका समुचित उपयोग करने वाले का अभाव रहे । एक

ही समाज और एक ही वर्ग के व्यक्ति की मेधा, सहृदयता, जीवन दर्शन की समता में भेदा होता है। यह भेद बहुत कुछ साहित्य का उत्कर्ष निर्दिष्ट करता है। अपने युग की प्रतिनिधित्व करने में कालिदास निष्पक्ष नहीं है। उनकी अपनी मेधा, सहृदयता, जीवन दर्शन की समता अपना पूर्ण चमत्कार दिखलाती है। इसी कारण उस युग का और उस समाज व्यवस्था का कोई भी कवि कालिदास को नहीं पाता। बाल्मीकि और यास ही इसके अपवाद हैं। उनकी तुलना में कालिदास का काव्यबल सर्वोच्च है। वह उच्च चरित्र चित्रण में अग्रिम है। यद्यपि २ होने नाटक रचे हैं, फिर भी उनकी प्रतिभा मुख्यतः एक सौंदर्योपासक 'लिखिका' भाव की है। मानव-जीवन के सर्वांगीण विषयों बिना कोई भी 'यास' और बाल्मीकि की बराबरी नहीं कर सकता। मनुष्य का अपना अनुभव जितना समृद्ध होता है, उतना ही समृद्ध वह साहित्य भी चाहता है। कालिदास की रोमांटिक कल्पना, उनका सूक्ष्म सौन्दर्यदर्शन हमारे लिए काफी नहीं है। तुलसीदास ने मध्यकालीन समाज के सामारम्भकों की जिस 'यास' को पहचाना है और उसे वाणी दी है, उसमें कालिदास समाप्त अपरिचित थे। महाभारत और रामायण में मनुष्य की विषय में जो उदात्त आशा प्रकट की गई है, कल्याण के साथ आस्था की दे देने के लिए जो सख्त प्रियता व्यञ्जित हुई है, शृङ्गार के अतिरिक्त मनुष्य के मायमय का जो निविड और गम्भीर चित्रण हुआ है, वह कालिदास के लिए सुनभ नहीं है।

यह एक युग विशेष के कवि हैं और उसकी अनेक विशेषताएँ आप हमें प्रिय नहीं हैं। नर नारी के बीच सम्बन्धों के वर्णन में उनकी रचि बहुत चमक हमें ऊँचि मालूम होती है। वैसे तो यह मान्य है (और पशुओं का भी) सार्वजनीन 'यास' है जो सनातन काल से अभी तक तो चलता ही आया है (आगे आधुनिक शक्ति के प्रकोप से मनुष्य उसके आश्रय हो जाय, वह दूसरी बात है) किन्तु साहित्य का उत्कर्ष सार्वजनीन 'यास' के वर्णन से ही सम्भव नहीं होता। अपने सामाजिक विकास क्रम में मनुष्य की साहित्यिक रचि का भी परिवर्तन होता चलता है। यह क्रम सामाजिक विकास से सम्मेलन होता है, किन्तु उसका सीधा परिणाम नहीं है। इसलिये नहीं है कि मनुष्य का इन्द्रियबोध उसे अपने जीवन के साथ मिला है, उसके आर्थिक सम्बन्धों की मिति पर उसकी रचना नहीं हुई। उसका भावबल भी आर्थिक सम्बन्धों के बदलने के साथ क्षुब्ध और पूर्ण रूप से नहीं चल जाता। इसका कारण यह है कि मनुष्य के भावों का सम्मेलन प्रकृति से है, परिवार के लोगों से है, गाँव और नगर के मित्रों आदि से है। परिवार के सम्मेलन बहुत कुछ आर्थिक विकास से निर्दिष्ट होते हैं, किन्तु वे उसका प्रतिबिम्ब नहीं हैं। सौन्दर्य-बुद्धि, यौन प्रेम, सन्तान के प्रति स्नेह पशुओं में भी मिलता है, मानव समाज में यह सब विकसित होता है, कभी कभी हास की निशा में भी चलता है जिससे मनुष्य पशुओं से बाँधे गिर जाता है।

कालिदास के समय की अनेक धार्मिक, साहित्यिक और सामाजिक रुढ़ियों का निरर्थक हो गई हैं। उन पर आधारित काव्याश भी निर्जीव हो गया है। मोक्षवाद के लिए कवि का आग्रह सार्वजनीन होते हुए भी अनेक स्थलों पर अपरिष्कृत लगता है। यह सब होने पर भी वह महाकवि के रूप में उचित ही प्रतिष्ठित हैं। उनकी सौन्दर्यबुद्धि कव्य के तथोपन, शिव के कैलास और यक्ष की अलंकार से ही समृद्ध होती है। उदात्तताओं के बदले वह वनलताओं के सौन्दर्य पर अपने को उत्सर्ग कर देते हैं। वह रूप रस मय स्पर्शमय प्रकृति और मानव के

समुद्र जीवन के गायक हैं। प्रकृति और प्राणिमात्र के जीवन स्पन्दन साहित्य के स्थायी तत्त्व हैं। उमा का सौन्दर्य, वाल्मीकि का सात्विक क्रोध, इन्दुमती के लिए अज का शोक, भारत की धरती से कवि का प्रेम—ये सभी साहित्य के स्थायी तत्त्व हैं। इन्हें कवियों ने तुरन्त नहीं पा लिया, इन्हें पाने के लिए उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का लम्बा मार्ग तय करना पड़ा था। कालिदास ने उन मानव मूल्यों को सहृदय और अनेक दिशाओं में उन्हें अधिक विकसित किया।

कालिदास के भोगवाद को रीतिवालीन कवियों ने अपनाया, किंतु वे उसकी छद्मता ही छु सके। कालिदास के सूक्ष्म सौन्दर्यबोध का आनंद तक कोढ़ नहीं पा सका। किंतु साहित्य के मूल्यवान् तत्त्व समान निरपेक्ष नहीं हैं। हम उन्हें अपने सामाजिक विकास क्रम में ही पाते हैं। आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों के अनुरूप मनुष्य के बहुत से विचार बदल जाते हैं, किंतु उसका इन्द्रियबोध और भावजगत् परिवर्तनशील होते हुए भी आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों की प्रतिबिम्बित नहीं हैं। राजा प्रजा के सम्बन्ध में, धार्मिक कर्मकाण्ड और वृष्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में कालिदास के ज्ञान और विचार साधारणतः हमें आकृष्ट नहीं करते। किंतु उनकी यह कल्पना कि राज्य में कोई बन्दी नहीं है, राजा के निर्लोभी होने से प्रजा अर्थज्ञान होती है, उनके मादुक हृदय का परिचय देती है और उसमें बाद को आने वाले कवियों के लोक प्रेम के बीज हम देखते हैं। नारी के प्रति उनकी सम्मान भावना, मातृत्व का आदर, जीवमात्र से सहानुभूति, इस देश की प्रकृति से अगाध स्नेह, अपनी सगम ज्वेलना से गायक विश्व जीवन का स्पन्दन सुनने की शक्ति उनकी आत्मनिर्भोर गैयता, माया पर प्रसाधारण अधिकार और उनकी स्वरिन्मग्न नम्रता जो उनकी कला के पीछे छिपी हुई है—ये सभी बातें आज भी अमिर्नन्दन हैं, अनुकरणीय भी। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ पर कालिदास का गहरा प्रभाव है और 'कुलसीदास' लिखते समय निराला महाकवि के अध्ययन में डूबे हुए थे।

कालिदास के काव्य साहित्य के ये सब तत्त्व स्थायी ही नहीं हैं, वे आधुनिक भारतीय साहित्य में अतारता की भाँति प्रसाहित भी हैं।





प्रतीकवादी आन्दोलन को हम एक प्रकार से स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का विकास ही कह सकते हैं, यद्यपि दोनों में असमानताएँ कम नहीं हैं। दोनों धाराओं के पारस्परिक सम्बन्ध को देखने के लिए हमें उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जाना होगा।

अठारहवीं शताब्दी के अंत में हमें हमलैंड में एक नई धारा का स्फूर्तन हुआ है पड़ने लगता है, जो काव्य के आगस्टन चिन्तन की एक बार भ्रमभोर देता है। यही स्फूर्तन बाद में माध और निष्कार के उन विप्लवी स्रोतों का रूप ले लेता है, जिन्हें सामूहिक रूप से 'रोमांटिक धारा' या 'स्वच्छन्दतावाद' कह दिया गया है। इस आन्दोलन की कह विरोधताएँ थीं। इसने रुढ़ि, परम्परा और भ्रम के स्थान पर अनास्था को महत्त्व दिया और काव्य कवि की छापेक्षिता की घोषणा की। कविता स्वयं ज्ञपना मानदण्ड है। उसके बाहर किसी भी दूसरे मानदण्ड को हम नहीं ढूँढना है, यह दृष्टिकोण रखा गया। कल्पना की उत्पत्ति इस आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता है। वास्तव में उसे सत्य से भी कँसा विश्वास दे दिया गया। कीट्ट के शब्दों में 'बाद द इमेजिनेशन सीजेक एक इमी मस्ट बी टूथ'। कल्पना में जो सुन्दर लगे वह निश्चय ही सत्य है। विज्ञान युग में जब को तथोपरि माना गया था, नये युग में कल्पना को यही स्थान मिला। प्लेटो ने काव्य को 'अनुकृति' माना था और आगस्टन काव्य में इसी धारणा की प्रधानता थी। परन्तु रोमांटिकों का कहना था कि मानव मन प्रकृति का दर्पण नहीं है, यह प्रतिबिम्ब को प्रतिबिम्बित नहीं करता, वह नये नये सतारों का निर्माण करता है। कवि वस्तु वस्तु के आधार पर जिस कल्पना जगत का निर्माण करता है, उसके अपने नियम हैं। कल्पना को एक अत्यन्त क्षमशारी आश्लेषक शक्ति माना गया और कल्पना एक कल्पना में अन्तर स्थापित किया गया। कल्पना अधिक गहरी और समुक्त वस्तु है। इस प्रकार काव्य प्रक्रिया के कल्पना शक्ति को महत्त्व प्राप्त हुआ, क्योंकि उसी द्वारा कवि की विभिन्न प्रकृतियों और कृत्यों में सन्तुलन स्थापित होता है। कॉलरिज ने काव्य प्रक्रिया में कल्पना के महत्त्व को इस प्रकार स्थापित किया है "This power, first put into action by the will and understanding, and retained under their irremissive, though gentle and unnoticed, control, reveals itself in the balance or reconciliation of opposite or discordant qualities of sameness, with difference, of the general with the concrete, the idea with the image, the individual with the representative, the sense of novelty and freshness with old and familiar objects, a more than usual state of emotion with more than usual order, judgement

ever awake and steady self possession with enthusiasm and feeling profound or vehement ' मन की स्वतन्त्र प्रकृति के रूप में तर्क या बुद्धि का काव्य प्रक्रिया में कोई स्थान नहीं था। कल्पना के सीधे सम्पर्क से कवि जिस सत्य को उद्घाटित करता है, या कवि कम द्वारा शक्ति में जिस प्रकार उस अनुभूत सत्य को बाँधता है, उसे तर्क का कठिनी पर नहीं जमा जा सकता। गाल्त्स में कॉलरिज की यह परिभाषा आदर्श स्थिति की सूचक है। अधिकांश कवियों ने कल्पना के सभी तत्वों का उपयोग नहीं किया है। अतिमात्रकता, अनुभूति की आत्यन्तिकता, भाषाभास, अनियमित असंयम—यही तत्त्व अधिक लोकप्रिय हैं। स्वच्छ दत्ता वाणी जीवन-दर्शन और कला का मूल मन्त्र है, भाषा मेघ। जिस स्वच्छता और असंयम को लेकर कवि आगे बढ़े, वही इस काव्यधारा का शक्ति और दुर्बलता बन गई। स्वच्छ दत्ता वाणी की कल्पना अप्रतिहत शक्ति से समस्त विश्व पर छा गई और उसन जीवन के उपोद्घात और दुःखम स्तरों में भी सौन्दर्यावेषण में सिद्धि प्राप्त कर ली। वहाँ भी उस सौन्दर्य का दर्शन हुए, वहीं उसने अपरिचित आनन्द और उल्लास का अनुभव किया। वास्तव में शक्ति का प्रतिरोध करने के वस्तु जागतिक सौन्दर्य का ऐसा सूक्ष्म और मायोमेघपूर्ण संकलन नहीं हुआ था। सौन्दर्य ही नहीं, विघ्न और भय के प्रति भी रोमांटिक कवियों का आकर्षण था। स्वच्छ दत्ता वादी कल्पना सुदूरवर्ती, अद्भुत और असाधारण में रम गई। कल्प, मयानक, अद्भुत, सभी रसों में उसने सौन्दर्य के दर्शन किये, यद्यपि शृंगार के प्रति वह सबसे अधिक संवेदित थी।

स्वच्छ दत्तावाणी काव्य का कल्पना जगत् वस्तु जगत् से इसलिए भिन्न है कि उसमें आत्यन्तिकता और असाधारणता के तत्वों की प्रधानता है। कभी कभी स्वच्छ दत्तावाणी कवि और पाठक जीवन की विषमता तथा कठिनाई से भागकर इस शीतलच्छाया प्रमोद जन में विश्राम करने लगा है और कदाचित् इसीलिए रोमांटिकों पर 'पलायन' का आरोप लगाया जाता है। परन्तु महत्त्व स्वच्छ दत्तावादी कवियों ने जीवन का आत्मक न बनाकर उस अप्रतिम सौन्दर्य से मयिष्ठ किया है और एक नई ही परिभाषा सामने रखी है।

कवि स्वतन्त्र के स्वच्छ दत्तावाणी सिद्धांत ने छंदों के क्षेत्र में भी प्रयोग किया, क्योंकि स्वच्छ दत्तावादी मानना आ और परम्पराओं को परम्परागत रुढ़ छंदों में डालना असम्भव बात थी। फलतः काव्यभाषा और छन्द के सम्बन्ध में समस्त प्रतिपक्ष अमाय हुए और कवियों ने इन क्षेत्रों में नई-नई उद्भावनाएँ आरम्भ कीं। भाषा शैली के क्षेत्र में दो दृष्टिकाय हमारे सामने आरम्भ में ही आते हैं। एक दृष्टिकोण यह स्वध का सरल बोलचाल की भाषा का था। वनस्पति के अनुवाद गद्य-पद्य की भाषा में अन्तर नहीं होना चाहिए। अन्य कहना था कि छंद आरोपित वस्तु है, कविता की मूलभूत आवश्यकता नहीं है। परन्तु कॉलरिज का विश्वास था कि काव्य प्रकृति में भाषा और धारणा, तात्कालिक स्फूर्ति और बोधमय लक्ष्य के ताते जाने अनिवार्य रूप से जुने होते हैं और इसीलिए कवि को निश्चित और असाधारण भाषा शैली तथा जुने हुए छंदों का उपयोग करना होता है। अथ रोमांटिक कवियों को कॉलरिज का पक्ष ही प्रदीप्त हुआ।

रोमांटिक काव्यधारा की कुछ गुणियाँ भी क्रमशः स्पष्ट होने लगीं। उनमें से कुछ ये हैं—

(१) चेतन लक्ष्य की अपेक्षा भावप्रकृति की अधिक महत्त्व दिया जाता है।

(२) कवि बुद्धि या तर्क को काव्य प्रक्रिया में स्थान देने को तैयार नहीं है। उसका कहना

है कि इससे कवि की सृष्टि काव्य स्फूर्ति नष्ट हो जायगी। फलतः उस प्रभुत्व की अभिव्यक्ति की मामिकता में भी कमी हो जायगी।

(३) रोमांटिक काव्य में कलाकारिता को अपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है।

(४) रोमांटिक काव्य में यह वस्तु नहीं है जिसे क्लासिकल पारिभाषा में 'द्विस्पोन्डीशन' या आकृति सौन्दर्य कहते हैं।^१

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा की विशेषताएँ हैं कवि स्वातन्त्र्य, प्रासुर्य, वक्षणा, बौद्धिकता की अपेक्षा भावुकता पर फल, कला जगत्कृता और विन्यास का अभाव। ये तत्त्व हमें विभिन्न कवियों में मिल भिन्न रूप में मिलते हैं। भिन्न भिन्न कवियों ने कवि स्वातन्त्र्य और कल्पना से विविध बोध ग्रहण किए हैं और इस विभिन्नता के कारण विभिन्न कवियों के काव्य और कलागत दृष्टिकोण में घरती आकाश का अन्तर है। वास्तव में रोमांटिक धारा को हम एक आयत्त विस्तीर्ण अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं।

यूरोपीय काव्य में रोमांटिक धारा का सर्वोत्तम हमें अंग्रेजी काव्य में मिलता है। आठवीं रोमांटिक कवि अपेक्षाकृत अचकल रहे हैं। अंग्रेजी कवियों में प्रमुखा हैं ब्लेक, वर्डस्वर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स और बायरन। आठवीं रोमांटिक कवियों में सबसे अधिक महत्ता लामार्तीन, शेल्लियॉ, किट्सर हावो, जेफर्ड द नर्वेल, अल्फ्रेड द सुते और बिन्ने की हैं। ऐ. ड्रे कीट्स ने इन कवियों में आठवीं को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। वास्तव में आठवीं रोमांटिक कवि रोमांटिक काव्य के किसी एक या अधिक तत्वों में सीमित हो गए। रोमांटिक धारा का वैसा विविध और सम्पूर्ण विकास हमें अंग्रेजी रोमांटिक में मिलता है, वैसा हमें भास रोमांटिक कवियों में नहीं मिलता।

रोमांटिक काव्य सिद्धांतों का सबसे विशुद्ध रूप हमें ब्लेक के सिद्धांत में मिलता है। ब्लेक के काव्य सिद्धांत उनके जीवन दर्शन के ही अंग हैं। ब्लेक के अनुसार वक्षणा एक रहस्य नहीं प्रकृति है जिससे कवि आन्तरिक और शारीरिक अन्तर, जिसकी यह दृश्यमान जगत् प्रविष्टिमान मान है, परिचिन होता है। वक्षणा द्वारा कवि आत्मा जीवन में प्रवेश करता है, जो 'सत्य, शिव, सुन्दर' है और इसी पृथ्वी पर, इसी जीवन में, जिसकी प्रभुत्व सम्भव है। आदिम शान द्वारा इस आत्मा के जीवन से हमें जो प्राप्त होता है तर्क और इन्द्रिय बोध को अधिक महत्त्व देकर हम उससे वञ्चित रह जाते हैं। विशुद्ध प्रभुत्व द्वारा मनुष्य प्रत्येक वस्तु में अन्तर्निहित शारीरिक और अन्तः का आभास प्राप्त करता है। मनुष्य इन्द्रिय शान और तर्क द्वारा एक बन्दीपद का निराकरण कर लेता है। वक्षणा द्वारा ही वह बन्दीपद से बाहर भौतिक शारीरिक जीवन की भाँवी या सपना है। ब्लेक की मान्यता है कि वक्षणा में ही मनुष्य की सभी आत्मिक प्रवृत्तियों, जैसे प्रेम, आस्था, साहस, शक्ति, आकांक्षा आदि,

१ We are not surprised if study & imitation go to the winds, since "Knowledge of ideal beauty" in Blake's Phrase "is not to be acquired, it is born in us", let the fundamental discipline exerted by the poet on his own imagining that sense of structure & proportion which enhances the beauty of a work & makes it appeal as "whole & not only in fragments" — 'disposition' in this sense, whether attained by study or by innate power, is too often rejected by the Romantics, to their great loss (Jean Stewart 'Poetry in France & England', P 107)

का निवास है। तर्क और कल्पना का विरोध है। तर्क और बुद्धि मानव की आत्मिक प्रगति को कुण्ठित कर देते हैं। कला द्वारा मनुष्य उस अनन्त से संपर्कित होता है और इसलिए कला आश्वस्त जीवन की अभिव्यक्ति है। ब्लेक कला के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के बंधन को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि इससे मनुष्य की आत्मा कुण्ठित हो जाता है। फलतः कवि के लिए छुड़ा के बंधन को तोड़ना अनिवार्य बात है। काव्य में मानव मन की सम्पूर्ण और अबाध अभिव्यक्ति है, यह ब्लेक की मायताओं का मूलाधार है। प्रातिम ज्ञान या प्रत्यक्षा अनुभूति द्वारा ही कवि और पाठक सौंदर्य तथा परीक्षा से साक्षात्कार करते हैं और काव्य के विशुद्ध, आत्मान्तक और चिरन्तवीर रहस्यानुभवों में प्रविष्ट होते हैं। इन मायताओं में हम स्वच्छन्दता और कवि के व्यक्तित्व की सबसे पापक तथा सबसे अधिक उन्मुक्त स्थिति पाते हैं।

वर्द्धस्वयं के लिए भी कल्पना उतनी ही रहस्यमयी है जितनी ब्लेक के लिए। इसी कल्पना द्वारा वह सामान्य मूल में सम्पूर्ण जीवन को आत्मसात् करके देख लेता है, परन्तु वर्द्धस्वयं की कल्पना उसे जीवन के स्थूल और तात्त्विक संपर्क से अलग नहीं करती। उसकी अन्त और शारीर्य जीवनानुभूति जीवन के दैनंदिन अनुभव और प्रकृति के सबहुलम स्पर्शों पर ही आधारित है। रोमांटिक काव्य का भावातिरेक, कल्पना प्रानुय और कलात्मक आत्म न्तिकता वर्द्धस्वयं के काव्य के लक्षण नहीं हैं। उसमें अनुभूति की तीव्रता और आत्मनिकता हमें नहीं मिलती। वर्द्धस्वयं ने कविता को प्रशस्त क्षणों में पुनर्जाग्रत रसात्मक अनुभूति माना है। इससे उसके काव्य में हमें गम्भीरता और सद्म की जो पराकाष्ठा मिलनी है, परन्तु बड़ा देने वाला भावोद्रेक और रोमांटिक उल्लास उसकी विशेषता नहीं है। सरल अभिव्यञ्जना शैली ने उसके काव्य को सर्वप्रथम और मार्मिक बना दिया है। फिर भी वर्द्धस्वयं में वैयक्तिकता की पराकाष्ठा है और विशुद्ध, ऐकान्तिक जीवनानुभूति के प्रति उसका आग्रह किसी भी अन्य रोमांटिक कवि से कम नहीं है। कल्पना उसके लिए प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन है। सामान्य वस्तुओं का सौंदर्य अतिपरिचय और स्वाभ भाव के कारण कुण्ठित हो जाता है। कल्पना द्वारा कवि उस सौंदर्य से साक्षात्कार करता है और उसे विशुद्ध तथा निरालस रूप से पाठक को देने का प्रयत्न करता है। कल्पना द्वारा उद्घटित इस वस्तु सत्य या मूल सौंदर्य में जो भी बाधक है, वह कवि को स्वाकार नहीं है। फलस्वरूप वर्द्धस्वयं काव्य रूपों, परम्पराओं, अलङ्कारों और दूराण कल्पनाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। विशिष्ट एवं अभिजात भाषा शैली का तीव्र और पापक विरोध हमें वर्द्धस्वयं में मिलता है। इस प्रकार वैयक्तिकता और स्वच्छन्दता वादिता का एक नये तल पर प्रसार हमें वर्द्धस्वयं के काव्य में उपलब्ध होता है।

कॉलरिज में हम वर्द्धस्वयं के विपरीत असाधारण, अतिप्राकृतिक और अद्भुत के प्रति विचक्षण रूप से आग्रह पाते हैं। कल्पना शक्ति द्वारा उसने अगम्य यन्त्र लेकर एक चित्र विचित्र, सूक्ष्म और विविध जगत् का निर्माण किया है, जिसमें मध्ययुगीन गायकों यात्रा-श्रुतान्ता, स्वप्न और सत्य की रूपरेखाएँ मिलकर एकाकार हो गई हैं। विचित्रालयों और समात के सूक्ष्म विधानों एवं भाषा की चित्रात्मक और यज्ञात्मक सम्भावनाओं द्वारा कॉलरिज बादगर की धौल अद्भुत रहस्य और अप्रतिम को क्षण क्षण पर जमाने में समर्थ है। रोमांटिक कल्पना की सरलोपात्मक और अभिचारी विशेषताएँ हमें कॉलरिज में सबसे

अधिक मात्रा में मिलती है।

शैली और कीट्स के काव्य सिद्धान्तों तथा काव्य परिपाटियों में भी काफी विभिन्नता है। शैली आदर्श की उस चौड़ी स्थिति की कल्पना करता है कि वह उसके लिए रहस्यमय हो जाता है। यह कवि के जगत् का दृश्यमान जगत् से अधिक सद्बलित, सुन्दर तथा भास मानता है और उसके काव्य में एक प्रकार की पलायनीयता हमें मिल जाती है। परन्तु साथ ही विश्व की अशान्ति और असंतुलन के प्रति विद्रोह तथा पुनर्निर्माण को इच्छा भी हमें पूर्ण मात्रा में मिलती है। शैली ही दर्शकों को मानवात्मा की उम्रि की कुञ्जी मानता है और उसका विश्वास है कि सो दर्शनीयता द्वारा ही सत्कार प्राप्त हो सकेगा, रुचियों और स्वाध्यायों के बंधन से मुक्ति पा सकेगा है। शैली की आत्म उपायना ही शैली का कवि दर्शन है। काव्य सामाजिक साम्य, सन्तुलन और नैतिकता का उद्बोधक बनकर ही उभरता है, ऐसा शैली का विश्वास है और इस प्रकार उसने रोमांटिकों की स्वच्छन्द और निरपेक्ष कल्पना को उपयोगितावाद से प्रभावित कर दिया, यद्यपि यह उपयोगितावाद बहुत और व्यापक है। ब्लेक के बाद रोमांटिक काव्यधारा का सबसे सुन्दर उदाहरण शैली ही है।

काट्स के काव्य और उसके यहाँ में हम उसकी काव्य प्रक्रिया तथा उसके काव्य सिद्धान्त का विशद विवरण पाते हैं। कलाकार की आत्मवेतना और कलात्मकता उसमें सब रोमांटिकों से अधिक है। उसमें बौद्धिक तथ्यों के प्रति विशेष आग्रह है और उसके लिए काव्य आत्मगत भावनाओं की निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। इस प्रकार कीट्स के काव्य में पलायनता तथ्यों का सम्मिश्रण हो गया है। 'ओडन' और 'दाइरी' उसकी काव्य कला के सर्वोच्च विकास हैं और उनमें हमें जिस कवि और कलाकार के दर्शन होते हैं, वह शैली और रॉसकिन से भिन्न है।

इंग्लैण्ड की रोमांटिक काव्यधारा में हम बीबन और काव्य का पारस्परिक विरोध ही पाते हैं। कल्पना जगत् और वस्तु जगत् में जो अन्तर पड़ गया था, उसने काव्य को विशिष्टता देते हुए भी उसे जन साधारण के लिए अग्राह्य बना दिया था। काव्य रचना के लिए कवि का व्यक्ति ही काफी समझ जाने लगा। कवि के स्वयं, उसकी आकांक्षाएँ, उसकी संवेदनाएँ, उनके अपने मौलिक लय ताल और वैयक्तिक कल्पना चित्र ही काव्य के उपायान बनने लगे। जैसे जैसे समय बीतता गया, बीबन और काव्य में यह व्यवधान बढ़ता गया। अन्त में कवियों का आत्म-विश्वास टूट गया। भौतिकवादी संस्कृति के विकास और विज्ञान एवं सुविधा के आग्रह से भावना जगत् में परिवर्तन दोनों आवश्यक था। आदर्शवाद, ही दर्शनवाद, कल्पना और स्वच्छन्दता रोमांटिक काव्य के चार स्तम्भ थे। सुविधावाद, विज्ञानवाद, नैतिकता और सामाजिक रुचिवाद ने इन स्तम्भों को हिला दिया। यहाँ तो ये स्तम्भ नहीं, परन्तु बर्बर अवश्य हो गए। परन्तु काव्य (विक्टोरियन युग के काव्य) में हम बार बार कला को जीवन के पास लाने, या जीवन से मागकर कला की शरण जाने का प्रयत्न पाते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि कवि के द्रष्टुत्व हो गया था और केवल मात्र कल्पना के पलों पर उड़कर सौंदर्य के अतीन्द्रिय देश तक पहुँचना अब उसके लिए असम्भव बात थी। विक्टोरियन युग के कवियों ने रोमांटिक काव्योद्भावनाओं और विचार धारणियों के सूत्र का ही विकास किया और उन्हें अतिवाद तक पहुँचा दिया। पूर्व वर्गों द्वारा के विभिन्न तत्त्वों के ग्रहण और त्याग द्वारा उदाने अपने काव्य में कुछ विशिष्टता तो

मिलेलाइ, परन्तु किसी नये काय सिद्धान्त को जग नहीं दिया। काय-सम्बन्धी धारणा में कोई भी क्रांतिकारी परिवर्तन मिलेलाइ नहीं देता। प्रचिकाश कवि यविनगदी ये और ये स्वतन्त्र रूप से आगे बढ़े। केन्ज प्री रेफलाइट वर्ग के रूप में एक विशेष 'स्कूल' के दर्शन हमें होते हैं।

विन्स्टोरियन युग के कवियों में टेनीसन, ब्राउनिंग और आनाल्ड प्रमुख हैं। इनमें आनाल्ड ने एक बार फिर क्लासिकल सिद्धांतों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। ब्राउनिंग और टेनीसन के काव्य में हम जिन तत्त्वों को पाते हैं वे मूल रूप से रोमांटिक काय तत्त्वों का अनुरोध होते हुए भी परस्पर दो विरोधी ध्रुवों को सूचित करते हैं। ये दोनों कवि दूसरी पीढ़ी के रोमांटिक कवियों से मिलते जुलते हैं। वास्तव में वे उसी श्रेणी के कवि हैं। परन्तु वे मूलतः कवि हैं, उनके लिए काय सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कला और जीवन में सन्तुलन स्थापित करने में दोनों असफल रहे हैं। टेनीसन मूल रूप से गीति कवि हैं, परन्तु उत्तर जीवन में वे कवि से अधिक उपदेशक बन गए हैं। शेर्ली भी कवि को दृष्टा मानते हैं, परन्तु टेनीसन से अधिक व्यापक दृष्टिकोण ने। वास्तव में टेनीसन की उपदेशात्मक प्रवृत्ति और उनकी रूपान्तर कला कारिता ने उन्हें 'क्लासिकल' कवि के निकट पहुँचा दिया है। ब्राउनिंग के काय में हमें रोमांटिक व्यक्ति का ही विकास मिलता है। ब्राउनिंग कवि स्वातन्त्र्य का उपयोग करते हुए नये नये काव्य रूपों की सृष्टि करते हैं, जिनमें उनकी प्रवृत्तियों और अभिव्यक्तियों पुष्प रूप से प्रतिबिम्बित हैं। पाठकों की बौद्धिक चेतना और सौंदर्य भावना की ग्राहक शक्ति की उपेक्षा उनकी रोमांटिक विद्रोहात्मक प्रवृत्ति की ही सूचना देती है। भाषा की निरक्षरता और कलाकारिता के प्रति अयमनस्कता ब्राउनिंग की रोमांटिक कला की दो विशेषताएँ हैं। रोमांटिक कवि की उद्बुद्ध सौंदर्य भावना के विपरीत प्रतिक्रिया रूप में ब्राउनिंग में कुरूपता और अयमनस्कता के प्रति आग्रह मिलता है। ब्राउनिंग शक्ति, स्वतन्त्रता और भावों में प्रेमा के पुजारी हैं और वे उनके जीवन दर्शन के प्रमुख अंग हैं। उनमें उस आत्यंतिक रूपन का अभाव है जिससे ये विभिन्न तत्त्व मिलकर एकान्वर हो जाते। लक्ष्यशून्यता, अनियन्त्रण और उपदेशात्मकता पर आग्रह होने के कारण उनका महत्त्व कम नहीं हो जाता।

वास्तव में रोमांटिक धारा का पहला अवसरण हमें प्री रेफलाइट कायधारा में मिलता है। रॉबेटी, मॉरिस, विनबर्न — इन्हें हम इस धारा का प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं। रॉबेटी के अनुसार नई कायधारा (प्री-रेफलाइट कायधारा) का अर्थ है 'वस्तुवाद, भावप्रयण परन्तु साथ ही मूल्य भी।' ('रियलिज्म, इमोशनल थट एक्सट्रीमली माइण्ड') रोमांटिक कवियों की भाँति इस वर्ग के कवियों में भी मतेक्य नहीं था। रॉबेटी को हम पीट्स और कॉलिज के नाम रक्त सकते हैं। दोनों में समान रूप से सौन्दर्य के प्रति ऐंद्रिय आसक्ति है और तीनों ही रहस्य और स्वप्न के जगत् सत्ता में विश्वास करते हैं। मॉरिस अपने काय विनय और प्रताप के लिए मध्ययुग की ओर जाता है, जब जीवन दुर्दमनीय आकाशवाणी और अप्रतिहत कर्तृत्व से भरा हुआ था। सब तो यह है कि प्री रेफलाइट वर्ग के कवियों ने अपना लक्ष्य इतना ऊँचा रखा था कि वह उनसे खूब नहीं सका। इन कवियों ने जीवन स्थितियों से भागकर एक सुंदर रूपन लोक का निर्माण किया और उसी के हो रहे। विनबर्न विशुद्ध काय का समर्थक था और उसने काय में नादात्मकता और समीत तत्त्व का इतना उपयोग किया कि वह कदाचित्

शब्दों के नाद-तत्त्व तक रह जाता है और इसी एक तत्त्व से अर्थ बोध कराने का प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार हम देखने हैं कि समस्त डनीसकी शबान्दी में इंग्लैंड में रोमांटिसिज़्म का प्राधान्य रहा और उसकी प्रक्रियाएँ नये नये रूपों में ग्रहीत होती रही।

२

यहीं से प्रतीकवाद की धारा का आरम्भ होता है। इस धारा का सम्बन्ध प्रायः से है जहाँ रोमांटिक आन्दोलन अस्तित्व रहा था और निर्बल था। श्रेष्ठ रोमांटिक काव्यधारा के दो रूप हमें मिलते हैं। एक में माधुर्यता की प्रधानता है, कवि अपनी भावधारा और संवेदना के आधार पर ही काव्य-संजन का निर्माण करता है और उसका विश्वास है कि मानवता के दुःख का निराकरण उसका कर्तव्य है। दूसरा पक्ष कलात्मक प्रयोगों और सुन्दर शब्द चित्रों की प्रधानता होता है। हमें इन दोनों वर्गों या दृष्टिकोणों का समन्वय मिल जाता है। हमें जो है 'ले ओरियन्तेल' के आधार पर गालियर ने एक विस्तृत कला सिद्धान्त का निर्माण किया, जिसमें हमें प्रतीकवाद के परवर्ती विकास के चिह्न मिलते हैं। गालियर मूलतः चित्रकार था, रूपचित्रण और रंगलेखन के प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक था। उसने लिट्टे स्कुलतावादी स्थूल वस्तुओं के औद्भृष्टतक सीमित था। कविता में वह इसी शिष्ट गोचर औद्भृष्ट को वाणी देना चाहता था और इस दिशा में कवि की सफलता ही उसकी सबसे बड़ी सफलता थी। स्कुलतावादी कवियों की आत्मामिथ्यज्ञाना के स्थान पर उसने निर्वैयक्तिक, वस्तुगत दृष्टिकोण को प्रधानता दी और रोमांटिक काव्य की अस्पष्टता तथा भावोन्मूलक धारावाहकता के स्थान पर स्थूलता और आपास सिद्ध सञ्ज्ञा काय में आई। फलस्वरूप एक ऐसी काव्य पद्धति का विकास हुआ जिस पन्नासी काव्य पद्धति का विकास कहा जा सकता है। कवियों का यह वर्ग काव्य को उपदेशात्मक या नीतिमूलक न मानकर 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का समर्थन करता है। परन्तु यह निश्चित है कि इस कलावादिता के पीछे महत् नियमों की उपेक्षा है और कवि की माधुर्यता एवं महत् नियम का स्थान कलाकारिता कमी भी नहीं ले सकती। फिर भी इस नये सिद्धान्त का स्वगत हुआ। रोमांटिक काव्य की अविश्वस्यता और समतामयिक समाज के मौलिक दृष्टिकोण के विपरीत इस धारा में जीवन के अन्तर उद्वेग, उद्वेग भाव से सौन्दर्य-सृष्टि की प्रेरणा थी। कला जगत् का औद्भृष्ट ही उसकी एकमात्र सार्थकता थी। इस पन्नासी साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला की एकनिष्ठ उपासना में जब कलाकार जीवन की वास्तविक और गम्भीर सम्भावनाओं से हट जाता है तब उसकी रचना अनियमित रूप से निर्बल हो जाती है। गालियर के बाद इस वर्ग के दूसरे कलाकार लैफावे द लिस्ले और जोसेमेरिया द हेरेदिया हैं। इन कलाकारों में हमें निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त का पालन, कलात्मक सधम, अप्रतिदत्त आत्मामिथ्यज्ञाना के प्रति उपेक्षा भाव, विवरणात्मकता, कलाकारिता अथवा कलात्मक सञ्ज्ञा के प्रति आग्रह जैसे नये तत्त्व मिलते हैं जो उन्हें 'रोमांटिकों' के विरोध में रख देते हैं। इन्होंने काव्य को जीवन से समीकृत करने की चेष्टा की है और सामयिक तत्त्व चिन्ता तथा वैज्ञानिक प्रगति को काव्य में स्थान दिया है। विज्ञान और कल्पना के विभिन्न सत्ता को समीकृत करने का यह नया प्रयास निस्सन्देह अभिनन्दनीय था। इस प्रयास में कवियों को पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त नहीं हुई। इन कवियों में हम पहली बार प्रतीकों का निश्चित और सिद्धान्तिक प्रयोग

वेरते हैं। परन्तु इन कवियों की रचनाओं में अन्ततः 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त की ही वजह है और जीवनगत गम्भीर आध्यात्मिक मूल्यों की बहुत-कुछ हानि या उपेक्षा भी हुई है।

पनासी और प्रतीकवादी कवियों के बीच में हम बोन्लेर को खाना पाते हैं। वास्तव में बोन्लेर अंग्रेजी और फ्रांसीसी समकालीन कवियों की बाढ़ने वाली शृङ्खला है। अंग्रेजी के हासोमुग्न (विन्सेटेट) काय पर बोन्लेर का व्यापक प्रभाव दिखाता देता है और परन्तु अंग्रेज प्रभाववाधियों ने भी उनसे बहुत कुछ ग्रहण किया है। बोन्लेर में हम अन्तर्गत तथा यथायथा का सघर्ष बड़े मार्मिक ढंग से मिलता है और इस सघर्ष से टूटकर वह अपनी स्वरूप यात्रा के लिए उदात्त तैयार निकलता पड़ता है। अद्भुत गानों और निबिन्न गीत चान्यों के प्रति उसकी आसक्ति है। उसने अपनी अतृप्तभूतियों और मन झलनाओं को नई बैमर के साथ बांधी दी है। वस्तु जगत के पीछे परोक्ष जगत को वह रहस्यवाधियों का मोति पकड़ने में सफल है। उसके काय में स्वरूप प्रग का महान् चीत्कार भी है। निराशा, निद्रोह और पीन में आनन्द की निशुलक मात्रा ने उसके काव्य को लाष्टित परन्तु अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। सबसे बनी चीन यह है कि बोन्लेर ने स्पष्ट रूप से अपने काव्य सिद्धान्तों की घोषणा की और इस दिशा में प्रतीकवाधियों का पथ प्रदर्शन किया।

बोन्लेर के प्रभाव का एक पक्ष उसने काव्य सिद्धान्त हैं और दूसरा पक्ष उसका काव्य। सम्मक्त बोन्लेर ने अपने काव्य सिद्धान्तों के निमाय में एडगर एलेन पो की समीक्षात्मक स्थापनाओं से सहायता ली है, जिनमें कॉलरिष और शेली के बहुत से तत्त्व हमें मिल जाते हैं। बोन्लेर का अनुसार काय के माध्यम से कवि पीछा को आवद का रूप देता है और उसके द्वारा उसके मन स्वरूप को स्थापित प्राप्त होता है। जला जगत में ही कवि के आदर्शों को स्थापित और स्थूलता मिलती है। प्रकृति में सौन्दर्य और प्रगति के तन्त्र बोन्लेर को निगला नती देते। कला (या कलाकारिता) में ही वह सौन्दर्य की प्रतिष्ठा मानता है। फलतः उसके काव्य में कविता के कला तरंगों का व्यापक प्रसार है। काव्य का रूपात्मक, भावात्मक और मूर्तिमत्तात्मक पक्षों का सम्पूर्ण विकास हम बोन्लेर के काव्य में दिखाता देता है। उसने काव्य में परन्तु विकास के अतुर स्पष्ट अतर्निहित हैं। उसकी स्वनिलता, उसके व्यञ्जनात्मक प्रतीक, निमित्त इन्द्रिय बोधा में रहस्यात्मक सम्बंध कल्पना, निमित्तता में आत्मिक एकता का आग्रह— ये सब प्रतीकवाद के ही तन्त्र हैं जो बोन्लेर के काव्य में पूरा रूप से निश्चित हैं। लाष्टिकों और इन्द्रिय के काव्य में यग, परिहास, विष्टगलित रूपकों का उपयोग और इसी प्रकार के जो अन्य तन्त्र मिलते हैं वे भी बोन्लेर के काव्य में प्रचुर मात्रा में हैं। वास्तव में बोन्लेर के काव्य सिद्धान्त स्वयं उसकी काव्य प्रक्रिया और काव्य सवेदना से उद्भूत हैं उसने और उसमें अपने लिए समाधान खोजने की चेष्टा की है। प्रतीकवादियों ने बोन्लेर के सिद्धान्तों में तत्कालीन जीवन चिन्ता का आभास पाया है और उनके आधार पर एक निस्तुन सौन्दर्य शास्त्र ही खड़ा कर दिया है।

प्रतीकवादी सिद्धान्तों के लिए हमें पाल वल्ले, मेलायें और रिम्बो की विचारधाराओं तथा काव्य प्रक्रियाओं को देखना होगा है। इस आन्दोलन का जन्म १८७०-८० के लगभग होता है। आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण पक्ष बुद्धिवाद का विरोध है। मिल्ली पीनी की मान्यता थी कि बुद्धि द्वारा सारी सृष्टि प्रक्रिया को समझा जा सकता है और तत्सम दार्शनिक दृष्टि कोण ही संगोपित रहता है। पर्नावी कवियों की रचनाओं का मूलाधार यह वैज्ञानिक बुद्धिवाद ही था। परन्तु १८७०-८० के लगभग स्टेनर, हार्टमा और गोपनहार की नई मान्यताओं ने बुद्धि के प्रति इस आस्था को झटका देकर दिया। इन तत्त्ववेत्ताओं का यह कहना था कि जीवन प्रक्रिया में रहस्यमय, बुद्धि बाध, अज्ञात और अचिन्त, अज्ञात शक्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है और तत्त्व वस्तुन मरु मरीचिका की भाँति अज्ञात छलना मान दे। इस नई विचारधारा ने मास के बला चिन्तकों को भी प्रभावित किया और उन्होंने जीवन के रहस्यावस्थाओं को हटकर उनसे प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया। बला के माध्यम से जीवन की अपरिमितता, अपराधिता और रहस्यमयता को प्रकट करना ही सच्चा बला धर्म है, यह मान लिया गया। अतिप्राकृत, स्वप्न और कल्पना जगत् को वस्तु जगत् से अधिक महत्वपूर्ण मानकर कवि उन्हें ही उद्घाटित करने में लगे। यह कहा गया कि काव्य म को तत्त्व बौद्धिक तर्क छिड़ता और ऐंद्रिय प्राकृतता की अपेक्षा करते हैं वे वस्तु जगत् को देखने में असमर्थ हैं। काव्य हमारे उस रहस्यमय अन्तर्बोध का प्रकाशन हो जहाँ विचार, अनुभूति और ऐंद्रिक संवेदनाओं एवं प्रतिनिधियों में विभाजन रेखाएँ नहीं रहती—इनमें परस्पर आदान प्रदान सम्भव है। स्वप्न और आराधना का एक नया संचार कवियों के प्रयोगों के लिए खुल गया और वस्तु जगत् से हटकर इस नये आत्म जगत् में केन्द्रित होने वाले कवियों को अधिक मायवा मिली।

प्रतीकवादी काव्यधारा की विशेषताएँ, जैसी वे वल्ले, मेलायें और रिम्बो के काव्य में दिखाई देती हैं, इस प्रकार हैं—

- (१) अनुभूति की आ तरेक्या (इटिमेली)।
- (२) व्यञ्जना (संज्ञान)।
- (३) ध्वनियों और आयोजित कल्पना चिह्नों के माध्यम से परेष्ट व्यञ्जना।
- (४) कवि द्वारा मान भूमि के निर्वहन का प्रयत्न, चिन्तके लिए यह स्वप्न और तत्त्व, अनुभूति और इन्द्रिय बोध को अचिन्त डग से संयोजित कर देता है, जिससे वर्णित वस्तु कवि के मानोगेय का आत्मीयक प्रतीक बन जाती है।
- (५) पश्चिमा के परम्परागत रूप विधान और लक्ष्य-विधान की अपेक्षा और उन्हें होश-वाणी और संगीत तत्त्व के निकट लाने का प्रयत्न।
- (६) वृत्तान्त के प्रति विरोध और छन्द मुक्ति के लिए आग्रह।
- (७) बौद्धिक सूक्ष्म और परिपाटी बद्ध शैली के प्रति अनादर भाव।
- (८) यह निश्वास कि काव्य में तथ्य कथन महत्वपूर्ण नहीं है, ध्वनि और व्यञ्जना महत्वपूर्ण हैं, उसमें भङ्गीले रंगा की अपेक्षा सूक्ष्म तरल रस अधिक उपादेय हैं। काव्य की पदवी शतें यह है कि वह समीतात्मक हो और उसमें दिव्य स्वप्न तथा मनुक स्पन्दन को जगाने की शक्ति हो।

(६) प्रतापरादी आन्दोलन में बुद्धि का बाध है और काव्य प्राकृत्य का सहज अतत्पूर्ति (अथवा मनोवैज्ञानिक शब्दावली में) अतच्छेदन का विस्फोट माना जाता है। रिम्बो का विश्वास था कि सर्वोत्तम काव्य कृति में काव्य भाषा तर्क और अर्थ समाप्त व सम्पूर्ण अभाव में ही हमें प्रभावित करने में सफल होती है। बाटर्मरिने गिलन रिम्बो के इन निदानों को और भी विस्तार दिया और उसने भाषा को तर्क व तथ्य से अलग ही सगीतात्मक मूल्य देने का चेष्टा की, जिसका आधार संगीत शास्त्र की भाँति नाद व तुलन का मद्भात था, परन्तु जिसमें साथ साथ रसा की निश्चित व्यवस्था भी रहती थी। प्रयोग की यह दिशा बोल्नेर में भी हम निम्नला देती है।

(१०) प्रतीकवाजियों, विशेषतः रिम्बो के काव्य में उपचेतन तत्त्वा का अत्यधिक उपयोग हुआ है और उसका साहित्य मनोमिदलेयका के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके काव्य में उसके अचेतन का सम्पूर्ण और स्वच्छ अभिव्यक्ति है। मुर रियनिस्ट आन्दोलन के समयक कवियों ने रिम्बो की काव्य प्रक्रिया का व्यापक उपयोग किया है। वे अतच्छेदन मूलक लोगन में विश्वास करते हैं और उनके काव्य में अद्भुत कल्पनाओं तथा विचित्र तथ्यों का प्राधान्य है। उनके कल्पना चित्र स्वतन्त्र, परम्परा विच्छिन्न और तकविरहित रहते हैं। वास्तव में एक वर्ग प्रतीकवाजी काव्य की प्राइडीय वाक्या उपरिष्ठ करता है, यद्यपि दूसरा वर्ग (जिसका प्रमुख प्रवक्ता पाल क्लादेल् है) उस सीद्ध्य और दृश्य वर्ग की आध्यात्मिक एवं रहस्यमय अनुभूति मानता है। इसमें सन्देह नहीं कि रिम्बो के काव्य में रहस्यानुभव की अनेक प्रतिध्वनियाँ हैं। आधुनिक काव्य पर रिम्बो की विचारधारा और काव्य प्रक्रिया का व्यापक प्रभाव है।

(११) प्रतीकवादी काव्य का एक नया विकास हमें मेलामें और पाल बेनेर में मिलता है। रिम्बो का काव्य उसके अतजगत व एक्क और उसकी विचित्र कल्पनाओं तक सीमित था। मेलामें शाश्वत सत्य और सम्पूर्णता की भावना से वस्तु था। उसके अनुसार यह असम्पूर्ण वर्ग सम्पूर्ण और सत्य वर्ग की छाया मात्र है। मेलामें की सबसे आकर्षक कल्पना अनस्तव की है और उसके काव्य का मूलभार ही नकारात्मक है। अमान, मौन, मरण—ये उसके महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं। बोल्नेर की भाँति मेलामें का भी विश्वास है कि बौद्धिक और कलात्मक सञ्जन द्वारा ही मनुष्य दृश्यगत सत्ता से अधिक गिशुद्ध और आदर्श सत्ता तक पहुँच सकता है। कवि का कर्तव्य यही है कि वह परोक्ष सत्य और सौन्दर्य की इसी अनुभूति को शब्दों के यन्त्रात्मक एवं ध्वनात्मक सौन्दर्य से पाठकों में जाग्रत करे। बड़े परिश्रम से मेलामें ने इस सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए एक नई परिपाटी का निमाण किया। काव्य परिपाटी में कल्पना चित्रों का उपयोग कोई नई चीज नहीं है। दृश्यमान वर्ग से सम्बन्धित और संवेदना जाग्रत करने वाली वस्तुओं एवं प्रक्रियाओं का वर्ण अपनी आत्मानुभूति की व्यवस्था के लिए कल्पना चित्रों को चुनता है। ये कल्पना चित्र उसके लिए स्वयमेव महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, वे इस लिए महत्त्वपूर्ण हैं कि वे आदर्श के प्रतिरूप या प्रतीक हैं। येली जैसे रोमाण्टिक कवियों में हम इस धारणा का प्राचुर्य पाते हैं, किन्तु रोमाण्टिक काव्य में इस धारणा और तजन्त्य प्रयोग के प्रति उनका निरन्तर और जागरूक आग्रह नहीं जितना हमें मेलामें के काव्य में दिखलाई देता है। बोल्नेर की भाँति मेलामें भी प्रिमिन इन्द्रिय वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध और ऐक्य का

निश्वासी है और वह अतः उस मूलभूत आध्यात्मिक या परोक्ष अनुभव तक पहुँचना चाहता है जो सभी पाश्चि सचेदनाशा का उद्गम है अथवा सभी इन्द्रियानुभूतियों व जिसका मान प्रसार है। इस मूलभूत अनुभव को वह इन्द्रियगम्य कल्पना चित्रों के सूक्ष्म और अधाध उप योग द्वारा पाठक तक पहुँचाने में प्रयत्नशील है। वह तत्त्व कथन और निश्चित सामा य ग्रथबोध की उपेक्षा करता है। फलस्वरूप उसकी काव्य कला में वनता और सूक्ष्म अगम्यता की प्रधानता है। वह वस्तु जगत् के प्रति अपनी सचेदनाओं और अपनी रसात्मक अनुभूतियों को वणित या सूचित किये बिना ही पाठक के प्रति निवेदित होना चाहता है। इसने लिए वह ध्वन्यत्मक व्यञ्जनाओं और शब्दों एवं कल्पना चित्रों के अनेकानेक नमूनों का उपयोग करता है। तत्त्व कथन द्वारा वह विचार या अनुभूति को सीमाओं में बाँधना नहीं चाहता। इसीलिए वह सहज प्राप्य नहीं है। उसकी विचार प्रक्रिया सूक्ष्म, वन तथा उलझी हुई है और अनेकानेक स नमूनों से पुष्ट होने के कारण वह सहज ही पकड़ में नहीं आती। कविता के परिहरण में भी लचीलता का आग्रह है। मेलामें काव्य की भाषा को स्थूल, ग्राम्य और तत्त्ववादी तत्वों से अलग कर विशुद्ध भावमूर्ति बनाया चाहता है। वह शब्द समूहों के चुनाव और उपयोग के प्रति इतना सागरुह है कि वह उनके द्वारा व्यञ्जना को अवत सीमाएँ उद्घटित करता है और वे शब्द समूह सहिलभ भावनाओं या विचारों के बाह्य बनकर एक नई ही इकाई बन जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि मेलामें के काव्य में बौद्धिकता का आग्रह अधिक है और प्रतीक वाद को दार्शनिक एवं सैद्धांतिक पृष्ठभूमि देकर उसने उसे एक आकर्षक और निश्चित 'वाद' का रूप दिया है। शब्द शक्ति के रहस्यों के प्रति उसकी निरन्तर सागरुहता और काव्यानुभूति के प्रति इनामगारी उसके काव्य की विशेषताएँ हैं। काव्य का एक नया आत्मचेतन और निश्चित ढंग से प्रयोगवादी रूप हमें प्रतीकवादियों में मिलता है। रोमांटिक कवियों में हग सिद्धान्तों के प्रति उनका आग्रह नहीं पाते और उनका काव्य प्रक्रियाओं एवं कला तत्वों का बोध भी उतना सागरुह नहीं है। परन्तु रोमांटिक काव्य में भी हमें कल्पना की आत्मात्मकता, छंद मुक्ति और शब्द शक्ति के व्यञ्जनात्मक प्रयोग का आग्रह उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार प्रतीकवादी काव्य में। वास्तव में काव्य का प्रतीकवादी आंदोलन इंग्लैण्ड के रोमांटिक आंदोलन से अत्यंत प्रभावित था। एक प्रकार से हम उसे रोमांटिसिज़्म का ही परवर्ती बिनास कह सकते हैं। प्रतीकवाद के दो प्रमुख उपादान बोदसैर और मेलामें अपनी रोमांटिक काव्य से पूर्ण रूप से परिचित थे और उन पर एडगर एलन पो के काव्य सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव था। प्रतीकवादी ही नहीं, बाइ के सुर रियलिस्ट कवि भी पो से प्रभावित हैं और अर्द्ध ज्ञात चेतना में अत्यंत कल्पनाओं तथा मन स्थानों के विश्लेषणात्मक और प्रतीकवादी प्रयोग उन्होंने वहीं से सीखे हैं। पो के काव्य सिद्धान्तों और उसकी काव्य प्रक्रिया को हम अग्रणी रोमांटिकों (कोलरिज और प्री रेफलाइट) के सिद्धान्तों तथा काव्य प्रक्रियाओं से निकटतम रूप से सम्बंधित कर सकते हैं। इस प्रकार चाहे सीधे, चाहे परोक्ष में, प्रतीकवाद रोमांटिसिज़्म का ही विकास सिद्ध होता है और इंग्लैण्ड एवं नवीन कवियों के काव्य में अतः भी उसीकी जय मेरी बज रही है। यह अवश्य है कि इंग्लैण्ड में कलाधिकार तथा दार्शनिक तत्वों का भी संश्लेष है और नूतनतम काव्य में और भी अनेक धाराएँ तथा प्रक्रियाएँ आकर मिल गई हैं और काव्यचेतना मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से पुष्ट होकर और भी वैज्ञानिक एवं सागरुह हो गई है।

प्रतीकवादी दर्शन वहाँ एक ओर बुद्धि की महत्ता को अस्वीकार करता है, जो क्लासिकल दृष्टिकोण के विपरीत है वहाँ दूसरी ओर वह यमास्थिर्कों की भावना की प्रधानता की बात को भी अस्वीकृत कर देता है। प्रतीकवादी जीवन दर्शन के अनुसार दृश्यमान जगत् परोक्ष जगत् की असम्पूर्ण प्रतिच्छाया है। इस परोक्ष जगत् तक पहुँचना असम्भव बात है। काव्य और साहित्य का मूल लक्ष्य ही वस्तु-जगत् के दृश्यगत, अव्यक्तगत और स्पर्शगत ज्ञान के समर उठ कर अतिवास्तव, चिर सत्य और शाश्वत की भाँकी देना है। मेलामें क काव्य में हम स्पष्ट देखते हैं कि वह इन्द्रियानुभूतियों से सम्पन्न बहिष्जगत् को अपनी परीक्षा का केन्द्र बनाता है और उसके 'घर' देखना चाहता है। बाद के कवियों ने अन्तर्जगत् (आत्मा) को अपने अन्वेषण का केन्द्र बनाया है। उनके लिए यह अन्तर्जगत् (आत्मा) भी एक शाश्वत विश्व मन् की असम्पूर्ण प्रतिच्छाया है और असफुलता, पीड़ा एवं दुःख के पाले हमें शाश्वत का बोध प्राप्त होता है। इस जीवन दर्शन के अनुसार आत्मा, प्रेम, सौन्दर्य सब भ्रम मात्र हैं और इनकी उपादेयता यही है कि हम इनके 'घर' शाश्वत जीवन तत्त्व को देख सकें।

परन्तु इस शाश्वत जीवन-तत्त्व को बुद्धि, भावना अथवा इन्द्रिय ज्ञान द्वारा नहीं जाना जा सकता। केवल संवेदन मात्र रह जाते हैं। प्रतीकवादियों का कहना है कि ये संवेदनाएँ ही सत्य हैं, शेष सब भ्रम है, आन्तिपूर्ण और अवास्तव है। हमारी इन्द्रियों पर जो आघात होते हैं, वही सत्य हैं, वास्तविक सत्य हैं। इस आघात से जिन विचार और भावनाओं का जन्म होता है, वे सत्य नहीं हैं, आधारहीन और भ्रामक हैं। जन्म संवेदना ही सब कुछ हो जाती है। बुद्धि और मानना के समय द्वारा जब हम अपने यकित्व को ठीक रूप से संयोजित कर लेते हैं, तब हम उस अनन्त से स्पर्शित हो जाते हैं। ये क्षण अत्यन्त दुष्प्राप्य हैं, परन्तु इसीलिए मानव के लिए अमूल्य भी हैं। कलाकार इन्हीं को ढूँढता है। मेलामें ये बेलेर तक हम इसी खोज का इतिहास बगता पाते हैं।

प्रतीकवाद स्वच्छन्दतावाद का ही परवर्ती विकास है। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि प्रतीकवादी काव्यधारा के आरम्भ में जिन दो कवियों का नाम आता है (बोदलेर और वलें) उन्हें हम स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत भी ले सकते हैं। वास्तव में उनमें नई धारा की अपेक्षा पुरानी धारा के तत्त्व ही अधिक हैं। रिम्बो (१८५४-९१) के काव्य में हमें नये काव्य तरंग पूर्ण विशिष्ट रूप में ही मिलते हैं। रिम्बो का प्रारम्भिक काव्य विकटर झूगो के काव्य से भिन्न नहीं है, परन्तु 'ले इलुमिनेशन' नाम की उत्तर-रचना में वह एक नया अभिन्न चरित्र का निमाण करता है। इन्हीं अभिनव तत्वों ने बाद में मेलामें और वलें को प्रभावित किया। रिम्बो कलात्मक सम्पूर्णता को मगिमा मात्र मानता है। वह स्पष्टता और तथ्य कथन का विरोधी है। दृश्य जगत् को छोड़कर उसने रहस्यमय परोक्ष का अचल पकड़ है। उसने मात्र और अभिव्यञ्जना में वे द्रवीयता लाने का प्रयत्न किया और नवीन काव्य भाषा की सृष्टि करनी चाही। माया शैला के क्षेत्र में वह किसी भा रूढ़ि को मानने का वैचार नहीं था। मौलिकता के इस अति आग्रह ने कहीं-कहीं रिम्बो के काव्य को असन्तुलित बना दिया है। वहाँ कवि को कुछ नवीन या विशेष कहना नहीं है, उहाँ काव्य-क्षेत्र में अत्यव्यक्त शब्दों का प्रयोग ही एकमात्र प्ये है। मेलामें (१८४२-९८) ने रिम्बो के इस काव्य प्रयोग को उपयुक्त चिन्ताभूमि दी।

मेलामें के काव्य दर्शन की हम १८७०-१९४० के काव्य का मेघ-मण्ड मान सकते हैं। यह काव्य दर्शन इतना सूक्ष्म और जैसा है कि कोई भी रोमांटिक कवि इस मान-मण्ड पर पूरा नहीं उतरता, यद्यपि लगभग सभी रोमांटिक कवियों में ऐसी पंक्तियाँ मिल जाती हैं जो नई काव्यधारा के उदाहरण के रूप में उपस्थित की जा सकती थीं। सनन के अग्रतिम क्षण में कवि जहाँ पहुँच जाता है, वे सिढान्तों में बहुत बाद में पहुँच पाते हैं। काव्य में श्लोक और दो के काव्य में नई धारा का पूरा विकास मिलता है, और बोलचाल एवं मेलामें ने खोता से पचास लाख उठाया है। परन्तु नई काव्यधारा का मुख्य, शृङ्खलित और निश्चित रूप हमें मेलामें में ही मिलता है। 'वर्स ए प्रोज' में हमें मेलामें का काव्य चिन्तन इस प्रकार मिल जाता है

Abolished, the intention, aesthetically an error, although it directs nearly all masterpieces of enclosing into the subtle paper of a book anything else than, for instance, the horror of the forest, or the silent thunder diffused in the leaves, not the intrinsic & dense wood of the trees. A few jets of intimate glory truthfully trumpeted, evoke the architecture of the only inhabitable palace, not any stone (Verse et Prose P 184)

यह स्पष्ट है कि मेलामें 'वर्स' और कला में मेघ मानता है। क्या कहानी, उपदेश, भावनाओं का प्रकाशन, ये काव्य नहीं हैं। काव्य होने के लिए कुछ होना आवश्यक है। कुछ होने के लिए या काव्य होने के लिए कवि को ब्यार्थ के पार जाना होगा और शायद उपरोक्तों को बचाना होगा। इस परिमाण के अनुसार काव्य कही जाने वाली चीज बहुत कम रह जाता है—कुछ पृष्ठ या कुछ पंक्तियाँ।

काव्य की जो धारणा मेलामें ने उपस्थित की है उसमें वह सभी के अनेक तत्वों को मिला कर लेता है। संगीत द्वारा हमें अनन्त के बोध की प्राप्ति होता है, सुद्धि के परे के अरूप ब्रह्म तक हमारी पहुँच उसीके माध्यम से है। काव्य और संगीत में विशेष अन्तर यही है कि संगीत बिना वाद्योंक ध्वनियों का उपयोग करता है अपने आपमें उनसे कोई अर्थ नहीं होते। अर्थ का बाध होने पर भी हम अतीन्द्रिय ब्रह्म में प्रवेश कर पाते हैं। काव्य को संगीत से यही व्यञ्जनात्मकता मिलती है। अर्थ-बोध तक सीमित रखकर हम काव्य को छोटा करत हैं। काव्य को अर्थ से बड़ी, दो सके तो अर्थ से परे की वस्तु हमें देना है।

कवि के पास और भी बहुत कुछ है जिससे काव्य संगीत से कहीं अधिक अभिव्यञ्जक बन जाता है। गन्ध, रंग, रूप, स्वाद, माधुर्य, ये कुछ ध्वनियों के सम परीक्ष्य वस्तु से सम्बन्धित होती हैं। शब्द इन ध्वनियों के (जो स्वयं अनन्त और शायद हीतन की प्रतीक हैं, अभास मात्र हैं) प्रतीक होने के कारण विधापूर्ण, अस्पष्ट और रहस्यमय हैं। ये न ही वो वे प्रतीक ही हैं? इस प्रकार शब्दों के रूप, रंग, गन्ध, स्पर्श और गन्ध सम्बन्धी उपकरणों से कवि रहस्यमय अतीन्द्रिय परीक्ष्य वस्तु में प्रवेश करने की अलौकिक शक्ति प्राप्त करता है।

यह विचारधारा काव्य को अलौकिक और एक तरह से आध्यात्मिक बना देती है। यह प्लेटन बौद्धिक तत्वों पर आधारित न होकर दुर्गन्ध मान-ध्वनियों पर आधारित हो जाती है। फलतः कवि-कर्म सामान्य कर्म न रहकर एक अत्यन्त विशिष्ट कर्म बन जाता है। बर्ने ने 'आर्ट पोर्ट्रेट' (१८७४) में काव्य की सीमाएँ बँटते हुए (जिनमें कर्म अर्थ, 'साधारण आधि का बाध हो जाता है) यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रेष्ठ काव्य व्यक्तिगत प्रतीकों और कल्पना चित्रा

के कारण बूढ़ काय से कम दुर्बोध और रहस्यमय नहीं होता। वस्तुतः काव्य के उन आकाश चुम्बी शिलों पर पहुँचना बड़ा कठिन है और वहाँ देर तक टहलना और भी दुस्साध्य है। इसमें ■ देह नहीं कि प्रतीकवादी विचारधारा में मानव जीवन और काय प्रतिया को अत्यंत गम्भीरता से देखा गया है और कवियों एवं पाठकों की अन्तर्दृष्टि को उससे अपरिचीम विस्तार मिला है। अब मा उसके समर्थक कम नहीं हैं। मेला में के बाट पाल बेलेर (१८७१-१९४५) में इस काय शैली का हम सर्वोच्च विकास पाते हैं। यह अवश्य है कि वह मेला में से वहीं अधिक निराशापूर्ण है, परन्तु निराशा आधुनिक काय का प्रमुख अंग है।

परन्तु प्रतीकवादी विचारधारा प्रमुखतः निराशावादी होते हुए भी एकमात्र निराशावादी नहीं है। उदाहरण के लिए जुले सपरवे केवल का यात्मक संवेदनाओं तक सीमित रहता है और अपने लिए अपना पाठक के लिए किसी भी सत्य सिद्धांत के आविष्कार का दावा नहीं करता। पिछले प्रतीकवादी कवियों के लिए हमें एक प्रकार का अतिवाद मिलता है। वे सामान्य जीवन के अनुभव से भागते हैं, सम्भवतः उनके अनुभव असामान्य हैं। परन्तु इस कवि में हम जीवन को अलखित और व्यापक रूप में देखने का चेष्टा पाते हैं। काय का जीवन समीक्षा का रूप हमें यहाँ पूर्ण विकसित मिलता है। उसने घृणा, प्रेम आदि मानवी संवेदनाओं की उपयुक्त परिवेश में देखा है। रोमांटिकों के काय में जिस व्यक्तिवाद (लघु रूप 'मैं—शैली') का प्रादुर्भाव है, वह सपरवे में नहीं मिलता। उसका मोक्ष का कवि अधिक गम्भीर, तटस्थ, जलत निर्देशित है। इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रतीकवादी कायधारा में नये विकास को सूचित करता है।

प्रतीकवादी धारा का एक तत्त्व परन्तु अतिवादित विकास हमें मुर रिचलिट आंदोलन में मिलता है जो १९१४ के बाद प्रेम-काय में एक नया कैशन है। इस धारा के कवियों ने गद्य पद्य में कोई भेद नहीं रखा। एक नई काय शैली के निर्माण के प्रयत्न में सभी काय रुतियों के प्रति विद्रोह उठाया गया और काव्य विषय की ऐसे सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक रूप से उपस्थित किया गया कि गद्य पद्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। तक संगीत का अभाव में यह गद्यात्मक पद्य बूढ़ काव्य बन गया है जैसे श्लुअर्ड की यह कविता—

Nous approchons

Dans Les forêts

Prenez la me du matin

Montez les marches de la brume

Nous approchons

La terre en a le cœur crispé

Encore un jour a mettre au monde (Sans Age)^१

इन पंक्तियों में गद्य पद्य का कोई भेद ही नहीं रह गया है। अपालिन, अरागों, मीतों, सोपाल,

१ We approach

Within the forest

Come with me at the dawn

Let us march in the mist

We approach

The earth gives the heart a thrill

(for we have) Still to enjoy & to stake a day in this world (The Ageless)

वाक्के, इलुग्रद आदि इस धारा के प्रमुख कवि हैं। इस काव्यधारा ने हम काव्य नाम की चीज ब्रमे दी। सुर रियलिस्ट कवियों ने पाठकों से बहुत चाहा। जब कविता विशेष प्रकार के पाठ या नादात्मक संगीत-तत्त्व अथवा स्वयं पाठक के कल्पना जगत् पर आभित हो जाती है, तो वह अपनी यापक सपेदना छो देती है और कविता वहीं रह जाती। सुर रियलिस्ट कवियों का काव्य नि सन्दिग्ध रूप से कूट काव्य बन गया है और उसमें कवि की सपेदना उसकी अभिव्यञ्जना जैला में उलझकर रह गई है।

इस प्रकार हम देखने हैं कि रोमांटिक काव्यधारा, प्रतीकवादी धारा, दादाइज्म और सुर रियलिस्ट धारा विचारों, भावनाओं और प्रयोगों की एक उत्तरोत्तर विविध और सहज शृङ्खला का निमाण करती हैं। कविता की अतीन्द्रिय और असीद्धिक उपचेतनमूलक कल्पना के प्रति कवियों का आप्रह उत्तरोत्तर बढ़ता गया है और काव्य अन्त में एक ब ट गली में पहुँच गया है। प्राइड और अय मनोवैज्ञानिकों की मायताओं ने इन धाराओं की मा यताओं की ही पुष्ट किया है और अन्तर्चेतनमूलक काव्य अथवा प्रपचवादी काव्य की एक नई धारा ही प्रगर्हित हुए हैं। प्रतीकवादी विचारधारा और काव्य की जैसी गहरी जीवन दर्शन की मिति इस नई धारा के पास नहीं है, परन्तु कवि के व्यक्तित्व का स्वप्न प्रतीकों और यौनपूर्त विधानों द्वारा उद्घाटन इसकी विशेषता है।

प्रतीकवादी आ दोलन प्रमुखतः काव्य तक सीमित रहा और उसने काव्य को विशद रूप से प्रभावित किया, पर तु बाद में वह सम्पूर्ण परिचरों युरोप पर छा गया और साहित्य की अन्य कोटियों में भी उसका प्रवेश हुआ।^१ उरका गये विद्वत् रूप हमें जप्टूड स्टेन के काव्य में दिखलाई पड़ता है, जिसमें प्रतीकवादी सिद्धान्तों को हान्नी दूर तक खींचा गया है कि काव्य हास्यास्पद हो गया है।^२ कदाचित् प्रतीकवाद के आविष्कारकों ने भी ऐसी दूरगृह कल्पना नहीं की होगी। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि अत्याधुनिक काव्य का सम्पूर्ण इतिहास प्रतीक वाद के विकास का इतिहास है।

५

आरम्भिक प्रतीकवादी कवियों ने अपनी धारणा का निमाण प्रकृतिवाद के तथ्य बदन और बुद्धिवाद की तर्कसंगिता के विरोध में किया था। उन्होंने ध्वनि या स्वप्नना के सिद्धान्त का आविष्कार किया और उसे साहित्य का सबसे बड़ा तथ्य माना। उनका अतिवाद यह था कि वे समझते थे कि यज्ञता एव अग दो एकदम भिन्न और विरोधी वस्तुएँ हैं। वेलेरे, इलियट और ईट्स म हम यज्ञना के पत्र का पूष समर्थन पाते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि कोई भी शब्द केवल काव्य ही नहीं है, उसमें शय भी अन्वर्हित है। यह कहना कठिन है (कदाचित् गणित और

१ जमनी में प्रतीकवादी आ-दोलन के प्रमुख कवि हैं रेजर मेरिया रिस्के (१८०२—१९२६) और स्टैकन जॉन (१८९८ १९३३) और कस में अलेक्जेंडर ब्लोक (१८८० १९२१)। सो० एम० बाठरा ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "The Heritage of Symbolism" में इन कवियों का विवाद विवरण उपस्थित किया है।

२ देखिए एडमण्ड विक्सन का ग्रन्थ 'Axel's Castle' (प्रतीकवाद पर निबन्ध और जर्नल-स्टेन सम्बन्धी दोनों अध्याय), पृ० ११-२१ और पृ० २३० २३६)।

भौतिक विशाल को छोड़कर) कि एक प्रकार का लेखन आर्थी मात्र है, दूसरी प्रकार का लेखन व्यञ्जना मात्र। वास्तव में प्रत्येक श्रेष्ठ साहित्यिक रचना में विचार, भाव और सचेतन तीनों मिलकर चेतन मन की प्रक्रिया का निमाण करते हैं। श्रेष्ठ रचना की प्रमाणोपायिता सूक्ष्म अन्तर्ध्वनियों, अन्तःसदमों और रहस्यमय अर्थों पर आधारित होती है, जिनमें अर्थ के साथ लक्षणा और यञ्जना का पूरा पूरा समास्म रहता है। वह हमारी प्रकृति और हमारे मन के सहस्रविध आलोचन विलोचन का फल है। वास्तव में हमारे शब्द मूल रूप से प्रतीक ही हैं और प्रतीकवादियों को यदि श्रेय दिया जा सकता है तो वह यह है कि उन्होंने भाषा की प्रतीकात्मकता (ध्वन्यात्मक या यञ्जनात्मक शक्ति) की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित किया और कविता को हृदय—मन की गम्भीरतम अभिव्यक्ति बना दिया। विमुक्त या बोधीय अर्थों में शब्दों की रचना ही असम्भव है। प्रत्येक शब्द प्रयुक्त होते ही पूर्वापरता, परम्परा, विशिष्ट भाव सवेदना और नवान् उद्बोधनों का एक बृहद् संचार सामने लाता है। पूर्व शब्दों या पूर्वावभूत सचेतनाओं को उभारकर वह तात्कालिक अनुभूतियों या सवेदनाओं को अपरिचीम गम्भीरता और मार्मिकता प्रदान करता है। इस चिन्तन भूमि से देखें तो यह स्पष्ट है कि प्रतीकवाद सदैव ही काव्य और साहित्य का अंग रहा है और विशेषकर रोमांटिक काव्य और साहित्य में उसका व्यापक रूप से उपयोग हुआ है।

प्रतीकवादी स्कूल की सीमाओं का निरर्थक देते हुए ऐट्रेन्सीद ने इस प्रकार लिखा है—
 “प्रतीकवादी चारा की एक बड़ी लाक्षा यह है कि उसमें जीवन के प्रति कुतूहल का अभाव है। एकमात्र वे प्रिफिन को छोड़कर (और इसीसे प्रिफिन की रचनाएँ ऐसी विशिष्ट हैं) शेष सभी निराशावादी, बीतरागी, मायवादी ‘इस धरती के दुःख’ अस्पताल से उन्ने (लेफागों के शब्दों में) हैं। यह समस्त और असहायक पितृव्य है। काव्य में उनके लिए एकमात्र आश्रय है, जीवन की मयानुद यथायथा से पलायन के लिए निधाम स्थल। उन्होंने सब ओर से आश्रय छोड़कर ठसीकी शरण ली। उन्होंने प्रत्येक वस्तु को छुलवा समझा और निष्प्राण माना। प्राण धारण करने वाला है, इसमें उन्हें सन्देह ही बना रहा। जन यह आश्चर्य की बात नहीं है कि उन्होंने हमें कोई नया नैतिक दृष्टिकोण नहीं दिया। उन्होंने विन्नी के दृष्टिकोण से ही सन्तोष कर लिया, यद्यपि उसे भी वे परिहास का रूप ही दे सके। उनकी नैतिकता सीढ़ियों मुन्नी की। इस कथन की समीक्षा करते हुए ‘एन्क्विरेन्स वेगिल’ का लेखक लिखता है—
 “कल्पनात्मक रसानुभूति मात्र के प्रति आग्रह होने का कारण बहिर्जगत् के प्रति बीतरागिता का आश्चर्य, व्यक्ति का समाज से यह पलायन भाव एक एस दृष्टिकोण को जन्म देता है जो विन्नी के निराशावाद से भिन्न है।” (पृ० २५७-२५८)।”

एक प्रश्न प्रतापगटा काव्य के मजिष्य के सम्बन्ध में भी उठता है। नई नई लोको के कारण कवि के लिए बहिर् अथवा अतर्जगत् को सीधी गद्दी रोजाओं में बाँधना कठिन हो गया है। परन्तु कवि के लिए निवेदन की समस्या और भी कठिन हो गई है। क्या वह भारे धीरे कूट लिखने लगेगा ? अथवा, क्या विज्ञान कवि की भाषा या जीवनदृष्टि को इतना प्रमाणित

१ This ideal of renunciation of the experience of the outside world for the experience of the imagination alone this withdrawal of the individual from society did however give rise to an attitude quite distinct from the stoicism of Vigny (बही, पृ० २५७-२५८)

कर देगा कि उसके लिए अन्तर्प्रतीय और पारिभाषिक शब्दों की भीड़ में से उपयुक्त शब्दों को निकालकर उन्हीं प्रतीक के रूप में प्रयोग में लाना असम्भव ही हो जायगा ? इसमें सन्देह नहीं कि १८५२ ई० के बाद से यूरोपीय काव्य सूक्ष्म, अत्युत्तम और दुर्गन्ध के प्रति त्रासही रहा है और उसका शैलीगत विकास भी इतना बढ़ित और व्यक्तिगत रहा है कि वह कुछ ही मनुष्यों के रसोद्रेक की वस्तु रह गया है। धीरे धीरे उसने अपनी रहस्यमयी वृद्ध शैली का निर्माण कर लिया है और वह उन्नीस सैकड़ली मारकर बैठ गया है। परन्तु यह स्थिति बराबर नहीं बना रहेगी। यह स्पष्ट है कि जीवन का सामाजिक पक्ष ने विरोध होकर अन्तर्गत के रहस्यों में कति काफी जूब भिया और कर्माचित् वहाँ उसे अब अधिक कुछ रोप नहीं रह गया है। जॉइस और प्रूस्त के उक्त पात्रों में हम प्रतीकवाद को प्रकृतिवाद से समझौता करते पाते हैं और नये कवियों में अन्तर्भूत के साथ बहिर्भूत को देखने की भी प्रवृत्ति है। वेह और मन की भूल का अन्तर्गत सम्बन्ध है जो फ्राइड और मार्क्स को जोड़ता है। नये कवि ने इस सत्य को समझ लिया है।

इससे सन्देह नहीं कि प्रतीकवादियों ने वाक्य को बहुत कुछ दिया है। वास्तव में विज्ञान और दर्शन के क्षेत्रों में जो प्रगति हुई है उसने काव्य क्षेत्र में नये अध्याय जोड़े हैं और नई सम्भावनाओं की जड़ दिया है। नये काव्या टोलना में प्रतीकवाद के तत्त्व उसी तरह आत्म सात् हो जायेंगे जिस प्रकार प्रतीकवाद में रोमांटिसिज्म के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्वों का समावेश हो गया था, अथवा टेनीसन और आरनाल्ड के काव्य में रोमांटिसिज्म के साथ बलाधिकतम तत्त्वों का विकासमान भिन्न एक दिग्दर्शक पड़ता है। यदि प्रतीकवाद मानव की सचेदना को बचाता है और उसे अपने प्रति अधिक से अधिक इमान्दारी बनने की प्रेरणा देता है, तो भी उसका महत्त्व कम नहीं है। उनका ऐतिहासिक महत्त्व सो बना रहेगा ही।



समस्या और चिन्तन

श्रीनारायण मिश्र

कवि-प्रेरणा का स्वरूप और काव्य-प्रक्रिया

साहित्य के उत्कृष्ट और उसकी प्रतिष्ठा के लिए सबसे अधिक हानिकारक धारणा यह है कि महान् साहित्य अथवा उत्कृष्ट साहित्य का सर्जन कष्टकर साधना के बिना सम्भव है। यदि साहित्य का अर्थ सूक्ष्म संवेनाओं और उदात्त भावनाओं को मुदर भाषा में बाणी देना है तो यह प्रक्रिया सरल कदापि नहीं हो सकती। शब्द स्फटिक-जलज के सदृश होते हैं तथापि साहित्यिक कलाकार को उनके ही माध्यम से विराट् क्षीरनाभूति को सम्राण बनाना पड़ता है। सभी माध्यम कठोर रहते हैं और कलाकार का आधा जीवन इसीमें बीत जाता है कि वह माध्यम की कठोरता पर शासन कर सके। तब कहीं जाकर वह अपनी सौ दूर्याभूति को रूपों में ढालने में सफल हो सकता है।

उस प्रचलित धारणा में मूलतः कुछ भ्रान्ति है जो कवि को नैतिक जीवन से छुट्टी ही नहीं दे देती, वरन् उसे उस आत्मानुशासन से भी अवकाश दे देती है जिससे द्वारा वह शक्ति अर्जित करता है। पूरा संयोजित जीवन के अभाव में स्वप्न अभिमुख्यता शक्ति सम्भव ही नहीं है। जिन कहानियों और निबन्धों के अनुसार लेखकों ने महान् ग्रंथों की रचना पत्र लेखन की तरा से की है उन्हें हम हानिकारक और अविरसनीय मानते हैं, क्योंकि ऐसी सम्भारना एक प्रतिशत से अधिक नहीं है। शेक्सपियर, ब्लेक, बॉन्सन, स्टॉक, शेली और कुछ अन्य लेखकों के विषय में यह समझना सिद्ध उल्लिखित है और उनमें से कुछ के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे अपनी पाण्डुलिपियों में कभी भा कट छुट्टी नहीं करते थे। प्रेरणा होने पर कोई भी ऐसा कर सकता है और साहित्य का सर्वक बन सकता है। कवि की दुल्ला पीणा से भी जानी है, जिसके तारों को छेकर अनुभूति का पवन संगीत की सृष्टि करता है। उसे केवल प्रेरणा की प्रतीक्षा करनी होता है और उसका प्रभाव के प्रति अपने को सम्पूर्ण रूप से निवेष्टित कर देना पड़ता है। जब प्रेरणा का स्फुल्लिंग सुलग उठता है तो वह अग्निशय्या का रूप धारण कर लेता है, जब भावना की आग अग्नी है तो वह सतत प्रवाहित, अप्रतिरोधित धारा के रूप में वेगमग्न हो उठती है। यह अग्निशय्या और धारा प्रवाह स्वतः प्रसृत हैं। सर्वाङ्गक काव्य भावो माद से निष्पन्न होता है और अनिवार्यतः वह रूप धारण करता है जिससे हम बाद में परिचित होते हैं। सामान्यतः यह समझा जाता है कि बालासुखी के तरल अग्निप्रवाह की तरह कविता सीधी अनुभूति की अगिठी से गम निकलती है और उत्साहीन हो जाने पर अपना सुनिश्चित और शाश्वत रूप ग्रहण कर लेती है।

स्वयं कवियाँ ने प्रेरणा-सम्बन्ध की इस धारणा का समर्थन किया है। उन्होंने बार बार एक नियामक शक्ति की खोज की है, जिस पर उनका कोह चढ़ नहीं और जिसे उन्होंने अपनी रचनाओं की सञ्चालिका कहकर स्वीकार किया है। प्रत्येक सच्चे कवि की यह सूना प्रार्थना अगवा गयी होती रही है कि "मीत किसी का गाता हूँ मैं।" उनमें से सर्वोत्तम कवियाँ ने बार बार किसी शक्ति के दाग में पड़कर ऐसी अवसरमयता का अनुभव किया है जैसी यहूदी पैगम्बर की इन स्मरणीय पंक्तियों में है—“तब मैंने कहा, मैं न उसका नाम लूँगा, न धागे कभी इसे प्रमाण के रूप में उपस्थित करूँगा। परन्तु प्रज्जलित अग्नि की भाँति उसका सम्बन्ध मेरे अस्थि पित्र में बन्ध होकर जलता रहा और मैं उस असहनीय को सह न सका, मौन न रह सका।” इस प्रकार अपने मस्तिष्क पर छा जाने वाले प्रवाद की अपरिहार्यता को दृष्टाकार करते हुए कवियों ने अपनी प्रतिभा के देवा सदान्त को और सचेत किया है और कुछ सीमा तक अपनी मन प्राप्ति को इस प्रकार रहस्यमय बना रखा है कि उसमें बुद्धि का प्रवेश ही निषिद्ध है। इस दृष्टिकोण से काव्य चेतना के इतिहासी स्वरूप पर बल देकर, कि कवि को किसी का सदेशवाचक माना है, प्राचीन साहित्य के स्तर को ऊँचा रखने में सहायता दी है और इस प्रकार मानव जाति की बड़ी सेवा की है। परन्तु जहाँ तक उसने काव्य प्राप्ति को रहस्य बनाकर उस वस्तु को, जिसे सभी साहित्य-निर्माताओं का अध्ययन का प्राथमिक विषय बनाना था, धुँध बनाया है, उसने कवि शिक्षा-सम्बन्ध की वास्तविक साधना में बहुत बड़ी बाधा भी उपस्थित की है।

कवि प्रेरणा के प्रकृत रूप के सम्बन्ध में आत्मक धारणा ने आधुनिक युग में कविता के मानदण्ड को नीचा किया है। विज्ञान के विकास ने आज मनुष्य की इस योग्य बना दिया है कि वह उस अथात्म जगत् का परिचय या सन्धे जिससे कवि दैवी सम्बन्ध प्राप्त करता है। जिन नेह प्राचीन के चर से प्रभावित का काम हुआ है उसकी प्रक्रिया में कवि का प्रेरणा स्रोत भी कुछ छुट गया और हीन ही ऐसा कुछ भी न रहेगा जिसके लिए हमें नक्षत्रों की ओर ताकना पड़े। आज कवि प्रवृत्ति के समान यह नहीं कहता कि “कालो ह्यथ निरवधिपिपुला च वृष्णी।” यह मायो पीछिया को कुछ एही वस्तु देने का आकांक्षी नहीं है जिसे वे चिरकाल तक धरोहर बनाकर रखें। वह नव्य चेतना को सदातन्त्र रूप देकर मनुष्य है, जिससे वह सचेदनशील आधुनिकों को अस्वीकृत हो सके। कवि प्रेरणा के दैवी रूप के प्रति आस्था आज के समान न उतार पर है। आज के कवि से यह अपेक्षा की जाती है कि वह तात्कालिक दृष्टि के प्रति उसी प्रकार बागस्तु रहें जिस प्रकार पत्रकार अपना हल नेता रहता है। यह कहा जाता है कि कवि उस समय तक सुन्दर रचना प्रस्तुत नहीं कर सकता और अपने समीक्षकों को रतानुमति नहीं दे सकता जब तक वह अपने युग की हलचलों का पूर्णतया आनन्द न हो। ये युगनिष्ठ समीक्षक रुदार शिक्षा की उपलब्धि हैं और ऐसे नर नारी हैं जिन्हें कुछ भी पढ़ना है, चाहे वह सुवीपन ही क्यों न हो। यह विशाल और सब कुछ पाने की दावेदार जनता, जिसे कवि को प्रत्यक्ष संबोधित करना है, मुख्य रूप से तात्कालिक वर्तमान के लिए अथवा चर्चा चाहती है। पिपय की अपेक्षा ‘रूप’ उसके लिए महत्वहीन तथा अप्रधान है और रहेगा। इसीसे आधुनिक कवि को एक प्रकार से पत्रकार बन जाना पड़ा है और किसी भी विषय के सम्पूर्ण दृष्टि के स्थान पर उसे सत्य का वह प्राथमिक पक्ष प्रस्तुत करना पड़ा है जो आज के देश काल को अनुप्राणित करता रहे। उसने सामयिकता और स्पष्टता को लक्ष्य बनाया है, अपनी आँखों

से देता है और परम्परा के अन्तिम अवशेषों से भी अपने को मुक्त कर लिया है।

वहाँ प्राचान युग का कवि प्रेरणा के स्रोतों में एक ऐसा शक्ति स आदर्शित होकर, जो उसका अपना नहीं है, विश्वप्रपञ्च के नियति चक्र के अपने को देखता था, वहाँ आज का कवि अपनी सीमित 'व्यक्तिमत्ता' को उन कविताओं पर आरोपित कर देता है जो उसकी 'रचना' हैं। प्राचान कवि निर्वैयक्तिक था और सच्चे योगी की भाँति व्यक्तिमुखी चिन्तन एवं व्यक्तिगत पूर्वग्रहों से अलग तथा तटस्थ रहकर अपनी अभिव्यञ्जना को शाश्वत सत्य का रूप देकर सन्तुष्ट था। आधुनिक कवि मौलिकताप्राही है, यहाँ तक कि उसमें अभिव्यञ्जना के ऐसे साधनों और शैलियों के आविष्कार का हट है जो नि सदेह 'यत्तिनिष्ठ' हैं।

आधुनिक युग की स्वाकृति के लिए काव्य की दैवी प्रेरणा के सिद्धान्त को नष्ट व्याख्या देनी होगी। हम मन की अन्तर्निष्ठा अथवा अन्तरिक जीवन को तथ्यरूपेण मानते हैं। हमारी यह धारणा है कि मनुष्य अपनी अन्तर्दृष्टियों से प्रभावित होकर अज्ञात रूप से उन लक्ष्यों की ओर बढ़ता है जो चेतन मन में ज्ञात रूप से स्वाकृत नहीं होते। अवचेतनमूलक अन्तर्दृष्टियों का आग्रह इतना सशक्त होता है कि उसका अवश का अर्थ है असफलता के दुःखमयी अभिशाप की निरन्तर पादा से ग्रस्त रहना, जैसे हमने अपना मखिल स्वयं बिगाड़ लिया हो और अपने उच्च स्वरूप के प्रति मिथ्या सिद्ध हुए हों। उसकी स्वीकृति असन्तोष का आह्वान है, मन में नष्ट आकांक्षाओं का द्वार उमुक्त करना है, निरन्तर उच्च लोकों की ओर सक्रमण है, घुरासिद्ध चित्तों की हमारी भाव परिधि में ले आना है। जो शक्ति व्यक्ति को ध्याते टकेलती है वह इतनी 'पर' नहीं है कि वह न उसकी शक्ति को नियमित कर सके न उसके स्रोत और गन्तव्य को पहचान सके। अन्तर्प्रवृत्तियों से उद्भासित होने के कारण वह नितान्त व्यक्तिगत है, परन्तु साथ ही वह ऐसी बहुभूत शक्ति के समान है जो उसकी चेतना से बाहर किसी बिन्दु पर आसन बसाकर प्रवृत्तार की भाँति उसके जीवन का दिशा निर्देश करती है।

कवि अपनी आभ्यन्तर प्रकृति से भावित और आन्दोलित होता है। एक ऐसी शक्ति उस पर हावी हो जाती है और उसे उँगली पकटकर चलाती है जो प्रतिप्राकृत नहीं तो असामान्य तो है ही। अन्तर्दृष्टियों के माध्यम से प्रकृति कवि पर इतना दबाव डालती है कि वह स्वयं को उसके हाथों में दता है और उसके लक्ष्यों एवं प्रस्तावों को अपना माग्यादेश मान लेता है। इस प्रकृतिगत प्रभाव के बलारोप को हम कवि की नियति अथवा उसका 'प्रातमा' कह सकते हैं। हम उस नाह को नाम दें, इस शक्ति की अपरिहायता का तथ्य उसका चेतना के नियन्त्रण से बाहर रहना और इस अनिवार्यता को हम मानकर रहना होगा। हमें सदैव यह स्मरण रहना होगा कि कवि प्रतिमा से सम्पादित गुप्त तथ्या में से एक यह भी है कि उसकी शक्ति पर उसके दावा का अन्त नहीं है और सम्पूर्ण सम्पत्ति से भी चरम शक्ति की उपलब्धि नहीं होती। अपनी आभ्यन्तर प्रकृति के दबाव का कवि भावना के रूप में प्रत्यक्ष करता है जो इतनी गम्भीर और शक्तिमती होती है कि उसकी सम्पूर्ण प्रकृति को आत्मसात् कर लेती है और आनन्द की अपेक्षा पादा ही अधिक बनकर अनुभूत होती है। उसकी गम्भीरता और शक्तिमत्ता में पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया होती है और यह द्वन्द्व उसे विस्फोट मात्र अथवा स्वप्न-मात्र बनने से रोकता है। फलस्वरूप, कवि भावुकता के उन क्षणों में उस अत्यन्त उद्योति से ओत प्रोत हो जाता है जिसे प्रेरणा कहते हैं और जिसे द्वारा वह विश्वाचकार का भेन्ता

है। इसीलिए ब्राउनिंग को इस लोक भावना के विरोध में पुकार कर कहना पड़ा

A Poet never dreams

We prose folks do we miss the proper duct

For thoughts on things unseen

कवि स्वप्न नहीं देखता। स्वप्न हम साधारण जन देखते हैं। अदृश्य की आत्मता शक्ति धारा ही हम नहीं मिल पाती।

कवि प्रतिभा अथवा कवि की आत्म्यतर प्रकृति की, जिसके द्वारा टैव उसे अनुभावित करता है, हम द्वितीयगम्य और द्वितीयतीव्र के बीच में पड़े आवरण पट की छेदन शक्ति कह सकते हैं। जिस अन्त स्पर्शि द्वारा यह परदा चीया होता है, प्रकृति का वह अकुश जो उसे निरन्तर कर्त्तव्यशायी को स्पर्श करने की चुनौती देता है, उसे हम न्यवगेण स्पर्श नहीं कह सकते। यह उसे देने उद्देश्य का प्रति चैतन्य प्रदान करता है जो आनन्द, स्वाध्याय और सौन्दर्य से भरा है।

कवि की आन्तरिक प्रकृति से जिस घनीभूत भावना का जन्म होता है, वह मलयज अथवा अमृतमय रूप में उसके पशु सत्य से संपर्कित होने का फल है। वह कवि के यत्नित्व और उद्यम परिश्रम के विभिन्न घरातलो या मिलन तन्त्र है। इस माध्यम से वह जिसे हम 'वस्तु' कहते हैं, प्रतिभासित और अन्तर्भावित हो उठता है। जिस प्रकार भाव बोध अनेक हैं, उसी प्रकार वस्तु सत्य, अस्तित्व पक्ष और प्रत्यक्षानुभूति के स्तर भा अनेक तथा विभिन्न हैं। वह अनुभूति का विषय है कि हमारी कुछ भावनाएँ उच्चतर हैं क्योंकि वे उच्चतर वस्तु सत्य से प्रसृत हैं। उदाहरणस्वरूप किसी महान् समीक्षक ने हम जिस रसानुभूति की प्राप्ति करते हैं, वह सुस्वादु भोजन की रसानुभूति से उच्चतर एवं शुद्धतर है और हम यह सोचें तो ठीक ही है कि यह वस्तु चाहे जो हो, वस्तु स्तर पर उस चीज से ऊँची है जिससे हमारी रसना तृप्त होती है। अपने चारों ओर की वस्तुओं से जो स्पर्श हमें प्राप्त होते हैं उनके अन्तर्गत हमारे भीतर भाव-बोध के स्तर का जन्म होता है और यह भाव बोध हमें भीतरी वास्तविकता के लिए ऐसा मापदण्ड दे देता है जिसे हमें अनिवार्य रूप से स्वीकार करना होता है।

सच तो यह है कि जिस शक्तिमती और गम्भीर संवेदना की अभिव्यक्ति कविता के रूप में होती है यह मानव यत्नित्व के उच्चतर पहलुओं से सम्बंधित है और उसका वस्तुगत प्रति पक्ष वास्तविक जीवन में प्रतिभासित है। यहाँ वास्तविकता को हम गम्भीरतम अर्थों में लेते हैं। वहाँ तक कवि की ये भावनाएँ सामान्य मनुष्य की सतही भावनाओं से अधिक शक्तिमान और गम्भीरतर हैं, वहाँ तक उन भावनाओं द्वारा उद्घाटित वस्तु सत्य जीवन और प्रकृति के सतही पहलुओं से अधिक वास्तविक होगा। अपनी शक्ति के बल पर कवि भावना के इस अन्तरंग तक पहुँचने में समर्थ होने के कारण चेतना के निम्न स्तरों पर पहुँच जाता है और उस 'अव रुद्ध जीवन' का अन्वेषण करता है जो कला में अभिव्यक्ति पाने वाली संवेदनाओं का मूल उत्स है। उस गहराई तक पहुँचकर, जो हममें बहुतेरों के लिए अज्ञात देश है, कवि उस निश्चिन्त जगत् से साक्षात्कार प्राप्त करता है जो हमारे सामान्य जगत् के पीछे और परे की वास्तविकता है। इस प्रक्रिया में वह ऐसे वस्तु रूप को उपलब्धि करता है, जो हमारे दैनंदिन अस्तित्वमय चेतना के सौन्दर्य और सत्य को अतिरिक्त कर जाता है। कवि का सच्चा कार्य यह है कि वह अपनी अवधारण्य संवेदनशीलता द्वारा इस मान जगत् को उद्घाटित करे और उद्दीप्त भाव

नकाय के माध्यम से उसको दूसरों पर उजागर करे।

यह वास्तविक वस्तु कम, यह 'गुहा निहित' जीवन, जिसे कवि ऊपर लाता है, अप्राकृत नहीं है। सच्चे कवि के लिए कोई द्विधा नहीं होती, उसके लिए अस्तित्व के अन्तर्बहिर् पक्षों में किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है। जो कुछ उसे इन्द्रियबोध है, उसके प्रति उसकी घनाभूत सहानुभूति प्रतिबिम्बित प्रकाश की भाँति उसके बहिर्बोध को उसके आन्तरिक जीवन का अंग बना देती है। शिश्न के तूफान की प्रयुक्तता कवि शैली के उर अन्तराल को आच्छादित कर लेती है और उसके विरुद्ध जीवन की रहस्यमय गहराइयों में प्रातःध्वनित होती है। शोकसिंघर की पंक्तियाँ हैं—

Nights candles are burnt out, and jocund day

Stands tip toe on the misty mountain tops

इन पंक्तियों में कवि के सरल शब्द हमारे वसन्त स्वप्न को खगा देने हैं और साथ ही हमारे दृष्टिपथ में सौन्दर्य का सबाव आकार लदा कर देते हैं। हमारी स्मृति और कल्पना शक्ति एक बार फिर बदलते हुए रंगों के पैमब को, मुखरित मौन को, तथा की हिमघोत निर्मलता और ताकती को लौटा लाती है। हमारा हृदय आनन्द से पर खड़ा है। शीघ्र ही यह अर्द्ध ऐंद्रिक आनन्द गम्भीरतम संवेदना में बदलने लगता है, हमारे आन्तरिक जीवन की गहराइयों तथा की गुलाबी किरणों से उद्भासित हो उठता है। जिस समय यह सूक्ष्म संवेदना हमारे मातर जाग उठती है, हम वस्तुओं के विशुद्ध सारवत स्वरूप के प्रति अपनी एकात्मता या अनुभव करने लगते हैं और जीवन-मरण, पूर्व-पश्चिम के धुँधले प्रकाशविन्दु अपरिधीम दिवस ज्योति में घुल मिल जाते हैं।

कविता का बाधु सिर पर षडकर बोले, इससे पहले कवि के लिए आवश्यक है कि वह अलपट, अद्वय स्थिति का अनुभव करे और सृष्टि के गम्भीरतम जीवन स्रोतों तक पहुँच जाय। प्रकृति की आत्मा से तादात्म्य प्राप्त करके ही कवि अपने अह को व्यक्तिमत्ता के पाश से मुक्त कर सकता है। छविपट में जलनी हुई निष्कम्प दीपशिला की भाँति उसे ऐसी चरम शान्ति की अनुभूति हो जाती है जो तब विनर्क के परे स्वयत्ति है। या यों कहिए कि उसके सामन से चेतन अविचेतन के बीच का अन्तर्घट हट गया हो और उसकी ओलें उस कालातीत एव साव भीम सत्य से प्रत्यक्षीभूत हो ठठी हैं जिसे मनुष्य-मात्र पर उद्घाटित करना उसका अनन्य धर्म है। कवि अपनी अन्तरंग प्रकृति की उच्छ्वलन शक्ति द्वारा शासित होकर मावमयी अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न हो जाता है। इस तथ्य से उसकी प्रतिभा का रूप बदल नहीं जाता। प्रेरणा के क्षणों में उसका मन प्रकृति के गम्भीर और सूक्ष्म प्रभावों के प्रति खुला रहता है। इन प्रेरक क्षणों में कवि प्रकृति की सहकारिणी मन स्थिति को हम 'रसोत्लास' कह सकते हैं जिसमें आध्यात्मिक किरणों के प्रवेश के लिए चेतना पारदर्शक माध्यम बन जाती है। इस स्थिति में मन स्वीय चारणा और स्वीय चिंतना से हटकर परे खड़ा हो जाता है और कल्पना की सघनता द्वारा खण्ड के स्थान पर अखण्ड और सम्पूर्ण बनकर तोष की प्राप्ति करता है। इस प्रकार सन्नद्ध मन में विचार एवं प्रेरणा सामान्य चेतना से बाहर से आते लगते हैं और कवि उन्हें अन्त ज्योति की अखण्डता में सौन्दर्यानुभूति के रूप में ग्रहण करता है।

इस साक्षात्कार की यह विशेषता है कि उसे मन के सम्मुख बहुत समय तक दृढ़ नहीं

रता जा सकता। वह लपट की तरह झपटता चला जाता है और कलानुभूति एवं कला तर को ध्वस्त कर देता है। फल यह होता है कि यत्न का यत्नचल मन उसे आत्मभूत नहीं कर पाता। यद्युत कवि भयान्त रहता है कि उसकी चेष्टा इस भाषाकार से मुद्रित हो, इससे पहले ही वह क्षुब्ध न हो जाय। उसका प्राथमिक प्रयत्न यह होता है कि वह स्रुत समाधि द्वारा उससे अतिचेतन को, प्रसृत किए जाने वाले इस प्रिस्तुत आलेख को, सुद्रुत कर ले। भाषात्मक सङ्ग-कोष की यह आन्तरिक अभिव्यञ्जना एक ऐसी प्रक्रिया से प्रभावित होती है जो काटो पट पर बिम्ब उभारने के समान है। कवि जब अपने भयुर रजन को अपनी चेतना पर मुद्रित करने में सफल हो जाता है, जब वह प्रेरणा के अश्व पर सवार हो जाता है, तब सर्जन का प्रारम्भिक अध्याय समाप्त होता है। परन्तु सहीम के अन्त में धँसकर भी कवि का मन स्वप्न अग्र शासित और सागर होता है। जब तक कवि का मन कल्प छाया नीहार अथवा स्वप्न के समान रहता है, तब तक वह उसको सम्पूर्ण विस्तार से ग्रहण नहीं कर पाता। जब तक प्रेरणा के अश्व को धम्मा नहीं लगती, कवि को यह खतरा रहता है कि वह अपने मन कल्प को छोड़ेगा। यदि वह मन कल्प सर्वनामक प्रेरणा की परिणामांति पर अतीन्द्रिय लोका में अकण्व बना रहता है तो सम्भव है कि उसे कभी रूप नहीं दे सके। वास्तविक सर्वम की अन्तिम प्रक्रिया अंशतः कल्पना द्वारा, अंशतः भाषा की सहायता से सम्पूर्णता का प्राप्त होती है।

प्रायेक सन्धे कवि में कल्पना शक्ति रहती है, जिसके द्वारा वह अनूर्त को मुक्त करता है, उन्मुक्तों को नये योगायोग देता है—ऐसे योगायोग जो मन की यथार्थ्य एवं सम्भाव्य की धीमा से दूर, बहुत दूर ले जाते हैं। उसके द्वारा कवि अपने मन के भाव एवं और दृश्यमान वस्तु के यथार्थोत्पन्न सत्य में श्रद्धालु स्थापित करता है। वह अपनी प्रकृति को इतनी सचाई से जानता है और निश्च प्रकृति की शक्तता एवं तात्पर्यता का उसे इतना स्पष्ट आभास रहता है कि उन परिप्राप्तों में उसकी कल्पनात्मक अतर्हृष्टि विरहित हो जाती है जो उसका साधारण अनुभूति के क्षेत्र के बाहर पड़ते हैं। इस अतर्हृष्टि से निर्दिष्ट हो वह प्रकृति के अद्वैत मीलित रहस्य को पकड़ सकता है और जिस दिशा में वह परिचालित होती है उससे उन आदर्शों की परि कल्पना कर लेता है जिन्हें मूर्तिमान् करने में वह असमर्थ है। जिस सामान्य प्रकृति कहा गया है उसके सम्बन्ध में उसके दो भाग हैं। जिस सद्भाव की ओर वह प्रयत्नशील है उसे देखते हुए प्रकृति एक साथ सफल असफल है और कवि न उसकी सफलता को भ्रम देता है, न विफलता से प्रसन्न होता है। उसकी कल्पना स्पष्ट तत्त्वों का उस अत्यन्तता में पुनर्निर्माण करती है जो साधारण अनुभव के विविध से बाहर है। जिस प्रकार हृदय की आकाङ्क्षा अप्राप्य की ओर धावित होती है, उसी प्रकार अकल्पनीय में ही कल्पना का मुक्त प्रवाह है। उसमें स्वप्न न मुक्तों और आत्मप्रकाश से गढे हुए अनेक अस्तित्व समाहित रहते हैं। इसके लिए वह प्रकृति के दुष्प्रमाण और वाष्पीय अप्रत्यक्षार का उपयोग करता है, उसे तत्त्वमत्ता के नियमों में आपद्ध करता है। इस प्रकार सदा हृष्टा प्रतिमान उसकी आप्रत चेतना पर मुद्रित हो जाता है और राजनात्मक स्फूर्ति के नि शेष हो जाने पर भी उसकी पुनरुत्पत्ति सम्भव है।

जब एक बार आवेशमय सद्भानुभूति कवि की सर्वनात्मक कल्पना में मूर्तिमान् हो उठती है, जब एक बार सौ द्रव्य स्वप्न इस प्रकार आत्मन्तर अभिव्यञ्जना प्राप्त कर लेता है, तो वह प्रगट होना तथा खड़ा से खड़ा अपनी सत्ता से जीना चाहता है। स्वतंत्र अस्तित्व के

साधनों के अभाव में वह जो हो सकता है नहीं हो पाता, न वह स्रष्टा की मृत्यु के सदृशों वही बाद दूसरों की अनुभूति में आविर्भाव हो सकता है। वह शरार मोंगता है जिसमें वह अपना 'यत्किञ्च' भर सके और रह सके। जब तक कलाकार को दृष्टिस्थायी वस्तु नहीं पा लेता, जिसमें वह अपने दर्शन को मूर्त कर सके और उसे अमरता दे सके, तब तक स्रष्टा का अन्तिम अध्यास समाप्त नहीं होता। उसे अन्तिम पञ्जना का माध्यम खोजना होगा—स्फटिक राखट, ताम्रपत्र, स्वर प्रवाद अथवा रंग पट—जिसमें उसका स्वरूप बदी होगा और जिसके द्वारा वह सहस्रश नक्षत्रों के सौन्दर्य से आवृत रूप वैभव के दर्शन कर सकेगा अथवा उस प्रभाव की देवी का रूप धारण करेगा जो गुलाबी परिधान पहनकर

माथो के दस्त ग सितर पर तुहिन बि दुधौ पर पग धरती म द डसरती दीखती है।

माध्यम द्वारा अपने मन स्वप्न को अभिव्यक्ति देने की प्रक्रिया में कलाकार उसकी वास्तविकता से परिचित होता है। इमरसन ने कहा है—“मैं जो अपने से नहीं कह सकता, उसे तुमसे भी नहीं कह सकूँगा।” इस 'कहने' के प्रयत्न में, माया के माध्यम से गम्भीर विचार अथवा भावानुभूति की अभिव्यक्ति में मन उसे अखण्डत ग्रहण कर लेता है। अथ किसी भी प्रकार यह स्रष्टाग्रहण असम्भव है। माया के समाम ज्ञान में चिर बुद्धिमान वस्तु चक्र को बंदी करने की प्रक्रिया में, जिसमें कवि की यत्किञ्च अनुभूति का साधारणीकरण हो जाता है कवि अपने स्वप्न की महतीयता का अनुभव करता है। अभिव्यक्ति के प्रयत्न में पीन अनिनाय है—असम के प्रति आकाशी हृदय की पीन, परन्तु इस प्रयत्न में सफल होने पर मानव वांछन के चारों पुरुषार्थों की उपलब्धि हो जाती है। जिसे 'कवि की पीन' कहा गया है वह वस्तुतः अभिव्यक्ति के माध्यम में वस्तु सत्य के न सम्यक् स्वरूप की पीन है।

माध्यम द्वारा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया दूरदर्शक अथवा अनुवीक्षण यन्त्र द्वारा 'फोकस' करने के समान है। कष्टकर प्रयत्नों के बाद ताल इस स्थिति में आता है कि दृश्य दृष्टि पथ में तीव्रतम रेखाओं में उभर आता है। शिल्पी के मन में एक देखा निम होता है जिसे वह स्फटिक में प्रत्यक्ष और अमर करना चाहता है। छेनी हथौड़े से वह प्रस्तर पत्थर को काटने छोटने लगता है और कमी हथकर, कमी ठहर पत्थर को तराशता है। ऊपर से देखने पर ऐसा लगेगा कि हथौड़े के प्रहारों में काद सगति नहीं है। परन्तु उसकी आँख उस 'मूर्ति' पर लगी है जो प्रस्तर पत्थर के केन्द्र में विराजमान है और जिस तक पहुँचने में वह प्रयत्नशील है। जैसे-जैसे वह केन्द्र के पास आता जाता है, जैसे-जैसे उसकी तराय सूक्ष्म होती जाती है। जब स्फटिक में से मूर्ति साकार होती तो क्या वह अपनी आभ्यन्तर चेतना में प्रद्युप्त 'मूर्ति' को आकार धारण कर सकेगा अथवा क्या वह कोई अवर या ग्राह्यी चीज होगी और उसकी विफलता का प्रतीक बनेगा? हथौड़े का अन्तिम प्रहार कलाकार के लिए आलोपलब्धि का अतिशयान्त क्षण है जब वह अपना मानसी साष्टि से साक्षात्कार करता है। इसी प्रकार संगीतज्ञ के लिए मुक्ति या आम लब्धि का क्षण उस समय आता है जब अनेक यन्त्रों और निरन्तर प्रयोगों के बाद वह अपनी प्रिय रागिनी के स्वरूप तक पहुँच जाता है। गायक की मन मूर्ति और रागिनी के स्वरूप में तात्कालिक स्थापित होने पर ही उसकी आत्मा संगीत के लोकोत्तर रस से उदीप्त हो पाती है। राम चमक उठता है, स्वर लौ लेने लगता है।

कलात्मक सञ्जन की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए कविताओं और चित्रों के लिए प्रयुक्त

‘रचना’ शब्द निराशानक और आतिपूर्ण है। एक प्राचीन कहानी है कि ग्रीस के एक कलाकार से हेलेन का एक चित्र तैयार करने को कहा गया था और उसे यह अनुमति प्राप्त थी कि वह नगर की गुं दरतम कुमारीकाओं का ‘मॉडल’ के रूप में उपयोग कर सकता था। अपनी चेतना में हेलेन की छवि को मूर्तिमान न कर उसने बौद्धिक चुनाव द्वारा दृश्यमान परिपूर्ण सौंदर्य से चित्र को ‘रचना’ करनी चाही। इस प्रकार की बौद्ध तोड़ वाली कृति में एकाग्रता अस्मभव है। सर्वहृत् भावावेश के ताप से गले बिना विभिन्न अंग कलात्मक ढंग से एकीकृत नहीं हो सकते। रचना बलाकार अपने चित्र की अखण्ड ‘देखता’ है और अपनी आभ्यन्तर चेतना में उसकी प्रतिकृति समस्त अंगोपांगों के साथ उतारता है। वह उसी समय चित्र उतारता आरम्भ करता है जब यह मन चित्र सम्पूर्ण रूप से आलोकित हो जाता है।

अप्य कला-माध्यमों की भाँति माया भी कवि-स्वप्न की अभिव्यञ्जना के मूर्तिमान होने का प्रमिया में बाधक है। कवि की अनुभूति अपने अलग कुछ शब्द रोज लेती है और ये शब्द मिले जुले कुछ अन्य शब्द बसोट लाते हैं तथा ये नये शब्द अनुभूति को प्रमानित करते हैं जो कालान्तर में, काव्य स्वप्न की प्रक्रिया में, स्वयं रूपा क्त होती है और रूप की व्यञ्जनाओं एवं आवश्यकताओं के अनुसार नई गहराइयाँ तथा नई सूक्ष्मताओं का अन्वेषण करती है। जैसे जैसे ‘रूप’ अनुभूति के उपयुक्त ढाँचे में ढँकता चलता है, जैसे जैसे वैद्रीय विचार अपना भाव के नये पहलू मन में उभरते जाते हैं। फलस्वरूप ऐसे शब्दों और वाक्यांशों के नये आरोह वरोह बाङ्गनीय होते हैं जो कविता में आवश्यक प्रवाह एवं गतिशीलता उत्पन्न कर सकें। अनेक महान् कवियों ने एक ही छंद में वाचने में अनेक दिन ‘पसीन’ किए हैं और अनेकी कविता पर वर्षों लगाए हैं। ओ को एकमात्र कविता में अनुभूति और ‘रूप’ की पटरी चिटाने में चौदह वर्ष लगे। डेनिस को अपनी अभिव्यञ्जना को बार बार बदलना पड़ा, यहाँ तक कि प्रत्येक सत्करण में पाठ बदला हुआ है। राबेटी ने उन्नीस वर्ष की आयु में ‘Blessed Damosel’ की रचना की, परन्तु इस रचना का पाठ आठ के सत्करण से नितान्त भिन्न है। वीसिया बार उसमें संशोधन किये गए हैं और अन्त में जब कवि के मन में सुन्दरतम ‘रूप’ प्रादुर्भूत हुआ तो वही पहली वस्तु-वस्तु की भङ्गी थी जिससे कवि ने आरम्भ किया था। आज तक उपलब्ध कोई भी महान् काव्य भावोद्रेक की पहली अभिव्यक्ति नहीं है। आरम्भिक तालालिक पाठ सम्पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं हो सकता, क्योंकि जिस माया द्वारा अपरिचीम को वाणी देनी है वह बल और सही है।

तत्पश्च यह है कि माया सदैव अनुभूति के सामान्य घरावल पर चलता है और इसीसे कवि के लिए अपने असाधारण स्वप्न को वाणी देना कठिन हो जाता है। कवि की माधम्य अन्तःप्राप्ति या तो सामान्य तल पर हलकी उतर आए कि सामान्य माया में उसका प्रकाशन हो सके या कवि शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग कुछ इस तरह से करे कि उनके द्वारा उसका स्वप्न परिचय हो। कवि धारणातीत को धारणा में बाँधना चाहता है, अकल्पित की कल्पना करना चाहता है। वह अनभिव्यक्त को सामान्य माया की निश्चय रूपरेखा में आमयोजित करना चाहता है। यदि वह असमी की अभिव्यक्ति नहीं कर सका तो उसका लक्ष्य अपूर्ण रह जायगा। चूँकि उसका उत्तरदायित्व अपने ही प्रति है, चूँकि उसकी सवप्रमुख आकांक्षा यही है कि वह अपने स्वप्न को मूर्त करे और उसे विस्मृति के अभिशाप से बचाए, इसीसे जो अपनी

महानता के कारण स्पष्ट एवं सहज अभिव्यक्ति का अधिकारी बन जाता है वही सफल कवि बड़ा या सफल है। भाषा के पञ्चनात्मक प्रयोग से कवि कल्पना शक्ति के तत्काल प्रयोग करता है जो अर्थ से अर्थी तक, प्रतीक से प्रतीक तक और कल्पना से धारणा तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। जब वह अपने इस आदर्शपूर्ण अवलोकन का निवार कर चुकता है, तब वह यह प्रयत्न करता है कि उसकी वाणी बुद्धिगम्य हो जिससे उसका गान अस्पष्ट-गोप्य न हो जाय।

अब द्वारा बोधव्य होने की उसकी सज्जता उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी अपने आदर्श अवलोकन के निवार की सफलता। उसकी सफलता का खेत इसमें है कि उसे जो भावनाएँ सचेतित करती हैं वे मानव हृदय की सामान्य सम्पत्ति हैं। उसका पाठक इन सचेतनाओं में अपनी सचेतनाओं की अनुभूति प्राप्त करते हैं, जैसे वह मानव प्रकृति की अन्तर्भूत आत्मा हो। यदि ये सचेतनाएँ एकात्मक उसीकी चीज होतीं, यदि उसकी प्रतिमा लीकोर या विन्डोव होती तो वही अपने गीत का आनन्द ले सकता। उसके लिए गाना असम्भव हो जाता, क्योंकि वह सामान्य घटात्मक ही उसे प्राप्त नहीं होता जो आप मनुष्यों के लिए मिलन विन्दु बनता। कवि और आप मनुष्यों में अंतर यह है—कवि कवि में वे भावनाएँ प्राप्त हो उठी हैं, चेतना के प्रकाश में आ गई हैं, वहाँ सामान्य मनुष्यों के हृदयों में उनका अस्तित्व सम्भावना का भूमि पर हा है। निरुद्ध जीवन के अंधकार में वे उस क्षण की प्रतीक्षा करती हैं जब वे प्रत्यक्ष होंगी। हम जब कविता से अनुप्राणित होते हैं तो कवि की सचेतना हम तक नहीं पहुँचती। होता यह है कि हमारे सवाल सचारीभाव तीव्र हो तीव्रतर होते जाते हैं और सचेतना स्तरों को मोड़कर अन्त में निरुद्ध जीवन की गहराई में उतर जाते हैं। कवि द्वारा हम एक मात्र की विधि में समर्थ होते हैं और तब हमें दूसरे और अधिक गम्भीर भाव का पता चलता है जो और भी गहरे माध-बोध से चिन्तित है। जो भावनाएँ कवि के लिए अदर्शनीय हैं उनके सम्बन्ध में हम अचेत रहते हैं और कवि उनके प्रति चेतन है उनका हमें धुँधला आभास भर रहता है। कवि सचेतन रूप से आभ्यन्तर जीवन के अग्रगण्य को पूर्ण करने में सहायक होता है और इस प्रकार हमारी निरुद्ध भावनाओं को स्वरूप देता है। चाहे चिन्ते ही असम्पूर्ण रूप में अमिषचित्त हो, प्रत्येक अर्थ-बोध हमें आभ्यन्तर जीवन के अंध-रहस्या में उतार देता है और हमें वही देता है जो उसने कवि को दिया है। इस तरह शब्दों की अमिष्यन्तवा शक्ति उतनी ही महत्वपूर्ण और वषाय हो जाती है जितनी स्पष्ट बोध की शक्ति। अपने मन की मूर्ति को निखालने के विलसिले में कवि हमारे मन की तब गहराइयों को व्यञ्जित करता है वहाँ से प्रेरणा उद्भूत हुई है। व्यञ्जना की असम्पूर्णता के कारण ही यह सम्भव है कि कविता उस अगाध वास्तविकता में प्रकट कर सकती है जिसके सम्मुख कवि, हममें से वषभेष्ट मनुष्य की तरह ही, समाधि के मोन में खो जाता है। वातकार जब चिरन्तन के प्रति अपने गान उठाता है तो उसे तब समिति एवं अर्थ-बोध का स्पष्टता को विलाञ्जलि देना होती है। काल शैल पर चढ़कर कवि कालातीत कैनाथ शिखरों की उस मोघाकार रूपरेखा की भावना पाता है वहाँ शब्द अर्थ की बोधगम्यता और समाम कथन से मुक्त हो जाता है। केवल इसी प्रकार कविता उस असीम तक पहुँच सकती है एवं उसे प्राप्त बना सकती है जो मन की चिरन्तन विज्ञा का विषय है। केवल इसी प्रकार कवि हमें उस विन्दु की अनुभूति दे सकता है जिसकी और उसकी कल्पना सम्मिलित है। अमिषा के विपरीत व्यञ्जना पाठक अपना ओटा के मन में प्रपरिशीम

की सम्भावना निकल करती है। अपनी शक्ति के अनुसार हम उसके सहारे कवि के साथ राज यात्रा पर निकल चलते हैं। वह कवि को हमारे लिए मुक्ति दूत बना देती है और काव्य मानव जाति की स्थायी सम्पत्ति बन जाता है। वह ऐसा कोश हो जाता है जिससे प्रत्येक उत्तर पीढ़ी समाज के विकास के साथ घन संचय करती है, सर्वश्रेष्ठ कवि का रूप और उसे व्यञ्जित करने वाले शब्दों के अर्थ समाज विकास के साथ उत्तरोत्तर अधिक सुन्दर रूप से आत्मसात् होते जाते हैं और मनुष्य मान के लिए अनन्त काल तक ज्ञान के अक्षय स्रोत बने रहते हैं।



अध्ययन : भारतीय लेखक

सामान्यतः साधारणीकरण तथा आचार्य शुक्ल

रामलालसिंह

साधारणीकरण तथा आचार्य शुक्ल

सम्यक् मन वाले मनुष्य की प्रकृति में पूर्णता, समति, अभेदता तथा उपधि की ओर जाने की प्रवृत्ति बीज रूप में खिरी रहती है, इसीलिए वह किसी स्थान, काल की उपाधि से सीमित विशिष्ट वस्तु की सामयिक अभ्यास स्थानीय विशेषताओं का उतना आदर नहीं करता, जितना वह उसके सार्वभौम अभ्यास विरचन सुणों का आदर करता है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह विशेष में सामान्य की ओर जाने की प्रवृत्ति रखता है। इसी प्रवृत्ति का दर्शन हमें साधारणीकरण की प्रक्रिया में मिलाइ पड़ता है। इस मानवीय प्रकृति को पकड़ने के कारण भारतीय काव्य दृष्टि निम्न निम्न विशेषों के भीतर में सामान्य के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न किसी सामान्य के प्रतिनिधि होकर ही विशेष हमारे वहाँ आते रहे हैं। भाव क्षेत्र के बीच हमारी बाणी सदा भोगों को बीरकर अभेद को ऊपर करती रही है। इसीलिए वहाँ के शास्त्रीय प्रयोगों में साधारणीकरण की चन्दा बहुत अधिक मात्रा में मिलती है।

इस निबन्ध की प्रथम समस्या साधारणीकरण की परिभाषा, प्रक्रिया, उद्देश्य और महत्व का विश्लेषण तथा तत्सम्बन्धी प्राचीन मतों का उल्लेख है, तदनन्तर उसके नियमों में शुक्लजी के मत का स्पष्टीकरण तथा मूल्यांकन है।

साधारणीकरण का सामान्य अर्थ है—व्यक्तिगत या विलक्षण, निर्व्यक्तीकरण, सम्बन्ध विशेष का त्याग, असाधारण का साधारणीकरण। इस प्रकार साधारणीकरण वह सामान्यीकृत अनुभव है, जिसमें वस्तुएँ स्थान तथा काल की उपाधि से मुक्त होकर निर्व्यक्तिक रूप में टिपाई जाती हैं। इस आसारणीकरण की प्रक्रिया वर प्रक्रिया है, जिसमें सङ्कल्प अपने सामान्य मानवीय हृदय द्वारा काव्य या जीवन के विमानादि को सामान्यीकृत अभ्यास मानवीय रूप में प्रदर्श करता है। इस प्रक्रिका से सङ्कल्प तथा अनुभव दोनों कालगत तथा स्थानगत विशिष्ट उपाधियों को छोड़कर सामान्य रूप धारण कर लेते हैं। साधारणीकरण का व्यापार विशिष्ट भाषा को वैयक्तिक अनुभूति को उस रूप में परिणित कर देता है। यह किया पाठक, श्रोता, दर्शक,

कवि, उसके हृदय में घटित होता है। इसकी मटनायक मात्रा व्यापार, साहित्य दृष्टिकार विभावन-यापार, अभिनय गुप्त की विज्ञ प्रतीति-यापार या कभी कभी साधारणीकरण भी कहते हैं। विभावन-यापार ही रस प्रक्रिया की मुख्य भूमिका तैयार करता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साधारणीकरण की प्रक्रिया में पाँच अवस्थाएँ मिलान पड़ती हैं। वे क्रमशः—पूर्यज्ञान (Apperception) इन्द्रियमन्त्रिक (Preparation) अनुभूति (Perception) तुलना (Comparison) और सामान्यीकरण (Abstraction) हैं।

प्रथम अवस्था में सद्दय में काय शास्त्राणि के अध्ययन तथा लोक निराक्षण अवस्था से काय अथवा जगत् की अनुभूतियों को समझने की शक्ति आती है। इसके बिना कोई भी सद्दय साधारणीकरण की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। भरत मुनि इसा की 'बुध' शब्द से अभिहित करते हैं। 'उनसे दृष्टि से 'बुध' का अर्थ केवल पुस्तकीय ज्ञानयुक्त-यक्ति नहीं बरन् विविध अनुभवजन्य ज्ञान सम्पन्न-यक्ति है। अभिनय गुप्त निरूपित सद्दयों के लक्षण-व्यासय (अध्ययन), विकसित मन, तथा समरस होने की चित्तवृत्ति में साधारणीकरण की प्रथम स्थिति की आवश्यक विशेषताएँ विद्यमान हैं।

द्वितीय अवस्था में सद्दय का य, नाटक अथवा प्रत्यक्ष जीवन का दृश्य सामान्य रूप में देखना है, निज-एवमुखाणि विमयी भावों से मुक्त हाता है, क्योंकि सद्दय जब तक अपने वैयक्तिक सुख दुःखों से आवद्ध रहेगा, तब तक वह तत्त्वता की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता।

तृतीय अवस्था में सद्दय काय पहले समय या नाटक देखते समय पात्रों की अपने दृष्ट पथ के नामने धूमना दृष्टा पाता है। इस समय वह उन्हें विशिष्ट देश, काल, नाम आदि उपाधियों से मुक्त रूप में देखता या अनुभव करता है।

चतुर्थ अवस्था तुलना की है। इस अवस्था में सद्दय अपने मन में आये हुए विशिष्ट उपाधियों से मुक्त पात्रों की अपना कल्पना द्वारा अपनी पूर्वोपाधित अनुभूतियों तथा सत्कारों से बार-बार तुलना करता है। यही स्थिति तत्त्वता की होती है।

अंतिम स्थिति में उन पात्रों में पूर्वाहित अनुभूतियाँ, आशों तथा सत्कारों की अनुपपत्ता पाकर उनको उपाधियुक्त रूप में निरूपित करता है, जिसे साधारणीकरण का स्थिति कहते हैं। इस स्थिति में पानगात् अनुभूतियों की-यक्तिनिष्ठता दूर हो जाती है।

साधारणीकरण का कारण मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति है, मानव सुलभ सहायता है, अथवा किसी वस्तु को एक चीज में देखने की प्रवृत्ति है, या इसीकी दार्शनिक पदावली में भेद में अनेक की ओर जाने की प्रवृत्ति कह सकते हैं।

साधारणीकरण में मुख्यतः तीन तत्त्व हैं—१ कवि का लोकधर्मी-यक्तित्व, जिससे वह अपनी अनुभूति अथवा विभावादिवा की विशालता बना देता है, २ भाषा का भावमय प्रयोग और ३ पर-प्रतीति ॥ भरा-युत्पन्न हवस्य सद्दय ।

यदि कवि का-यक्तिव लोकधर्म का अनुकरण नहीं करता, लोकसाधारण भावों को नहीं अपनाता तो साधारणीकरण सम्भव नहीं। कवि की रसवता ही काय की जननी हाती

१ घडनानात्यकुशला प्रवृद्धा शुचय सभा ।

चतुरातोवकुशला नेपथ्यता सुधामिका ॥ 'नाट्यशास्त्र'

है, जोर कवि की रसयत्ना का अर्थ है—आधारणीकरण की क्षमता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साधारणीकरण की शक्ति के बिना काव्य सृष्टि नहीं हो सकती। साधारणीकरण के व्यापार से ही कवि अपने व्यक्ति से दूर उठकर साक्षात् रूप से धातु के पदार्थों से रसमयी अनुभूति प्राप्त कर कलात्मक रूप में अपनी अभिव्यक्ति करता है। साधारणीकरण के व्यापार को ग्रथ माने बिना जो कविता या साहित्य रचा जायगा वह गण्डाल, शून्य कारीगरी, असंकार जम स्फाट कहा जा सकता है, पर काव्य नहीं। वह निम्न, कुतूहल की सृष्टि कर सकता है पर रस नहीं उँहेल सकता। कविता इसीलिए लिखी जानी है कि एक ही मानना सँकड़ा, हजारों क्या लागो आत्मी प्रदण कर। जब किसी कवि की कविता में दूसरे हृदय की समानता ही न रहेगी तब उसे कोई पढ़ने या सुनने का वायगा? जिस कवि का दान्त मुनाय गरका मुल नहीं था सुकना, निषका चित, माय, रिचार, आन्यं, धल्पना, धारणा सार्जननी नहीं हो सकती, उनके साथ साधारणीकरण नहीं हो सकता। अतः यदि कवि को अपनी आत्मावभूति की निरुतावभूति बताता बाज्जुनीय है तो उसे साधारणीकरण का व्यापार अपनाना पड़ेगा। इसी प्रकार सङ्कल्प के मायमय व्यापार को सञ्चालन करने के लिए माया का मायमय प्रयोग आवश्यक है। तात्पर्य, यदि सङ्कल्प पर प्रीति से मरा नहीं है, किसी निष्ठा मुग दु ग के केम में है, तो उनका हृदय साधारणीकृत अस्मिता प्राप्त नहीं कर सकता।

साधारणीकरण के कारण रस निम्न, लोकोत्तर चमत्कार ज्ञानरूप, उपोद्बोद्धमुक्त, अद्वैतानन्द, अस्मितारसानन्द रूप बन गया। इसी कारण वह भूतारख्यानित अयनाश्लीलिन कोटि का माना गया। इसी कारण रस की प्रकृति लोक सत्तात्मक कोटि की हुई। इसीसे साहित्य माय परम सामानिकता के रूप में स्वीकृत हुआ। इसी साधारणीकरण के व्यापार को अपनाते के कारण सङ्कल्प अपनी धृष्ट मना का परिहार कर खार के द्वाहात्मक भावों की अनुभूति दार्थमुक्त रूप में करता है, अपने वैयक्तिक द्वाधों की सङ्कुचित सीमा में उठकर लोक सामान्य मानभूमि में विचरण करने लगता है, वहीं यह जाति, देश, काल की सीमा से ऊपर उठकर मानव मान के मुग दु ग, हृदय क्लेश, निषेध द्वार का स्वायंमुक्त रूप में अनुभव करता हुआ अपने हृदय को निरुत हृदय में परिणत कर देता है। निरुत मुग में साधारणीकरण की द्वितीय अधिक शक्ति सामान्य बीजत म शा जायगी, उनके हृदय का बचन उतना ही अधिक मुक्त जायगा, उसका हृदय मलोच उतना ही नष्ट हो जायगा तथा उसे मनुष्यता की उच्चभूमियों के दृष्टान भी उतनी ही अधिक माना में प्रतिद्वन्द्व होने लगेंगे। किसी कथाकृति में साधारणीकरण की द्वितीय अधिक क्षमता रहेगी, उसमें उतना ही अधिक सञ्चना समारम्भ, सञ्ची सगति एवं सञ्चे सौ र्थ का दर्शन होगा। कथाकृति में इसी साधारणीकरण की विशेषता होने के कारण अनेक मुक्त, परामर्श एवं अनन्यता के बीच भी सङ्कल्प ननता रस रची की रगीन स्मृतियों को बह पीनियों तत्र सँभालकर एतती आह है, इसी विशेषता के कारण कवि के सञ्चे का रिचन-नाम पीनिका का पोषण एवं उतारानवितर बनता गया है, इसी विशेषता को धारण कर कला रनि सदृश-सदृश मानना को नवीन जम देती आह है, अस्तित्ववान के अस्तित्व की मॉल नमनी आह है। भिन्न रूप में हम कह सकते हैं कि साधारणीकरण का सिद्धांत तत्त्वमसि को प्रयो गामक रूप में प्रतिष्ठित करता है। इस सिद्धांत की प्रतिष्ठा हमारे आन्धको ने लोक हृदय की सामान्य अन्तर्भूमि परलक्ष कर दी है। यह सामान्य अन्तर्भूमि विलिप्त या कृत्रिम नहीं है। यह

काय रचना की रूढ़ि या परम्परा, सम्यता के 'युनाधिक विकास, जीवन-व्यापार के बदलने वाले बाहरी रूप रंग पर स्थित नहीं है। इसकी नींव बहुत गहरी है। इसका सम्बन्ध हृदय के भीतरी मूल देश में है, उसकी सामान्य यामनात्मक सत्ता से है, जो देश, काल की उपाधियों में मुक्त है। साधारणीकरण का महत्त्व काय के प्रत्येक अंग में समाया है। इसका अभाव कवि, भावना, भाषा, कल्पना, अनुकार, सहृदय आदि जहाँ कहीं भी हुआ कि काय सौन्दर्य विवृत हो जायगा।

साधारणीकरण सम्बन्धी सिद्धांत की स्पष्टता के लिए उसके विषय में प्राचीन आचार्यों का मत सर्वोप में नीचे विवेचन किया गया है।

भट्टनायक इसके आविष्कारक हैं। इनकी दृष्टि में काय सौन्दर्य, गुण, शक्ति आदि से भावकत्व यापार उद्भूत होता है। इसी मानकत्व यापार से साधारणीकरण यापार सम्भव होता है। इसीसे विभावादिकों का रूप साधारणीकृत कोटि का हो जाता है^१, अर्थात् अनुभव, आश्रय, उद्घोषण, स्थायीमान, अनुभव, संचारीभाव का साधारणीकरण होता है। उद्भूत भावना यापार का सम्बन्ध कवि कर्म से है। कविकर्म से ही काय में सौन्दर्य, प्रमाण, शक्ति आदि का समवेत होता है, जिससे भावकत्व-व्यापार सम्भव होता है। यापार प्रकाशान्तर से कवि कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार भट्टनायक के साधारणीकरण में कवि-कर्म का साधारणीकरण अन्तर्निहित है। भट्टनायक के साधारणीकरण में विभागात्मिक, विरोधन आत्मजन के साधारणीकरण पर अधिक बल है। विभागात्मिक कवि की पूरी अनुभूति में प्रतीक हैं, अतः विभागात्मिक के साधारणीकरण में कवि की अनुभूति या कवि कर्म का साधारणीकरण प्रसारित रूप से निहित है। विभागात्मिक लक्ष्य करना कवि कर्म के अन्तर्भूत है। इस प्रकार साधारणीकरण में आत्मजन पर अधिक बल देकर भट्टनायक साधारणीकरण में कारयित्री प्रतिमा पर अधिक बल देते हैं।

भट्टनायक के साधारणीकरण विवेचन में सहृदय का, कवि निरूपित विभागात्मिक को सामान्यीकृत रूप में अपनी अनुभूति का विषय बनाना, उसके हृदय में सर्वोद्देश्य होता, सविद्विभ्रान्ति की अवस्था उत्पन्न होना, इस बात का प्रमाण है कि उसका भी साधारणीकरण होता है। इस प्रकार भट्टनायक के साधारणीकरण में कवि, सहृदय, विभागात्मिक सबका साधारणीकरण निहित है—यह दूसरी बात है कि ये विभागात्मिक के साधारणीकरण पर सर्वाधिक बल देते हैं। इसके पश्चात् अमिनव गुप्त के गुरु भट्टतीत साधारणीकरण में कवि, सहृदय, आत्मजन सर्वत्र साधारणीकरण की स्पष्ट नज़र करते हैं।^२ अमिनव गुप्त के साधारणीकरण में विभाजन वाक्यों के साथ सहृदय, कवि, सबका साधारणीकरण माना गया है। भट्टनायक या भट्टतीत से

१ न तात्पर्येन नाममगतत्वेन रम्य प्रवीयते नोत्पद्यते नाभि गच्छते अपि ॥ काम्ये नाक्य चाभिघातो द्वितीयेन विभागादि साधारणीकरणसमना भावकत्व स्थापारेण भाग्य मान स्याथी सर्वोद्देश्य प्रकाशन-दमय सविद्विभ्रान्ति सत्त्वेन भोगेन मुन्यते इति भट्टनायक ।

(मम्मन् के अनुसार) — 'कायप्रकाश', चतुर्थ उल्लास

२ कवेरन्वगत भाव भावयन भाव उच्यते । नायकस्य कवे ओम् समानानुभवस्तथा ॥

—भट्टतीत

अन्तर यह है कि इनके साधारणीकरण में सङ्घट्य के ऊपर अधिक बल है, इसीलिए वे साधारणीकरण-व्यापार को 'बीतव्य प्रतीति व्यापार', साधारणीकरण से उपलब्ध अनुभूति को 'बीतव्य प्रतीति' तथा उस को 'सर्वा पीतव्य प्रतीति प्राप्ति' अभिहित करते हैं, तथा साधारणीकरण में वाचक चिन्तों में अधिकार का सम्बन्ध सङ्घट्य से स्थापित करते हैं।

दशरूपककार की दृष्टि में साधारणीकरण में सभी सामान्य हो जाते हैं। कवि बहुरूप की अनुभूति में सबसे सश्लेष पर बल देते हैं। मर्मभट्ट के मत में सम्बन्ध विशेष का त्याग, निर्णयकारी अथवा असाधारण का साधारणीकरण होना ही साधारणीकरण है। वे भी मर्मनायक का अनुसरण करते हुए साधारणीकरण में निम्नान्तिक के साधारणीकरण पर अधिक बल देते हैं।

विश्वनाथ अपने साधारणीकरण विवेचन में विमानात्मक,^१ रसायीमान^२ तथा सामाजिक का साधारणीकरण बताते हुए आश्रय के साथ सङ्घट्य के तादात्म्य^३ की भी वक्ता करते हैं। साधारणीकरण में आश्रय के साथ सङ्घट्य के तादात्म्य का बात अलग रूप से विश्वनाथ ने ही मिलती है। इसी तथ्य पर गम्भीरता से सोचने के कारण ही आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होने वाली स्थिति में कवि के भाव या अनुभूति-भाव के साथ सङ्घट्य का तादात्म्य होने पर शुक्लजी को मान विवेचन में शाल दशा की बात सूची और सङ्घट्य की शील दृष्टि में निरूपित कर उन्होंने साधारणीकरण की मध्यम कोटि का आधिपत्य किया।

पश्चित्तान्न जगन्नाथ साधारणीकरण को प्रत्यक्ष रूप से नहीं मानते, किन्तु उस को मन्ना वरणावित कहकर अमेद की बात द्वारा साधारणीकरण को प्रधानतर से मान लेते हैं।

शुक्लजी की कृतियों में साधारणीकरण की व्याख्या एक स्थान पर पूर्णरूपेण नहीं मिलती, इसीलिए उनके आलोचक किसी एक वाक्य को लेकर उठ पड़ते हैं और उसे पकड़ी, सङ्कुचित अथवा असाधारण बोधित करने का प्रयत्न करते हैं, और कुछ उठे किसी आचार्य के अनुकरण का बल बतलाने का प्रयत्न करते हैं।

रस मीमांसा के 'काव्य का लक्ष्य' नामक निबन्ध में शुक्लजी ने साधारणीकरण में कवि, विमाना^४ तथा सङ्घट्य तीनों के साधारणीकरण की बात कही है, वह उन्हीं के शब्दों में बोलिए—
“जहाँ आचार्यों ने रस माना है वहाँ तीनों हृदयों का सम्बन्ध बाँटिए। आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में बाँटिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर भोक्ता या पाठक में। विमाना द्वारा तो साधारणीकरण कहा गया है, वह सभी चरितार्थ हो सकता है।”^५ अर्थात् काव्य में साधारणीकरण की स्थिति खाने के लिए शुक्लजी सर्वप्रथम कवि की अनुभूति के साधारणीकरण पर बल देते हैं। इसे भी उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट रूप से देखिए—“विषय के सामान्यत्व की ओर जब कवि की दृष्टि रह्यो तभी वह साधारणीकरण हो सकता है।”^६ अर्थात् विषय

१ विमानात्मक विमानादेनाम्ना साधारणीकृति ।

२ साधारण्येन रसवादिभिः उद्गृह्यते ।

३ प्रमाता उद्गमेदेन स्वात्मान प्रतिपद्यते । —‘साहित्यदर्पण’

४ ‘रस मीमांसा’, पृष्ठ ३०-३२ ।

५ ” ” ” ३० ।

क सामा य २ की ओर दृष्टि बाते हा कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होन लगता है, और जब तक वह सामा य २ का चयन तथा निरूपण करता रहता है, तब तक उसकी अनुभूति का साधारणीकरण होता रहता है। कवि की अनुभूति अथवा कवि कर्म के साधारणीकरण पर बल देने के कारण ही व स चे कवि की कठौती, लोक हृदय की पहचान, लोक धर्म का निरूपण, अनेक विशेषताओं एवं विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामा य हृदय का चित्रण मानते हैं।^१ यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कवि की अनुभूति का सामा यीकरण कौन करता है ? शुक्लजी का उत्तर है—आत्मन रूप में प्रतिष्ठित सामा य धर्मवाला व्यक्ति या वस्तु। जब तक आत्मन सावजनोभ या मानवोभ कोटि का नहीं होगा, सामाजिक स्तर का नहीं होगा, तब तक वह कवि या सङ्कल्प की सहायभूति आर्कषण नहीं कर सकता, उसमें समाश्रयिता उत्पन्न नहीं कर सकता, सत्वग्रुण का उद्भेद नहीं कर सकता, सामा य कोटि का भाव उत्पन्न नहीं कर सकता। शुक्लजी का कहना है कि जब तक किसी कवि की कविता में दूसरे हृदय की समानता नहीं रहेगी, तब तक उसे कोई पन्ने या सुनने कर्ता जायेगा ? फिर वे आगे कहते हैं—“जब तक किसी भाव का विषय इस रूप में नहीं ज्ञाया जाता कि वह सामा य धर्म सबक उसी भाव का आत्मनत्व हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं पड़ती। इसी रूप में लाया जाना हमारा यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।”^२ अर्थात् किसी कवि की कविता में दूसरे हृदय की समानता, आत्मन रूप में साधारणीकृत धर्म की प्रतिष्ठा से आती है। तत्पर्य यह है कि आत्मन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावों का आत्मनत्व हो जाता है।^३

इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आत्मनत्व धर्म का होता है। यदि शुक्लजी केवल आत्मनत्व धर्म के साधारणीकरण का उल्लेख मात्र करके रह गए होते, साधारणीकरण के स्वरूप विवेचन के प्रसंग में और कुछ चर्चा न करते, तब भी इस प्रसंग में उनके ऊपर यह आरोप लगाना ठीक नहीं होता कि उनका साधारणीकरण सम्बन्धा विवेचन एकान्ता है, उसमें कवि की अनुभूति अथवा पूरे कवि कर्म का साधारणीकरण विवेचित नहीं है। वस्तुतः जिसे हम आत्मनत्व कहते हैं वह कवि की अनुभूति का सवेद्य रूप है, उसकी मानवी सृष्टि का प्रतीक है वह पूरे कवि कर्म से निर्मित हुआ है। का य का विषय सदा विशेष होता है, सामा य नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं, कि तु वे विशेष या व्यक्ति सामा य के प्रतिनिधि होकर आते हैं।^४ इस सामा य के प्रतिनिधित्व के निरीक्षण, पहचान तथा निमाण काल में कवि ही नहीं, सङ्कल्प मात्र की अनुभूति का साधारणीकृत हो जाना स्वाभाविक है। इस तथ्य का समर्थन काय शास्त्र ही नहीं, मनोविज्ञान भी कर रहा है। शुक्लजी ने कवियों की उच्चता साधारणीकृत अनुभूति के तारतम्य से निरूपित की है। उन्होंने वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी की श्रेष्ठता उनकी साधारणीकृत अनुभूति की मात्रा के आधार पर स्थापित की है, ऐतिहासिक अवधि का कवियों की निष्ठा उनमें साधारणीकृत अनुभूति के अभाव के कारण की है। भारतीय का य की विशेषता

१ 'चि तामयि', प्रथम भाग, पृष्ठ ३०८ ३०९।

२ " " पृष्ठ ३०८।

३ " " पृष्ठ ३१३।

४ " " पृष्ठ ३०९।

निरूपित करते समय भी उनकी दृष्टि कवि की साधारणीकृत अनुभूति पर सर्वाधिक मात्रा में स्थित है, यह तथ्य उनकी निम्नाह्वित पदावली से स्पष्ट है—“भारतीय काव्य दृष्टि भिन्न भिन्न विशेषों के भीतर से सामान्य क उद्घाटन की ओर बराबर रही है, किसी न किसी सामान्य के प्रतिनिधि हाकर ही विशेष हमारे यहाँ क कवियों में छाते रहे हैं। हमारे यहाँ के कवि उस सन्धे तार को झटार सुनाने में ही स तृप्त रहे, जो मनुष्य मात्र क मोतर स होठा हुआ गया है।”^१

उपयुक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि कवि की अनुभूति के साधारणीकरण पर शुक्ल जी ने प्रत्यक्ष अभिप्रेत, स्पष्ट अवलोकन से अनुरोध, अनेक बातें, बलपूर्वक अनेक प्रथमा में कही है।

अब शुक्लजी के साधारणीकरण सिद्धांत के द्वितीय तत्त्व आत्मस्थान के साधारणीकरण पर विचार करना चाहिए, जिस पर वे सबसे अधिक बल देते हैं।^२ यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आत्मस्थान के आत्मस्थान धर्म के साधारणीकरण पर सबसे अधिक बल देने का कारण क्या है और वह कहाँ तक ठीक है?

समीक्षक रूप में शुक्लजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे किसी भी सिद्धांत के निरूपण में मूल तथा के साथ उस्तु नुरन्त पकड़ लेते हैं। यह बात साधारणीकरण के विषय में भी सत्य है। पणि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाए तो यही अवगत होगा कि जीवन तथा साहित्य दोनों क्षेत्रों में किसी तरह की अनुभूति उत्पन्न करने में आत्मस्थान की सत्ता मुख्य है।^३ कवि अथवा भोक्ता, पाठक आत्मस्थान के ही माध्यम से अपनी अनुभूति साधारणीकृत करने में समर्थ होता है। हमारे हृदय में प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, कष्ट आदि भावों के सामाजिक रूप की प्रतिष्ठा सामाजिक कोटि के आत्मस्थानों के दर्शन, सम्पर्क, प्रत्यभिज्ञान आदि से ही होती है। कवि में भावुकता की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आधार या उपादान ये ही हैं।^४ उपादान कोटि की सौंदर्य मानना बचने का अर्थ है—मन में उदात्त कोटि के आत्मस्थान का चित्र आना।^५ तात्पर्य यह है कि सामाजिक कोटि का मात्र उत्पन्न करने के लिए सामाजिक कोटि का विभाव आनन्दक है। इसी कारण शुक्लजी भी सच्ची सहानुभूति के लिए भाव विचार का सामञ्जस्य आवश्यक ही नहीं अनिवार्य मानते हैं।^६ सामाज्य बोध के विविध रूप सामक निश्चय में आत्मस्थान के सामाजिक स्वरूप का महत्ता पर विचार करते हुए उ हाने बताया है कि जो व्यक्ति प्रत्यक्ष जीवन अथवा साहित्य में सामाजिक कोटि के आत्मस्थान में रुचि नहीं रखता, उनसे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ नहीं होता, यह कार्य का सच्चा प्रभाव ग्रहण नहीं कर सकता, यह सच्ची कविता में रुचि नहीं ले सकता।^७ यदि साधारणीकरण में शुक्लजी के मुख्य सिद्धांत आत्मस्थान धर्म के साधारणीकरण को न मानें तो फिर किसी भी प्रकार की कविता से सहृदयों का साधारणीकरण

१ 'चित्तमणि', प्रथम भाग, पृष्ठ ३२४।

२ " " " ३१३।

३ " " " ३२५।

४ " " " ३३१।

५ " " " ३३०।

६ " " " ३३५।

७ " " " ३३१।

तुरन्त सम्भव हो जायगा।

रामबलराय के परचात् मरत, रामबलरामन में कैकयी का मूल कारण समझकर, उन पर बिगड़ते हैं, उन्हें मन्ना बुरा कहते हैं। इस आधार पर तुलसी ने कैकयी को राम विरोधी दिखा कर उनमें आलम्बनत्व धर्म का समावेश कर दिया है, अथवा मरत का पाठक या भोता का तादात्म्य न हो पाता। साधारणीकरण में ये द्वीय वस्तु आलम्बन का लोक धर्मो स्वरूप है, अन्यथा सहृदय मान के साथ उसका साधारणीकरण नहीं हो सकता, वह सबके भावात्मक सत्त्व पर समान प्रभाव नहीं डाल सकता, उसके आश्रय के साथ सभी सहृदयों का तादात्म्य नहीं हो सकता, फलतः रसातुभूति प्रक्रिया में सहृदयों के व्यक्तित्व का परिहार नहीं हो सकता। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से अभिष्ट होने के कारण शुक्लजी ने अपनी साधारणीकरण की परिभाषा में आलम्बन के लोक-धर्मो स्वरूप पर सर्वाधिक माया में बल दिया है। इस तथ्य की स्पष्टता के लिए उनकी परिभाषा का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सकें तब तक रसोद्भाषन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।'^१ आगे इस परिभाषा की याख्या करते हुए उन्होंने इस तथ्य को और स्पष्ट किया है—

साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या भोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काय में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही अपने सामान्य धर्मों के कारण सहृदय पाठकों या भोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।^२

इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है, व्यक्ति तो विशेष हो रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिससे साक्षात्कार से सब भोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय होता या बहुत होता है।^३ तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके माया का आलम्बन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं', इसका तात्पर्य यही है कि रस मन्त्र पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है, या दूसरे का। योनी देर के लिए पाठक या भोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है, उसका अपना अल्प हृदय नहीं रहता।^४

'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं', यह पदावली स्पष्ट कर देती है कि शुक्लजी साधारणीकरण में विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन), अनुभाव, संचारीभाव तथा आश्रय का साधारणीकरण मानते हैं, अथवा विभाव के पश्चात् आदि न बोलते। योही दूर के लिए पाठक या भोता का हृदय लोक हृदय हो जाता है, उसका अपना हृदय नहीं रहता।^५ ये दोनों वाक्य स्पष्ट करते हैं कि उन्हें सहृदय पाठक तथा भोता के हृदय का साधारणीकरण भी मान्य है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि शुक्लजी के साधारणीकरण में काव, आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन तथा भोता अथवा पाठक—सबके साधारणीकरण का तत्त्व विद्यमान है। जिस

१ 'चित्तामणि', प्रथम भाग, पृ० ३०८।

२ " " " ३१२।

३ " " " ३१३।

४ " " " ३१३।

काथात्म्य रसाशुभूति में कवि, सहृदय तथा निभावान्ति स्त्री का साधारणीकरण सम्भव होता है, उसीसे शुक्लजी उत्तम कोटि की रसावस्था मानते हैं। जहाँ पाठक या आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होकर कवि की भावना या अनुभूति के साथ साधारणीकरण होना है वहाँ शुक्लजी मध्यम कोटि की रसावस्था मानते हैं।^१ जैसे कोई मोघी प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराधी स्त्री पर शोध की प्रवृत्ति यत्नना कर रहा है, तो श्रोता या दर्शक के मन में शोध का रागात्मक संचार न होगा, बल्कि शोध प्रश्रित करने वाले उस पात्र के प्रति अदृष्टा, पूर्णा, आदि का भाव बनेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य नहीं होगा, उसके माय में वह लीन नहीं होगा, बल्कि श्रोता या पाठक उस पात्र के शीलद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा, उनकी मान्यगन्ना की रसभाविकता मान का अनुभूतन करेगा। शुक्लजी के अनुसार यह प्रभाव भी रसात्मक ही है।^२ पर उनकी दृष्टि में यह रसभाविकता मध्यम कोटि की मानी जायगी। फिर इसी प्रसंग में आगे स्पष्ट करते हुए डॉ. जीने वल्लभाभा है कि जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में उन्निहित पात्र या आश्रय के शीलद्रष्टा के रूप में स्थित रहता है,^३ उहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई न कोई भाव अवश्य लगा रहता है। अतएव दृष्टा ही पढ़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, उन पात्र के साथ पाठक का तादात्म्य नहीं होता, वरन् वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन हो जाता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य या साधारणीकरण होता है, पर वह तादात्म्य कवि के उस अभ्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुस्यू यह पात्र का स्वरूप संप्रतिष्ठ करता है।^४ शुक्लजी इसे भाव की शीलद्रष्टा मानते हैं। शील दृष्टा के नियम में उनकी मान्यता है कि "यह अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति होती है।"^५ इसकी अनुभूति पात्रों के चरित्र चित्रण अथवा चरित्राशुशीलन के अवसर पर होती है। इस प्रकार माय की शील दृष्टा को वे मध्यम कोटि की रसाशुभूति मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की स्थितियों हमारे यहाँ गात्र त्रय या भावामात्र की स्थिति के भीतर निवेचित हैं। किन्तु साधारणीकरण के प्रसंग में इसका निवेचन शुक्लजी के अतिरिक्त उनके किसी पूर्ववर्ती आचार्य ने नहीं किया है। अतः साधारणीकरण के प्रसंग में उनकी इस विवेचना को मौलिक मानने में किसीकी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। शुक्लजी की यह निवेचना साधारणीकरण की दृष्टि से मौलिक होने हुए भी अशास्त्रीय नहीं बड़ी वा सकती। वैसा उपर के विवेचन से स्वयं शुक्लजी भी इसे अशास्त्रीय नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि ये प्रकार की अनुभूति तो लक्षण प्रयोगों की रस पद्धति के भीतर ही रह्यता से विचार करने से मिलती है—(१) जिस भाव की यत्नना हो उसीमें लीन हो जाना।^६ (२) जिस भाव की यत्नना हो उसी भाव में लीन

१ 'नित्यमपि' प्रथम भाग, पृष्ठ ३१६।

२ " " " पृष्ठ ३३३।

३ " " " पृष्ठ ३१७।

४ " " " पृष्ठ ३१६।

५ " " " पृष्ठ ३१७ ३१६।

६ 'अभिप्राय', पृष्ठ ८७ पद १।

७ 'काव्य में रसप्रज्ञा', पृष्ठ २६ पद १०।

तो न होना पर उसकी व्यञ्जना की स्वाभाविकता अथवा उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना। शुक्लजी द्वारा विवेचित उत्तम कोटि की साधारणीकरण की स्थिति लक्ष्य प्रयोगों द्वारा अनुमोदित प्रथम प्रकार की रसानुभूति के भीतर आया तथा मध्यम कोटि की स्थिति द्वितीय प्रकार की रसानुभूति के भीतर।

साधारणीकरण की मध्यम स्थिति के आदिष्कार में शुक्लजी के ऊपर दो पुस्तकें—विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' तथा शैशव के 'पाठशेखर ऑफ़ वैरकर'—का प्रभाव मान पता है। मात्र विवेचन में शील दशा की बात उन्हें शैशव की उक्त पुस्तक से प्राप्त हुई। साधारणीकरण में आशय के साथ सङ्गत्य के तात्पर्य की बात उन्हें विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' से मिली। 'साहित्य दर्पण' में पठित आशय के साथ सङ्गत्य के तात्पर्य वाली बात पर सम्मति से सोचने के कारण उक्तका अपनापन स्थिति का आदिष्कार उद्घोषित किया। आशय के साथ तात्पर्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होने वाली इस स्थिति में कवि के भाव या अनुभूति मात्र के साथ सङ्गत्य के तात्पर्य होने पर तथा मात्र विवेचन में शैशव की शील दशा का उपयोग करने के कारण, उक्त स्थिति में सङ्गत्य को शीलद्रष्टा के रूप में निरूपित कर उन्हें साधारणीकरण की मध्यम कोटि की बात समझी।

शुक्लजी की साधारणीकरण विवेचन सम्प्रदाय का विशाल ज्ञान के लिए इस सम्प्रदाय में पुराने आचार्यों से उनकी तुलना आवश्यक है। भट्टनायक साधारणीकरण का सामान्य मावकन आचार्य मानते हैं, अभिनवगुप्त यञ्जना वाचार्य, किन्तु शुक्लजी लोकधर्म वाले आलम्बन में। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में साधारणीकरण में केवल यस्तु आलम्बन का लोकधर्म स्वरूप है, भट्टनायक के मन में मानना वाचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि में सङ्गत्यता। आचार्य भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण का मूलाधार कवि की कारयिनी शक्ति है, अभिनवगुप्त की दृष्टि में सङ्गत्य तथा शुक्लजी की दृष्टि में आलम्बन। साधारणीकरण के स्वरूप निरूपण में लगभग तीनों सहमत दिखाई पड़ते हैं, कलम बल में कुछ अंतर दिखाई पड़ता है। कवि सङ्गत्य के स्थायी भाव, निमान, अनुभाव, संचारी, सभी का साधारणीकरण तीनों को मान्य है। इसमें भट्टनायक काव्य की कारयिनी प्रतिमा पर सन्नायक उल्लेख देते हैं, शुक्लजी आलम्बन के लोकधर्म स्वरूप पर तथा अभिनवगुप्त सङ्गत्य पर। साधारणीकरण का प्रमाण—व्यक्तिगत का परिहार, सन्दर्भोक्तिक रसानुभूति, सन्निदिमान्ति, रसास्वादन मानने में सभी सहमत हैं। सैद्धांतिक रूप में भारतीय आचार्यों का साधारणीकरण सम्प्रदाय भी मत मानते हुए मा, मध्यम कोटि के आदिष्कार और काव्य तथा नाटक के अतिरिक्त अन्य साहित्य रूपों के साथ इसके व्यावहारिक प्रयोग की विधि बताने में शुक्लजी की देन मौलिक कोटि की कही जा सकती है। पुराने आचार्यों ने प्रायः गुणर-वीर अथवा कभी कभी रोद रस को ही लेकर साधारणीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया था, शुक्लजी ने इसके आगे बचकर अन्य रसों के साथ इसके प्रयोग की विधि बताई। साधारणीकरण की पुरानी परम्परा का अनुसरण करते हुए भी शुक्लजी ने आधुनिक मनोविज्ञान का सहारा लेकर तथा उसमें अपने व्यक्तित्व का पुनः देखकर उसे मनोवैज्ञानिक तथा सामयिक बनाने का प्रयत्न किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों दिशाओं में भी शुक्लजी का प्रयत्न साधारणीकरण विवेचन के क्षेत्र में मौलिक कोटि का है।

अनन्त चतुर्वेदी

इलाचन्द्र जोशी की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ

जोशीजी का उप नास साहित्य में व्यागमन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उप नास साहित्य में पात्रों की मन स्थिति के आधार पर पूरे उप नास के सूत्र इकट्ठे करके संजोना इसी प्रतिभाशाली कलाकार की विशेषता है। जोशीजी ने उपन्यासों के पूर्ण तक हिंदी उपनासों की स्थिति वाह्याथवादी रही है। कतिपय सामाजिक अथवा राजनीतिक समस्याओं को विभिन्न घटनाओं और चरित्रों के सहारे संरक्षित कर देना, यही ही उपनास का उद्देश्य रहा है। किंतु चरित्रों की आत्मचेतना और विविधताओं के आधार पर उपनास के एक पूरे ढाँचे को स्पष्ट कर देना शायद जोशीजी के पूर्व तक किसीने भी नहीं किया। मई १९०० के साहित्यिक परिवर्तन काल में जिन प्रमुख प्रवृत्तियों का प्राचाय रहा, उनमें यह मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थिति हुई है। आधुनिक उपनास साहित्य को इस प्रवृत्ति ने सबसे अधिक प्रभावित किया है। प्रेमचन्द-युग ने इस प्रवृत्ति के केवल दो ही विशिष्ट कलाकार थे—जैनेन्द्र और जोशीजी।

जैनेन्द्रजी के उप नास एक आदर्श से प्रेरित हैं, पात्र केवल इस आदर्श को प्राप्त करने में सहायक मात्र हैं। उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व उनका महत्त्वपूर्ण नहीं लगता बल्कि कि जोशीजी के उपनासों के पात्रों का लगता है। इस मूल अंतर का केवल एक प्रमुख कारण है। जैनेन्द्रजी वास्तव में एक दार्शनिक उपनासकार हैं। उन्होंने सामाजिक समस्याओं को अपनी विशिष्ट शैली से प्रस्तुत कर एवं पात्रों को रहस्यात्मकता का आरम्भ दालकर प्रस्तुत किया है। मूल में उनके उपनास व्यवहारगत विषयों का आधार लिये हुए हैं। उनके पात्र इस विषयों को एक रहस्यमयी ढंग से प्रकट करते हैं। बीच बीच में इन पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की झलक भी मिलती बलती है। लेकिन केवल पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अथवा अन्तर्चेतना के मातृ रूप को प्रकट करना उनका उद्देश्य नहीं है। यह तो उनके उपनासों का सहायक-मात्र है। जैनेन्द्रजी के लिए मनोविज्ञान एक साधन है, साधन नहीं।

बहुत जोशीजी के उपनासों के आधार कुछ अंतर हैं। यह मन का अंतर होने वाली क्रिया के साधनत्व तथा के प्रतीकत्व हैं। दूसरे रूप में, वे मन के अंतर घटित होने वाली विभिन्न मनोवृत्तियाँ—विकृतियों—के इतिहास हैं। वे वास्तव में कोई सामाजिक या राजनीतिक उद्देश्य के पोषक नहीं हैं (हालांकि सामाजिक और राजनीतिक विचार भी प्रकट किये गए हैं, किंतु यह गौण महत्त्व के हैं)। वे तो केवल मनुष्य की चित्तवृत्ति की को विभिन्न स्थितियों में और उनके को परिणाम हैं, उनके ही चित्रण करने वाले हैं। उनके उपनासों के यही आधार हैं। अतः जैनेन्द्रजी और जोशीजी के उपनासों के मूल अंतर को प्रस्तुत किया जाय तो दो बातें सम्मुख आती हैं—

(१) जैनेन्द्रजी के उप नास उद्देश्य (आदर्श) के साथ पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं, किंतु मूल में उद्देश्य को ही स्पष्ट देते हैं। जोशीजी पात्र के अन्तर्जात को प्रथम महत्त्व और उद्देश्य को गौण महत्त्व देते हैं।

(२) जैनेन्द्रजी घटनाओं द्वारा पात्र की मन स्थिति का चित्रण करते हैं और कथानक को आगे बढ़ाते हैं। जोशीजी के उपनास केवल चरित्रों की विभिन्न मनोवृत्तियाँ (या विकृतियाँ)

से उपन घटनाओं के सहारे आगे बढ़ते हैं।

इन दोनों उप-पात्रों के ये दो मूलगत अंतर उनके उप-पात्रों को ने अलग अलग पाठों पर ले जाते हैं और दो विभिन्न प्रवृत्तियों को सम्मुख रखते हैं।

जोशीजी ने अपने उप-पात्र 'लज्जा' (पुष्पाभ्यां) के साथ औप-प्रासिक क्षेत्र में पगर्पण किया और आज तक वे इस क्षेत्र को सुसंयोजित किये हैं। 'लज्जा' के अतिरिक्त उनके अन्य प्रकाशित उप-पात्रों के नाम हैं—'संयासी', 'पत्नी की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्गम्य', 'सुक्ति-पथ', 'सुवह के भूले', 'त्रि-सी' और 'ब्रह्म का पक्षी'। इस लेख में उनके प्रथम उप-पात्रों के आधार पर ही मूल्यांकन किया गया है।

लज्जा—यह उप-पात्र मूलतः एक चरित्र को लेकर चलता है और उसकी स्पष्ट छवि 'नकि' के लिए विरोध और उल्लोचक के रूप में राजू और डॉक्टर साहब के चरित्र आये हुए हैं। लज्जा का चरित्र सुद्धि व्यापार से सम्बद्ध नहीं, प्रयुक्त काम की आशा और उम्मीद अन्तः प्रेरणा को लेकर चलता है। केवल इस एक मूल प्रेरणा को लेकर ही उसने चरित्र की योजना की गई है और उसके नाट्यिक चरित्र को उद्घाटित किया गया है। वह एक सम्पन्न परिवार में पैली है, माता बच्चों की ओर से उन्मत्त रहती है और पिता निरंतर व्यस्त रहने वाले हैं, किन्तु उसने प्रति ठहरे विशेष अनुप्राण है। लज्जा की काम-जोशों स्वरूप प्रत्यक्ष से ही आरम्भ हो जाती है और अपने रूप से पुरुषों को मन्त्रमुग्ध करने में उसे उल्लास मिलता है। किन्तु वह किसी विशेष 'नकि' की ओर आकृष्ट नहीं हो पाती और पुरुषों पर अपने मायावी प्रभाव की मुक्त अनुभूति के पश्चात् जब वह अकेली होती है तब एक गहरा अवसाद उसके मन को घेर लेता है, रोने को भी चाहता है किन्तु वह छुपकर रह जाती है।

उसकी कल्पना में ऐसा मायाजोश जूमा करता है जो स्वयं और उन्माद वातावरण की भूमिका में चिर युग स्त्री पुरुषों की अनन्त प्रेमकेलि से परिपूर्ण है। उसीके दिवा स्वप्नों और स्वप्नों में वह गूँद रहती है।

डॉक्टर से मिलने पर एक नया पारस्परिक तन मन में टूटता है और वास्तविक प्रेम की ऐसा लीलाएँ वह करती है मानो इस कार्य में वह बम से ही टूट हो। इतनी गिटाह, इतनी चपलता, पुरुष को फँसाने के ऐसे नए पंच एकाएक उसने कैसे सीखा लिए, इसका एकमात्र उत्तर है उसकी आन्तरिक चेतना की प्रत्यक्ष शक्ति, जिसने वास्तव में उसे गीतित किया है।

अपने माद राजू से उसे बहुत प्रेम है, किन्तु वह न जाने क्यों आरम्भ से ही डॉक्टर से घृणा करता है। उसके साथ अपनी पहचान का खेल खेल उसे तनिक भी सहन नहीं। डॉक्टर और लज्जा के बीच यह अनेक ऐसे अवसरों पर उपस्थित हो जाता है जो उनके लिए बहुत सख्त मन सिद्ध होते हैं। उसकी कर्ता कुछ घृणा भी लज्जा को बर्णन नहीं पाती, बल्कि उसकी जीवन को देनकर लज्जा एक प्रकार से मुक्ति होती है। इस स्थिति में सत्य अनेकगुनी हो जाता है।

लज्जा समझ जाती है कि अब अन्तिम निष्पत्ति का क्षण आ गया है। अपने माद और डॉक्टर के बीच में किसी एक का वर्णन उसे करना ही होगा। उसका अन्तिम इष्ट सहसा पुनः से काय उठता है कि उसके माद के लिए भी वह अन्तिम निष्पत्ति का क्षण हो गया है और वह निष्पत्ति निश्चित रूप से बहुत सख्त होगी। निष्पत्ति की इस सीमा पर वह मनमौजी, आहत और कम्पित होती है, किन्तु उसकी ही शीतला के साथ वह स्पष्ट निष्पत्ति भी कर लेती है।

राजू के प्रति पालयकाल से चले आने वाले घृण, गम्भीर और भद्रामिभित प्रेम के समझ डॉक्टर साहब के लिए पैदा हुआ नया उपास नहीं ठहरता। उन्हें वह तत्काल स्वयं से दूर दृष्टा देती है।

राजू यह नहीं जानता कि अपनी बहन और डॉक्टर साहब में उठने वाली प्रतिस्पर्धा उत्पन्न कर दी है। वह यही जानता है कि इतने दिनों तक खुले आम उसकी अवहेलना करते हुए लज्जा, डॉक्टर की ओर निरंतर अभिवाधिक बनाती ही गई है। जो कुछ वह देखता है उसमें उसे अपनी अन्तिम पराजय दिखाई देती है और इस पूरकतम हवाशा में वह भी अन्तिम निर्णय कर लेता है—आत्महत्या।

इस प्रकार जो बातें उपन्यास के आरम्भ में सीधे सादे रूप में उठी थीं, वे पुष्ट, अस्तुमिका और विकसित होती हुई एक निदय नियति का रूप धारण कर लेती हैं। इस नियति का एक अर्थ स्पष्ट है। राजू को आत्महत्या करनी ही चाहिए, यह उसका अनिवार्य आदेश है और राजू आत्महत्या करता है। लज्जा को अपने आई का वरण करना चाहिए और वह आत्महत्या इस वरण पर अपनी क्रूर मोहर लगा देती है और डॉक्टर साहब। यहाँ आकर उनकी कोई स्थिति नहीं रह जाती और वे परिस्थिति विशेष से भिन्न हो जाते हैं।

लज्जा और डॉक्टर के प्रेमसाक्ष में मनोचिरेखण्ड (Psycho analysis) और मानसोपचार (Psychotherapy) इत्यादि की बातें उठती हैं और लज्जा अपने रोग के वास्तविक मानसिक हेतु को स्पष्ट करने के लिए भरपूर चेष्टाएँ करती है। उद्दाम कामदेव और इस तुल्य से वंचित होने का अमान यह उसकी दो मूल प्रेरणाएँ हैं। अतः से यह सबसे प्रथम करती है—स्वयं से, समस्त गारी बाति से, डॉक्टर से—जो गारी द्वारा सत्ताइ हुई प्रकृति का प्रतिनिधि होकर भी उसे छुन गया। इस प्रकार उसके जीवन में हम सर्वत्र पराजय पाते हैं। कहानी के मनोवैज्ञानिक सूत्र इस प्रकार विकसित होते हैं कि उसका परिणाम एक नया नियति का रूप धारण कर लेता है—पैदी नियति जिनकी प्रेरणा शक्ति स्वयं लज्जा की आन्तरिक भावप्रवृत्तियों में प्रस्तुत है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राजू का चरित्र अधिक सूक्ष्म, गहन और रहस्यमय शतुआ से बना हुआ प्रतीत होता है। उसके अन्तर्मन की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ एक गहरे छद्मवेष में उपस्थित होती हैं, जबकि लज्जा की मूल प्रेरणाएँ अवैद्यकृत स्पष्ट और खुली हुई हैं।

उपवास आत्महत्यात्मक शैली में लिखा गया है।

संयासी—यह उपवास नटकिशोर (नायक) के आत्मवक्तव्य के रूप में लिखा गया है। इसमें विभिन्न चरित्रांगों और परिस्थितियों के अंतर्गत नटकिशोर के चरित्र की एक भलक प्रस्तुत की गई है।

नटकिशोर भरपूर पैसा पाकर भी पविता के समान सादगी का जीवन व्यतीत करता है। उसकी कोई विशेष कला नहीं है, यथार्थ जीवन की प्रयत्नाओं और कठिनायियों का उसे कोई अनुभव नहीं है, उसमें सकल अथवा दृढ निश्चय शक्ति नाम की कोई शक्ति नहीं। पयस्वी के प्रति अपना मन में वह एक तीव्र आकर्षण का अनुभव करता है और अपने लिए उसे यह एक नई धान प्रतीत होती है। उपन्यास में जब ती नटकिशोर के मन में प्रेमाकांक्षा का उदय करके केवल अन्तिम निश्चय के लिए ही लौटकर जाती है।

विशु प्रेम का यह सूत्र पुनः आगे बढ़ता है—हम पार शक्ति को लेकर। शक्ति से

नन्दकिशोर की भेंट अब न विचित्र परिस्थितियों में होती है। शान्ति एक पाठशाला में अध्यापिका है। क्रमशः शान्ति के साथ नन्दकिशोर की घनिष्टता बढ़ जाती है और परिस्थितियों उसे शान्ति के साथ इलाहाबाद पहुँचा देती हैं और वहाँ वे प्रति पत्नी के रूप में रहने लगते हैं।

प्रयाग में नन्दकिशोर बलदेव के सम्पर्क में आता है। नन्दकिशोर और बलदेव के चरित्र पूण्यतम विरोध की प्रस्तुत करते हैं। प्रथम निश्चित जीवन, दायित्वहीनता, अग्रिम आनन्द गति, प्राकृतिक चरित्र, स्वतन्त्र जीवन और अहं के पाटन वाला व्यक्ति है। द्वितीय जीवन का कटुतम परिस्थितियों और अनुभूतियों द्वारा निद्रोह का ज्वाला से मरा हुआ, शासी और क्रान्तिकारी विचारधारा का व्यक्ति है। बलदेव एक ओर वर्तमान कटु सामाजिक यथार्थ का परलम्ब प्रतिनिधि है, तो दूसरी ओर उसका चरित्र नन्दकिशोर की अस्थिरता, सकल शक्ति के श्रमाव और धार अवधारणाओं का सुस्पष्ट बनाता है। यह वैपरीत्य द्वारा दो चरित्रों और उपवास की मानभूमि में समुल्लस भी स्थापित करता है।

नन्दकिशोर बलदेव और शान्ति के सम्बन्ध को लेकर अपने मन में अकारण शक कर लेता है। बलदेव के प्रति उसके हृदय में भीषण घृणा और ईर्ष्या के भाव उठते हैं तथा शान्ति के प्रति उसके प्रेम में भी गिर झुल जाता है। इसने द्वारा उसके धीरे अहंभाव की अभिव्यक्ति होता है। वास्तव में उसमें प्रेम करने की वास्तविक क्षमता नहीं है। प्रेम दो व्यक्तियों, दो आत्माओं के बीच प्रवाहित होता है। किंतु नन्दकिशोर दूसरी आत्मा, दूसरे व्यक्तित्व का अस्तित्व ही नहीं रहने देता, उस मानता ही नहीं। अतः वह स्वयं रह जाता है। तब प्रेम कहीं रहता है।

शान्ति नन्दकिशोर के माद के बाते सुनकर नन्दकिशोर को छोड़कर चली जाती है। बलदेव द्वारा शान्ति का स्वयं पत्र पाकर उसका यह निमूल सदेह और भी दृढ़ हो जाता है कि वह बलदेव को चाहने लगी थी और उसके प्रेम के निरन्तर अयोग्य है।

बयन्ती से नन्दकिशोर का विवाह हो जाता है। वैवाहिक से उसकी भेंट होता है। उसकी बातें उसे रहस्यमय लगती हैं और सदेह होता है कि उसने और बयन्ती के बीच अन्तर को दूर घृणा प्रत्यक्ष रहा है। एक बार कैलाश बयन्ती से पत्र के पीछे मिलकर नन्दकिशोर के शक को निरन्तर में बदल देता है। नन्दकिशोर बयन्ती और आक्रोश से उन्मुक्त होकर उनकी कोई बात नहीं सुनना, कैलाश को निकाल देता है और बयन्ती को प्रताड़ित करता है।

यह विस्फोट बयन्ती को भी अंतिम निराशा पर पहुँचा देता है। वह चूल्हे में बैठकर मरम हो जाती है।

विकलता, मलिन, अपनी शास्त्रहीनता का उत्पाटक जीवन, असन्तोष और हाहाकार—यह नन्दकिशोर के जीवन में शेष रहते हैं। उसके अहं न जिस नारकीय ज्वाला में जलने के लिए उसे छोड़ दिया है, उससे वह कैसे जाण पाए? यथार्थ से उसका कभी कोई नाता नहीं रहा। अपना मनोरम सृष्टियों में हा उसने अपना सम्पूर्ण जीवन खतीन किया था—अब भी उसका प्रतिनिधित्व यथार्थमूलक नहीं रहती। वह स यात्री बन जाता है, अपने नारकाय अन्तर्गत से मुक्ति पाने के लिए, किंतु साथ ही वह जानता है कि उसकी यह ज्वाला कभी न बुझ सकेगी।

पर्द की रानी—इस उपवास की नायिका निरुत्थान चार व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है। इनके सम्पर्क में ही उसका पूरा आन्तरिक व्यक्तित्व उद्घाटित किया गया है। यद्यपि

इन चारों पात्रों के चरित्र की पर्याप्त गहनक उपवास में प्रस्तुत की गई है, तथापि वे इस आवश्यकता से सीमित हैं कि उनके द्वारा निरञ्जना के चरित्र पर ही प्रकाश पड़े। इस प्रकार इस उपवास की वस्तु जोशीजी के अथवा उपयास की वस्तु की अपेक्षा कहीं अधिक एकरूप, एकांकित और एक-लक्ष्यात्मक है। जिन अनेक प्रवृत्तियों के सम्पर्क की इसमें व्यक्त किया गया है वे परिणामित अथवा उपन्यास की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, अभिव्यक्त और विकसित रूप में इसमें आते हैं। आंतरिकतः वस्तु को अलग रखकर इस प्रकार इस कृति में जो उत्कर्ष चलाना किया गया है और उसे आनश्यकता की सीमा के अन्तर्गत ही रखा गया है उससे जोशीजी की रचना-उद्देश्य की ध्येय में रखते हुए यह कृति अधिक एकांगित, अतिरिक्त विस्तार से रहित और स्वयं में अधिक सम्पूर्ण बन पड़ी है।

इसमें दो अहसादी चरित्रों की छत प्रेरणाओं के सूक्ष्म विरलेपण के साथ ही उनके विनाशक तत्वात् को भी अव्यक्त किया गया है।

निरञ्जना एक मध्यमक हीनता के भाव से पीड़ित नारी है और इसकी उत्पत्ति उस आघात के फलस्वरूप होती है जो मन्मोहन ने उसके झट पर यह उद्घाटित करके पहुँचाया है कि उनकी माँ वैश्य थी और उनके पिता हत्यारे थे। इस प्रकार चोट खाया हुआ उसका अह अधिक निरुत्थ और भयानक हो जाता है तथा हीनता के इस भाव से निवारण के लिए वह निरन्तर लोगों को अपने जाल में बन्धनर उठें नष्ट कर देने की योजना बनाती रहती है। अपनी आंतरिक कृतियों को वह अहमविरलेपण द्वारा समझ भी लेती है और उनकी भयङ्करता से चौंकर उनसे बचने की इच्छा भी फटती है, किंतु अपनी अतः प्रणाली पर उसका कोई धरा नहीं, वे कष्टतला के समान उसे चलाते हैं और अन्तिम सर्वनाश होकर रहता है।

उपन्यास में आये हुए चार पात्रों के साथ उसके सम्बन्ध इस प्रकार हैं—

(१) शीला के साथ उसका गहरा प्रेम है। शीला के अतुलित स्नेह को पाकर अपने मन में वह उसे अपनी स्नेहमयी माता का स्थान प्रदान करती है। शीला इस प्रकार उसकी माँ का प्रतीक बन जाती है। किंतु निरञ्जना के मन में अपनी इस माँ के प्रति घोर घृणा और प्रतिहिता का भाव भी है, जो वैश्य थी और इस प्रकार निरञ्जना के जीवन पर कलक और सामाजिक हीनता की एक अमिट छाप लगा गई है। यह घृणा और प्रतिहिता माँ की प्रतीक शीला के प्रति प्रदर्शित होती है और परिणाम हाता है निरञ्जना के सुदिल निर्देशों के कारण इन्द्रमोहन द्वारा शीला की हत्या। इस प्रकार अथवा मृत माता से मानो वह बगला हो लेती है।

(२) इन्द्रमोहन भी उसकी ही दुर्घट अतः प्रवृत्तियों का व्यक्ति है जितनी निरञ्जना। वह शम्भू, धूर्त, भयङ्कर और अपनी लक्ष्यप्राप्ति के लिए कुछ भी न छोड़ रखने वाला ऐसा व्यक्ति है जो कम से कमना सुदर, सुसंस्कृत और आकर्षक प्रतीत होता है। निरञ्जना और उसकी टकरार में दोनों पक्ष समान बलशाली हैं, दोनों का नाश होता है, दोनों की विध्वंस होती है और दोनों को दार भी। निरञ्जना इन्द्रमोहन को साधन बनाकर शीला को मार देती है, किंतु इन्द्रमोहन निरञ्जना से जो चाहता था, उसे पाकर ही रहता है। इन्द्रमोहन शीला की हत्या भी करता है और इस प्रकार ट्रेन के सुने दिने में निरञ्जना की सहायता से उसके कौमार्य को सखिद्वय करने का अवसर पा जाता है। यही उसके जीवन का मुख्याय या और अथवा उसे पा

वाला मयकर असामाजिक प्रवृत्तियों से है। ये प्रवृत्तियाँ कटोरता से मनुष्य का सञ्चालन तो करती हैं, किन्तु चेतना में आने का ठाँव साहस नहीं होता। चेतना के निर्बल क्षणों में जिन कमी अन्तर मिला तो वह वहाँ पहुँच जाती है, किन्तु छुट्टियों में। इस प्रकार पारसनाथ अपने को समाज में रहित समझकर 'अपराध और पाप' के अन्वेषणमय वक्तव्य का अधिवासी समझने लगता है। उस वक्तव्य में ही वह रह सकता है और सामाजिक वक्तव्य में आने का उसे साहस नहीं। इस प्रकार 'प्रेम और छाया' एक रूपक है जो पारसनाथ के विवृत जीवन का निर्देश करता है। 'प्रेम और छाया' अन्वेषण में ही बसती है। इसी प्रकार एक विशिष्ट माय से प्रान्ति पारसनाथ की अन्वेषण, अपराध और पाप के वक्तव्य में ही बस सकता है। नदिनी से प्रेम करने पर वह कहता है कि मैं प्रेम हूँ, तुम छाया अर्थात् वह उन यक्तियों से ही प्यार करता है जिनकी स्थिति उसे अपने समान प्रतीत होती है। समाज से भागकर भी वह अकेला नहीं रहना चाहता। पाप की दुनिया में और साथी बनाकर उसे प्रसन्नता होती है।

निर्वासित—महीप कवि है—पहले मुकुमार माननाथों का और अब क्रान्ति की आग उगलने वाला। वह सब तरह सुयोग्य है किन्तु वह और स्वरूप में बालक जैसा प्रतीत होता है। उसकी यह विशेषता हर क्षेत्र में उसे विफल बनाती है। कविता के क्षेत्र में क्रान्ति की आग उगलकर, प्रेम के क्षेत्र में नारियों पर विषम पाकर, जीवन के क्षेत्र में व्यावहारिक तुच्छताओं के परे उच्च आदर्श को अपनाकर, प्रत्येक विधि से वह अपना बचपन सिद्ध करना चाहता है। उसके इन रूपों और उनके पीछे छिपित भावों की प्रचण्ड शक्ति का स्पष्ट परिचय पाकर कमी कमी अन्वेषण—और विशेषतः नीलिमा—उसके व्यापक की महानता से प्रभावित हो उठता है और ऐसे क्षण महीप का जीवन के सबसे महान् उल्लास के क्षण बनते हैं। किन्तु ये क्षण ही रह जाते हैं और उसका अन्तिम वस्तुस्थिति रूप ही अन्वेषण के समस्त यथायक बना रहता है। परिणामतः रमा और सुषमा ने तथा नीलिमा ने भी उससे प्रेम किया, किन्तु अपने सहचर पुरुष के रूप में नहीं, प्रत्युत उसे एक तुच्छ बालक समझकर।

टाकुर साहब का दुःखता से टकराकर वह अपनी हानता का, अपने छापेपन का और महत् अनुभव करता है। प्रतिद्वन्द्विता और इच्छा उसके मन में उठती है किन्तु टाकुर साहब का सामना करने की शक्ति वह स्वयं में नहीं पाता। फल नीलिमा ही टाकुर साहब को पराजित कर सकती है, किन्तु नीलिमा का मन भी दो विपरीत तत्त्वों से निर्मित प्रताप होता है। जिस वह प्रेम करता है वह उसे सहन नहीं और जो उसे सहन नहीं उसे वह प्रेम करती है। दो पुरुष उसे मिलन हैं, किन्तु दोनों अधूरे। वह किसे चुने? इस निरन्तर द्वन्द्व में वह अनेक ऐसे क्षण करती है, जो उस कमी टाकुर साहब की ओर मुका हुआ मिलाने हैं और कमी महीप की ओर। वह चुन नहीं सकती, किन्तु उसे चुनना ही होगा और वह टाकुर साहब का वरण करती है। इस वरण में उसकी माँ की प्रबल आतौरिक इच्छा और अपनी माँ के प्रति उसका प्रबल प्रेम का भी महत्त्वपूर्ण योग है।

टाकुर साहब के समस्त नीलिमा और महीप दोनों पराजित होते हैं। वे हार सकते हैं, कठोर, अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी भी साधन का उपयोग करने वाले, निर्मय व्यक्ति, इत्यारो, स्वयं को अपनी योग्यता का साधन बनाकर नष्ट कर देने वाले, अपनी प्रजा के शोषक अमीनार हैं। वे एक वय के प्रतीक हैं और उनका मनोविज्ञान उस वय का मनोविज्ञान है, इसी

लिए नीच और दुश्चरित्र होने पर भी उनके चरित्र की रूपरेखा अत्यंत स्पष्ट रूप में उभर आइ है और उनके पात्रों में शोषक वर्ग का चरित्र प्रतिबिम्बित है।

महीप नीलिमा और ठाकुर साहब की प्रमुख त्रिकुटी के नीचे एक ज्वालामुखी विद्यमान है और यह है शारदा देवी का चरित्र। शारदा देवी ऊपर से अत्यन्त शुभ और दुर्बल प्रतीत होती हैं, किन्तु उनमें भय म उत्पत्ती ही भयानक प्रतिहिंसा छुल्लम रही है। यह प्रतिहिंसा ठाकुर साहब के विरुद्ध है, क्योंकि वे उसकी बहन को अपने प्रेम जाल में फँसाकर अतम उससे पीछा छुड़ाने के लिए उसकी चुपचाप हत्या कर देने वाले व्यक्ति हैं। दूधरी रिश्तों के साथ भी उ होने दिया किया है। सब कुछ जानते हुए भी स्वयं शारदा देवी उनके प्रेमजाल में फँसा हैं, किन्तु मानो प्रतिहिंसा के लिए ही ये जी रही ह। अपने और ठाकुर साहब के बीच हुए व्यक्तिगत सम्बन्ध को उ होने सामाजिक रूप दे दिया है और निम्न मध्यम वर्ग की भाँति का सिद्धांत निमित्त किया है। भाँति का यह धारणा वैयक्तिक अनुभव से उत्पन्न होती है और बाद में उसे तत्त्वबुद्धि बनाया जाता है।

महीप अपने बहुआ रूप और तन्त्रनिष्ठ हीनमान से निवृत्ति पाने के लिए एकदम महान् महत्वाकांक्षा को ले बैठा है। शारदा देवी की प्रख्या के आधार पर वह एक क्रांतिकारी दल का संगठन करता है। वह जप निजिय या तब भी नीलिमा उसकी प्रेरणा थी और उसे पाने की खाशा उसके मन में बनी हुई थी और क्रांतिकारी बन जाने पर भी नीलिमा ही उसकी प्रेरणा है, यद्यपि उसे पाने की आकांक्षा अब मिट गई है।

इस उपन्यास की रूपरेखा जोशीजी के पिछले सभी उपन्यासों में अधिक जटिल है और उनके द्वारा उठाई गई मानव जीवन की समस्याओं ने अधिक व्यापक रूप धारण कर लिया है। इसके पूर्ववर्ती उपन्यास में वे मूलतः एक चरित्र को ही लेकर उसका विशाल विश्लेषण प्रस्तुत करते रहे हैं। किन्तु 'निर्वाणित' के पात्र तुलनात्मक महत्ता में एक दूधरे के अधिक समीप हैं। उनके आन्तरिक द्वन्द्व के साथ अनेक विभिन्न प्रकृतियों के व्यक्तियों के बीच घात प्रतिघात द्वारा औपन्यासिक वस्तु अन्तर्मन के अन्तर्लक्ष्य से उठकर सामाजिक स्पर्श के भयानक पर उभर आइ है और इस प्रकार यह उपन्यास वस्तु की दृष्टि से अधिक समृद्ध, दृढ़ एवं आरोह अवरोह की दृष्टि से अधिक स्पष्टदर्शील तथा सजीव और विश्लेषण की दृष्टि से अधिक अर्थवाही हो उठा है। इसमें जटिल पृष्ठभूमि को सरलता के साथ एक तुल्य और गतिमान रूप में प्रथम कर विस्तृत बना पद्य में जोशीजी ने एक नया उपपन्न प्राप्त किया है।

मुख्यपथ—इस उपन्यास के प्रकाशन से जोशीजी की औपन्यासिक कला में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लक्षित हुआ है। इसमें वे स्पष्ट रूप से एक आदर्श को, जो गांधीवाद से प्रभावित है, लेकर चले हैं। पात्रों में रहस्यात्मकता का कम होना, चरित्रों में स्वयं भावना की मूलता, बुद्धि का कान्ति के विरोध में गांधीवादी सामूहिक सचदय की भावना का आना ये इस उपन्यास की विशेषताएँ हैं, जिनसे यह आभास होता है कि जोशीजी ने आन्तरिक परिवर्तन हो रखा है। इस बात के प्रमाण उनके अगले उपन्यास 'सुबह के भूले' और 'जिप्सी' भी हैं।

राजीव एक बी० ए० पास बेकार नवयुवक है। यह नवयुवक एक क्रांतिकारी की प्रेरितता से अण्डमान जेल जाने के पश्चात् अर लौट आइ है और एक नौकरी की खोज में है। लखनऊ में दूर के रिश्ते के एक भाई उमाशंकरजी के यहाँ बंद टिका हुआ है जो सरकार में उच्चपदाधि

कारी भी है। इन माइ के परिवार में उनकी पत्नी के अतिरिक्त एक रिश्ते की विधवा बहन भी है, जिसने परिवार के समस्त बोझ को अपने कंधे पर उठा लिया है। यह नारी मुनंदा राजीव के जीवन के प्रति आस्था रखती है और अपनी सहस्रभूति प्रकट करती है। एक दिन चर्चा में राजीव इसी मुनंदा की परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा देता है। इस प्रेरणा को ग्रहण करने के बाद मुनंदा में एक परिवर्तन लक्षित होने लगता है—उसके स्वभाव में भी, कार्य में भी। उमाशंकरजी की पुत्री प्रमिला राजीव के प्रति उसके गहरे स्नेह की देखकर उसे एक दिन सदैव के लिए राजीव के साथ कर देती है। राजीव उसे लेकर एक शरणार्थी बस्ती में बस जाता है जहाँ वह सुधार की नई आदर्शवादी योजना पर कार्य प्रारम्भ कर देता है और बहुत हद तक सफलता भी प्राप्त करता है। किंतु यह बाह्य सफलता मुनंदा के लिए कोई महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि उसका हृदय वैसा पहले मुना था वैसा ही अब भी है और अंत में एक दिन इसीलिए उसे राजीव का साथ छोड़कर बल देना पड़ता है।

इस उप यास की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) इसमें व्यक्तिगत प्रश्नों की अपेक्षा एक सामूहिक विकास और उसकी महत्ता पर बल दिया गया है।

(२) इसमें प्रथम बार पुरुष एक दृढ़ व्यक्ति के रूप में प्रकट हुआ है जो निरन्तर अपनी मन की भांति से न लड़कर एक सुस्पष्ट विकास के लिए सचेत है। वह केवल अपनी भावना में मग्न नहीं रहता, दूसरों की भी चिन्ता करता है।

(३) इसमें पुरुष और नारी की अन्तर्मुख्यहीनता, आलस्य सभी के विरुद्ध प्रयत्न प्रयत्न है।

(४) इसमें मनोवैज्ञानिक कक्षापोह जोशीजी के सभी उपयासों से कम है।

(५) इसमें एक क्रियात्मक आदर्श की ओर मानवता को प्रेरित किया है जो अभी तक उनके किसी भी उपयास में इतने स्पष्ट रूप से नहीं आया।

नैतिकता, अहिंसा, सामूहिक विकास योजना के साथ सर्वोदय की भावना में विश्वास इस उपयास की विचारधारा के अन्य तत्त्व हैं जिनसे वह प्रभावित है।

जोशीजी के उपयासों के विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि उनके छह उपयासों में से चार का सम्बंध पुरुष के मन का विवृत अहवाद है और दो उपयासों का सम्बंध नारी के मन की विवृति से है। दूसरे रूप में यह भी अहवाद का एक रूप है।

जोशीजी का विश्वास है कि चरित्र जिस रूप में जगत् के सामने आते हैं उनका वह रूप वास्तविक नहीं होता अर्थात् मनुष्य वैसा ऊपर से दीखता है, आन्तरिक रूप से वैसा नहीं होता। यह मूलतः चेतनबुद्धि से परिपालित नहीं होता, किंतु उसे जीवन में प्रवर्तित करने वाली वास्तविक प्रेरणाएँ उसके अन्तःचेतन में निवास करती हैं, इसीलिए ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब मनुष्य अपनी समझ से कोई विशेष संकल्प ले चुका है, किंतु उसकी आन्तरिक शक्तियाँ उसे उस संकल्प की ठीक विपरीत दिशा में प्रवर्तित कर रही हैं।

व्यक्ति के बाह्य स्तर को धीरे-धीरे उसके वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करना अपने उपयासों में जोशीजी का प्रधान लक्ष्य रहता है। स्वभावतः उनके उपयास विश्लेषणात्मक, मनोवैज्ञानिक और चरित्रमूलक होते हैं। उपयास के प्रधान चरित्र को वे अनेक परिस्थितियाँ और

घटनाचक्र से पार होता हुआ दिखलाते हैं। पाठक उनके सम्मुख में अपनी एक प्राग्भिक धारणा बना लेता है, किन्तु एक स्थिति पर आकर इस चरित्र की मूल मनोवृत्तियों का उद्घाटन आरम्भ हो जाता है और पाठक उसके विरल अन्तर्मन की झोंकी पाता है। यह आन्तरिक विवशता कल्पे हुए चरम सीमा तक पहुँचती है और उस मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में नायक के वास्तविक व्यक्ति व, उसकी मूल अंत प्रेरणाओं का पूर्ण उद्घाटन हो जाता है। यह उनके उपन्यासों की रचना और विकास की रीढ़ है।

जोशीजी के पात्रों की मूल प्रगति दो हैं—अह और हीनता की भावना। हीनता की भावना के कारण ही अह की उत्पत्ति होती है। सारे पुरुष एक नारी पात्र वही हीनता प्रिय और अहवात् से परिचालित होते हैं। पुरुष पात्रों द्वारा इस अह की अभिव्यक्ति प्रचण्ड रूप में हुई है। ये पात्र नारी पर अपना हजार पुरुष रूप से चाहते हैं। नारी के अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व जैसी किसी वस्तु की एक स्पर्शक भी उन्हें सहन नहीं हो सकती, मानो जिसे वे प्रेम करते हैं उसे पूर्णतया अपने अह से आच्छादित किए बिना वे नहीं रह सकते और प्रिय पात्र के रूप में मानो उनका अह ही अधिक विस्तार प्राप्त करता है। प्रिय पात्र उनके व्यक्तित्व का एक अंग मान है, स्वयं में कुछ नहीं। वास्तव में प्रेम करने की इनमें क्षमता नहीं है। प्रेम दो आत्माओं के बीच प्रवाहित होता है, किन्तु ये पात्र दूसरी आत्मा अथवा दूसरे व्यक्तित्व को मानते ही कहाँ हैं ?

सच तो यह है कि जिस अह के असीमृत हो पात्र दूसरे पर हास होने का प्रयत्न करते हैं, यहाँ तक कि दूसरे की सहा मिटा डालने पर भी तुल जाते हैं, उनका यह अह अन्त में टूट कर ही रहता है। कोई भीषणतम आपात उनके इस अह को तोड़ देता है। जोशाजी ने एक स्थान पर लिखा है—“मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहवात् की दैर्घ्यता पर निर्मल प्रहार करने का रहा है—‘एजायबी’, ‘सन्ध्याली’, ‘पर्व की रात्री’, ‘प्रेत और छाया’, ‘निर्वासित’, इन पाँच उपन्यासों में मैंने इसी दृष्टि का अपनारा है।”

इस अह के साथ ही ये पात्र भयानक हीनता प्रिय से पीड़ित होने वाले व्यक्ति हैं और वे निरन्तर इस हीनता के भाव से अपने आपको छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं और रहस्यमय तथा अदृश्य कार्य करते हैं। ‘पर्व की रात्री’ की निरञ्जना यह सुनकर कि उसकी माँ वेश्या थी और पिता हत्यारा, इस भाव से अचिप्रस्त होकर तद्बलित हीनता की भावना में उत्पीडित होती हुई अपने आहत अह की क्षतिपूर्ति के लिए निरन्तर विकृतिमय जीवन में अग्रसर होती है। इसी प्रकार ‘प्रेत और छाया’ का फारसनाथ भी अपने पिता से यह सुनकर कि उसकी माँ अभिचारिणी है और वह चारु पुत्र है, अपने व्यक्तित्व के समस्त सञ्चलन को उसी में डोकाव देता है। हीनता के इस भाव से निवृत्ति पाने के लिए वह निरन्तर विप्लव एक स्थान से दूसरे स्थान धूमता फिरता है। अर्धमन में गहरा पैठा हुआ यह हीन भाव ही अपनी अबाध शक्ति का परिचय देता हुआ उसे कष्ट, आत्मपीडन और अथ पतन के और बढ़ते चरण में डबेल देता है। ‘निर्वासित’ का महीप एक सफल कवि है और सख तर्क योग्य है, किन्तु बड़ और स्वरूप ॥ बालक जैसा प्रतीत होता है। यह पात्रहीनता की भावना से प्रसित होकर, कविता के क्षेत्र में शक्ति की आत्ता उगलकर, प्रेम के क्षेत्र में नारियों पर विजय पाकर, जीवन के क्षेत्र में व्यावहारिक कुक्षुदाओं के परे उच्च आदर्श की अपनाकर प्रत्येक विधि से अपना नदम्पन सिद्ध करने का प्रयत्न करता है,

किन्तु वही भी सपना नहीं होता। जोशीजी के अधिकांश पात्र इसी हीनता ग्रथि से पीड़ित हैं।

‘लजा’ और ‘सयासी’ में हम यही देखते हैं कि उनके के द्वीय पात्र अपनी उदाम अन्त प्रेरणाओं के यथोक्त होकर और अपने अह का असीम सत्ताकांक्षा के कारण अन्त में चूर चूर हो गए हैं, किन्तु ‘पदों की रानी’ में यह स्थिति आने के बाद इससे विपक्ष का एक और भी सत्य प्रस्तुत किया गया है। एडलर के अनुसार व्यक्ति के जीवन में दो मूल प्रेरणाएँ रहती हैं। शारीरिक अथवा अर्थ किसी हीनता के कारण उसमें एक व मजबूत हीनता का भाव रहता है। उसने निवारण के लिए वह महत्ता का एक कल्पित लक्ष्य स्थापित करता है और उसका समस्त जीवन योचना उस लक्ष्य की प्राप्ति की ओर निरन्तर कियाशील रहती है। दूसरी पर हावी होकर, उन पर प्रभुत्व स्थापित करके वह स्वयं को यह विश्वास दिला देता चाहता है कि वह वास्तव में हीन और दुर्बल नहीं, किन्तु महान् और सर्वशक्तिमान है। यह है ‘व्यक्ति का अनिवाय अहकार, किन्तु व्यक्ति यह भी अनुभव करता है कि समाज के बिना उसका अस्तित्व सम्भव नहीं और अस्तित्व की इच्छा प्रत्येक जीवधारी की मूल अन्त प्रेरणा है। इस प्रकार व्यक्ति सामाजिक सद्व्योग और सामाजिक प्रेमभाव की आवश्यकता भी अनुभव करता है। इस प्रकार व्यक्ति में एक ओर होता है उसे समस्त दुनिया के विरुद्ध स्थापित करने वाला दुष्प, ज्वलनशील, सत्ताकांक्षी और विनाशक अह और दूसरी ओर सहयोग में सामाजिक त्यागमूलक और समाज से अनन्य बनाने वाली विश्वबंधुत्व की भावना। अह और प्रेम इन दो पक्षों में से ‘सयासी’ में हम केवल समाजविरोधी और विनाशक अह की लीला ही देखते हैं। किन्तु ‘पदों की रानी’ में इससे आगे व कर प्रेम के कल्याणमय पक्ष के उदय का आभास भी मिला गया है। एडलर के अनुसार मानव जीवन का सूत्र होना चाहिए। अपनी सत्ताकांक्षा को विश्वबंधुत्व द्वारा सीमित कर देना यह उपयोग में स्पष्ट नहीं, किन्तु निरञ्जना के ‘व्यक्तित्व के नये मोड़ में संकेतित अवश्य है। इस प्रकार एडलर का दृष्टिकोण अपनी तारिख पूणता में प्रथम बार जोशी जी के इस उपयोग में प्रस्तुत हुआ है।

उनके सभी पात्र सुगन्धीर होते हैं, उनका बौद्धिक स्तर सामान्य से ऊपर रहता है, अधिकांश में बनी हुई आत्मविश्लेषण की प्रवृत्ति और क्षमता रहती है। प्रायः अपनी प्रवृत्तियों को पहचान लेने पर भी उनके विरुद्ध अपनी रक्षा नहीं कर पाते और आत्मविश्लेषण के साथ उनमें बहुधा दूसरे धर्मियों की देखकर उनके अन्तर्मन की गोपनमूलक प्रेरणाओं की पहचान लेने की शक्ति भी पाए जाती है।

जोशीजी मूलतः व्यक्तिवादी उपयोगकार हैं। प्रायः एक ही व्यक्ति—ऐसा व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व अनेक मानसिक और भौतिकलक्षणों से कुण्ठित और विद्रिष्ट हो गया है—उनके उपयोग का केन्द्र रहता है। किन्तु जोशीजी “सामाजिक परिपारण की ओर हममें काम करने वाली आत्मा दुर्दैव पूर्वानुमेय शक्तियों को उचित महत्त्व नहीं देते। व्यक्ति महान् है। इसलिए कि वह मनुष्य अनुनुमेय स्वच्छन्द और अनियमित है, चरन् इसलिए कि वह एक अनुमेय और नियमित सामाजिक परिपारण में रहते हुए भी उस परिवर्तित करता है और नई दिशाएँ तथा नई गति दे सकता है। परिपारण के साथ उसका अन्तः-यात्रा को न देखने का परिणाम सम्पूर्ण पराजय और निराशावाद हो सकता है और वास्तव में इलाचन्द्रजी के उपयोगों में यह परिणति हुई है। ‘सयास’ में निर्वासित

तक का विकास इसे सूचित करता है।^१

पुरुष पात्र—जोशीजी ने एक स्थल पर लिखा है—“वीर नायकों की भाषा लिखने वाले उपन्यासकारों की कमी नहीं है, पर हुजूमत स्वभाव स्वभावितों की कथानायक बनाने का सौभाग्य उनके सुक ही प्राप्त है।”^२ उनकी यह स्वीकारोक्ति अत्यंत सत्य है। उनके प्राय सभी पात्र निष्क्रिय हैं और अपने आपमें डूबे रहने वाले, अकर्मण्य, आलसी तथा अहम्भाव जीवन बिताने वाले हैं और आर्थिक रूप से दूसरों पर आश्रित हैं। यथार्थ से इन पात्रों का कोई नाश नहीं रहता। अपनी मनोरम सुधियों तथा विवृत कुंठाओं में ही वे अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ये पात्र प्रायः परिवार के बंधन से मुक्त स्वच्छन्द विचरने वाले प्राणी हैं। प्रेम करना उनका मुख्य कार्य है। एक साथ वे तीन तीन, चार चार नारियों से प्रेम करते हैं। जितना वास्तव में वे नारियों को अपने व्यवहार से आश्चर्यादि पर देना चाहते हैं, अपने अहं की तुष्टि के लिए उनसे खेलते हैं, वास्तव में प्रेम वे नहीं करते। अन्त में वे अपनी प्रेमिकाओं को धोखा भी देते हैं।

पुरुष पात्रों की उपयुक्त प्रवृत्तियों को देखकर ही एक आलोचक ने शिकायत के लहजे में लिखा है—“इलाक़द्र जोशी के कथानायकों में कुंठाग्रस्त पात्रों के दण्ड मानस को क्षीयित प्रदान करके उनके अन्तर्गत और अस्वभाविक कृत्यों को महिमा मण्डित करने का प्रयत्न है। ‘स वालो’ ‘वर्दे की रानी’ तथा ‘मेत और छाया’ आदि उपन्यासों में पाठकों को ऐसे ही पात्रों का चित्रण मिलता है। जोशीजी के साथ हीम भावना, मानसिक, स्वरति, आदि मानसिक विकृतियों के शिकार होते हैं। इस अवस्था में वे नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करके पूर्ण स्वच्छन्दता से अपने पारिवारिक और हिसक रूप में समस्त मानवीय सम्बन्धों को टुकड़ा टुकड़ा करके अपनी स्वाधिसिद्धि और भद्र अभद्र नारियों के साथ काम करते करते फिरते हैं।”^३

नारी पात्र—जोशीजी के नारी पात्रों की अपनी विशेषताएँ हैं। वे जैनधर्म की नारियाँ की भाँति आत्महत्या करने वाली नारी नहीं हैं और न वे पति की दासी ही प्रमाणित होती हैं, बल्कि पति या प्रेमी के पशुपल के विषय अपना निर्दोष स्पष्ट घोषित करती हैं। लज्जा करने भाव की दृष्टि के विषय भी डॉक्टर से प्रेम करती रही और भाई की मृत्यु का कारण बनी। ‘मेत और छाया’ में मन्त्री और नन्दिनी दोनों ही पारयनाथ की उनके पशुपल के कारण आज न ज़िम्मा नहीं कर पाती। वे अतः तब अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित सिद्ध रहती हैं। ‘स वालो’ की शांति का भी यही रूप है और ‘निर्वाणित’ की नीलिमा तथा मातना भी आखिर तक पुण्य के सम्मुख नहीं झुकती। ‘शक्तिपथ’ में सुन्दरी राजीव से अपने प्रेम की उपेक्षा या उसे छोड़कर चली जाती है, राजीव के अन्त में झुकने पर भी। कहने का तात्पर्य यह है कि जोशीजी के समस्त नारी पात्र अपने में एक दृढ़ता रखे हुए हैं और वे जैनधर्म की नारी पात्रों की भाँति निर्दोष नहीं हैं। वे स्वयंस्वी की भाँति सड़क पर लूटे खाने के बाद भी पति के साथ नहीं रहती, बल्कि वे शांति की भाँति नदियों के छोड़कर जीवन के पथ पर निपट अकेली

१ अज्ञेय, ‘साहित्य सन्दर्भ’, नवम्बर १९४६, पृष्ठ १५४।

२ ‘अपनी’, उपन्यास, पृष्ठ ७०६।

३ शिवदानलाल चौहान, ‘नई धारा’, अगस्त १९२३, पृष्ठ २६।

अपने वाह्य और निर्यास के सहारे न चलती हैं। अपने नारी पानों को गढ़ने में जोशीजी का एक विशेष दृष्टिकोण रहा है जिसका स्पष्टीकरण एक लेख में उन्होंने किया है। उनका ध्यान है—“धीरे धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है अर्थात् वह शरत युग की नारी की तरह आलुकरता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष की हठधुरी के बहाव में अपने को पृथक्ता बहाना और मिटाना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही हैं। सामाजिक पदों के भीतर छिपे हुए हमी सरप का उद्घाटन मनोवैज्ञानिक उपायों से करने का प्रयास मैंने किया है।”^१

निष्कारधारा—जोशीजी की यह विशेषता है कि वे चरितार्थ जगत् की घटनाओं और सामाजिक तर्कों का सन्निवेश भी कुशलता के साथ अपने उपन्यासों में करते हैं। इसलिए उनकी कृतियों में एक यथार्थवादी यापि भी कुछ सीमा तक आ जाती है, किन्तु पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सांसारिक और सामाजिक पद्धति की उपस्थिति होते हुए भी लेखक का मूल उद्देश्य चरित्र की आन्तरिक सत्ता का उद्घाटन रहता है।

वे अपनी कृतियों में विभिन्न निष्कारधाराओं का समावेश भी करते हैं, किन्तु उनमें से कोई ऐसी नहीं होती जिससे यह प्रतीत हो कि वह उनके द्वारा अपना ली गई है। विभिन्न निष्कार धाराएँ विभिन्न पात्रों से सम्बन्ध रखती हैं और लेखक की दृष्टि से वे उन पात्रों के आन्तरिक चरित्र की यथार्थ बाह्य प्रतिच्छवि (प्रतिरूप) हैं।

जोशीजी का विश्वास है कि बाह्य जगत् का जो घटनावक्र है, जो अव्यवस्था है, वह अन्तर्जगत् का प्रतिरूप है। ‘प्रेत और छाया’ नामक उपवास की भूमिका में उन्होंने इस विषय में अपना मत प्रकट किया है जो महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं—“आप का मनोवैज्ञानिक पक्ष गहराई से साधता है तो उसे यहाँ तक विश्वास करना पड़ता है कि समय समय में भिन्न विभिन्न आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रकोप या प्रताप सत्तार में छाया है, उनके मूल में अज्ञात चेतना के भीतर अज्ञात रूप से ही कुलकुलाने वाली अलक्ष्य रहस्यमयी प्रवृत्तियाँ अन्तः सत्कार हैं। मानव जाति के सामूहिक अवचेतन मन में निहित आदिम जालीन प्रवृत्तियाँ आप भी पूरा रूप से नये नये स्वरूपों में—बेमालूम ढंग से अथवा स्पष्ट —अपना कार्य करती चली जाती हैं, और राष्ट्रों के उत्थान पतनों, अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तियों अथवा विश्व यापी युद्धों के पीछे मूलतः वे ही निहित प्रवृत्तियों की अज्ञात रहस्यमयी शक्ति का चक्र चलता रहा है, इस बात के असंख्य प्रमाण मिल सकते हैं। ‘मेरी यह प्रुध, निश्चित विश्वास है कि यत्नियों के अतीतजीवन के स्वरूप ही सामूहिक बाह्य जीवन के रूपकों के रूपों में—विश्वव्यापी, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के प्रतीक बनकर—प्रकट होते रहते हैं।”^२

वर्तमान परिस्थिति, वैयक्तिक जीवन और समाज-व्यवस्था से जोशीजी को असन्तोष है। उनका विश्वास है कि वर्तमान समाज में मनुष्य अपना स्वाभाविक विकास प्राप्त नहीं कर

१ दत्ताचन्द्र जोशी, ‘विवेचना’, पृ० १२४।

२ दत्ताचन्द्र जोशी, ‘प्रेत और छाया’ की भूमिका से उद्धृत।

सकता। उसकी विफल और कुम्भित होने वाली प्रवृत्तियों अनेक कल्पित रूप धारण करके प्रकट होती हैं। व्यक्ति अपनी इन आन्तरिक मान्यताओं की गतिविधि को पहचान नहीं पाता और मायाजाल में कैदकर अभिमायिक विफल और विफल होता जाता है, किंतु इसी विप्लव मनुष्य के अन्तर्मन में सज्जन के तत्त्व भी निधुमान रहते हैं। आत्मविश्लेषण द्वारा अथवा दूसरों की सहायता से इन तत्त्वों की प्रकाश में लाकर और उनका विकास करने ही मनुष्य अपनी वास्तविक सत्ता को पा सकता है। मनुष्य की समस्त भावनाओं एवं उनके उत्तर को वे उसकी मूल प्रकृति के रहस्योद्घाटन द्वारा समझना चाहते हैं। यह मूल प्रकृति अन्तः-तन, अन्तर्मन के विश्लेषण से ज्ञात होती है। इसके द्वारा वे मनुष्य का वास्तविक स्वरूप समझ लेना चाहते हैं और उनका विश्वास है कि इतनी उपलब्धि होने पर मानव 'पंक्ति' की धारणा सिद्धि है। अतएव सामाजिक उपलब्धि पुण्य के मूल में भी मानवीय अन्तर्मन की शक्तियों को ही देखते हैं। समाज उनकी प्रवृत्तियों में प्रस्तुत होता है, किंतु उनका दृष्टिकोण मूलतः 'व्यक्ति' केन्द्रित है। मनोविज्ञान की इस सामाजिक योजना ने उनके उपन्यासों में कुछ विशेषताएँ उत्पन्न कर दी हैं। उनमें से निम्नलिखित विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

(क) अन्तर्मन का विश्लेषण।

(ख) अहंता और हीनभाव तथा सेक्स—ये तीन मनुष्य को विशिष्ट बनाने वाली और उद्घातित करने वाली प्रवृत्तियाँ हैं।

(ग) मनुष्य के अंदर जो सज्जन के बीच होते हैं उन्हें पहचानने वाले व्यक्ति मानो एक विशेष शक्ति से सम्पन्न हैं। अपनी मर्मवेधी अन्तर्दृष्टि द्वारा वे उसे देख लेते हैं जो दूसरा को दृष्टि से गोपन रहता है।

(घ) ऐसे चरित्रों की योजना, जो किसी निषेधक मातृ की छाया में काय करते हैं अपना महत्त जीवन नहीं जीते।

(ङ) ऐसे चरित्रों की योजना, जिनके कार्यकलाप विचित्र होते हैं—व्यावहारिक दृष्टिकोण से नहीं समझा जा सकते—जिनके कार्यों की व्याख्या उनके अन्तर्मन के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा उनमें सन्निहित शक्तियों को खोजकर ही की जा सकती है।

उपसंहार—उक्त विचार, कथा विकास, शिल्प और प्रकटीकरण की शैली—कला के इन चारों रुपा न जोशीजी बहुत कुछ परम्परावादी हैं। उनका कथा सौष्ठव प्रेमचंद से ज़रा भिन्न लगता है और उन्हीं की भाँति समुद्र है। जोशीजी उस राय की सबसे पहले एक कहानी मानते हैं जिसे सुन्दर ढंग से कलात्मक चौंका के पूर्ण निराद के साथ कहा गया हो। जीवन की महान समस्याओं से सम्बन्धित यह कहानी होनी चाहिए। जोशीजी के उपन्यासों में उनकी यह परिभाषा पूर्णरूपेण चरितार्थ है।

अध्ययन • विदेशी लेखक

गंगाधर भा

दस्तोएवस्की की कतिपय आधुनिक समीक्षाएँ

दस्तोएवस्की का व्यक्तित्व और कृतिर प्रतिध्वनियों से निर्मित धूमिल मायालोक के समान है। मानो वह एक ऐत्रचालित दर्पण है, जिसमें प्रत्येक समीक्षक अपने आकाक्षित की प्रतिनिमित्त पाता है। नीति और अनैति, पाप और पुण्य, नास्तिकता और आस्तिकता, अपराध और मंगल, प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता में से प्रत्येक को विभिन्न समीक्षकों द्वारा उनके कृतिर का मूल तथ्य निरूपित किया गया है। डब्रोल्स्युव्स्की ने उनमें मानसिक विकार के लक्षण पाए और यह देखा कि समान के दलित मनुष्यों के प्रति सहानुभूति दस्तोएवस्की के उपन्यासों का सार तत्त्व नहीं, किन्तु एक प्रकार के अपराधियों का चरित्र अंकित करने का नशा उनके मूल में है। टाल्सटोय के अनुसार दस्तोएवस्की ने जिस जीवन का चित्र अंकित किया है वह असत्य, उद्भावित और छद्म निरूपित है। गोर्की उनमें मनुष्य के प्रति विश्वास का अभाव, मनुष्य की बुद्धिबुद्धि के प्रति आस्था का अभाव और मनुष्य के सुख और सुख के प्रति प्रत्यय का अभाव प्रचारित पाते हैं। ऐसे ही दस्तोएवस्की की कृतियों महायुद्ध के उपरान्त इटली की धार्मिक पुस्तकों की दुकानों में अभूतपूर्व सरया में बिकीं। फ्रायड ने उनमें यदि एक विकल याधिप्रस्त की कहानी देखी तो एडलर ने मानव जाति के महान् भगलसाधक मसीहा के दर्शन किए।

समीक्षा एक और यदि आलोचित कृति अथवा लेखक की व्याख्या करती है तो दूसरी ओर यह स्वयं समीक्षक के जीवन दर्शन को भी प्रस्तुत करती है। इसलिए यदि एक ही लेखक पर विभिन्न जीवन ज्ञान से प्रेरित समीक्षकों का अध्ययन किया जाय तो वह भी महत्वपूर्ण हो सकता है। उसके द्वारा यह सम्भव है कि अनेक दृष्टिकोणों से देखने पर समीक्षित लेखक के विषय में हम अधिक गहराई से जान सकें, अथवा एक ही तथ्य पर विभिन्न समीक्षा पद्धतियों को क्रियाशील देखकर हम स्वयं इन समीक्षा पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन कर सकें। समीक्षा विषयक अपनी मायताओं और मानदण्डों पर पुनर्विचार इस विवेचन का अनिवार्य परिणाम होगा। वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि कला विषयक अपनी समस्याओं के हल के अभाव में हम, कला के गम्भीरतर स्रोतों की ओर प्रेरित होने के साथ, उन्हें कम से कम वैज्ञानिक रूप में सूत्रबद्ध कर लें। विशेषतः दस्तोएवस्की एक ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने अपनी वैचित्र्यमय कृतियों द्वारा चाहे साहित्य के लिए प्रतिमान न उपस्थित किए हों, किन्तु उसके सम्बद्ध अनेक समस्याओं को अवश्य जग दिया है।

मनाविज्ञान और मार्क्सवाद वर्तमान युगचिन्तन की दो प्रमुख धाराएँ हैं। दस्तोएवस्की की समीक्षा में दोनों का प्रयोग भी हुआ है। उनके ही कुछ प्रतिनिधि रूपों का चयन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। दोनों समीक्षा पद्धतियों का प्रतिनिधित्व क्रमशः फ्रायड और एडलर तथा प्लादिमीर येर्मिलोफ और रेण्डल स्विगलर यहाँ करते हैं। आरम्भ में दस्तोएवस्की पर वेलिन्स्की की समीक्षा उपस्थित की जा रही है, क्योंकि उसमें दस्तोएवस्की से सम्बद्ध मूल समस्या

एवम्बद्द हो गई है। अन्त में इस सामग्री के आधार पर हम कतिपय ऐसे सारगर्भ तथेत्तों का संकलन करेंगे जो गम्भीर विचारणा के योग्य हैं।

मृत्यु से पूर्व बेलिन्स्की दस्तोएवस्की की चार कृतियाँ देल सके। वे क्रमशः 'पुअर फाव', 'दि डहुल', 'मिन् प्रोलाखिन', और 'दि मिस्ट्रेस' हैं। प्रथम में उन्होंने लक्ष्य किया कि "जिस कीमती गति से दस्तोएवस्की ने रचना लिखी की, वह रूसी साहित्य में अभूतपूर्व है।" उसका दोष यह था कि "पद्यक के मन में प्रशंसा का भाव जगात हुए भी वह उस यका देती है।" इसका कारण कुछ लोग अनाश्रयक विस्तार तथा अत्यन्त शक्ति उत्पन्नता में देखते थे। यही दोष द्वितीय कृत में अधिक विराट् बन गया है। एक ओर यह दस्तोएवस्की की अतुलित सृजन प्रतिभा का बीजत आदयान है, किन्तु दूसरी ओर एक ऐसा उपर कल्पना शक्ति का दृष्टान्त मा, जो मूल भाव के कलात्मक अनुशासन में अक्षम है, अर्थात् दस्तोएवस्की 'प्रकृति' से तो सम्पन्न है, किन्तु वाञ्छित कलात्मक नियुक्तता उनमें नहीं। उपचार यह है कि अनाश्रयक विस्तार विकालकर लेखक अपनी कृतियों को चक्षुस्त कर दें, और तब कला की दृष्टि से वे अधिक सम्पन्न हो जायेंगी। द्वितीय कृति में "एक और महत्त्वपूर्ण दोष है, और यह है उसमें अस्वाभाविक कल्पना का जातवाच।" बेलिन्स्की के अनुसार "अस्वाभाविक कल्पना की कवच वाक्यवाचों में स्थापन मिल सकता है, साहित्य में नहीं, वह डॉक्टरों के काम की वस्तु है, कवियों के काम की नहीं।" यहाँ स्वयं दस्तोएवस्की की 'प्रकृति' का विषय में सशय उठ जा रहा है।

उपयुक्त सशय मित्रता नहीं, किन्तु परिपुष्ट होता है। तृतीय कृति के विषय में बेलिन्स्की लिखते हैं—"यहाँ हम एक महान् प्रतिभा की जगमगाती विन्यासियों देखते हैं, किन्तु वे ऐसे सघन अन्धकार में चमकती हैं कि उनका प्रकाश पात्र की असहायतावस्था को दूर नहीं करता। जहाँ तक हम दूर तकते हैं वहाँ तक इस विचित्र कहानी को पश्य देने वाली वस्तु न तो देखी है और न सम्मुख पश्य सहस्र अजनबीसता, किन्तु वह वस्तु प्रकृत्या—किस प्रकार हम उस कहें?—आश्चर्य और दर्शन के समान कुछ है। सम्भवतः हम मूल में हैं, किन्तु तब यह हमनी कृत्रिम, विकृत और अगम्य क्यों है? जानो वह एक प्रकार की सत्य किन्तु अद्भुत और अचानक घटना है, एक काव्यात्मक सृष्टि नहीं। कला में कुछ भी छुँधला और अगम्य नहीं होना चाहिए।" यहाँ पहुँचकर दस्तोएवस्की का नियुक्तता विषयक दोष नमस्स हो जाता है। चतुर्थ कृति के अनुशासन में बेलिन्स्की इसी दिशा में चलकर दस्तोएवस्की के समस्त अपनी पिश्लेष्य क्षमता के अन्तर्गत पर पहुँच जाते हैं। 'दि मिस्ट्रेस' के पात्रों का व्यवहार अद्भुत और रहस्यमय है तथा उनका वातावरण विलक्षण और अगम्य—"उनमें एक दूसरे से क्या भाव होती भी, जो वे हृदय अनियन्त्रित रूप में हाथ धर पटकते थे, विकृत मुद्राएँ बनाते थे, अचेत हो जाते थे और होश में आ जाते थे। यह निरवयवपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि हम इन जम्मे और दूर भरे उद्गारा में एक शब्द भी नहीं समझ पाए हैं। इस सम्भवतः अत्यधिक अनोखे कहानी का कवच मूल भाव ही नहीं, किन्तु स्वयं उसका अर्थ उस समय तक हमारी बुद्धि के लिए रहस्य बना रहेगा जब तक लेखक अपनी विलक्षण कल्पना की इस विस्मयजनक पहुँच की आवश्यकता और टीका प्रकाशित नहीं करा देता। यह क्या हो सकता है—कलाशक्ति का

दुरुपयोग ग्रथवा उसकी अकिंचनता, जो अपनी सीमा से ऊपर बढ़ने का प्रयत्न करती है। और इसलिए, सामान्य पथ का अनुसरण करने में भयभीत होती है तथा ऐसा पथ खोजती है, जो असाधारण है ? हम नहीं जानते ।”

हम नहीं जानते। यह यस्तय महत्त्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य यह है कि बेलिंस्की और उनके युग की मुनेशिवन साहित्यिक भाषाएँ यही और दस्तोएव्स्की का कृति उनके अनुकूल न था। दस्तोएव्स्की पुश्किन, गोमल और तुगनेव की परम्परा में विजातीय प्रतात होते थे। यही नहीं, वे इतने अभिनव और मिन थे कि तात्कालिक समीक्षा पद्धति उनकी धारणा में अक्षम थी और जब कृति का ग्रंथ नहीं समझा जा सकता तब उस पर उपयुक्त निष्पत्ति देना भी सम्भव नहीं। यही बेलिंस्की में हम पाते हैं। आरम्भ में हम देखते हैं कि वे पूर्ण आत्मनिश्चय के साथ दस्तोएव्स्की के कृति पर निष्पत्ति देते हैं, किंतु उसके रूप की रहस्यमयता का आभास होते ही उनकी धारणा अनाश्रय और अनिश्चयात्मक हो जाता है। अतएव दस्तोएव्स्की की प्रथम समस्या उसकी धारणा है। यह सम्भव है कि जो कार्य बेलिंस्की की समीक्षा पद्धति से सम्पन्न हो सका वह आनुकिक मनोवैज्ञानिक और मार्क्सवादी पद्धति से विरलेपण करने पर सम्पन्न हो सके।

फ्रायड अपनी 'याख्या' में दस्तोएव्स्की के व्यक्तित्व का इन चार पक्षों में निम्नान्न करते हैं—कलाकार, व्यक्तिप्रस्त, नीतिवादी और पापी। सर्वप्रथम दस्तोएव्स्की की उत्कृष्ट कला प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए वे यह भी स्वीकार करते हैं कि “कलाकार की समस्या के समक्ष मनोविरलेपण को शस्त्र त्याग करना पड़ता है।” अतएव व्याख्या के लिए तीन पक्ष लक्ष्यार्थ हैं।

दस्तोएव्स्की का चरित्र इतनी विषमताओं से पूर्ण है कि उसकी समग्रित धारणा दुःसाध्य प्रतीत होती है। दुःसाध्य और यन्त्रणा के क्रमवातों ने उनकी जीवनगाथा लिखी है एवं मीपणतम उतार-चढ़ाव उसमें आए और गए हैं। नीति और पाप का देवासुर सभाम उनके अन्दर जीवन में परिणतिविहीन और अन्वरात चलता रहा है। इस अन्त द्वन्द्व में ही फ्रायड ने उनके चरित्र का धृज खोजने का प्रयत्न किया है। दस्तोएव्स्की की नैतिक दुर्बलता और विफलता का चित्र फ्रायड ने इस प्रकार अंकित किया है—

‘नीति दस्तोएव्स्की का सबसे दुर्बल पक्ष है। यह कहकर उन्हें उच्च नैतिक स्तर पर प्रतिष्ठित करना आसक होगा कि पाप करने वाला ही नैतिकता का शिखर पा सकता है। प्रलोभन का अनुभव करते ही नैतिक मनुष्य उसमें कैसे बिना सत्काल क्षमका क्षम करता है। जा व्यक्ति बारा बारी से पाप करता है और फिर परवाचाप में नीति के ऊँचे ऊँचे मानदण्ड स्थिर करता है उसे नैतिक कहना कठिन है। नैतिकता के मूलमन्त्र ‘त्याग’ की सिद्धि उसे नहीं हुई, क्योंकि नैतिक आचरण एक वायवहारिक मानवीय स्वार्थ है। दस्तोएव्स्की की नैतिक साधना का परिणाम भी बहुत गौरवमय नहीं रहा। अपनी ‘व्यक्तिगत वास्तवताओं तथा समाज की माँगों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए घोरतम संघर्ष के पश्चात् उहोंने सांसारिक और आध्यात्मिक अधीशों के आगे घुटन टेककर, जार तथा ईसाईयों के भगवान् के प्रति मक्ति भाव अपनाकर तथा एक सकीण रूसी राष्ट्रीयता अंगीकार करके एक प्रतिगामी स्थिति ग्रहण कर ली। परन्तु यह एक ऐसी स्थिति है जिसे अव्यवहार बुद्धिवालों ने बहुत प्रयासों से सिद्ध किया है। उस महान् व्यक्तित्व में यही दुर्बलता है।

मानवता का शिक्षक और मुक्ति विधाता बनने का अवसर ध्यामकर दस्तोएवस्की मानव-कारागार के सरपंचों में जा मिले। ऐसा बहुत कम है जिसके लिए मानवीय सम्यता का भविष्य उन्हें धन्य कह सकेगा। यह सम्भव है कि उनकी यह विकलता उनकी व्याधि का दुर्भवार अभिशाप हो। उनकी बौद्धिक महानता एवं मानवता प्रति प्रयत्न में, उनके जीवन के लिए एक भूति प्रचारक (Prophecy) का रूप पात्र सकते थे।”

महान् प्रतिभा और वैज्ञानिक विकलता, भूतिप्रचारक की क्षमता और व्यापहारिक प्रति गामिता, दस्तोएवस्की की इस निपरीत परिस्थिति की तब में प्रायद 'यूरोपिंस की सम्मानना मानते हैं। दस्तोएवस्की को अपराधियों की कोठि में रखते हुए ये कहते हैं कि उनके द्वारा फ़ैसल क्षिप्तम, निरातक और अद्वारी चरित्रों का ज्ञान यह इंगित करता है कि उनके अन्तर्मन में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। उनकी आनाता प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल एवं प्रधानत आन्तरी मुक्त थी। परिणामस्वरूप उनके आत्मपरीक्षण और पाप प्रथि का रूप धारण कर लिया था। दस्तोएवस्की के व्यवहार से यह प्रकट होता है कि “छोटी बातों में उनका पौढन में दूसरों की ओर अनुसूत था, और बड़ी बातों में स्वयं की ओर। आत्म पौढक होने के कारण ये अधिकतम सुदुल, दुर्भाव और सहायक व्यक्ति थे।” इस चरित्र वैज्ञान्य की व्याख्या में प्रायद 'यूरोपिंस का उद्धार लेते हुए इस सम्मानना पर ध्यान देते हैं कि दस्तोएवस्की जिस एपिलेप्सी से सनस्त थे यह उनकी मनो व्याधि की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हो सकती है।

एपिलेप्सी के अभिर्माण के पूर्व, जीवन के आरम्भिक वर्षों में, दस्तोएवस्की पर एक विशेष व्याधि का आक्रमण हुआ करता था। “वे आक्रमण सुस्तु का कार्य सकेत करते थे उनका आरम्भिक प्रकोप सुस्तु भय के रूप में होता था, और वह दृष्टा दैविक पृथक्ता की स्थितियों से समन्वित रहती थी।” मनोविश्लेषक द्वारा ऐसे आक्रमणों की व्याख्या निम्नलिखित है।

“वे (आक्रमण) एक सुत व्यक्ति के साथ तादात्म्य का सकेत करते हैं, जो या तो वास्तव में सुत है या अभी भी जीवित है किन्तु व्याधिग्रस्त उसकी सुस्तु का आकांक्षी है। इनमें द्वितीय अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इस स्थिति में, व्याधि का आक्रमण दृष्ट का रूप रखता है। एक व्यक्ति ने दूसरे की सुस्तु की कामना की और अब वह स्वयं वह सुस्तु व्यक्ति है और स्वयं सुत है।”

प्रायद के अनुसार यह दूसरा व्यक्ति बालक के लिए सामान्यत पिता ही होता है। दस्तोएवस्की और उनके पिता के सम्बन्ध में दो बातें विशेष हैं। प्रथम यह कि उनके पिता सच सुच अत्यन्त प्रचण्ड प्रकृति के थे और परिणामस्वरूप दस्तोएवस्की की निष्क्रिय नारी वृत्ति उत्पन्न हो प्रती थी, “उनकी असाधारण पात्राभूति और आत्म पौढक जीवन व्यवहार का सूत्र एक विशेष प्रबल नारी-वृत्ति के अवयव के साथ जोड़ा जा सकता है।” उभय यौन-वृत्ति की प्रबलता 'यूरोपिंस को अधिक सम्भव बना देती है। दस्तोएवस्की की व्याधि में पिता के साथ जो तादात्म्य समिहित है, उसकी कार्य प्रणाली का उद्गम प्रायद 'इगो' के प्रति 'सुपर इगो' के इन वचना में करते हैं—

“अपने पिता की तुम मानना चाहते थे, जिसमें स्वयं तुम अपने पिता बन जाओ, अब तुम अपने पिता हो, किन्तु सुत पिता।” और आगे—“तुम्हारा पिता अब तुम्हें

मार रहा है।" इसका आशय यह हुआ कि "मृत्यु लक्ष्य 'इगो' के लिए पुरुषवर्ती इच्छा की कार्यान्वयनपरिवृत्ति है, और साथ ही आत्मपीडनमूलक वृत्ति भी। सुपर इगो के लिए वह दृष्टिगत करने की वृत्ति, अर्थात् परपीडन की वृत्ति है। इगो और सुपरइगो दोनों पिता का कार्य करते हैं।"

एपीलेप्सी की उत्पत्ति इस आरम्भिक याधि से हुई। दस्तोएवस्की के पिता की सच मुच भयानक मृत्यु इस परिणति में सहायक हुई। फ्रायड कहते हैं कि "वितृष्णता की बाध्य आकांक्षा यदि सचमुच सफल हो जाती है तो उसके विरुद्ध समस्त रक्षात्मक शक्तियाँ अतिरिक्त शक्ति प्रदण कर लेती हैं। दस्तोएवस्की के साथ यह बात हुई थी और परिणाम स्वरूप उनकी आरम्भिक याधि ने एपीलेप्सी का रूप ले लिया। इस स्थिति में भी 'याधि के आक्रमण दृष्ट के रूप में पिता के साथ साक्षात् संचित करते हैं, किन्तु पिता की भयानक मृत्यु के समान वे भी भीषण हो गए हैं।' पिता के साथ दस्तोएवस्की के सम्बन्ध का यह द्वितीय प्रमुख तत्त्व है।

सारांश यह है कि वितृष्णता की प्रबल आकांक्षा, अवाचारण पापानुभूति तथा प्रारम्भिक के रूप में दृष्टिगत होने की आशयशक्ता, दस्तोएवस्की के चरित्र की मूल अन्त वृत्तियाँ हैं। इगो और सुपर इगो के सम्बन्ध तथा पिता के साथ दोनों के साक्षात् सम्बन्ध में उनकी प्रक्रिया लक्षित होती है। पिता की मृत्यु की आकांक्षा पूर्ण होने पर पहले आनन्द प्राप्त होगा, किन्तु उसके शीघ्र पश्चात् पाप की अनुभूति उद्दाम वेग से फूट पड़ेगी। ठीक यही बात दस्तोएवस्की की एपीलेप्सी में भी लक्षित होती है—“एपीलेप्सिक आक्रमण के वात्साचक में एक चरम आनन्द के क्षण की अनुभूति होती है। बहुत सम्भव है कि यह पिता की मृत्यु का समाचार सुनने पर अनुभूत नय और छुटकारे के भाव का अंकित प्रमाण हो, जिसके तत्काल पश्चात् एक क्रूरतर दृष्ट का विधान चल निकलता है।

पिता के प्रति दस्तोएवस्की का जो मनोभाव था, उसी मनोभाव ने चार और ईश्वर के साथ उनके सम्बन्ध का भी निरूपण किया। दोनों की अशीलता उन्होंने स्वीकार की, तथा अपनी दृष्टिगत होने की आशयशक्ता की पूर्ति उन्होंने चार द्वारा दृष्टिगत होकर की। इस निरूपण के पश्चात् उनके व्यक्तित्व पर फ्रायड का अंतिम निष्पत्ति यह है—

“निराश होकर यह कहा जा सकता है कि वितृष्णता की इच्छा का स्वरूप पाप की अनुभूतियों से वे कभी मुक्त न हो सके। वैयक्तिक चरित्र पर विरम इतिहास के एक विकास की सक्षिप्त पुनरावृत्ति द्वारा उन्हें आशा थी कि इसका आदर्श में वे अपने पाप से बाहर निकलने का पथ और मुक्ति पा सकेंगे यही नहीं, उन्हें यह भी आशा थी कि अपने पीड़ित जीवन का उपयोग करके वे इसा तत्त्व जीवन सधनना के दावी हो सकेंगे। यदि समस्त के पश्चात् वे मुक्ति न पा सकें और प्रतिगामी बन गए, तो इसका कारण यह है कि पिता के प्रति वह बाध्य अपराध, जो मनुष्यों में सामान्य रूप से उपस्थित रहता है और जिसके ऊपर धार्मिक भावना निमित्त होती है, उनका अदूर अतिवैयक्तिक प्रसरण प्राप्त कर चुका था और उनकी महान् बुद्धि के लिए भी यह दुर्लभ बना रहा।”

दस्तोएवस्की के प्रसिद्ध उपन्यास ‘नि ग्रंथं कारामागोव’ में भी फ्रायड वही तत्व प्राप्त करते हैं, जिनका निवरण ऊपर दिया गया है—“दि ग्रंथं कारामागोव” में हमें किसी

अन्य व्यक्ति द्वारा की जाती है। किन्तु वह मनुष्य के साथ इस भाँति व्यवहार का सम्बन्ध भी नहीं है जो नायक हिमिद्री का है, अर्थात् वह मनुष्य दोनों का पिता है। इस अन्य व्यक्ति के विषय में अन्त प्रेरणा के रूप में कामगार प्रतिद्वन्द्विता की स्वीकृति प्रत्यक्ष रूप में की गई है। यह नायक का भाव है और यह एक लक्षणीय तथ्य है कि दस्तोएवस्की ने स्वयं अपनी व्याधि, एपीलेप्सी का गुण उसे प्रदान किया है, मानो वे यह स्वीकार करना चाहते थे कि उनके अन्दर का एपीलेप्टिक, न्यूरोटिक, पितृघाती या "ए" इसके अतिरिक्त फ्रायड हमारा ध्यान इस उपाय से न बर्णित एक दृश्य विषय की ओर आकृष्ट करते हैं, जिसमें एक धर्माधिकारी, हिमिद्री को पितृघात के लिए प्रस्तुत जानवर भी उसके चरणों में झुक जाते हैं। इस दृश्य का लेकर फ्रायड को निर्याय देते हैं वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें दस्तोएवस्की के चरित्र एवं उनकी कृतियों का अन्तर्सम्बन्ध स्पष्ट होता है। उन्हीं के शब्दों में यह निम्न इस प्रकार है—

"यह असम्भव है कि इस काम का (पितृघात के आकाशी के चरणों में झुकने का) आराध्य साराहमा का भाव प्रदर्शित करना हो। इसका अर्थ यही होना चाहिए कि धार्मिक सञ्जन द्वारा से पूजा या बुझा करने का प्रलोभन त्याग रह है, और इसीलिए उसके समक्ष अपना दैन्य प्रदर्शित करते हैं। अपराधी के प्रति दस्तोएवस्की की सहानुभूति सचमुच असीम है, वह उस कठुण को बहुत दूर तक सहिष्णुता कर जाती है जिसकी याचना वह अभीष्टा कर सकता है। अपराधी उनके लिए प्रायः प्रान्त ही है, उसने वह पाप अपने माथे से लिया है जिसका बोझ अन्यथा दूसरों को वहन करना पड़ता। हत्या करने को अब कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'वह' पहले ही हत्या कर चुका है, अतएव उसका कुतर्ज होना चाहिए क्योंकि उसके न होने पर स्वयं का हत्या के लिए विवश होना पड़ता। यह ठीक दशाग्रजित कन्या नहीं, यह तो समान हत्याएँ पर आश्रित लादाक्ष्य-वार्तव में किंचिद् स्थानांतरित आह्वारित—है। इसमें सन्देह नहीं कि दस्तोएवस्की के बहुत चयन में निर्यापक तब वह लादाक्ष्यजित सहानुभूति ही थी। वे सदैवप्रम साधारण अपराधी (जिसकी अन्त प्रेरणाएँ बहुभूलक होती हैं) और राजनीतिक तथा धार्मिक अपराधी को लेकर चले, और अपने जीवन के अन्तिम चरण से ही आश्रित अपराधी, अर्थात् पितृघाती, तक पहुँचकर एक कलाकृति में उसका उपयोग अपने पाप की स्वीकृति के लिए कर सके।"

दस्तोएवस्की का विचित्र चरित्र ही उनकी कलाकृतियों में अभिव्यक्त हुआ है। उनकी मनोवाधि और वस्तु चयन का पविष्ठ सम्बन्ध देखते हुए यह प्रश्न उठता है कि क्या कला का "यूरोसिस" के साथ सहमात्र अपरिहार्य है? निम्नलिखित वक्तव्य में फ्रायड बहुत स्पष्टता से इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

"दस्तोएवस्की के जटिल व्यक्तित्व में हमारे तीन तथ्य जुड़े हैं—उनके भावगत जीवन की अपसाधारण तीव्रता, उनकी प्रवृत्तियों की विह्वल पूर्ववृत्ति—जिसमें उन्हें अवश्य भावी रूप से आत्मपीडक और परपीडक अथवा अपराधी होने के लिए अभित कर दिया, तथा उनकी अविरलक्ष्य कलात्मक दृष्टि। उन्हीं के ऐसे सयोग का अस्तित्व न्यूरोसिस विना भी सम्भव है, ऐसे मनुष्य हैं जो पूणतया आत्मपीडक होकर भी न्यूरोटिक नहीं हैं।"

है—असीम उल्लास का क्षण विजय सूचक है, वह पितृमात की अचेतन आकांक्षा का सहसा पूर्ति से उपन दृष्टोन्माद है। तत्काल दूसरी प्रतिक्रिया आरम्भ होती है, पितृमात का नैतिक दायित्व पापानुभूति बनकर दण्डित करने लगता है और प्रायश्चित्त रूप में दस्तोएवस्की मृत्यु होकर स्वयं को दण्डित करते हैं। एडलर इस 'मीपण-याधि' के कारण दस्तोएवस्की के प्रति संवेदना प्रियते हुए कहते हैं कि वे अधिक महान् थे क्योंकि उससे व्रत होने के बावजूद वे मनुष्यत्व का चरम मन्त्र सिद्ध करने में सफल हो सके। 'उल्लास के क्षण' की उनकी 'शायी' यह है—

'अपने आक्रमणों का वर्णन करते हुए दस्तोएवस्की कहते हैं कि वे उनमें एक ऐसी अनुभूति जगाते थे माना ठ-होने 'उमाकर एक हर्षोन्माद जीवन के संवेदन की चरमांतिक सीमाओं तक ख गया हो जहाँ वे ईश्वर को स्वयं क समीप अनुभव करते थे, सचमुच इतने समीप कि केवल एक कदम क हों जीवन से विच्छिन्न कर देने के लिए पर्याप्त था।' अर्थात् एडलर के लिए 'बड़ उल्लास का क्षण' किसी अचेतन आकांक्षा की पूर्ति का सूचक नहीं, प्रत्युत उस 'सीमा रेखा' का संकेतक है जो दैवभित्त सत्ताकांक्षा के लिए मानव क क्षुब्ध द्वारा बनती है—यह 'सीमा रेखा' जिसका अतिरिक्त निश्चित विनाश की प्राप्ति करता है।

एपीलेसी के साथ सीमारेखा का अनन्य सम्बंध एडलर के इस वक्तव्य में स्पष्ट है—

'इस भाषना क लिए 'तो ठ ह रकने के लिए विवश कर दी थी, जो एक रक्षात्मक पापानुभूति में रूपांतरित हो गई थी, दस्तोएवस्की कोइ कारण न जानत थे। विचित्र तो यह है कि अपनी व्याधि को आक्रमणों के साथ ठ-होने उसका सम्बंध स्थापित किया। जब भी मनुष्य गर्वोन्माद में अपनी सामाजिक भावना की सीमाओं क अतिक्रमण की इच्छा करता था उसी समय ईश्वर का हस्तक्षेप दृष्टिगोचर होता था और अतः वश का अनुरोध करते हुए चेतावनी क स्वर सुनाई पड़ते थे।' विशेष द्रष्टव्य यह है कि जो भावना दस्तोएवस्की की सीमा पर रोक देती था, उसीने एक रक्षात्मक पापानुभूति का रूप ग्रहण कर लिया था। प्रायः के अनुसार यह पापानुभूति सीमा के अनिवार्य अतिक्रमण का अवश्यम्भायी दण्ड है।

दो बातें और रद जाती हैं जो लक्षणीय हैं—दस्तोएवस्की की कृतियों का निर्माण सूत्र एवं उनका नैतिकता। मसीहा दस्तोएवस्की ने अपनी कृतियों में जो मन्त्र जीवित किया है, उसके बावजूद उनकी कृतियों मूलभूत महात्वाकांक्षा की प्रेरणा से वंचित नहीं—'दस्तोएवस्की क जीवन का प्रबलतम बिन्दु यह है कि उनकी समस्त भाव्य सृष्टियों का लक्ष्य हम रूप में होता अर्थात् काय की निष्कल, दृष्टि क तथा अपराधमूलक माना जाय और सुक्ति समपण में सन्निहित रहे—उस समय तक कि जब तक समपण दूसरों पर महत्त्व के गुप्त आनन्द को अतन्तु वश किए हो।' दूररे शर्दा में समपण भी 'विजय के लिए झुकना' है।

प्रायः की दृष्टि में दस्तोएवस्की एक विफल नातिवादी थे, किंतु एडलर के अनुसार व नैतिकता के चूर्णमणि तो हैं ही, ठ-होने उनके एक महामन्त्र की सृष्टि भी की है—

'वे उस सूत्र तक पहुँचे जिसे काण्ट के 'केटगोरिकल इम्पेरैटिव' के बहुत ऊपर रखा जा सकता है—यह कि, अपने मानव बन्धु के पाप में प्रत्येक व्यक्ति भागी होता है।' इसमें प्रत्येक मनुष्य का एक मूलभूत दायित्व सन्निहित है—'यदि मैं अपने पड़ोसी के पाप में और प्रत्येक व्यक्ति के पाप में भागी हूँ तो इस अंतरदायित्व की स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता हुआ एवं उसका मूल्य चुकाने का आदेश दता हुआ, मुझ पर एक जिरतन दायित्व है।'

उपयुक्त आधारों पर एडलर का निर्णय यह है कि कलाकार और नीतिवादी दोनों रूपों में दस्तोएवस्की एक महान् और अनन्य व्यक्ति बन रहे हैं।

प्लाटीमिर बेमिलोफ मार्क्सवादी एक सोवियत रूस के एक प्रमुख समीक्षक हैं। दस्तोएवस्की पर उनके विचार यहाँ थमला में प्रस्तुत उनके 'सोवियत जनमनोर 'पोले दस्तोएवस्कीर साहित्य' नामक लेख से आकलित किये गए हैं। उद्देश्य यह प्रस्तुत करना है कि सोवियत भूमि में दस्तोएवस्की का विरोध किसी पूर्वग्रह अथवा दुर्दृष्टि पर आधारित नहीं, किन्तु उसके कुछ महत्त्वपूर्ण कारण हैं। दस्तोएवस्की ने जहाँ तक जन जीवन का साथ दिया है, जनता की प्रगतिशील प्रवृत्तियों और वास्तविक अवस्थाओं का यथार्थमूलक चित्रण किया है, वहाँ तक वे एक महान् कलाकार के रूप में पूज्य और भाग्य हैं। 'गुस्तर फोर' और 'अमर्त्यर्स क्रॉम ए टेंड हाउस' जैसे ग्रंथों की गणना रूस के कालजयी साहित्य में की जाती है और उनका नाम बड़े धाट से लिया जाता है। किन्तु जहाँ उनमें प्रतिगामिता और विवृति का गुस्कार है, वहाँ वे प्रगति के अधिकारी नहीं रह जाते और उनका केवल विरोध ही विनाश साबित होता है, अर्थात् दस्तोएवस्की एक प्रतिमा-सम्पन्न कलाकार थे, किन्तु मुद्राशय में उड़ाने के लिए वातक और प्रगति विरोधी पथ ग्रहण किया। प्रतिमा की इस विपरीत परिणति का, समर्थ की इस प्रतिगामिता का, कारण क्या है? क्रायड ने यदि उसे दस्तोएवस्की की मानसिक व्याधि और पारिवारिक विकृति में खोजा तो मार्क्सवादी बेमिलोफ उसे रूस की उन्मूलक सामाजिक परिस्थिति और उसकी अर्थ व्यवस्था में खाने का प्रयत्न करते हैं।

सत्ताहीन रूस क्या था? मत शताब्दी के छठे और सातवें दशक में यहाँ पूँजीवाद का विश्वामिषाण हुआ। इस अमिषाण तथा पूँजीवाद के बगली काँटों के समस्त रूस के प्रतिगामी, प्रगति विरोधी, धर्मप्रधान, निम्न मध्य वर्ग के लोग शक्ति हो उठे। दस्तोएवस्की का साहित्य में यही शक्ति प्रतिफलित हुई है। धर्मप्रधान रूस टूट रहा था। जिस मनुष्य की कहानी दस्तोएवस्की ने लिखी है वह इसी अशोष, शोषण, नये प्रकार की जीवन गति में पड़कर स्वयं को गितात एकान्ती और परित्यक्त अनुभव करने वाला मनुष्य है।

दस्तोएवस्की के समस्त सम्भावनाएँ ही झूल टो हैं—बन्ताव बनो या जलताव का शिकार। इसे छोड़ बचे रहने के लिए कोई तृतीय पथ नहीं। या तो वे दूंगरों के ऊपर स्वेच्छाचार करेंगे, नेपोलियन अथवा डॉणचाइइड बनेंगे, या वे नेपोलियन अथवा डॉणचाइइड के समस्त माथा झुकाकर सलाम करेंगे, जो उनका अपमान करते हैं, भक्ति के साथ उनका ही हाथ कुँसेंगे। लून करो या रूत दो काश्री, मनुष्य के सामने पूँजीवाद ने यही दो अमिषात सम्भावनाएँ रखीं। इस उभय सङ्कट से मुक्ति पाने का जो एकमात्र पथ है, वह है उत्पीड़न के विरुद्ध सशस्त्र का पथ, मनुष्य के लिए असलमय सब समाज की रचना के लिए आंदोलन का पथ, जिस पर सशस्त्र मनुष्य दस्तोएवस्की के पात्रा के समान निरुत्साह नहीं है, असहाय नहीं है। दस्तोएवस्की निम्न मध्य वर्ग की उषमन में पैदा हुए, किन्तु सर्वेदारा की कान्ति में मुक्ति का मान न गा सके। इतिहास निई निगल रहा था उनकी अनुभूति उई थी, किन्तु जो इतिहास रच रहे थे उनका साथ वे न दे सके।

क्रायड और बेमिलोफ की पारया क्रायड मनोवैज्ञानिक और सामाजिक है, किन्तु दोनों ही नियतिवादी हैं। मनोविज्ञान और ऐतिहासिक समानवाद के आधार पर बोना जीवन की

मति को सुनिश्चित नियमों द्वारा अनुशासित और परिचालित मानते हैं। फ्रायड के अनुसार यदि दस्तोएवस्की के व्यक्तित्व की अनिवार्यता उनकी कृतियों में प्रतिफलित हुई है तो यैर्मिलोफ वहाँ उनकी वग चेतना की अनिश्चितता को उद्भासित पाते हैं। किन्तु दोनों के निष्कर्षों में आश्चर्यजनक साम्य प्राप्त होता है। दोनों की दृष्टि में दस्तोएवस्की प्रतिगामी हैं, सुविपचारक और मसीहा बनने का अग्रसर पाकर उन्होंने उसे खो दिया, उत्पादन के विरुद्ध साम्राज्य के पक्ष का वे अनुसरण न कर सके। फ्रायड के अनुसार दस्तोएवस्की में आत्मपीडन और परपीडन दोनों की उपस्थिति थी छोटी बाला में उनका पीन प्रेम दूसरों की ओर उभरता था, और बनी बालों में स्वयं की ओर। अपराधियों के प्रति उनमें अपार सहानुभूति थी तथा दूसरी ओर जार और ईश्वर के आगे हुनदे टेकर वे मनुष्य के उर्वीडकों के आराधक बन गए। यैर्मिलोफ के अनुसार दस्तोएवस्की के समस्त सम्भावनाएँ ही कुल दो थीं—जल्लाद बनो या जल्लाद का शिकार, मृत करो या मृत हो जाओ। किन्तु कारण यदि फ्रायड दस्तोएवस्की की मानसिक रचना में पाते हैं तो यैर्मिलोफ पूर्वीवाद के अभियान में। निष्कर्ष में यूरॉसिस और पूर्वावादा का मानो समाकरण हो जाता है, क्योंकि एक में बड़े व्यक्तित्व का विफलता है तो द्वितीय में समाज व्यवस्था की। ऐसे व्यक्तित्व और ऐसे समाज में क्या कोई घनिष्ठ और अन्तर्गम सम्बन्ध है ?

रडल रिंगलर की समीक्षा भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण पर आश्रित है, किन्तु सिद्धान्त के साथ उन्होंने यैर्मिलोफ की अपेक्षा तथ्य के उद्घाटन पर अधिक ध्यान दिया है। दस्तोएवस्की के समाज के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व, उनकी परम्परा तथा उनमें उसकी चेतना के आधार पर उनके कृतित्व का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उनकी कृतियों की मूल वस्तु को सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न भी किया है।

हमारे युग की समस्या दस्तोएवस्की के समस्त भी उपस्थित थी—‘क्या हम आगे बढ़ सकते हैं ? क्या मनुष्य केवल अपनी चेतना और संस्कार द्वारा वातावरण और स्वयं अपने द्वारा विकसित शक्तियों का नियन्त्रण कर सकता है ? अपनी रहस्यवाद और धार्मिक गणतन्त्र में हमारा प्रत्यावर्तन अनिवार्य है ? क्या हम अपनी सीमा को लाँघ गए हैं और आ धार्मिक अहंकार में पड़कर हमने पाप किया है ? इस देश के अधिकांश बुद्धिजीवियों ने प्रत्यावर्तन का अनीति और पाप का, उसके निवारण के उपाय की खोज का पथ चुना है, जो दस्तोएवस्की का भी पथ था।’ अर्थात् अधिकांश बुद्धिजीवी आधुनिक चेतना से यूरोप की मध्ययुगीन चेतना में प्रत्यावर्तन कर रहे हैं।

बुद्धिवादी और व्यक्तिवादी होता है। वह वैयक्तिक स्वरूप और बौद्धिक चिन्तन से प्राप्त ‘सत्ता’ की एकांत प्रतिष्ठा द्वारा विच्छिन्न एकाकी व्यक्ति को सर्वशक्तिमान बनाने का प्रयत्न करता है। अपनी बुद्धि से जिस पाप सत्ता का साक्षात् में कर रहा है, उसका अवेक्षण और अनुसरण ही पीड़ित जन समाज का एकमात्र भगलपथ है, ऐसा उसमें विश्वास होता है। इसीलिए उसकी मूल आकांक्षा मसीहा बनने का आकांक्षा होती है—वह देवदूत, जो त्रिद प्रेरणा से जनता को भगलदास करने के लिए अवतरित हुआ है। वह स्वयं को समाज से विच्छिन्न कर लेता है और इस प्रकार समस्त सामाजिक उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। ‘मुक्ति’ उसके होठों में स्थित होने वाला चिरन्तन अभिचार मन्त्र है। वह रहस्यों की क्रिया शून्य विश्रामशीलता की म्रियमाण प्रतिध्वनि होता है। इसीलिए बूखूआ के प्रति उसमें अपार

घृणा होती है, किन्तु सर्वहारा के प्रति वह सम्पत्ति नहीं हो पाता। बूजुआ समाज की सकीयता से मुक्त होने के लिए वह कूटपटायता है, किन्तु उसकी सिद्धि में स्वयं को अवसर्प्य पाता है। पूँजावादी की स्थिरता के जाल में उसकी ये प्रवृत्तियाँ उमरती हैं। समाज व्यवस्था का आसन्न पतन, जाहे वह वास्तविक या मासमान ही, उसके उत्थन का क्षय होता है, किन्तु कीट व्यवस्था केवल अपने बोक से नहीं बह जाती, इसे वह नहीं जानता। अपनी विफलता का अतिम निश्चय हो जाने पर वह एक दुःखात अमिनय अपनाता है, यह प्रश्रित करता है कि युग प्रवर्तक की सम्भावनाएँ अपनी आत्मा में छुपे वह एक कृत्स्न युग के लिए शहीद हो रहा है।

अपनी सामाजिक होनता की भावना उसे आत्म प्रेम के अतिशय पर ले जाती है। उसकी दृष्टि का दस्मान पथ होता है दणित, किन्तु प्रगतिशील मानवता के साथ तादात्म्य, किन्तु उसी यह उम्मेदा करता है। उसकी भाति का ज्ञाप बहुत पहले व्यतीत हो चुका। वह उन्हें आन भी दत्ता की, बहिष्कृत, सायक अन्त प्रेरणा से शून्य, बहिष्कृत की कुशित प्रवृत्तियों और मानवाओं तथा मनोव्याधि और पापानुभूत का शिकार होत गइ हैं। अपा समस्त उपकरणों के साथ वही पापानुभूति उनकी बला में अभिव्यक्त होती है। कोइफलर, ओइवेल, कोनोली, आल्डस हक्सले, माहम ग्रीन, हेरी मिलर, ऑ पाल सर्व, मार्शल प्राउस्ट और टी० एल० इलियट इत्यादि का कृतिन्व ऐसा ही है।

दस्तोएवस्की ने रूस के बुद्धिजीवी वर्ग की पाप की समस्या को अंकित किया है। उनका समाज कृतियों में एक दृष्टा व खनिहित है। 'दि पचेस्ड' भाति की प्रतिस्विया म परिस्थिति का दृष्टात है। उस समय तक उसकी अन्य परिस्थिति हो भी नहीं सकती जब तक वह 'व्यक्तिगत विद्रोही' के आदेश का उमीपता से अनुगमन करती है और वो आदर्श सदा दस्तोएवस्की के समक्ष उपस्थित रहा। ऐसे विद्रोहियों के लिए वह आवश्यक है कि अपने आदर्श जगत् की सिद्धि के लिए वे एक सत्ता की प्रतिष्ठा करें और यह सत्ता अतः उनसे ऐसी अधीनता की माँग करेगी जो उनके लिए सम्भवतः उस अधीनता से भी अधिक अपमानजनक होगी जिसके विरुद्ध उन्होंने पहले विद्रोह किया था।

"हैन अपने पिता की मृत्यु नहीं चाहता," कारामाखोव को इस प्रकार में फ्रायड की इडिपस मॉय की पूर्ववर्ति सुनाइ बहती है। किन्तु इस पौराणिक कथा का उपयोग दस्तोएवस्की 'निहिलिज्म' के एक राजनीतिक दृष्टान्त के रूप में करते हैं। सामाजिक उत्तरदायित्व से विच्छिन्नता व्यक्ति को सामाजिक पाप से भी विच्छिन्न कर देती है। सत्ता का इसीलिए नाश कि वह सत्ता है, पितृपात की जाति की विद्यमानता के विरुद्ध अपराध बना देता है।

फ्रायड और स्विगलर दोनों ही पापानुभूति की व्याख्या को प्रधान बनाकर चलते हैं, किन्तु फ्रायड का आधार मनोवैज्ञानिक है और स्विगलर का सामाजिक। मनोवैज्ञानिक राजनीतिक उपर्य को व्यक्तिगत पापानुभूति का प्रत्येक मानते हैं। स्विगलर को यह स्वीकार नहीं। दस्तोएवस्की की कृतियों में इडिपस मॉय और पापानुभूति की उपस्थिति उनके व्यक्तित्व की विभूति के कारण नहीं, किन्तु ये सत्त्व मूल सामाजिक समस्या के दृष्टान्त रूप में आए हैं। इसीलिए दस्तोएवस्की की कृतियाँ का विशुद्ध मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अप्रत्याप्त और अप्रयुक्त है। इस निर्णय का एक और भी गम्भीर कारण है, वह यह कि दस्तोएवस्की का साहित्य परम्परा की

एक व्यापक चेतना के माध्यम से प्रतिमासित हुआ है।

दस्तोएवस्की का युग रूस में पूँजीवाद के विकास का युग है। उस युग के विद्यार्थी, जो शीघ्र ही एक यवसायी वग में परिणत हो गए, रूसी बुद्धिजीवियों की विचित्र द्विविधा को मूर्तिमान करते हैं। उन्हें ही दस्तोएवस्की ने अपने विश्लेषण की प्रमुख सामग्री बनाया। दस्तोएवस्की की दीक्षा दस वर्ष तक साइबेरिया में कारावास की अवधि में हुई। उनमें आरम्भ से सामाजिक हीनता की भावना तो थी ही, अब उसके साथ उनमें पीड़ित होने की प्रत्याशा और आकांक्षा भी जाग गई। असाधारण संवेदनशीलता ने उनकी कल्पना का मोषण किया। इन दस वर्षों के अनुभव पर आश्रित 'हाउस ऑफ दि डेड' में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "बुद्धिजीवियों द्वारा जनता की रक्षा नहीं होगी, प्रत्युत जनता ही बुद्धिजीवियों की रक्षा करेगी।" 'जाहम एरह पनिसमेस्' के अन्त में यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है। साइबेरिया में निर्वासित रास्कलनिकोव उस सोनिया का प्रेरणा से नव जावन का सम्भावना का अनुभव करता है जो समान से अपमानित, दलित और च्युत है। जो दस्तोएवस्की निश्चित रूप में जानते थे वह यह है कि एक ही रहस्य बुद्धिजीवी कुण्ठा और अज्ञता के अतिरिक्त और कुछ नहीं पा सकते। जिसका उन्हें धुँधला आभास था वह यह है कि समाज के निम्न वर्ग के मनुष्यों में ही प्राप्त होने वाली अनिर्बचनीय और अज्ञात गुणशीलता के बीज को विकसित करना आवश्यक है। इसके आगे वे नहीं देख सकते थे और उन्हें औद्योगिक मनुष्यों में एक वर्ग के रूप में विकसित होते हुए नये श्रमिकों का कोई ज्ञान न था।

दस्तोएवस्की ने बचपन से पुरिस्कन की प्रत्येक पक्ति याद की गी। पुरिस्कन के 'ओनेगिन' में जो दृढ़ उपस्थित है वही दस्तोएवस्की के समक्ष था। वह दृढ़ है—'बौद्धिकता, शक्ति, शक्ति और नास्तिकता का सामन्तवादी रूस की आदिम धार्मिक दास्यवृत्ति का विकसित सपना। अन्त में जो बहुत रक्षा करती है, वह है धर्म का अथवा रूसी व्यक्ति। समस्या का समाधान भी पुरिस्कन के विचार के अनुकूल है। सामाजिक परिवर्तन में विफलता की अनुभूति तथा धार्मिक समझौते में प्रत्यावर्तन की अनुभूति के साथ यह भावना भी विद्यमान थी कि सामाजिक कर्तृत्व का प्रथम मांग, एक रूसी संस्कृति और सामाजिक चेतना के निर्माण का कार्य सम्पन्न हो चुका है और अब यह आवश्यक है कि यह वरदान जगत् को प्रदान किया जाय। रूस के राष्ट्रीय यन्त्रित्व को श्रुतिप्रचारक बनना था। केवल रूसी आत्मा में यूरोप को अपने दृढ़ों का समन्वय प्राप्त होगा। दस्तोएवस्की का महत्त्व यह है कि उनका असाधारण अन्तः चेतना परम्परा की एक गम्भीर अनुभूति तथा सामाजिक दायित्व की प्रबल भावना के माध्यम से विवर्धित हुई। इसीलिए वे उन समस्त विकृतियों और रोम लक्ष्णों को उनकी उपयुक्त सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध कर उनके जिन्हें आज हम पराजित बुद्धिजीवी के प्रदर्शनमूलक उपकरण के अतिरिक्त और किसी रूप में नहीं देखते।

सन् १८८० में दस्तोएवस्की 'पैन स्लावज्म' के मसीहा बनकर उपस्थित हुए। अन्त में उन्होंने इसा और रूस में, रूसी इसा और रूसी ईश्वर में समस्या का हल पा लिया। उनका उद्देश्य रूसी बुद्धिजीवियों की जीवन गति को 'ईसा और रूस' की खोज में सामाजिक और धार्मिक, प्रत्येक प्रकार के वेष्टित हल की स्थिति में अंकित करना था। सामाजिक चेतना को उसकी अभावमयी परिणति तक पहुँचाने का कार्य उन्होंने किया, कि वास्तविक हल की व

सूत्रबद्ध न कर सके। दस्तोएवस्की की कृतियाँ भी शक्ति और उनका ऐतिहासिक महत्त्व स्वयं पाप की श्रमियोजना में, समाज की कृत्तायाँ और 'स्वतंत्र' बुद्धिजीवी के ऐतिहासिक अनुभवों के प्रदर्शनों पर विरलपण से संनिहित हैं।

दस्तोएवस्की की उपयुक्तता चार समीक्षाएँ स्पष्ट ही एकत्र नहीं हैं। क्रामड और एन्कर का विराट् अन्तर तो स्वयं प्रकट है, किन्तु दो मानववादी समीक्षक भी परस्पर पयास भिन्नता प्रदर्शित करते हैं। येमिलोफ दस्तोएवस्की के कृतित्व को प्रगतिशील और प्रतिगामी, इन दो पक्षों पर पृथक् कटवर्तों में बाँटकर देखते हैं, किन्तु स्विगलर उनके सम्पूर्ण अविभाज्य कृतित्व के मूल पक्ष की याफ्या में अग्रसर होते हैं। येमिलोफ उनमें निम्न मध्यमार्ग की चेतना प्रतिफलित देखते हैं, किन्तु स्विगलर बुद्धिजीवी की समस्या को। येमिलोफ पूँजायाँ के श्रमियान की नक्का करके तत्काल निर्णय पर पहुँच जाते हैं, किन्तु स्विगलर दस्तोएवस्की की पूर्ववर्ती और परवर्ती परम्परा को भी महत्त्व देते हैं। यही नहीं, स्विगलर पापात्रुभूति को केवल विवृति बढ़कर कृतकार्य नहीं हो जाते, किन्तु उसकी उपयुक्त सामाजिक याफ्या पर विशेष ध्यान देते हैं। क्रामड के उमान ही स्विगलर दस्तोएवस्की में अन्तिम विकसता पाते हैं, किन्तु इसमें लिए वे उनकी भक्त्या नहीं करते। दस्तोएवस्की क्या नहीं कर पाए, इससे वे महत्त्व नहीं देते, किन्तु उनकी उपनिषदों पर ध्यान देते हैं। स्विगलर एडलर के समान दस्तोएवस्की में मसीहा दृष्टि से लक्षित करते हैं, किन्तु उसका स्तरन नहीं करते और न मानवता के चरम वक्त्याण के मन का सिद्ध अन्वेषण ही उद्देश्य मानते हैं।

इस लेख का उद्देश्य उपयुक्त चारों समीक्षाओं के एक अथवा विषय में कोई अपना मत प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि यहाँ वर्तमान युग की दो प्रमुख समीक्षा-पद्धतियों के निराशरील रूप को स्पष्ट करने के लिए उल्लिखित किया गया है। किन्तु कुछ ऐसी बातें हैं जो उद्घेष्ट देखते ही मन में उपस्थित होती हैं और जो चिन्तन तथा अग्रिम विरलपण के योग्य प्रतीत होती हैं। संक्षेप में उद्घेष्ट प्रस्तुत करके हम यह लेख समाप्त करेंगे।

मुद्रवाद के किच्छ प्रतिक्रिया नीत्ये और वर्गों के दार्शनिक चिन्तन तथा प्राप्त के प्रतीकवादियों की धारणा में स्पष्ट लक्षित होती है। इससे यह प्रतीत होता है कि मनोविज्ञान विज्ञान होने के अतिरिक्त एक सीमा तक अपने युग जीवन का प्रवाहसूचक लक्षण भी है। दस्तोएवस्की केवल कभी साहित्य के उत्पादन काल में एक अपवाद नहीं, किन्तु वे आधुनिक युग के ऐसे बहुत से लेखकों के शीर्ष स्थान पर अग्रस्थित हैं जिनकी कला साधना पापात्रुभूति पर आधित है। इस पापात्रुभूति की विशुद्ध मनोवैज्ञानिक व्याख्या तथा विशुद्ध सामाजिक व्याख्या सम्भव है। इससे यह संकट मिलता है कि दोनों दृष्टिकोणों में परस्पर अनुबुल्लता स्थापित करने की सम्भावना और आवश्यकता है, अतः दो नितान्त विपरीत जाति के नियतिवादों में मूलभूत विरोध देखकर यह अभी सम्भव प्रतीत नहीं होता। एकमान सारगम सर्वत को हमें मिलता है वह यह है कि उन व्यक्तियों की मानसिक प्रक्रिया, जो इतिहास के साथ नला रहे हैं तथा व्यापक जीवन से सम्बन्ध बनाये हुए हैं, उन मनुष्यों से भिन्न होती है जो ऐसा करने में विफल रहे। एक जीवन के प्रति तथाकथित साधारण प्रतिवेदन करता है और द्वितीय तथाकथित प्रविचरुलक, मावाभक और विवृत प्रविचरुलक। अवयव विशुद्ध मनोवैज्ञानिक और विशुद्ध सामाजिक दृष्टिकोण अपनी कटवर्ता में अपूर्ण प्रतीत होते हैं। इन समीक्षा पद्धतियों का सम्बन्ध

गुण यह प्रतात होता है कि जहाँ सामान्य विधियों से 'याद' सम्भव नहीं दिखाई देती वहाँ वे छिपे हुए श्रमों का उद्घाटन करती प्रतीत होती हैं।

बलात्मक सजना का अर्थ प्रायः ही दृष्टि में केवल एक विशेष प्रकार की अभिव्यञ्जना अथवा रूपसृष्टि की क्षमता है। इसे वे अभिप्रेक्ष्य बताते हैं। रूप जिस वस्तु को छिपाये हुए है उसका उद्घाटन उनकी दृष्टि में समीक्षा का प्रधान कार्य है। मानसवादी समीक्षा में भी वस्तु का प्रमुखता दी जाती है। यक्ति और समाज तथा उनके सम्बन्ध की धारणा कृति की वस्तु के निरूपण में महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। यद्यपि दोनों ही दृष्टिकोण 'यापक' रूप से समस्त साहित्य की लक्ष्य बनाकर चलते हैं तथापि दोनों में ही अपने अनुकूल विशेष जाति के साहित्य के प्रभवन की प्रवृत्ति है। ऐसी समीक्षाओं में अतः हम लेखक की अपेक्षा समीक्षक अथवा उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अधिक पाते हैं।

वर्तमान युग में 'मूल्य' चाहे अनुपस्थित न हों किन्तु वे अनिश्चित और परिवर्तनशील अवश्य हैं। वे जीवन में एक मूलभूत सधप की सांकेतिक अभिव्यञ्जना करते हैं। प्रत्येक पारिभाषिक शब्द अनेकार्थी है, जैसे 'शक्ति' का अर्थ प्रायः और मार्क्स के शब्दकोष में भिन्न होगा। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो उपस्थित होता है वह लेखक की स्वतन्त्रता और उसके उत्तरदायित्व से सम्बद्ध है। यह निश्चित है कि कोई लेखक हमें प्रिय अथवा अप्रिय लगे, इसके पूर्व उसकी याख्या आवश्यक है। दस्तोएव्स्की का कृति यह प्रश्न उपस्थित करता है कि क्या विशेष प्रतिमाशाली कलाकार के लिए ऐसे महान् साहित्य की सृष्टि सम्भव है जिसमें समस्त माने हुए मूल्य उच्छिन्न हो गए हैं? क्या विद्वतियों से प्रेरित होकर भी महान् कला की साधना सम्भव है? क्या एक सन्तुलित मन अनिवार्य रूप से महान् साहित्य की सृष्टि में समर्थ है? ऐसी समस्याओं को सुलझाने के प्रयासों में ही समीक्षा का अग्रिम विकास सम्भव है।



मल्यांकन

प्रकाशचंद्र गुप्त

जहाज का पक्षी

भी हलाचंद्र बोरी की उपन्यास कला दो धाराओं में बही है। पहली धारा के उपन्यास मानव मनोविकास की उलझनों से प्रभावित थे। इन उपन्यासों के माध्यम से बोरीजी की इच्छा मनुष्य की अन्तर्भावना को निखारने की थी, किंतु 'परदे की रानी' और 'प्रेत और छाया' के समान उपन्यासों में मनुष्य स्वभाव के बड़े अचंचिक रूपों का अद्भुत था। दूसरी धारा के उपन्यासों का आरम्भ 'निवासित' से होता है, जब बोरीजी ने बाह्य सामाजिक परिस्थितियों की ओर अपना ध्यान मोड़ा। जब तक अनेक उपन्यासों द्वारा बोरीजी अपनी कला की इस धारा को समृद्ध कर चुके हैं और अब यही धारा उनकी कला की मुख्य धारा बन चुकी है। 'सुनित-नय', 'सुबह के भूने', 'बिंसा' और 'जहाज का पक्षी' बोरीजी की उपन्यास कला में एक तीसरी, स्वतंत्र, सामाजिक भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन उपन्यासों में 'जहाज का पक्षी' विशेषी भावना से पूर्णतः ओत प्रोत है, साथ ही वह बोरीजी की कला की आकषक रोचकता और मोहकता का भी निर्वाह करता है। 'जहाज का पक्षी' कला पक्ष और स्वस्थ, सामाजिक पक्ष, दोनों ही दृष्टियों से एक मीठ और परिपक्व कृति है। व्यक्ति मानस की निरुक्तियों से सामाजिक विज्ञानियों की दिशा में जायाजी की प्रगति दिदी साहित्य की वर्तमान बागरूकता का एक सबल संकेत है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रेमचन्द और पतंजली का प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन में प्रवेश जितने महत्त्व का था, लगभग उन्ने ॥ महत्त्व का 'जहाज का पक्षी' का प्रकाशन भी है। किंच प्रकाश पुरानी परम्पराओं और मान्यताओं में पने वक्थ साहित्यकार नई, स्वस्थ साहित्यिक प्रवृत्तियों को अपनाते हैं, उधका यह संदेश है।

'जहाज का पक्षी' कलकता के विशाल जीवन में भटकते हुए एक शक्ति नवयुवक की कहानी है, जो सगीत, कला, चिन्तन आदि हर दिशा में प्रतिभावान होते हुए भी बीबिडीपार्वन का कोई सहारा नहीं पाता। हर सामाजिक परिस्थितियों का वह अधराय शिकार है। समाज के ऊपरी स्तर में मजदूर जोखनापन है, नीचे के वर्ग में ही ककशा और मानवीयता के लक्षण कया नायक को भिजते हैं। बड़े ही आनंद और भवकते शब्दों में बोरीजी ने यह लक्ष्मी कया कही है। कया का नायक शायकों की दृष्टि से आकाश है। अपने जीवन की कहानी वह इस

प्रकार समझता है—

“ मैं कोई विशेष गुणी न होने पर भी पढ़ना लिखना जानता हूँ और पढ़ने लिखने से सम्बन्धित कोई भी काम कर सकता हूँ । पर पहले तो इस तरह के कामों का ही आन बहुत बड़ा अभाव है और जहाँ कहीं ऐसे कामों की गुत्ताहट है भी, वहाँ आन के भ्रष्टाचारी युग में अभाव्य व्यक्ति तिकड़मबाजी से अपने को पूर्णतः योग्य सिद्ध करके घुम जाते हैं । राग्य व्यक्ति उस ठेकमठेक में पीछे की टकेल दिए जाते हैं और दुनिया वालों की नज़र में खोर, गुण्डे, बेईमान और बदमाश सिद्ध होकर दूर दूर ठोकरें खात फिरत हैं गली दूर गली भटकते रह जाते हैं और एक जेल से दूसरे जेल में आश्रय खोजते रहने के सिवा इनके लिए कोई दूसरा चारा नहीं रह जाता । उन्होंने युग प्रसाक्षित आचारा में से मैं भी एक हूँ, बस केवल इतनी ही मेरी रहस्यमयता है । ”

क्या का नायक यह गुमनाम आचारा अनेक बार जीवन आरम्भ करने का प्रयास करता है । वह जहाज़ के उस पक्षों के समान है, जो फिर फिर जहाज़ पर उठकर आ बैठता है—

‘ नैस उबि जहाज़ को पछी,

फिरि जहाज़ पै धावै । ”

(सुरदास)

भूला और अस्त होने के कारण वह पाकेट मार लगता है और हवालात में पड़ कर दिया जाता है । नई दोस्ती का यायाचीश उसने विकट भूमी गवाही को पहचानकर उसे मुक्त कर देता है । वह कुछ दिन पहलवानों के एक अड्डे पर रहता है, जहाँ उसे सच्ची सचेतना और सहानुभूति मिलती है । यहाँ करीम चाचा से वह पाना पकाना सीखता है और आगे चलकर सभी सुखोन्नति में पाना पकाने की नौकरी पा सकता है । यह एक बड़े पूँजीपति और कांग्रेस नेता के घर नौकरी करता है, किंतु उसे शिष्टि ज्ञानकर वे उने कम्प्यूनिस्ट समझते हैं और निकाल देते हैं । फिर वह एक धांधी की लाइब्रेरी में नौकरी करता है, फिर एक बक्ले में प्रधान रसोइए का पद प्राप्त करता है । यहाँ भी पुश्तिल उसे खताती है और अन्त में वह एक अमीर किंतु स्तब्ध घाल महिला के यहाँ आश्रय पाता है और सामाजिक पुनर्निर्माण का योजनाव्यों में दोनों लगते हैं ।

इस कथानक के हृदय गिर बलकत्ता के मानवी महासागर की उचाल तरंगें सदा हिलारें मारती रहती हैं । एक भयानक कोलाहल और कोहराम मानो पाठक का निरंतर मन घांटा रहता है । नौन लेने तक को मानो अनुकाश नहीं मिलता । खोशीबी का मानव जीवन का अपूर्व और विराट् अनुभव पाठक को चकित करता रहता है । पार्स और पुन्धाय का जीवन, कॉलेज स्कायर की किताबों की बुकमें, हवालात और कचहरी, अस्पताल, अभिजातकुल की रहस्यमय, पहलवानों के अड्डे, गिरहख और पॉकेटमास्टर, धोरियों की सीलन और बम्बू मरी काटिरियों, वैशालय का नारकीय जीवन, असहाय लटकियों की दयनीय जीवन-कथा और अन्त में एक सम्प्राप्त कुलनारी का स्नेह पाश, ये सभी विचित्र जीवन परिस्थितियों साकार होकर उपवास में बाल उठी हैं ।

अनेक पात्र सजीव होकर क्या में मुद्रांति हुए हैं । टक्कों की संख्या में वे क्याकार के चरित्रों जीवित होकर खड़े हैं—करीम चाचा, मादुली परिवार के व्यक्ति, प्यारे धोबी, टसकी

लुकी बेना, फिर बेपनास के क्रूर, पार्श्विक जीवन से भयातुर नारियों, अमला, मुजाना, जुनेजा, और अंत में लीला का स्वप्न निर्मल स्नेह ।

स्पष्ट ही 'जहाज का पछी' का कथानक व्यापक है और इसमें प्रसार अधिक है । लेखक की निर्मम दृष्टि जीवन के अनेक घुणित और कुत्सित 'यापारों' पर घूमी है और उनका यथार्थमय आकृति उभाने किया है । यह उपन्यास आन्ध्र प्रदेश, पूर्वांचली समान की नैतिकता पर कठोर मर्म प्रहार करता है और जीवन की स्वल्प, सपर्यंत प्रवृत्तियों को बल देता है । उनत और सचेत कला का ध्येय वह अपने उपन्यास में प्रतिष्ठित करता है । आज के तथाकथित 'फ्री वर्ल्ड' का उग्र नर एत प्रसार करता है—

“बीसवीं सदी के इस उत्तरार्द्ध काल में भी, इसी कलहता शहर के लाखों आदमी इन अस्वाभाविक और अमानुषिक परिस्थितियों में जीवन बितान को बाध्य हैं । कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि आज के तथाकथित 'फ्री वर्ल्ड' में मनुष्य न मनुष्य की मनुष्य गरह देने की कसम खा रही है । स्वयं अपने सम्बन्ध में मुझे सन्देह होने लगता कि मैं मनुष्य नहीं हूँ, बल्कि उन जन्मजात, मच्छरों, मोहरों, बिन्दुओं, मकड़ियों, तिलचट्टों और कीमकों की तरह ही मैं भी एक कीट हूँ (बका कोट) जो चारों ओर स मुझे घेर हुए हैं । पर दुभाग्य से उनके 'फ्री वर्ल्ड' में भी मैं 'अनफिट' बैठता हूँ और वे सब मुझे अपना सबसे बड़ा शत्रु समझकर मुझ पर अलग-अलग और सम्मिलित रूप से आक्रमण करते रहते हैं । रात रात-भर इन कीटों द्वारा काटा जाता हुआ और यंत्रणा से छुटपटाता हुआ मैं सोचता कि आज की मनुष्यता कोटों द्वारा पराजित और परास्त है । कमरे के भीतर वास्तविक कोण और कमरे के बाहर मानव रूपी कीट आज मनुष्यता का रक्त-शोषण करके उसे क्षीमकी की तरह धाँकर लीजला बगान पर तुले हैं ।”^१

इन प्र रकार मरी परिस्थितियों के बीच लेखक की दृष्टि प्रकाश की किरणें भी फूटता हुई बेपत्ती है और आशा का दूर उपन्यास में कँसा उठा है—

‘फिर भी, उस घुप अँधेरे के बीच में भी कभी कभी प्रकाश और आशा की किरणें दिखाई देने लगती हैं । ऐसे क्षणों में मुझे यह विश्वास होने लगता है कि सिर्फ मेरे मन के ऊपर से ही नहीं, सारी मानवीय चेतना के ऊपर से एक दिन कुशासा हवेगा और अन्वेषण के बादल कटकर रहेंगे । जीवन की सामूहिक व्यवस्था बिस्वय ही बढ़तीगी और मानव मानव के बीच का व्यवधान हटकर ही रहेगा और तब मेरी जिस रहस्यात्मक चेतना का विकास पथ रुक हो गया है, वह जहाँ रुकी थी वहाँ से आगे बढ़ेगी । वह मरी नहीं, केवल दब गई है और फिर एक दिन वह भी आधुना, अब सिर्फ मेरी ही नहीं सभी की वैयक्तिक चेतना विकसित होकर सामूहिक चेतना के विकास में सहायक होती हुई उनके साथ मिलकर एक पूर्णव्यापक चेतना को जन्म देगी ।”^२

इन उपन्यास में जोशीजी की शैली में प्रमाण, ओष और कविता भर गये हैं । उनका शब्द प्रचलन और सशक्त है । उसकी उपमार्थ आधुनिक वैज्ञानिक जीवन पर आधारित है और उसमें कल्पना का गुण भी पचाप्त है । उनकी गद्य शैली का एक उदाहरण देखिए—

१ पृ० २६६ ।

२ पृ० २४६ ७ ।

“सूराज पश्चिम में डूबने की तैयारियाँ कर रहा था। पश्चिम में कुछ देर से घिरे हुए गाढ़े काले बादल जलकर एकदम खाल हो गए थे, जैसे कोयलों के आकाशम्यापी गोदाम में आग लग गई हो और सब कोयले सहसा एक साथ दहक उठे हों। उनकी रक्खम यामा नदी पर पड़कर वेग्न हवा के कारण सौ सौ ठण्डकती हुई तरंगों में प्रतिबिम्बित होकर विध्वज्जती हुई आग की तरह दिपलाई दे रही थी।”^१

जोशीजी कला को जीवन की कठोर वास्तविकता के साथ सम्बद्ध करना चाहते हैं। ‘आकाशरी सस्कृति की हवाई उड़ान और कैशन की भस्मावी रंगीनी में’ उसे मुक्त करके ‘‘जीवन के समुचित सामूहिक विकास में’’ वे उसे सहायक बनाना चाहते हैं।^२

लोक जीवन से कला का सम्बन्ध जोशीजी अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। वह कहते हैं—‘‘लोकोत्तर ध्यान व का सच्चा अधिकारी केवल वही व्यक्ति हो सकता है जो लोक जीवन में डूबकर लोक कल्याण सम्बन्धी अपने कल्पनों का पालन पुरातपा कर चुका हो। प्राथमिक अक्षर का सच्चा अधिकारी वही हो सकता है जो सामूहिक भौतिक जीवन पर छाये हुए महामरण रोग शाव और दुःख दारिद्र्य के निवारण में युग-केनाओं के हाथ बटा चुका हो। यदि कला को लोक जीवन से छिन्न करके केवल लोकासीत ध्यान-व की प्राप्ति का ही साधन माना जाय तो नोरो को सबसे बड़ा कलाकार मानना होगा। जब रोम में आग लगी हुई थी तब वह अपनी कैंची छटारो ने सामूहिक अग्नि कला का ध्यान-दमन दृश्य देखता हुआ बोध्या वज्जान में व-मय था और ‘लोकोत्तर ध्यान-व’ की प्राप्ति कर रहा था।’’^३

‘‘वहाज का पछी’’ ठनन, विद्रोही कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें भारतीय जीवन की कड़वास्तविकताओं का अंकन है, साथ ही जीवन की निया दन भी उलट आग्रह है। यह उचित ही है कि सचेत, सामाजिक मानना से परिपूर्ण यह उपन्यास लेखक न ‘विद्रोही कवि निराणा को’ मेट किया है।^४



रामचन्द्र तिरारी

हिन्दी-साहित्य में राम-कथा का अध्ययन

राम का व का समीक्षा के इतिहास में आलोचना ग्रन्थों के प्रकाशन से नवान अध्याय की सृष्टि हुई है। ‘राम कथा’ वस्तुतः राम कथा की उत्पत्ति, विकास और विस्तार-सम्बन्धी सभा सम्भव क्षेत्रों को समेटित करने का स्तुत्य प्रयत्न है। लेखक ने राम से सम्बन्धित सभी इतिवृत्तों को समुल्लिखित एवं क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। विभिन्न राम कथाओं की परीक्षा के पश्चात् राम कथा के मूल रूप पर विचार किया है। देशी विदेशी, प्राचीन अर्वाचीन साहित्यों में विन्ने

१ पृष्ठ १६४।

२ ' ३८३।

३ " ३८४।

४ ले० भी इलाचन्द्र जोशी, प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, बम्बई, इलाहाबाद, पटना।

हिंदी साहित्य में राम कथा का अध्ययन

द्वय राम कथा सूत्रों के स्वरूप का उद्घाटन किया है। इन सूत्रों की एकस्यता तथा अनेक रूपता पर विचार करते हुए परिवर्तन के कारणों को लक्ष्य किया है। इस प्रकार इस वैज्ञानिक अध्ययन में विद्वान् लेखक का दृष्टिकोण राम कथा सम्बन्धी समस्त सूत्रों के उद्गम, विस्तार और विकास तक सीमित है। इसीलिए लेखक ने पट्टहवीं शती के बाद के संस्कृत साहित्य तथा आधुनिक ग्राम भाषाओं के रामकथा साहित्य के अध्ययन पर अधिक बल नहीं दिया है। लेखक की दृष्टि में यह साहित्य राम कथा साहित्य न होकर राम मन्त्रि साहित्य है।

'मानस में राम कथा' का दृष्टिकोण तुलसीवृत्त रामचरित मानस की आध्यात्मिक, व्यावहारिक तथा साहित्यिक महत्ताओं का सक्षिप्त प्रकाशन है। प्रथमवर्ष प्रारम्भ में राम कथा के उद्गम और विकास पर भी विचार किया है। कृति से कृतिभार का अभिन सन्तुष्ट मान कर लेखक ने कवि की उस मानसिक वृष्टभूमि का भी गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया है जिसने राम भक्ति को वैयक्तिक साधना की सकीर्ण सीमाओं से निवालाकर पूर्ण जीवन दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अध्ययन को आगे बढ़ाते हुए लेखक रामचरित मानस की कथा के विकास एवं संगठन पर विहगम दृष्टि डालता है। विहगम होते हुए भी यह दृष्टि पयास सूक्ष्म है। मानस की प्रारम्भिक भूमिका का अपूर्व उठान, कथा विकास की महत्ता, चरित्र चित्रण की कला, तथा कथा सूत्रों की गतिमयता, स्थिरता और विस्तारदि का रहस्य उद्घाटन लेखक की विहगम दृष्टि से ही हुआ है। अनेक विविध विषयों को लेकर चलने वाली तुलसी वृत्त राम कथा की मानवी स्थिति पर विचार करते हुए लेखक ने उसके उद्भव, उद्देश्य तथा स्वरूप सभी को मानसिक सिद्ध किया है। यह राम कथा महेश के मानस में समुद्भूत हुई और जन मानस को शांति देने के लिए मानस के मानसरोवर के संगम ही खिलत तथा सुगन्ध सिद्ध हुई। अतएव इसकी सखा 'रामचरितमानस' होनी ही चाहिए। लेखक को मानस के काव्य लोभव में कम आकर्षित नहीं किया है। इसीलिए उसने अन्तिम परिच्छेद में काव्य ही दर्प एवं अर्थ गौरव पर भी महत्पूर्ण विचार प्रगट किए हैं।

'मानस की रामकथा' का लक्ष्य रामकथा के स्वरूप का गम्भीर, व्यापक एवं विशद अध्ययन प्रस्तुत करना है। इसीलिए लेखक ने मानस की रामकथा को लक्ष्य में रखकर राम कथा के समग्र स्वरूपों को वृष्टभूमि में उपस्थित किया है। ॥ ५ के प्रथम अध्याय में प्रथम बार का उल्लिखित किन्तु पूर्ण जीवन वृत्त तथा कृतियों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में रामचरितमानस की कथा का विविध दृष्टियों से अध्ययन किया गया है। लेखक ने मानस के रूपक की व्याख्या की है, उसके प्रथम लोभव पर विचार किया है, उसे केवल महाकाव्य के रूप में ही नहीं, भक्ति काव्य के रूप में भी देखने का सतर्क आमह किया है तथा उसमें समन्वित सांस्कृतिक आदर्शों का विस्तृत उल्लेख किया है। मानस की शैली पर विचार करते समय सवाद शैली के स्वरूप निर्वाह, गौरव, महत्ता तथा गाम्भीर्य की ओर भी संकेत किया गया है। राम कथा के अतिरिक्त मानस की कथा में तीन अन्य कथारूपों का समावेश है। लेखक ने इन्हें चरित कथा, हेतु कथा और अंतरकथा के रूप में उपस्थित किया है। अध्याय समाप्त करते हुए लेखक हमारा ध्यान 'मानस' के दार्शनिक महत्त्व की ओर भी आकर्षित करना नहीं भूलता।

तीसरे अध्याय में रामकथा के विविध रूपों, रामकथा की उत्पत्ति और विकास तथा

रामकथा की यापकता पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। मानस की रामकथा के स्वरूप को पूर्णतया समझने के लिए यह अध्ययन आवश्यक था। इस अध्याय को पूर्ण बनाने में फादर बुल्के की रामकथा से पर्याप्त सहायता ली गई है। इस प्रसंग में लेखक ने फारसी और अरबी रामकथाओं की चर्चा भी की है। बुल्के महोदय ने इस मूल की ओर ध्यान नहीं दिया है। कथा सूर के विश्वास की दृष्टि से इनकी महत्ता न होने के कारण ही उनका ध्यान इस ओर नहीं गया, क्योंकि फारसी और अरबी की रामकथाएँ प्रायः सत्सुत ग्रन्थों से अनूदित हैं।

चौथे अध्याय में लेखक ने 'बाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण', 'प्रसन्नराध', 'महावीर चरित' और 'हनुमन्नाटक', 'श्रीमद्भागवत', 'पद्म चरित' आदि अनेक प्रसृत राम काव्यों के साथ मानस के कथा स्वरूप की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है। साथ ही मानस के समसामयिक और राम काव्यों—'रामचरित्र' तथा 'राम निगामृत'—के कथा रूपों की तुलना भी मानस के साथ की है। अन्त में तुलसी की अथ रचनाओं को भी मानस के साथ रखकर देखा है। वस्तुतः यह तुलनात्मक अध्ययन चतुर्वेदी की के विस्तृत एवं गम्भीर अनुशीलन का प्रतिफल है।

उपसंहार में पूरे विवेचित समस्त सामग्री की सज्जित चर्चा की गई है।

द्वितीय खण्ड में रामचरितमानस का मूलपाठ, जिसका सीधा सम्बन्ध राम कथा से है, जोड़ दिया गया है। इस मूलपाठ के सम्पादन में लेखक ने 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'रामचरितमानस' (सन् २०५) तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'राम चरितमानस' (स० २००६) का आधार लिया है। अन्त में शब्दकोश तथा सज्जित कथा प्रयोग देकर ग्रन्थ की उपादेयता बना दी गई है।

इस प्रकार पिछले तीन वर्षों के भीतर प्रकाशित होने वाले ये ग्रन्थ निश्चय ही राम साहित्य के अध्ययन को बहुत आगे खींच लाते हैं। राम कथा से सम्बन्धित सूत्रों का विशदकोष बुल्के महोदय की कृति 'राम-कथा' है। निश्चय ही समस्त हिन्दी वाङ्मय में यह अपने ढंग का अजेला अध्ययन है। राम कथा की मानसी स्थिति की सगतिपूर्ण व्याख्या करते हुए 'मानस में रामकथा' के विद्वान लेखक ने भी रामचरितमानस के आध्यात्मिक अध्ययन को एक नई दिशा दी है। प्रत्येक खोपान में निरूपित कथा के आधार पर समानान्तर आध्यात्मिक संकेतों का निर्देश है। चतुर्वेदी का के अध्ययन में गति, महत्ता, गम्भीरता और विस्तार है। 'कृति' को उसकी विस्तृत ऐतिहासिक पीठिका में रखकर देखने का आपका प्रयत्न स्तुत्य है। वस्तुतः यदि चतुर्वेदी की की हिन्दी-साहित्य में विशुद्ध ऐतिहासिक समीक्षा का बमदाता मान लिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। 'कृति' की कृतिकार का दृष्टि में परखने के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सूक्ष्म अध्ययन अपेक्षित है। उसके स्वरूप को समझने के लिए उसी बोटे की अन्य कृतियों से तुलना अनिवार्य है तथा उसकी महाराष्ट्र की हृदयगम करने के लिए उससे सम्बन्धित विषय-सूची के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। 'मानस की रामकथा' में ये तीनों विशेषताएँ समाहित हैं। द्वितीय अध्याय में 'मानस' के विषय-सूचक का गम्भीर विश्लेषण है। तृतीय अध्याय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा परम्परा उपस्थित करता है और चतुर्थ अध्याय तुलनात्मक समीक्षा। अतएव मानस की रामकथा के स्वरूप का यह प्रथम पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन है।

रामभक्ति का विकास, उसकी मध्ययुगीन स्थिति, अथ भक्तिस्रोतों से उसकी समता

विप्रमता तथा युगावृत्तल उनके स्वरूप परिवर्तन की ऐतिहासिक 'यात्रा' अभी प्रस्तुत नहीं हो सही है। देखना है, राम-साहित्य के उपर्युक्त सुश्रुतियों में अपनी साधना का अम परिहार करने के लिए कौन राम भक्ति-संरिता में स्थान करने के लिए आगे बढ़ता है।¹



रामलालमिश्र

भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा

भारतीय काव्य शास्त्र की मुख्यतः छः परम्पराएँ हैं—रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य की। विभिन्न आचार्यों के काव्य ग्रन्थ भी मिश्रित प्रायः इन्हीं के अनुसार विभक्त हुए। साम्रा के औचित्यपूर्ण विधान तथा योजना की दृष्टि से यही उचित था कि हिन्दी के विभिन्न आचार्यों की समीक्षा-सामग्री भी उपर्युक्त काव्य परम्पराओं की दृष्टि से नियोजित की जाती। उदाहरणार्थ यदि शुक्लजी की सामग्री रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य मता के क्रम से नियोजित करके अतः काव्य स्वरूप सम्बन्धी सामग्री दी जाती तो सामग्री के तबो बन तथा सम्पादन में अधिक औचित्य आ जाता।

सम्पादक का कहना है कि भारत से लेकर सर्वप्रथम हिन्दी आलोचकों तक के सैद्धान्तिक वस्तुओं का सन्तपन इस पुस्तक में है। सस्कृत ही नहीं, बल्कि हिन्दी के भी कई प्रसिद्ध समीक्षक उपस्थित हो गए हैं। कर्देव के 'वद्वालोक', अण्णयदीक्षित के 'कुसुमपाव' तथा भास्वदस की 'रस-तरंगिणी' एवं 'रस मञ्जरी', मुकुलमठ के 'आमिषाशा' का हिन्दी समीक्षकों पर बहुत प्रभाव पड़ा। अतः इन आलोचकों की उपेक्षा उचित नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार रीतिकाल में पदमाकर, रामसिंह तथा सूरति मिश्र की मा उपेक्षा हो गई है। इन आचार्यों ने रीतिकाल में होते हुए भी अपने अपने ग्रन्थों में स्वयंहीत परम्पराओं के विषय में कुछ मौलिक बातें कही हैं, जैसे रामसिंह के 'रस निपात' में मनोव्यक्ति तथा मात्र का अन्तर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बताया गया है। इसके अतिरिक्त इस प्रश्न में हास्य रस के विभिन्न भेद, भाषा रस की कल्पना, रससिद्धान्त के आधार पर मात्र का वर्गीकरण नवान रस का मिश्रता है। इसी प्रकार आधुनिक युग में लाला भगवान् दीन अलंकार परम्परा के प्रतिनिधि आचार्य माने जाते हैं। इस सन्दर्भ में उनका अभाव खतबदा है।

सम्पादक के निवेदन के अनुसार इस पुस्तक का उद्देश्य है भारतीय काव्य शास्त्र की समृद्ध परम्परा का क्रमबद्ध निरूपण। किन्तु पुस्तक में यह कहीं नहीं बताया गया है कि भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा क्यों समृद्ध मानी जाती है? इसकी समृद्धि के कौन कौनसे कारण हैं?

1. राम कथा उद्गम और विकास, खे० डॉ० कामिल बुक्के, प्र० हिन्दी परिषद् इलाहाबाद विश्वविद्यालय। मानस में राम कथा खे० डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र, प्र० वगोय परिषद्, कलकत्ता। मानस की राम कथा, खे० परशुराम चतुर्धेदी, प्र० किताब महल, प्रयाग।

प्रय का सम्पादन हिन्दी काव्य विश्वसुत्रों के लिए किया गया है, अतः संस्कृत आचार्यों के वक्तव्यों का हिन्दी अनुवात् पहले और मूल बाट में दिया गया है। इस प्रय में जो संस्कृत आचार्य संकलित किये गए हैं उनमें से कई आचार्यों की कुछ प्रमुख बातें छूट गई हैं, जैसे वामन में गुण विवेचन का अंश छूट गया है। वामन रीति परम्परा के प्रतिनिधि आचार्य हैं। गुण उनकी दृष्टि में रीति के आत्मतत्त्व हैं। अतः वामन का गुण सम्बन्धी वक्तव्य उपेक्षित नहीं होना चाहिए। इस प्रकार आनन्दवर्धन का काव्य पुरुष का रूपक उपेक्षित होने योग्य नहीं है। कुमाक का गुण तथा रीति सम्बन्धी वक्तव्य मौलिक दृष्टि का है। संकलन में इसका अभाव भी खटकता है।

इस पुस्तक से हिन्दी काव्य विश्वसुत्र समीक्षा की विभिन्न परम्पराओं, रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य के अनुसार काव्य के विभिन्न सिद्धांतों की क्रमागत परिभाषाओं, उनके विविध भेदों, काव्यहेतुओं, प्रयोजनों, काव्य लक्षणों आदि की सामग्री का परिचय एक स्थान पर सरासरी मात्रा में पा सकता है, किन्तु आधुनिक हिन्दी काव्य में उनकी क्या आवश्यकता है, उनसे हमारे रचनात्मक साहित्य को किन्ती स्फूर्ति तथा प्राप्ति मिल सकती है, उनसे हिन्दी समीक्षा का नवनिर्माण काय कितनी दूर तक हो सकता है, सामान्य जीवन के मूल्यों के प्रत्यभिज्ञान में उनसे कितना योगदान मिल सकता है, आदि बातों का ज्ञान नहीं होता।

परम्परा के परिचय का अर्थ अतीत का अन्वेषण नहीं, वर्तमान की अतीत के मानदण्ड से नापना नहीं, और न अतीत की वर्तमान द्वारा आँकना है, बल्कि अतीत के विकसित रूप को जानना है, वर्तमान में उसके स्थान एवं मूल्य को निरूपित करना है जिससे नूतन रचनाओं एवं नवीन जीवन मूल्यों का अतीत की प्रसिद्ध परम्परा के साथ एक सारसम्य स्थापित हो सके, एकछूतता निरूपित हो सके। अब तक ऐसा नहीं होता तब तक हमारी परम्पराएँ प्राणवान बन नहीं सकतीं। आज भारतीय काव्य शास्त्र का परम्पराओं को प्राणवान बनाने की आवश्यकता है। यह आवश्यकता मतानुगतिकता से सम्पादित नहीं हो सकती। उसमें से नये युग की सामकता के स्वरूप को ढूँढ़ निकालने में अब हम समय होंगे तब हम उसे प्राणवान सिद्ध कर सकेंगे। आशा है डॉ० नगेन्द्र जैसे सुश्रेष्ठ आलोचकों का दूसरा चरण भारतीय समीक्षा की परम्पराओं को प्राणवान सिद्ध करने की ओर उठेगा।

इस प्रय में कतिपय छात्रों की अशुद्धियों भी रह गई हैं, जैसे नमस्त्रिका में सम्बन्ध निर्वोह, चमत्कार पदति और रस पदति, काव्य में कल्पना आदि पत्रावलिओं दो बार आ गई हैं जिनकी एक ही बार आवश्यकता थी। शुद्धि की निम्न तिथि पृष्ठ ६२४ पर सन् १९४० दी हुई है जो अशुद्ध है क्योंकि उनकी निम्न तिथि १९४१ है। भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा में निश्चय ही भारतवर्ष की अनेक सहस्र शताब्दियों की संस्कृति, साहित्य एवं जीवन का इतिहास निहित है अतएव इसकी सामग्री सचयन का कार्य बहुत ही अभ्यवसाय, धैर्य एवं दमन की आवश्यकता रखता है। इस सुन्दर कार्य के सम्पन्न का जो प्रवास इस प्रय में किया गया है इसके लिए इस प्रय के सम्पादक तथा इसके विभिन्न अंशों के अनुवादक एवं नियोजक हमारे साधुवाद के पात्र हैं।

रामरतन मटगागर

आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान

बीसवीं शताब्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मनोविज्ञान के अन्तर्गत मनोविरलेपण शास्त्र का विकास है। इस नये शास्त्र की उपपत्तियों ने मानव जीवन सम्बन्धी हमारी उम्र उदात्त धारणा को चुनौती दी है जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्राणी शास्त्र और मातृक विज्ञान की शोधों में जन्म लेती है और जो मुख्य रूप से जीवन विकास के मूर्चय पर स्थापित करती है। उसने अरन्धत के सुहागर्त में स्थित द्रष्टा मानव के उम्र पशुत्व पर प्रकाश डाला है, जो समान सृष्टि द्वारा तुर्दमनीय वाक्यान्त्र के दमन में हवारव भरता हुआ बीना दे और चरा ही भी अलानधानी पाकर हमारे नैतिक निरोधों को कबनाचूर कर डालता है। इसमें सम्येह नहीं कि इस नये शास्त्र ने मानव जीवन की सीमाओं को विस्तृत ही है और मनोविज्ञान को अन्त रम्य जीवन का पयाय बना दिया है। आधुनिक साहित्य में मनोविरलेपण शास्त्र का सबसे अधिक प्रवाद कथा साहित्य को मिला है। एक तरह से मनोवैज्ञानिक उपवास के रूप में उपवास की एक नद ही कोटि बीसवीं शताब्दी में जन्म लेती है और अन्त्यास में ग्रहीत जीवन का रूप ही नहीं, औपचारिक कथा शिल्प भी बदल जाता है।

कथा साहित्य का उपजीव्य मानव जीवन है। वहाँ मानवेतर जीवन को कथा का रूप दिया गया है, वहाँ उस पर मानव जीवन की द्विधाओं, असंगतियों, मानवाओं और प्रभियाओं का ही आरोप है। मानव सम्भता के विकास के आरम्भिक युगों में नाटक और महाकाव्य मानव जीवन की अभिव्यक्ति के लिए चुने गए और उनमें पात्रों के वहिर्दृष्टि, कार्य कलाओं एवं नैतिक असंगतियों को अभिव्यक्ति का जिय बनाया गया। यह नहीं कि मनुष्य का आंतरिक जीवन उनमें है ही नहीं, परन्तु वह अपनी सीमाओं के साथ है। प्रीक नाटकों की अनेक मनो प्रभियों का उद्घाटन मायक ने किया है और उसके आधार पर अपने मनोविरलेपण शास्त्र को पुष्टि दी है। परन्तु आन्तरिक जीवन का सच्चा स्वरूप हमें कथा साहित्य में ही मिलता है। सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अथवा प्रीलिडिंग से लेकर दत्तोपनस्की तक कथा साहित्य की प्रगति उपन्यास के आन्तरिक प्रयास की कथा है, परन्तु आरम्भ से ही उपन्यास में मनोमयता की प्रभावता रही है। महान् कथाकारों ने अपनी विचक्षण अतर्दृष्टि के सहारे जीवन के सूक्ष्म और दुष्प्रकाश उतार चढाव रते हैं और चेतना प्रवाह की अतल गहराइयों का स्पर्श किया है। उन्होंने सम्पूर्ण अभिव्यक्ति और असंगत जीवन को काया दी है। अन्तरंग जीवन की उन्होंने बहिरंगी क्रियाकलापों की भूमिका पर से देखा है। वास्तव में सुर्गनेव (१८१८-१८८२), दत्तोपनस्की (१८२२-१८८२), टालस्टॉय (१८२८-१८९०), मोरस्त (१८३८-१८९२), जॉर्ज रोमर, स्टैण्डहल (१८३०-१८९६) और हेमरी जेम्स (१८५२-१९१६) के उपवासों में अज्ञात रूप में मनोवैज्ञानिक स्थितियों एवं तथ्यों की जैसी अन्तर्दृष्टिपूर्ण योजना है, वैसी नवीनतम कथाकारों की कृतियों में नहीं मिलती, यद्यपि उनके पीछे कद दशकों की मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों और वृष्टि विदासा की शृङ्खला है। वास्तविक जीवन के चेतनामूलक प्रवाह को इन कथाकारों ने अत्यन्त निष्कट से और बारीकी से देखा है। इसीसे हम उन्हें अलौकिक दृष्टि सम्पन्न कहते हैं।

परन्तु १८६५ में फ्राइड द्वारा जिस नवीन प्रयोगात्मक मनोविज्ञान और मनोविरलेषण की नींव पड़ी, वह शीघ्र ही मनोविज्ञान की गोष्ठी से बाहर निकलकर कथाकारों की प्रेरणा बन गया और १९२० के बाद के कथा साहित्य को इन नई उपपत्तियों ने सहान रूप से प्रभावित किया। पहले जहाँ मनोविज्ञान उपन्यासकार का साधन था, वहाँ अब वह साध्य बनता जा रहा है। उपन्यास आन्तरिक जीवन में सिमट गया है और वह आज अन्तर्गत के पूरापर विच्छिन्न, अवचेतनमूलक, ग्रहण्य विस्फोट का लीला भवन बन गया है। प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ डॉ० देवराज उपाध्याय के 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' ॥ पहले २५ वर्षों के हिन्दी कथा-साहित्य को मनोविरलेषण के चार पाँच प्रमुख 'स्कूलों' की उपपत्तियों द्वारा परखा गया है। ग्रंथ आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत पीएच० डी० प्रबंध के रूप में प्रकाशित है। आरम्भिक अध्यायों में शोधकर्ता ने मनोविरलेषण शास्त्र के विभिन्न पुरस्कर्ताओं, विशेषतः फ्राइड एडलर युग की भावनाओं पर प्रकाश डाला है और वेनटान्टा जैसी उपशाखाओं की भी चर्चा की है। इसी भूमिका पर आगे के अध्यायों में प्रेमचंद, जैनेन्द्र, अश्वमेध, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल और कनिष्क अन्य कथाकारों के कथा यत्नों की परीक्षा की गई है। प्रेमचंद के साहित्य पर मनोविज्ञान की प्रत्यक्ष छाप नहीं है, परन्तु कला विकास के साथ उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि सूक्ष्मतर होनी गई है और उन्होंने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का प्रक्रियाओं को विचारक की सूक्ष्मता और कलाकार का सद्बुद्धता से पकड़ा है। वास्तव में प्रेमचंद उन्नासवीं शती के महान् कलाकारों के साथ हैं और उनके साहित्य में मनोविज्ञान साधन है, साध्य नहीं। मनुष्य के आन्तरिक जीवन में उन्होंने खैर की है, उसमें क्रुद्धा और निरोध देल हैं, परन्तु उनकी कला में खण्ड मानव नहीं, सम्पूर्ण अन्तर्लोकित मानव ही उभरा है। मनोविरलेषण का आग्रह (या बुराग्रह ?) जैनेन्द्र के पद्यापण से शुरू होता है और 'परल' में उसकी पहला मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। स्वयं प्रेमचंद ने 'परल' की शैली की प्रशंसा की थी, यद्यपि वे उसके अति आदर्शवादी अन्त से सहमत नहीं थे। जो हो, यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान और मनोविरलेषण की उपपत्तियों का सोद्देश्य उपयोग जैनेन्द्र ने आरम्भ होता है और अश्वमेध तथा इलाचन्द्र में उसका समार इतना बढ जाता है कि कथा प्रवाह एवं चरित्र विकास में बाधा पहुँचती है।

डॉ० देवराज उपाध्याय की यह शोध हिन्दी उपन्यास साहित्य का नवीनतम अध्याय लेकर चलती है और यद्यपि कहीं कहीं मनोवैज्ञानिक आरोपों एवं मनोविरलेषणाय तथ्या में पुनः ग्रह निराला पड़ता है, तथापि यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी सीमाओं को स्वीकार करते हुए ही लेखनी चलाई है और उपन्यास का नई प्रगति को परखने के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि देकर उन्होंने एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। ज्ञान रूप से मनोविज्ञान एवं मनोविरलेषण का जहाँ संकेत मिला है, वहाँ वृत्तविराटों से तादात्म्य दिखाकर अथवा जाने माने सिद्धान्तों की ओर हागत कर उन्होंने नई औपन्यासिक कला की मनोमयता और विज्ञान बद्धता की सूचना दी है। इसमें संदेह नहीं कि इससे खोज की नई दिशाएँ उद्घटित हुई हैं और साथ ही आधुनिक उपन्यासकारों की सीमाएँ भी सामने आई हैं। वे सम्पूर्ण मानव को न लेकर खण्ड माणसिक जीवन को लेकर चलते हैं और उनके हाथ में उन यात्रा करने 'महाकायता' छोकर गीतात्मक, रहस्यमय और भावाकुल बन गया है। स्पष्ट ही इससे हानि हुई है क्योंकि जीवन की अपरूपता, निराशा और कष्टमूलकता की ओर से हमारी दृष्टि हट गई है और हम स्थिर, सुदृढ़ और निश्चय

कथा के रहस्यमय आंदोलनों के इतिहासकार बनकर रह गए हैं। कहा जाता है कि इससे उपन्यास की रसमूलकता और चरित्रनिष्ठा नष्ट हो गई तो उसे नई सचेतता, नई आन्तरिकता और नई मार्केतिकता भी प्राप्त हुई है। परन्तु उन सचेतता का क्या मूल्य होगा जो हमें जीवन के प्रति सशपाद्ध, विद्रोही और अनास्थापूर्ण बनाएगी और उस आन्तरिकता से हम क्या सिद्ध कर सकेंगे जो अंतर्बल एवं अंतर्गति पर आधारित होगी? जो हो, स्पष्ट ही परिस्थिति विषम है और इसी विषमता को दृष्टि में रखकर कदाचित् पश्चिम में उपन्यास की मृत्यु की बात बली है।

यूरोप में अनास्था का युग पहले महायुद्ध के बाद आरम्भ हुआ जिसमें पुरातन सभी मूल्य खोखले हो उठे थे। नई पीढ़ी की नैतिक और आध्यात्मिक जीवन में अराजकता का अनुभव हुआ परन्तु न तो उसमें नये मूल्यों के निर्माण की शक्ति थी, न तत्काल ही धारणा के विकास की। फलस्वरूप सर्वनाशक विचार और सन्निकता का लोप हो गया। ऐसे समय में फ्राइड एडलर-युङ्ग के आविष्कार तब बन गए और मानव जीवन को 'केस हिस्टरी' कोष में डूँदा जाने लगा। दाय और विद्रुत मनस् मानदस बन गया, क्योंकि मनोविश्लेषण की नई छोड़ों का बड़ी आधार था। प्रतीक, स्वप्न, हिस्टीरिया, अन्तरस्वयत्, चेतन प्रवाह, 'फ्लैश-बैक' आदि अभि-व्यञ्जना शैलियों को प्रधानता मिली और दुर्बल व्यक्तित्व, छत्रप्रसूत, स्वयं पीड़ित, परास्त मानव के रूप में एक नया नावक उपन्यास की मिला। कथा साहित्य हेमलेटों से भर गया और एक प्रकार से अस्पताल ही मानव जीवन का प्रतिनिधि हो गया। फलस्वरूप जीवन के प्रति हमारी धारणा बिगड़ी और हम स्वयं अपने कला के शीश महल में बन्दी हो गए। यौन विकृतियों, दाय मन विधितियाँ और अतिमातृक क्षणों पर किसी स्वस्थ जीवन दृश्य का निर्माण असम्भव है। रोगा मानस में पुनर्मर्मर्य प्रक्रिया द्वारा अचेतन के उभारने का तत्त्व अस्थायी और अग्रगण्य है और रोगी के स्वस्थ होते ही वह समाप्त हो जाता है। परन्तु उपन्यासकारों ने रोग को ही उपचार मान लिया और नैतिक निरोधों एवं चेतन मन की सुषुप्त धारणाओं और मूल्यगत मानवताओं को एकदम अन्वीकार कर दिया। चेतना प्रवाह पद्धति में चेतन मन की क्रियाओं और छद्म की सुषुप्त सचेतनाओं का उपयोग बड़ा किया जाता और इसका फल यह हुआ है कि अब प्रतीकों और बड़ बायनादस के स्थान पर हम एक बूतरे प्रकार की और भी बदिल कविपद्धता के सिकार हुए हैं। चेतन अचेतन, अन्तर्बहि, निरन्तर कर्म के द्वन्द्व का समाहार आधुनिक कथा साहित्य नहीं कर सका तो उपन्यास की बोधयन्त्रियाँ और प्रतीकात्मकता शीघ्र ही नष्ट हो जायगी और वह प्रलाप मात्र रह जायगा। इस संदर्भ में डॉक्टर उपाध्याय का यह शोध ग्रन्थ प्रयोजक कथाकारों और सुधी पाठकों के लिये चेतावनी भी है।

यह स्मरण रखना होगा कि जीवन का महदश मनोविश्लेषण शास्त्रों और मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ से बाहर है और उसे किसी भी प्रकार 'बादों' में नहीं बाँटा जा सकेगा। साहित्य में जीवन की आन्तरिकता और विश्वकूलता भी है, परन्तु न तो आन्तरिकता कार्य-यापार की विरोधिनी है, न विश्वकूलता अपावकता का दूसरा नाम है। कलागत सोम्बव और बोधमयी सुवाकता के अभाव में आज का उपन्यास ऐसा तिलिस्म बना जा रहा है जिसकी कुञ्जी मनोवैज्ञानिकों के हाथ में है, साहित्यिकों के हाथ में नहीं और जो महदश को छुद्र बनाकर ही अपनी साधकता प्रकट कर सकता है। निश्चय ही यह परिणति चिन्त है। मनोविश्लेषण जहाँ उपन्यासकारों की

परन्तु इन दो रचनाओं में मनोविज्ञान और मनोविरलेपण जीवन की विपश्चिन्नी और अन्तर्मन को सूक्ष्मतरंग सवेदनाओं को लेकर साधक हो उठा है। इन दो रचनाओं को हम परिचय साहित्य के समकक्ष उपस्थित कर सकते हैं। ग्रन्थ में अनेक अथ रचनाओं के साथ इन दोनों ग्रन्थों का भी सुविस्तृत निराकरण है। प्रथम बार बार पीछे मुड़ मुड़कर प्रेमचन्द और प्रसाद के साहित्य की ओर देखता है और इससे नई गतिविधियों को ऐतिहासिक परिपार्श्व मिल जाता है। वहाँ कहा आरोप स्पष्ट है, जैसे 'दादा कामरेड', 'दिव्या' और 'चबूती धूप' में 'दार मर्त्य' के मनोविज्ञान का आरोप। परन्तु इन उपग्रहों पर शोलोखोव आदि विन रुचो उपग्रहकारों की छांव है उनमें इस प्रकार की जीवन स्थितियों उमरी हैं और इन ग्रन्थों पर रुचो साहित्य के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकेगा। इनके लिए हमारे उपग्रहकार मनोविज्ञान के उगने चामरी नहीं हैं बितने महान् साहित्यकारों के। परन्तु क्या साहित्य में मनोवैज्ञानिक प्रणितियों का व्यापकता के उदाहरण में इस प्रकार के आरोपों से बचना कुछ कठिन भी था, फिर भी ऐसी अवस्थितियों कम हैं और निवारण्य स्थानों के रहते हुए भी डॉ० देवराज उपाध्याय का यह प्रोक्त ग्रन्थ आधुनिक समीक्षा में एक नया अण्णव जोड़ता है।



कमलाकान्त पाठक

पर आँसे नहीं मरी

नई कविता के सुभी और सवे कविनों में डॉक्टर शिवमल्ल सिंह 'सुमन' का स्थान निश्चित मान्य है। वे जीवन की कम्पा के कवि बनकर हिन्दी में आए। उन्होंने प्रेम गीतों का ही स्वर संचालन नहीं किया, बरन् बाधति और प्रगति का लाला बाला भी रचा। कुछ समय के लिए वे अज्ञानता की मौति प्रगतिवादी कवि भी रहे। उन पर कदाचित् भारतीय परम्परा का ऐसा आधिपत्य था कि वे पूर्णतः सामाजिक यथाथवादी अथवा ऐतिहासिक मौक्तिकवादी कवि न हो सके। निश्चय ही वे समाजवादी प्रभावों के कारण अपने कवि के युग द्रष्टारूप को परिभ्रूत वे सने हैं, पर उन्हें उद्बोधक भी बनना पड़ा है। उन्होंने जीवन के सम्बंध में अपना निचार, मतव्य अपवा दशन प्रकट किया है और मैं कहूँगा कि यह राष्ट्रीय चेतना तथा वास्तविक परम्परा का सशक्तिकरण है, विदेशी अथवा विवादीय वस्तु नहीं। सुमनजी को वर्तमान युग, उसकी परिस्थितियों तथा समस्याएँ उद्बुद्ध बख्ती रही हैं और इसी कारण उनका का न कभी अणामाजिक नहीं हुआ। उनकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी है।

सुमनजी अकुण्ठित व्यक्तित्ववादी कवि हैं, अतएव वे अपने सामाजिक परिवेश के प्रति अनुत्तरदायी नहीं हैं। उन्होंने 'पर आँसे नहीं मरी' में अहम् अथवा वैयक्तिक सुप्त दुःख का प्रवर्दी करण ही नहीं किया। वे व्यक्ति के प्यार की जीवन का विस्तार देते हैं, जीवन की आशा को आदशों

१. डॉ० देवराज उपाध्याय, प्रकाशक, सहित्य भवन (ग्रहणेट) लिमिटेड, दल्लादाबाद।

के विश्वास से साधते हैं तथा गति के उत्साह का स्नेह सम्बल से शृंगार करते हैं। उनका प्रेम प्रीति हो चला है और जीवन लालसा उसा अनुपात में बन गई है। वे विशुद्ध रूप से प्रगति अथवा प्रयोग की भूमिका में नहीं हैं। सार्थकता अथवा मूल्य की अटचनें भी उन्हें नहीं व्यापीं। यथायवादियों की उपदेशात्मकता, अन्तश्चेतनावಾದियों की प्रतीक पद्धति तथा जनवादियों की आञ्चलिक या प्रादेशिकता उन्हें छू भर गई है। वहीं वहीं चालियों की चिन्ता भी कविताओं के गठन और रचन में समायाओं के चयन में झलक उठती है, क्योंकि 'युग की कसौटी पर चढ़ी है आज मरी साधना'। अकुण्ठित यक्तिवादी का आत्म परिचय यह है—

मैं अमर पथिक, परिवसन का विरवासी,
जीवन मेरा अधिकार, अमरता दासी।

पर ओलें नहीं मरीं। मुख्यन गीति समग्र है। सभा रचनाएँ आत्मनिश्चयक नहीं हैं, पर सर्वत्र कवि का जीवन दर्शन सुस्पष्ट है। आग्रह, निवेदन और उपदेश के साथ साथ विषय वस्तु और विवरण भी गीति काय के उपादान बनाये गए हैं। गीतिकार ने प्रेम और जीवन के रहस्य तथा सौन्दर्य को कला सौन्दर्य का मूल तत्व समझा है। उसकी कायानुभूत जीवन के सत्य उद्घाटन करने में सचेष्ट रही है। उसने प्रकृति के सौन्दर्य चित्र अंकित किए हैं तथा राष्ट्रपिता को भी भद्राङ्गलियाँ अर्पित की हैं। उसकी वाणी में अस्वयम और अस्पष्टता, संस्कारहीन रसता और सामाजिक क्रूरता तथा सौंदर्यापक्व और विशेषता नहीं आने पाई है। पाण्डित्य का अनावश्यक बोझ उनके काय पर नहीं है। मेघ मन्त्र य यह नहीं है कि सुमनजी का गीत सौष्ठव अमतिम है। उनमें सौंदर्य सवेदन, शांत संगीत, अथ ध्वनि, चित्रात्मकता, उदात्त कल्पना अथवा प्रगल्भ भावुकता सम्बन्धी अनेक अभाव भी हैं। मेरा अभिप्राय यह है कि वह गीति रचना के क्षेत्र में उनका काम अ गौरवपूर्ण नहीं है।

प्रस्तुत गीति समग्र में चगलास रचनाएँ हैं। छ रचनाएँ ऐसी हैं, जिन्हें कवि ने नाम दिया है—'पर ओलें नहीं मरीं'। ओलें भर आना मुहावरा ओला के अभूषण होने का अर्थ होता है। गांधीजी के सम्बन्ध में कवि की रचनाएँ शोक व्यक्त होने के कारण ओलें भी ओलों के अनुभाव को साधकता प्रदान करती हैं। 'पर ओलें नहीं मरीं' शायद के अन्तर्गत अङ्गीकृत रचनाएँ हैं और यह दासवास निरन्तर मित्र भाव का बोध कराता है। यहाँ 'ओलें नहीं मरीं' से ओलें भर आने का अर्थ ग्रहण किया गया है। इस प्रकार कवि ने प्रचलित मुहावरे को नई अर्थ दीप्ति दी है। ओलें ओलें भरी नहीं हैं, यह कहना गलत है। यहाँ कवि अतृप्ति को लक्षित कर रहा है। यह अतृप्ति क्या है? यह व्यञ्जलजी की आकुल तृष्णा और गरजती अतृप्ति नहीं है। यह अन्धकार की कुण्ठित लालसा और निराशा मरी प्यास भी नहीं है। सुमन की आसक्ति स्थूल शरीरी अथवा मासल नहीं है, वह सूक्ष्म, अशरीरी अथवा वायवी भी नहीं है। वह लौकिक है, किन्तु मानसिक भी, यथा— एक बूँद भी कि तु कि जिसकी तृष्णा नहीं मरी। कवि का प्रेम रहस्य इन पक्तियों में सुस्पष्ट है—

चलन की साधना ससार में सस्ता नहीं होती,
मधुर मुस्कान की कीमत चुकाव आँख के मोती।
न पितृक आदि में है योग अथवा अन्त में बाकी,
मुम्हारे स्नेह की दो बूँद जीन को बहुत काफ़ी।

उसका प्रेमी शालीन है, वह समझता है कि

दूर हूँ जितना, तुम्हारे पास उतना ही ।

वह जीवा की सतत गतिशीलता को जगत्क मनुष्य का मुख्य लक्षण समझता है । यह गतिशीलता वर्ष सवर्ष के ऐतिहासिक तथ्य की व्याख्या या विवेचना नहीं करती, वरन् जीवनीयान का महान् लक्ष्य स्थिर करती है । उदाहरणान कवि की गर्वाकि द्रष्टव्य है—

मैं स्वयं प्रकाश बना चलता आगे आगे,

मूले भटको, तुम अपना पथ पाओ,

बीछे पीछे आगे जाओ भो अनुरागी,

भो चरणों के चिह्न मिटात आओ,

जिससे न अमरता की सुलना मुझको बाँधे,

मिट्टी की जयसयकार मनाने जाओ,

मेरी ज्वाला से परिचित हो पाए हो तो,

तुम भी अपना अस्तित्व अन्तर सुलगाओ ।

जब जब जीवन की ज्योति, मन्द पड़ती दीधे—

सब्यों के इहलोक से उठताओ ।

श्रीर गांधीजी की हस्ता के सम्प ५ ॥ उसका मत है कि यह मातृता को पशुता की सबसे बड़ी चुनौती है । गांधीजी को उसने मानसदर्व का प्रतीक माना है । उसकी पराद्विपक्ष डकि है कि—

यह सब है पुण्य प्रसू धरती की परम पुनीता सीता का,

यह सब शुभ पुन के काश पुण्य का, बासुदेव का, गीता का ।

अब भटको तम में सवियों तक दीपक की ज्वाला रुठ गई,

और धम धुरीधो होश करो, अब धुरी धर्म की हूट गई ।

अनेक स्थलों पर सुमनकी सुक्ति रचना करने में प्रवृत्त है । यह भी उतना ही बड़ा खतरा है, बिना कि उपदेशात्मकता । उन्होंने 'सौदा का दिवाण', 'कलाकार के प्रति' आदि रचनाओं में सुक्त भरे उपदेश दिए हैं । उन्होंने प्रकृति के कतिपय ही द्रव्य चित्र प्रकृत बिप है, जिनमें अनेक प्रकार की काष्ठ पद्धतियाँ का संस्कार हुआ है, यथा 'चेरापूँजी', 'फायन में सायन', 'आज रात भर बरसे बारिश' आदि । 'आज का सौम्य सलौनी बड़ी मन मावनी री' में सरेया की पुपानी गीति छत्र प्रदर्शित की गई है । उन्होंने 'कितनी बार अपनापन छूटा' जैसे दैनिक व्यवहार के प्रांतिक प्रयोग किए हैं तथा 'मृष्टिका का दीप' आदि रुठ शाय प्रतीका का व्यवहार भी । कहीं 'चौदवीं छाड़, किलोकी याद आई' जैसे भावोदीपन है, तो कहीं प्राकृतिक उपमानों का नया विधान, यथा—

कौंस लो मेरी ग्यया बिसरी चतुर्दिक,

बाइसा उमका छदपयत प्यार ।

एव समझ भी रचनाएँ दीर्घकाल व्यापी ध्यान पड़ती है, पर गीति रचना यत्र सुख रता लिये हूए है । गीति शिल्प अनेक रूपात्मक है और छंद योजना वैविध्यपूर्ण, पर अभि वाकि में अस्पष्टता और विविधता प्राय नहीं आने पाई । 'दूटी जोर' में सुक्त छंद

की यथायवादी निरर्थ शैली का आविर्भाव प्रत्यक्ष है। सन्देह में, 'पर ओलैं नहीं भरी' पंक्ति ओलैं भर आना कठिन है और अनुसृष्टि करी रहना ब्रह्मसाध्य, पर इसे सुन्दर काव्य भी तथा दो जानी चाहिए। अनास्था और पंक्ती के वातावरण में आस्था, उत्साह और उल्लास भरी यह कृति निःसन्देह आकर्षक शक्त होगी।^१



कमलाका त पाठक

पद्मावत—मूल और सजीवनी व्याख्या

डॉक्टर बासुदेवशरण अग्रवाल की नई पुस्तक 'पद्मावत और मूल सजीवनी व्याख्या' पाणिन्यपूर्ण और परिभ्रमसाध्य रचना है। इसमें लेखक ने जायसीकृत पद्मावत की कोरी टीका ही नहीं लिखी, उसने मध्ययुगीन भारतीय साहित्य के व्यापक अध्ययन के आधार पर मूल ग्रंथ में प्रयुक्त शब्दों के अभिप्रेत अर्थों की छानबीन करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसका कथन है कि 'पद्मावत की इस टीका में हमारा प्रथम और अन्तिम कृतस्य जायसा के शब्दों और अर्थों का स्पष्टीकरण ही रहा है।' इस दृष्टि से यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अग्रवालजी ने जायसी की उपलब्ध सभी यादवाओं और टीकाओं से यहाँ अधिक उपलब्धता प्राप्त की है। उद्देश्य के यथायथ अनुवाद की वैज्ञानिक परिपाटी का आयास साध्य अनुसरण किया है। 'वाक्याकार ने भारतीय साहित्य को दृष्टिपथ में रखा है, किन्तु वह विदेशी काव्य परम्परा, सूफी मत और सिद्धान्त, मध्ययुगीन के सौन्दर्य संस्कार और काव्यात्मक प्रतीक आदि स्पष्ट न कर सका। यह उसका क्षम ही नहीं था। उदाहरणार्थ ४१ १७ का यह दोहाय लीखिए—

चारि बसेरें सौ चढ़ै, सत सौ चढ़ै जो पार।

इसका यह अर्थ किया गया है—'उस पर चार पड़ाव देकर चढ़ना चाहिए। जो सत्य से चढ़ेगा, वह पार पहुँच जायगा।' ये चार विभाम स्थान क्या हैं? ये सूफी साधक की चार अवस्थाएँ हैं—शरीअत, तर्कीकत, इक्रीकत और मोरिफ़त, जो स्पष्ट नहीं की गई।

मोंग-बयान की यह अर्दाली लीखिए—

छाडे धार कहिर जुनु भरा। करवत छै बेनी पर धरा। १०० २

अर्थ हुआ—'या छाडे की धार रक्त से भरी है, या किसी ने करवत लेकर बेनी पर रख दिया है।' इस वस्तु-प्रेक्षा में फारसी का य के सौन्दर्य संस्कार खूबसा स्पष्ट हैं। यह सौन्दर्य दृष्टि अमरातीय है। पर अग्रवालजी का समस्त प्रयास जायसी की भारतीय सस्कृति और काव्य परम्परा का कवि सिद्ध करने में प्रयुक्त हुआ है। ग्रेम निवेदन यह है कि ग्रेम की पीर के यशुजी कवि जायसा को उनके पूरे परिवेश में न देखने के कारण 'वाक्याकार की यही प्रणाली और काव्य दृष्टि एकांगी हो गई है। यदि वह शुद्धजी की इस स्थापना को विस्मृत न करता कि इन उत्तर हृदय सुलभमान कवियों ने भारतीय जीवन में इस्लामी तत्त्वज्ञान की प्राण प्रतिष्ठा की है, तो वह जायसी के काव्य में केवल भारतीय तत्त्व चिन्तन, काव्य परम्परा, सामाजिक जीवन आदि का ही विश्लेषण न करता। वस्तुतः सामाजिक भूमिका पर जायसी सम्बन्धशील कवि सिद्ध होंगे। वे

हस्ताक्षर, उसके तत्त्व ज्ञान और फारसी काव्य से प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। अग्रवालजी की निरुद्धता संजीवनी व्याख्या में पद पद पर प्रत्यक्ष होती है, कि तु मैं साग्रह कहूँगा कि जायसी को केवल अवधी भाषा और स्थानिक जीवन का ही कवि प्रमाणित नहीं किया जा सकता। शुक्लजी से लेकर अग्रवालजी तक सभी 'सौनु पानि जेहि पौनु न मिला' का अर्थ 'सैनसा पानी है, जिसमें हवा नहीं मिली' करते हैं, पर इसका प्रतीकार्य क्या है और कोकिला को सम्बोधित करने से उसकी क्या संगति है, यह अस्पष्ट ही है। क्या कोकिला प्राण, जल, रक्त और पवन श्वास के प्रतीक नहीं हैं ? यह केवल शक्य है, मायता नहीं।

जायसी की साहित्यिक प्रतिष्ठा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की काव्य मर्मज्ञता और अभ्यस्तता का सुफल है। उन्होंने न केवल पाठ शोधन किया, बल्कि जायसी की अप्रतिम काव्य समीक्षा भी उपस्थित की। उनके पश्चात् अनेक छोटे बड़े काय हुए। डॉक्टर माताप्रसाद ने जायसी की ऐनाखी का वैज्ञानिक पद्धति से सुसंपादित पाठ उपस्थित किया। जायसी के पाठ की स्थिरी-करण समस्या एक सीमा तक हल हो गई। डॉक्टर बासुदेवशरण ने कुछ नई हस्तलिखित पोथियों का पता लगाया। उन्होंने डॉक्टर माताप्रसाद द्वारा स्थिर किये गए पाठ का प्रायः उपयोग किया, पर अनेक स्थलों पर उन्हें नई प्रतियों का पाठ सुक्ष्मशुद्ध प्रतीत हुआ अथवा प्रामाणिक ज्ञात हुआ। वे नये पाठ का सर्वोत्तम उपयोग न कर सके, क्योंकि माताप्रसादजी से भिन्न पाठ की आवश्यकता तभी प्रकट हुई, जब अर्थ की सुविधायें सुलभ न सकीं। व्याख्याकार का लक्ष्य भी पाठ शोधन नहीं था। पाठाशुद्धि का कार्य और आगे बढ़ाया जा सकता है। मनेर शरीफ, बिहार शरीफ, और रामपुर राय के पुस्तकालयों में पद्ममावत की हस्तलिखित पोथियाँ उपलब्ध हुई हैं, जिनमें प्रथम दो फारसी लिपि में और अन्तिम अरबी लिपि में है। इन प्रतियों का समुचित उपयोग न माताप्रसादजी कर सके हैं और न अग्रवालजी। ज्यों ज्यों ऐसी पुस्तकी प्रतियाँ प्रकाश में आती जायेंगी, त्यों-त्यों पाठ के स्थिरीकरण का काम और विकसित हो सकेगा। स्पष्ट अग्रवालजी ने डॉक्टर माताप्रसाद के जायसी विषयक कार्य की उपादेयता बढ़ा दी है। उन्होंने शुक्लजी से खण्डशेषक लिये हैं और माताप्रसादजी से पाठ सरदा। माताप्रसादजी की नई शोध 'मदरी बादली' का पोथी शीर्ष (Title) उनके मत से 'काहरी नाम' हो सकता है।

अग्रवालजी ने पद्ममावत के पाठ के सम्बन्ध में यह मत प्रकट किया है कि कवि की मृत्यु के पश्चात् क्लिष्ट भाषा और गूढ़ अर्थों के कारण लोगों को परेशानी होने लगी और पाठ के सरलीकरण की प्रवृत्ति क्रियाशील हो उठी। प्रस्तुत काव्य की सरल और क्लिष्ट ऐसी दो प्रकार की पाठ परम्पराएँ मिलती हैं। क्लिष्ट पाठ मूल पाठ के समीप है और वह माताप्रसादजी के द्वारा स्वीकृत है। सरल पाठ की परम्परा शुक्लजी के संस्करण में चरितार्थ होती है। अतएव व्याख्याकार ने क्लिष्ट पाठ को प्रामाणिक माना है और कतिपय स्थलों पर माताप्रसादजी से भिन्न पाठ भी स्वीकार किया है, यथा 'चित्रसन' के स्थान पर 'चतुस्सन', 'अगवै' के स्थान पर 'दगवै', 'नहमी' के स्थान पर 'सदमी' इत्यादि। इस प्रकार अग्रवालजी ने जायसी के मूल पाठ तक पहुँचने का सुविन्तित उद्योग किया है। जायसी के सम्बन्ध में जितना भी कार्य हुआ है, वह उनके सम्मुख रहा है और उसे आगे बढ़ाने में वे कृतकार्य हुए हैं। शुक्लजी प्रवर्तक कार्य (Pioneering work) कर गए हैं और उसे विकसित करना विद्वानों का उत्तराधिकार है। पर

आज भी उनकी समाज्ञा पश्चात्पर नहीं हुई और उनका टिप्पणियों अग्रगण्य अथवा आमक सिद्ध न की जा सकीं।

पाठान्तरो का मुख्य कारण अर्थ की उलझन के कारण क्लिष्ट पाठ को सरल बनाना तो है ही, कुछ अर्थ कारण भी हैं। अव्येतर ग्रन्थों में प्रचार, लिपिकारों का प्रमाद, फारसी लिपि का दोष, अर्थ मतानुलम्बियों द्वारा सत्कार, कतिपय साहित्यिक और आध्यात्मिक प्रसिद्धियों और मायताओं का लोप, न्यायि ऐसे ही कारण हैं। अग्रवालजी ने इनमें से एक इस कारण का भी निर्देश किया है कि दोहा छन्द के पहले और तीसरे चरण में अथवा कहीं केवल तीसरे चरण में सोलह मात्राएँ रखने की अवधि काय में निगूढ़ परम्परा थी। सरल पाठ में सर्वत्र तेरह मात्राएँ कर दी गईं, जैसे 'सेवा करहि नयन ओ सरई' (१०० ६) को 'सेवा करहि नयन सय' बना दिया गया।

पाठ की सम्पत्ति सुनने पर अर्थ की सुविधायी भी जुलने लगती हैं। शिरेफ, लक्ष्मी घर, सुशीराम प्रभृति विद्वानों के अनुगानों में अर्थ की अनेक आन्वित्यें रह गई थीं। बायसी के मूल पाठ का पयास निश्चय हो जाने पर अर्थ सम्बन्धी आन्वित्यों की सम्माननाएँ या भी कम हो जाती हैं और अग्रवालजी बायसी के पर्यङ्ग ही नहीं, प्रत्ययुगीन साहित्य की अन्तर्धर्त सांस्कृतिक धारा के विशेषज्ञ हैं, अतएव उन्हें बायसी के अमीष्ट अर्थ तक पहुँच जाने में, विविध सन्ध में प्रयुक्त अनेक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने में, निशिष्ट कृतकपता गुलम हुई है, यथा—
 चौसीसा—स० कविशीघर, हँसोडा—स० इस्तगठक हाथ का कडा, मसवासी—एक मास उपवास करने वाला, सलौनी—सोने को साफ करने की प्रक्रिया का मसाला, रासन—स० रमणीय, रनगरी—स० उष्णमालिका द्रव्य परोक्षा की शलाकाएँ, तबल बेइ डगा डुग्गी बजाकर डग गते बहा रहा हूँ, नाइत—स० नाइत साधुद्विज गायत्री, इत्यादि। कदाचित् प्रामीष अरबी का पूर्ण रूप अग्रवालजी की मातृभाषा भी है। स्वयम् उन्हें अर्थ परिशिष्ट में अपनी कतिपय व्याख्याओं को जयग शब्दावली को संशोधित करने की आवश्यकता अनुमन हुई है। अतः यह सम्मानित है कि कई व्याख्याओं के सम्बन्ध में विद्वानों में मनमें हो तथा कतिपय नये संशोधनों की अनिवार्यता प्रमाणित हो जाय, पर इतना निश्चय है कि यह पद्मान्त का अपने डग का अपूर्व गायत्रात्मक प्रयत्न है। 'भइ पुकार ली-ह बनबासु' आदि का अर्थ उन्हें प्रण स्पष्ट नहीं है। उन्होंने प्रस्तुत अर्थ और मुद्रालकार की सहायता से अप्रस्तुत अर्थ तो स्पष्ट किया ही है, पर नागमनी पद्धति में अर्थ के दो निश्चय रखे हैं। मैं समझता हूँ कि नागमनी पद्धति का प्रथम निष्कर्षार्थ ही यथार्थ अनुगान है, शेष सम्माननाएँ हैं।

अग्रवालजी की गायत्रा परक मौलिक सूक्त का एक ठणहरण उपस्थित करना अप्रागमिक न होगा। शुक्लजी के इस पाठ का मुहम्मद खैर प्रेम कर गहिर कन्नि चौगान का अर्थ शिरेफ के अनुसार इस प्रकार है—'मुहम्मद प्रेम का खेल चौगान की भाँति गहरा और कठिन है।' माताप्रसादजी का पाठ है—'मुहम्मद खेल प्रेम कर गरी कन्नि चौगान।' व्याख्याकार ने न शुक्लजी का 'गहिर' पाठ, न माताप्रसादजी का 'गरी' पाठ स्वीकार किया, क्योंकि फारसी लिपि में 'गरी' और 'सरी' एक समान लिखे जाते हैं, बल्कि 'घरी' पाठ स्थिर किया। 'आदनेअकबरी' के अनुसार चौगान के खेल में एक एक घड़ी खेलने के बाद रिजाना बदल जाते हैं। अतएव नया अर्थ हुआ—'मुहम्मद खेल प्रेम से

होता है, वर से तो सुद किता जाता है, चोगान के खेल की एक बड़ी भी कठिनाई है। इस प्रयोग का चोगान परक, शृंगार परक और सुद परक, तीन प्रकार का अर्थ किया गया है। मैं कहूँगा कि विहागी की रत्नाकरणी यात्रा की मूर्ति पद्मावत ने अभ्येताओं को प्रस्तुत 'यात्रा' भी क्लासिक परिपक्व प्रतीत होगी। रत्नाकरणी साहित्यिक सन्धर्म में लाना करते हैं और अमरावती तत्वावली साहित्य और समाज के सन्धर्म में रत्नाकरणी की तलस्थिता भावक की गहनता लिखे हुए है और अमरावती का तलस्थिता पाणिन्य का विस्तार। रत्नाकरणी का पुरातनो के कोविद हैं और अमरावती भारतीय सन्धर्म शास्त्र (Indology) के आचार्य। इन दो महत्वपूर्ण व्याख्याओं का यह अन्तर भी दृष्ट्य है।

प्रस्तुत यात्रा में साहित्यिक अध्ययन की प्रणाली उदात्त अपनाने गई। सापसी की काव्य प्रवृत्ति। अथवा शिरोधार्यो का उद्घाटन भी नहीं किया गया। अमरावती ने मध्य-युगीन भारत की सांस्कृतिक वृष्टिभूमि में वैज्ञानिक पद्धति से और प्रचुर साक्ष्य ज्ञान की सहायता से पद्मावत का शब्दावली किया है। 'अष्टाध्यायी' और 'हर्षचरित' के उन वैज्ञानिक अध्ययनों से अनुसंधान की नई दिशाएँ प्रस्तुत हुई हैं। उन्होंने 'पद्मावत' का सांस्कृतिक अध्ययन तो नहीं किया, पर वे इसी दृष्टिकोण से उसका अर्थ सौष्ठव अथवा प्रकट कर रहे हैं। साथ साथ पाठ-शोधन का पुनर्धारण भी हो गया। उन्होंने जयसी को भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से प्रभावित प्रमुख कवि समझा है और दिग्दर्शियों में अपने विशाल ज्ञान का परिचय दिया है। उन्होंने पद्मावत विद्वत् समस्त साहित्य का आलोचन किया है और यह निश्चित है कि वे एतद्दिग्दर्शक सदिग्धता का बहुत कुछ विचारण कर सके हैं।

कवियव स्थलों पर अर्थ की खोजतान भी की गई है, जिनमें कुछ स्थानों पर पाठ-सोप सम्भव है, पर सबका यहाँ फल शक्य नहीं है। उदाहरणार्थ अमरावती को गोपालचन्द्र की छात्र की प्रतिभा में ४७-४८ के लोहे का नया पाठ मिल गया और उनमें अथ-संगति भी है—

बेनी बानी पटुप जै निक्का जमुना जाह।

पूजा नन्द अनन्द ली सेंदुर मीस चढ़ाह ॥

इसमें यात्रा और वृष्टा के विवाह की लोच-रूपा का संकेत और कालिय दमन की प्रसंग कल्पना तो है ही, पद्मावती का यह सौम्य और सौम्य भी वर्णित है, जो शत्रुन विचार से राज्य सम्पत्ति का प्रताता है। "जेहि की रिसि मरिण रस कीजै। सो रस तजि रिसि कबहुँ न कीजै।"—छात्राणी का अर्थ मैथिलीशरणजी के सुम्मान पर परिशिष्ट में शुद्ध किया गया है। "वालि कलौं दीजिण, कनक कबोरी भीम।" का अर्थ मेरी दृष्टि में लोचनान के बाद भी सम्पन्न रह गया है। 'वालि' का अर्थ कैंकर नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध 'कनक कबोरी' से है, 'रत्न' से नहीं। इसका अर्थ कैंकर या घटाकर है। स्वर्ण कबोरी पर कस लिया भाव और तब ठमने रत्न जटा बाध। स्वर्ण रूप पद्मावती की प्रेम कबोरी पर कैंकर रत्न रूप रत्नसेन का सोप ने। अर्थ द्वारा भाव स्पष्ट होने का एक उदाहरण देखिए—'मौहिं घनुक घनुक पे हरे। सैन-ह साधि वान जनु मार।' (२६८ २) इसका अर्थ किया गया है—'मौहिं घनुप सो दी, पर काम का घनुप भी उनसे हार गया। वे मानो नेत्ररूपी पाशों का संधान करके बन्धा रही थीं।' यथार्थ मानार्थ यह है कि पद्मावती की मौहिं घनुपकार या घनुप रूप थीं, अर्थात् शक्ति थीं। पर उनका वल्ल काम के घनुप के गेडेन की परान्त कर रहा था। वे

पुष्प शायक से अधिक ममान्तक थीं। नेत्रों को साधकर, डोरी खींचकर, वे मानो अपागों या चितवन के फालों का आघात करती थीं। आशय यह है कि मौहों और नेत्रों का सम्मिलित सोदय धनुष को चढ़ाना है, जो कृत्वा रूप बाणा की वषा करता है। दृष्टि प्रहार निश्चय ही काम प्रहार का अपेक्षा अधिक आघातकारी था। रूपक, यतिरेक, उत्प्रेक्षा और यमक की इस सृष्टि का मूल सौम्य अनुद्घाटित रह गया। ऐसे कइ उदाहरण और दिये जा सकते हैं।

डॉक्टर वासुदेवराय ने अपने सजीवनी माध्य का एक सुविस्तृत प्राकथन उपस्थित किया है। इसमें उनकी गवेषक शक्ति का पूरा पूरा परिचय मिल जाता है। वे जायसी की निष्पन्न रचना पर विशेष रूप से मुग्ध हैं, साथ ही वे अपने प्रिय कवि को पूर्ण रूप से भारतीय जीवन का कवि समझते हैं। जायसी भारतीय जीवन में इस्लाम की चेतना लेकर प्रविष्ट हुए थे, अतएव उह विशुद्ध राष्ट्रीय कवि, जैसे तुलसीदास, नहीं कहा जा सकता। कबीर की मौंति वे क्रान्तिकारी नहीं थे, पर उहाने वहाँ कार्य प्रेमभाव और मेलजोल के 'यशहर' से सम्पादित किया था। जायसी की अथ विशेषताएँ, जैसे प्रेम की विदग्ध यज्ञना, मामिक स्थलों की भोजना, उदात्त ऐतिहासिक कथावस्तु, भाषा की विलक्षण शक्ति, जीवन के गम्भीर सर्वांगीण अनुभव, सशक्त दारानिक चिन्तन इत्यादि, उन्हें आकर्षित करता हैं। पर 'यशहर' न इन्का सकेत-भर दिया, धिवेचन नहीं किया, क्योंकि उसका कार्य माध्य लिखना था, आलोचना करना नहीं।

अमरालाल ने वस्रावत की उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों का विवरण देते हुए अपने णटान्तरी तथा नये ग्रन्थों का प्राचीन पाठा और ग्रन्थों के समकक्ष तुलनात्मक निरूपण किया है। उन्होंने अपनी भाषा के साहित्य की एक सुदीर्घ सूची दी है, जिसमें १३७० ई० से १६१७ ई० तक के अपनी साहित्य का उल्लेख हुआ है। जायसी के ग्रन्थों तथा जीवनी का निर्देश करते हुए उनकी गुरु परम्परा का परिचय दिया गया है। 'पद्मावत का अभ्यात्म पक्ष' प्राक्कथन का निश्चित अंश है। इसमें जायसी के प्रतीकों का प्राचीन साधना माग की पृष्ठभूमि में विशद धिवेचन किया गया है। यह अंश हमारे ज्ञान को नया प्रकाश देता है, पर यह मान लेना कि सब्ज जायसी का उहा अभिप्रेत था, जो अमरालाल ने न स्थिर किया है, सुविचलित न होगा।

यह सिद्ध करत हैं कि वस्रावत काय में प्रेम के ध्वं आध्यात्मिक प्रतीक हैं, उनमें 'भारतीय सौ दय और माधुर्य था, पर किञ्चक वदद्या थे, यह निम्नृत हो गया है। साधक पर नायिका भाव का आरोप भारतीय रहस्यवाद की वस्तु है और नायकत्व का आरोप फारस काय की वस्तु। याग माग के सूर्य और चन्द्र के प्रतीकों को क्या गया-यमुना अथवा इडा पिंगला का नामान्तर ही समझा जायगा? यदि यही माना जाय और नायक नायिका के प्रतीक रूप में उनका अर्थ विकास स्वीकृत किया जाय तो कोई हानि न होगी, पर उस स्थिति में सुपुम्ना द्वारा प्राण-न्तर का सिद्धि-लाभ करना क्या सगति न खो बैठेगा?

राशिभूषण नाम गुप्त ने सहजयानियों के 'सोन' का सम्बन्ध 'सुवर्ण' और 'शून्य' दोनों से सिद्ध करने की चेष्टा की है। रूप के दृष्ट जाने से सुवर्ण बारहबानी होता है दूसरा और अरूप के कारण शून्य की उपलब्धि होती है। यह श्लेष पुष्ट रूपक काव्यात्मक तो है, पर क्या यही जायसी का अभिप्रेताय है? सहजयानियों और दृष्टयोगियों के काय प्रतीकों में अंतर भी है। यह दृष्टयोग का आग्रह न होकर सहजयान का प्रभाव है, मान लेना कदाचित् विश्वसनीय न हो। दासगुप्त का मत भी किताब निम्नान्त है, नहीं कहा जा सकता।

चौसर का खेल और पाव का मुँह में रख जाना, ये दो और सुगन्ध भाव के प्रतीक स्पष्ट किये गए हैं। इनके द्वारा यह प्रमाणित करने का उद्योग हुआ है कि सहजपानी सिद्धों और नायक की योगियों की परम्परा के सम्पर्क में आकर जायसी ने अपने काव्य प्रतीका का जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव किया था। वह सम्मानना तो है ही कि जायसी ने अपने रक्ष्य प्रतीक तत्कालीन लोक प्रतिष्ठि और काव्य परम्परा से ग्रहीत किये होंगे। पर अपने ज्ञान के सहारे वे कतिपय प्राचीन प्रतीकों को भी चुन सके होंगे तथा विदेशी प्रतीकों का प्रति उद्धाने सशक्त निषेध वृत्ति न रही होगी। यह कहा गया है कि वेगन्त के अनुसार सूर्य दृश्य का और चन्द्र मन का प्रतीक है। इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि जायसी ने एक ही प्रतीक का अनेक अर्थों में प्रयोग किया है। यह स्थिति किसी लोकप्रिय और श्रेष्ठ कवि के लिये के शत्रुत्व नहीं है।

“सहजपान के साथ ही विषय प्रवास प्रेम की कल्पनाओं को स्वीकार करके केवल उसकी सीधे अनुभूति और साक्षात् मिलन की उत्कट इच्छा को स्वीकार करत थे, कुछ विषय भोग को नहीं। यही स्थिति प्रेम मार्ग की थी।” यह तुलना विरचय ही ग्राह्य है, पर आगे चलकर इसीको जायसी के प्रेम काव्य का उपकरण भी मान लेना ठीक नहीं है। यह मत प्रस्तुत किया गया है कि जायसी ने सहजपान और नायकपथ “दोनों की विशेषताओं को स्वीकार करके अपने काव्य में स्थान दिया।” मैं प्रभाव को अस्वीकार नहीं करता, पर प्रेम काव्य के विदेशी स्वरूप को समझे बिना यह निर्णय कैसे किया जा सकेगा कि उसमें किस मत, सम्प्रदाय या पथ का कितना भेग हुआ और कितना प्रभाव पड़ा? यह दृष्टि एकामी है और व्यापक दृष्टि के अभाव में निरूप्य सदैव अधूरा होता है। अमरालजी इसे महाकाव्य कहते हैं, शुक्लजी की भोति मचनरी शैली का प्रेमसाधनक प्रशंसा नहीं। यह अमरालजी की कार्य सीमा का प्रत्यक्ष संकेत भी है।

परिशिष्ट में “आर्याभार ने कतिपय नये ग्रन्थ रचे हैं और चतुर्कवि मेघिनीशरथजी की जनभक्ति पर आधारित सुन्दर आख्यायिका ‘जगद्देव की कहानी’ बोट दी है। इसी प्रकार पद्मावत की कतिपय ग्रन्थ प्रासंगिक नाट्यों भी सम्मिलित हो सकती हैं। ग्रन्थ में वर्णित शस्त्रास्त्रों वारों, अवधूत और तैलिक के वेप की वस्तुओं, हाथी घोड़ा के सार सामानों तथा शतरंज के नकशे के चित्र दिये गए हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ खोजपूर्ण है और ऐतिहासिक पद्धति के अध्ययन का परिणाम।

अमरालजी ने पद्मावत की व्याख्या द्वारा वे सम्भावनाएँ अनामृत की हैं, जो जायसी के अध्ययन को काव्य, भाषा, परम्परा, संस्कृति और ग्रन्थात्मक तत्त्व कह लेने में संवर्द्धित कर सकती हैं। पद्मावत के पाठ का पुनरुत्पादन और स्थिरीकरण, जायसी की भाषा के “आकरण का वैज्ञानिक अध्ययन, जायसी के पूर्ववर्ती और परवर्ती प्रेममार्गी अवधी साहित्य का सम्पादन प्रकाशन, जायसी की शब्दावली के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन, इत्यादि द्वारा मूल शब्दों के रूप और अर्थ का निश्चित परिचय होना और उस स्थिति में जायसी की व्याख्या के सम्बन्ध में दृग्गोचर कहा जा सकेगा। स्वयं व्याख्याकार अवधी साहित्य का सम्पादन, जायसी का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन तथा अवधी के शब्द रूपों की तुलनात्मक समीक्षा के कार्य को अग्रसर किये जाने का प्रस्ताव करता है। मुझे विश्वास है कि यह ‘द्विचरित’ की भोति ‘पद्मावत’ का सांस्कृतिक अध्ययन भी उपस्थित करेगा। उसका प्रस्तुत कार्य व्याख्या साहित्य की सीमा रेखा की विकसित

कर सका है और मैं समझता हूँ कि उसने जायमी के काव्यानुशासन विषयक अनेक कद कपाट उभुत कर दिए हैं।



डॉ० भगीरथ मिश्र

हिन्दी-अलङ्कार-साहित्य

‘हिन्दी अलङ्कार साहित्य’ डॉक्टर ओम्प्रसाद श्री पी एच० डी० भीमसि २१ विकसित और परिष्कृत रूप है। प्रस्तुत पुस्तक में अलङ्कार साहित्य के स्वरूप विकास का ऐतिहासिक क्रम से विवेचन किया गया है। समस्त ग्रंथ चार प्रभाग, एक परिशिष्ट और सहायक ग्रंथ सूची के विवरणों में विभाजित है। प्रथम प्रभाग में संस्कृत के अलङ्कार साहित्य के प्रमुख ग्रंथों का विश्लेषण और विवेचन किया गया है। इन ग्रंथों के परिचयात्मक विश्लेषण के साथ इनके रचयिता आचार्यों का अलङ्कार सम्बंधी धारणाओं का स्पष्टीकरण भी किया गया है। यह कहा जा सकता है कि लेखक ने संस्कृत अलङ्कार शास्त्र की समस्या और स्वरूप का यथार्थ और प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। अलङ्कार सम्बंधी धारणा में किम प्रकार विकास हुआ और प्रारम्भ में समस्त का यशोमा और रमणीयता, जो अलङ्कार में समाविष्ट थी, किम प्रकार आगे चलकर काय के अर्थ अर्थों में देखी गई और अलङ्कार केवल यशोमा की अतिरिचिता के उपकरण मान रह गए, आदि विवेचन महत्वपूर्ण हैं। इस प्रभाग में केवल दो बातों की ओर ध्यान और जाना है जो इस शास्त्र के ग्रंथ में दाखानी आवश्यक थीं—प्रथम संस्कृत अलङ्कार-साहित्य का नामा य प्रवृत्तियों तथा विशेषताएँ और द्वितीय अलङ्कार सम्बंधी समस्त उपलब्ध ग्रंथों का परिचय अपना नामा की सूची। लेखक के कुछ विवेचनों में मतभेद की गुंजाइश भी है, जैसे भोज के ग्रंथों के सम्बंध में।

द्वितीय प्रभाग ‘हिन्दी अलङ्कार साहित्य’ पर प्रकाश डालता है। इसमें परिचय के भीतर समस्त ‘हिन्दी अलङ्कार साहित्य’ का महत्वपूर्ण पक्षवेक्षण किया गया है। इसने साथ इसमें विशेषण या और प्रवृत्तियों का उल्लेख एवं वर्गीकरण का भी प्रयत्न है। यह समस्त अध्ययन बड़े काय का है और लेखक की अविद्यमान्यता बात कहने की प्रीति का परिचायक है। परन्तु वर्गीकरण का प्रयत्न अपूर्ण है। अलङ्कार साहित्य के परिचय के साथ यदि संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों द्वारा किये गए वर्गीकरण सम्बंधी प्रयत्न का परिचय और नवीन ढंग से वर्गीकरण देने का प्रयास किया जाता तो लेखक का काय बड़ा ही अभिनंदनीय होता।

हिन्दी आलङ्कारिका का अध्ययन भी अपनी निजी प्रियता रखता है और लेखक ने इस अध्ययन में आलङ्कारिक आचार्य के मौर्य के अनुसार विवेचन विस्तार में या सक्षेप में किया है। सतीत की बात है कि पुस्तक में अलङ्कार क्षेत्र के कुछ आचार्यों की देन का महत्वपूर्ण मूल्यांकन और विवेचन है जैसे केशवदास और भिमादीदास का। परन्तु समस्त आचार्यों के साथ व्याप नहीं किया गया, जैसे देव, सोमनाथ, दूल्हा आदि। देव के सम्बंध में कुछ स्थलों पर लेखक के पदार्थ और धारणा में भी मतभेद हैं, जैसे उनकी पंक्ति ‘जब लखि

लभि परसत नहीं, हरिअस रस आनन्द' के 'बस—समान, सदोत्तर' कहा गया है। यह श्रयं सभी को मान्य नहीं हो सकता। देव के 'भावविनाश' ग्रंथ के विवेचन के प्रसंग में एक स्थान पर लेखक ने लिखा है—

“किशोर देवदत्त ने इस कथन पर विश्वास कर लिया और हर्ष की तरंग में 'भाव विनाश' की रचना कर डाली, मानो कोई ज्ञेय विद्यार्थी अपने क्लास गोट्स को फिर से खिग कर अपने नाम से आलोचनात्मक पुस्तक तैयार कर रहा हो।” यहाँ पर लेखक का सचेत देव का 'भाव विनाश' में 'कविप्रिया' से आभासपूर्ण की ओर है, परन्तु इस तरह के लक्षण सामान्य बहुतों में मिलेंगे। देव की प्रौढ़ता और मौलिकता इतनी इसकी नहीं कि 'लोक से उड़ा जा सके। उनके विचारों के सम्प्रदाय में भी लेखक का उसी प्रकार का दृष्टिकोण प्रवेष्टित था जैसा कि केशव के सम्प्रदाय में पृष्ठ ७७ पर। उनके निम्नांकित शब्दों में व्यक्त हुआ है—“केशव ने नवीन अलंकारों की उद्भासना की है, कुछ के नाम बदले हैं—केवल सतारों के लिए नहीं, उनका अध्ययन, गाम्भीर्य मायेक्य है।”

इसी प्रकार आचार्य देव के सम्प्रदाय में लेखक के इस प्रसार के कथन भी विचारणीय हैं, जैसे “परन्तु देवकवि का आचार्यत्व उनके कवित्व से भी गिगित है। जिसकी उल्लेख्यता में ही उनकी किसी कृति में शाब्द नहीं। वे एक कृति में भी अपनी विचारधारा का निर्बिरोध विवाह नहीं कर पाए। कारण यह प्रतीत होता है कि उनकी कोई विचारधारा नहीं—जैसा कहीं कुछ देखा उसकी कुछ बदलकर चलता किया।” इस कथन में न केवल देव के आचार्यत्व पर आक्षेप है, बल्कि उनके कविता पर भी। कवित्व के सम्प्रदाय में तो लेखक को 'देव और विहारों' फिर से देवता चाहिए। आचार्यत्व के सम्प्रदाय में इतना बड़ देवता यहाँ गया है कि देव मौलिक विचारका भी वे हैं और अनेक स्थान पर उनके कथनों की व्याख्या 'वार्तिक' के रूप में आवश्यक है। कवित्व के सम्प्रदाय में प्रस्तुत ग्रंथ के भूमिका, लेखक डॉ० नगेंद्र का भी सम्मान लेखक से मूल्य न होगा। फिर भी कहना पड़ता है कि लेखक ने साहित्यिक अपने विश्वास को स्पष्टता प्रकट किया है।

'गणमुगीन अलंकार साहित्य' के प्रसंग में यदि समवागमिनी और कहैयानाला पोद्दार को लिया गया था, तो 'रसक' के 'अलंकार पोद्दार' और मिश्रकृष्ण के 'साहित्य परिभाषा' को भी लेना आवश्यक था। इनके न लेने का कोई औचित्य लेखक ने नहीं दिया है। यहाँ भी वह कहा जा सकता है कि 'अलंकार साहित्य' के अध्ययन में एक पूर्ण अलंकार ग्रंथों का सूची तो देनी आवश्यक भी ही, यदि उसका परिचय न दिया जाता तो न रहा।

उपरोक्त बातों के होते हुए भी यह एक तथ्य है कि लेखक ने अनेक ग्रंथों के अध्ययन में काफी श्रम किया है। उसका अध्ययन विशेष रूप से संस्कृत अलंकार ग्रंथों और कतिपय हिन्दी ग्रंथों के प्रसंग में उनकी सूक्ष्म विवेचन शक्ति का परिचायक है। अलंकार एवं वाक्य सम्बन्धी वाक्यों के अध्ययन में लेखक द्वारा दी गई परिशिष्ट की गाम्भीर्य उदाहरण हैं, जिसमें संस्कृत और हिन्दी के लेखकों के अलंकार सम्बन्धी विचार संकलित करके एकत्र रख लिये गए हैं। समग्र रूप से यह अध्ययन उपजागी है। वाक्य शास्त्र के अथवा अंगों के भी इसी प्रकार के और पूर्ण अध्ययन अपेक्षित हैं।”

डॉ० सत्येन्द्र

लोक-साहित्य का अध्ययन

दिनी में लोक-साहित्य पर अब अच्छी चर्चाएँ होने लगी हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों में भी यह विषय बी० ए० तथा एम० ए० में स्थान पाने लगा है। इस विषय के पाठक और विद्यार्थी बार बार यह जानना चाहते हैं कि लोक साहित्य क्या है? उसका स्वरूप और स्वरूप क्या है? क्या उसे पढ़ने की आवश्यकता है, अपना उसका महत्व क्या है? उसमें क्या क्या होता है? उसे कैसे प्राप्त किया जाय? उसे कैसे समझा जाय? आदि। भारतवर्ष में लोक साहित्य के सम्बन्ध में सरदारों द्वारा विभाग खुले हुए हैं। वहाँ बनी बड़ी वैज्ञानिक संस्थाएँ हैं जो निरन्तर के लोक-साहित्य की सम्पत्ति के संग्रह और अध्ययन का विधित् किये कर रहा हैं। विश्व विद्यालयों में इस विषय के अध्ययन अध्यापन का विशेष प्रयत्न है। यहाँ इस विषय पर उच्च से उच्च कोटि की रचनाएँ मिल जाती हैं, जिनमें पाण्डित्य और मर्यादा का परिणाम भरा होता है। लेखक ने इसी काम को पूरा करने के लिए ही 'भारतीय लोक साहित्य' की रचना की है।

इसमें पहला अध्याय 'लोक' की व्याख्या देता है। वहाँ स लकर बीढ़ युग तक 'लोक' के कुछ प्रयोगों की ओर सन्देह करके 'लोक' के प्राचीन अर्थ को समझाने की चेष्टा की है। आर्यों के आगमन से 'लोक' शब्द के एक अर्थ अथ की उद्भावना लेखक न मानी है। क्या यह आवश्यक है कि ऐसे सांस्कृतिक शब्दों को समझाने के लिए आर्यों के भारत में आगमन की बात का उल्लेख करना ही जाय? दूसरा अर्थ 'बेदेतर' वे' से इतर, वे' से भिन्न ती टाक प्रतीत होता है, पर बेदेतर का वे' विरोधी होना आवश्यक नहीं। साहित्य और शास्त्र की साक्षी भी यही सिद्ध करती है कि हर अवस्था में 'लोक' शब्द 'वे' का विरोधा नहीं, बसल बेदेतर' ही होता है। अपनी व्याख्या के साथ लेखक यहाँ 'लोक' शब्दक सम्बन्ध आर्यों और प्रसंगों का भी उल्लेख कर देता तो व्याख्या में पूर्णता आ जाती। लेखक ने लोक को 'बेदेतर सभ्यता के सञ्चित अर्थ से ऊपर उठाकर' 'साधारणजनसमाज' का पर्यायवाची बना दिया है। इस प्रकार लेखक ने 'लोक' को बहुत सारक अर्थ प्रदान कर दिया है। लोक की जो व्याख्या डॉक्टर राहुनेशरण से लेकर दी गई है, वह व्याख्या न होकर का है, उससे 'लोक' के रूप की समझ में सन्नता नहीं मिलती। इस पुस्तक में 'लोक साहित्य' का परिभाषा अवश्य ही स्पष्ट होनी चाहिये थी, पर लेखक ने निम्न है—

'आधुनिक साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों में 'लोक' का प्रयोग भीत, बाँठा, क्या समीत साहित्य आदि से कुछ होकर साधारण जन समाज निम्न से उच्च परम्पराएँ माननाएँ विरहाय और आदर्श सुरक्षित है तथा निम्न भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं अपितु अनेक विषयों के अनन्त किन्तु ठोस रत्न छिपे हैं, के अर्थ में होता है।"

इसमें लेखक ने क्या कहना चाहा है टीक टाक विन्ति नहीं होना। कुछ तो वाक्य सन्तोष दा गया है। दूसरे सामान्य जनसमाज की व्याख्या ने उसे असाधारण न दिया है। किन्तु आगे स्पष्ट करते हुए 'लोक' को कैसे 'किमान' से निबद्ध कर दिया है— भारतीय किमान भारतीय 'जाक' का महाप्राण है। उसका जीवन लोक का यथाय प्रविनिधित्व करता आ रहा है। अतएव वही जाक-साहित्य की आधारशिला है ।" वे' और बेदेतर से ऊपर

उठकर 'बहु स्पाहितो वा अथ बहुशो लोकः' तक पहुँचकर वह विज्ञान का श्रवण धारण कर खड़ा हो गया है। यहाँ लोक न 'लोक' और 'लोक' की समस्या खड़ी पर दी है। लोक को लोक के अन्तरूप मानते हुए उसमें 'पूरा सत्कार के कारण' लोक से कहीं अधिक विशाल स्तर को स्पर्श करने की समझ मानी है।

इस प्रकार लोक ने यह चेष्टा की है कि 'लोक' के अर्थ तक पहुँचा जाय। यहाँ भाव श्रवता भी कि 'लोक साहित्य' में लोक शब्द के विशिष्ट अर्थ की व्याख्या की जाय। वैदिक मान का अर्थ उसमें नहीं, क्योंकि कालिदास, माघी आदि की रचनाएँ लोक साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकती। लोक ने 'लोक और जन' के भेद को समझने की अच्छी चेष्टा नहीं की। वस्तुतः 'जन' को यह राजनैतिक अर्थ प्रगतिवाद की परम्परा ने नहीं प्रदान किया, अपनने का प्रयोग के कारण 'जन' ने प्राचीन काल से ही राजनैतिक पृष्ठभूमि संयुक्त समान का अर्थ ग्रहण कर लिया था। ऐसे 'जन' के लिए अथवा जन की भावना से लिखा हुआ साहित्य भी लोक साहित्य के अन्तर्गत नहीं आ सकता।

दूसरा अध्याय 'लोकवाता एवं लोक साहित्य' पर विचार करने के लिए है। सबसे पहले 'लोकवाता' शब्द के प्रयोग की समस्या पर विचार किया गया है। 'लोकलोर' के लिए महात्मा, हिंदी तथा बंगला में मिलने में शब्दों का तुलनात्मक रूप तक हुआ है उसी लोक ने एक स्थान पर जग दिया है। यहाँ डॉ० सुनीतिकुमार की का शब्द उद्धृत करने में भूल हो गई है। डॉ० चाडवर्ग ने जो शब्द दिया है वह 'लोक-यान' है। यह शब्द बौद्ध धर्म की हीनयान, महायान तथा वज्रयान की परम्परा में बनाया गया है—'यान' का अर्थ इन शब्दों में कुछ विशिष्ट है। 'यान' के पाँच अर्थ तो होते ही हैं। 'बाहन' तथा 'वाहन' या 'चलना' के साथ यान का अर्थ (राजकीय में) आक्रमण, उत्थान तथा यात्रा भी होता है। किन्तु जिस परम्परा से डॉ० चाडवर्ग ने यह यान शब्द चुना है, वह विशेषज्ञ है। उसके साथ एक धार्मिक भावना भी पैदा है। वह शास्त्र विद्वान् शब्द रूप में प्रयुक्त होता है। प्रयोजन उसका कम नहीं। लोकलोर या तो वह सामग्री है जो लोक के पास विद्यमान है, या उस सामग्री का विशाल है। वज्रयान कहता है वज्रयानी को, पर लोकलोर यह नहीं कहता कि 'लोकवाता' को। इस कारण लोकवाता शब्द ठीक प्रतीत नहीं होता।

भी परमार ने ठीक ही कहा है कि 'लोकवाता' शब्द हिन्दी में कमरा अपना स्थान विधाति कर चुका है। 'जीवन शब्दों के तुलना और आप्रद से लोकवाता के प्रति कभी हृद आस्था कम नहीं हो सकती', किन्तु इतना ही नहीं, समस्त सुविधों और तर्कों के बाद भी 'लोकवाता' शब्द 'लोकलोर' के अर्थों से प्रकट करता है। लोर का अर्थ वस्तुतः किसी विषय के परम्परागत (ट्रेडीशनल) सम्पूर्ण ज्ञान समूह का है। हिन्दी में लोर के कई प्रयोग मिलते हैं। 'कामाचारता', 'चौरासी वैष्णवों की आस्था', 'पुरु वास्ता'। इस वास्ता शब्द का अर्थ अनशुक्ति अथवा निचन्दनी भी है, बात भी है और निरय भी। अतः यह शब्द उस समस्त अभिव्यक्ति से पर्याय का काम दे सकता है, जो अभिव्यक्ति शब्दों में होती है, अथवा सामाजिक अभिव्यक्ति में जिस अर्थ अभिव्यक्ति का विषय या प्रसंग गमन रहता है। इस दृष्टि से यह 'लोक वाता' शब्द सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है।

लेखक ने इस प्रश्न पर प्रकाश डाला है कि लोकवाता एक शास्त्र है, और वह गतिशील विज्ञान है। इसी अध्याय में लोकवार्ता के विस्तार और उसमें लोक साहित्य के स्थान का भी विवेचन किया गया है। यह अत्यन्त सक्षेप में किया गया है और तद्विषयक विद्वानों के उद्धरणों द्वारा ही बहुधा किया गया है।

तीसरा अध्याय लोक साहित्य सङ्कलन की परम्परा पर प्रकाश डालता है। सक्षेप में लेखक ने लोक-साहित्य सङ्कलन की परम्परा का इतिहास लिया है। हिन्दी जनपद सम्बन्धी तथा अहिन्दी जनपद सम्बन्धी प्रकाशित ग्रंथों का उल्लेख अपूर्ण है। आगे पृष्ठ २४ पर जिन नार्मन ब्राउन के अनुमान से ३००० लोक कथाओं के प्रकाशित होने की बात लिखी गई है, उन ब्राउन महोदय ने ३००० अनुमान से नहीं, गिनकर और पढ़कर वह गिनती लिखी थी, साथ ही उन्होंने सन् १६१० के निकट तक के समस्त भारतीय लोकवार्ता साहित्य और उसके सङ्कलनकर्ताओं तथा विचारकों की सूची भी दी थी। इसमें ब्राउन महोदय ने १३२ चर्कियों की सूचीबद्ध किया और उनकी रचनाओं की भी उन रचनाओं के विषय में शताब्दिक विषय पर सञ्चित टिप्पणियाँ भी दीं। नार्मन ब्राउन का यह परिभ्रम अत्यन्त प्रशंसनीय है, इससे अधिक पूरा उल्लेख अब नहीं मिलता। किन्तु वह सूची भारतीय भाषाओं की मुख्यतः प्रमेयी की पुस्तकों और निबन्धों की है। भारतीय भाषाओं में किये गए प्रयत्नों का इसमें उल्लेख नहीं। 'भारतीय लोक साहित्य' में विविध भारतीय भाषाओं के बार्थों और प्रकाशनों का भी विवरण दिया गया है।

इस अध्याय में कुछ तथ्यविषयक भूलें रह गई हैं। लेखक ने हिंदी में 'लोक साहित्य' के द्वितीय उत्थान का आरम्भ १६४२ से माना है, और 'ब्रज साहित्य मण्डल को इसी उत्थान का परिणाम माना है।' ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना सन् १६४० में हो चुकी थी। सन् १६४२ का आन्दोलन इस मण्डल के कारण हुआ था। रामनारायण उपाध्याय की पुस्तक का नाम 'नीमाड़ी लोकगीत' है, 'नीमाड़ी ग्राम गीत' नहीं। लोक-कथाओं के सम्बन्ध में यह कथन है— 'इस दृष्टि से हिंदी में सबसे ईमानदार प्रयास पं० शिवसहाय चतुर्वेदी का है। उन्होंने कुन्नेलखण्ड की लोक कथाओं का सग्रह तैयार किया, जिसमें स्थान और वातावरण के साथ लोक कथाओं की 'स्पिरिट' नष्ट न होने दी।' इसी सम्बन्ध में चतुर्वेदीजी के कहानी सग्रह 'पापाण-नदरी' की भूमिका में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पृ० ७' पर जो लिखा है उसकी ओर ध्यान आकर्षित करना उचित होगा। वे लिखते हैं—

"ब्रज की लोक कहानियों का एक मुख्यवान सग्रह जैसी सुनी वैसी दीपी शैली से ब्रज बोली में ही प्रकाशित किया था। उसमें कहानियों का अपना चोड़ा पद पदे देरने को मिलता है। दूसरे सॉचे में पढ़कर लोक कहानी बहुत कुछ अपना रस जो देती है।" अतः 'ब्रज की लोक कहानियाँ' नाम की ऐसी वैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण पुस्तक का उल्लेख भी यहाँ होना चाहिए था। यह कहानी-सग्रह श्री शिन्पूजन सहायनी के प्रथम सङ्कलन के समकालीन है। उक्त यह अध्याय काफी सूचनापूर्ण है और परिभ्रम से तैयार किया गया है।

चौथे अध्याय का शीर्षक है 'अपीक्षेय वाट्मय'। इसमें मराठी लेखिका कमला बाई देशपाण्डे के निबन्ध के आघात पर स्त्री वाट्मय पर विचार किया गया है। स्त्रियों के गीतों के वर्गीकरण के साथ उनके काल निष्पत्ति की समस्या पर भी विचार प्रकट किया गया है। भारत के

किसी भी जनपद के किसी भी 'लोकगीत' का काल निर्णय कबल 'स्पुट गीत' और उसकी सामग्री तथा शैली से नहीं हो सकता। पहले तो इसके लिए आवश्यक है कि जिस क्षेत्र के गीत पर विचार किया जा रहा है, उस क्षेत्र के समस्त गीतों का समग्र सामने हो, फिर उस विशिष्ट गीत के चित्रों भी रूप उस क्षेत्र में तथा समस्त भारतीय जनपदों में मिलते हैं वे भी प्रस्तुत हों, फिर वेसे विषय का कोष्ठ ऐतिहासिक अथवा साहित्यिक उल्लेख नहीं मिलता हो तो वह भी मोन लिया गया हो—इतनी सामग्री हाथ में हो तभी 'काल निर्णय' की श्रम बढ़ा जा सकता है।

अपौरुषेय वादमय के साथ पौरुषेय वादमय की भी आवश्यकता प्रतीत होती है।

पॉनर्वीं अध्याय 'लोकगीत क्या है?' शीर्षक से है। इसमें लोकगीत की धारणा और उसके प्रकारों पर विचार किया गया है। सद्यः में कितन ही विद्वानों ने भ्रम का उल्लेख लेखक ने किया है। इन लोकगीतों के कुछ प्रमुख लक्षण भी गिनाये गए हैं। अध्याय रोचक है, यद्यपि वैज्ञानिक नहीं बना पड़ा। लोकगीतों के काम का मूल क्या है—वह वैयक्तिक है या सामाजिक, सबका विकासमय क्या रहा है, इन गीतों के निमाण में 'व्यक्ति' का योगदान क्या होता है—इन बातों पर भी संक्षेप में प्रकाश डालने की आवश्यकता थी।

छठे अध्याय में ग्रामगीत, लोकगीत, जनांगित के प्रयोग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उनमें विद्यमान भ्रम को दूर करने की चेष्टा की है। यह चेष्टा सामाजिक और उपयोगी है। सातवें अध्याय गीत, संगीत और रस्य तीन को 'लोक मानव की त्रिधामि-यक्ति' मानकर इनका परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट करता है। इन त्रिधामियों का 'लोक मानव' से जो सम्बन्ध है, उसे भी स्पष्ट किया जाता तो उपयोगिता और बल पाती। आठवें अध्याय 'लोकगीतों में रंग-रैचिय' पर प्रकाश डालता है। यह अध्याय लोकगीतों में रंग रैचिय की खोज का दिग्दर्शक है। लेखक ने हर्षट राउ के चित्रकला विषयक अभिमत का उल्लेख करते रंगों के विवेचन को वैज्ञानिक स्तर पर लाने की प्रशंसनीय चेष्टा की है। विविध जनपदीय क्षेत्रों के ग्राम साहित्य में जो विशेष रंग के प्रति विरोध आक्रमण मिलता है उसे भी लेखक ने सोझाहरण स्पष्ट कर दिया है। निश्चय ही ऐसे विवरण प्रस्तुत साहित्य के आधार पर ही दिये जा सकते हैं, अतः जिन जनपदों का साहित्य उपलब्ध नहीं था उनका उल्लेख नहीं हो सका, जैसे प्रक का घानी और ककरेडी रंग का उल्लेख नहीं किया जा सका। नय प्रवेश भी लुप्त पड़ें।

नवें अध्याय का शीर्षक है 'लोक गीतों में नई जेतना'। शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसमें लोकगीतों के उस रूप की खोज होगी जो नये युग के तथ्यों से प्रस्तुत हुए हैं। कुछ सामिक गीतों के उद्धरणों से नई जेतना के उस स्वरूप को, जो लोकगीतों में उभरा है, रोचक ढंग से इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

दसवें अध्याय में 'पवाडा' महाराष्ट्र का प्रसिद्ध लोक काव्य वर्णों का विषय है। आरम्भ में 'पवाडा' की विविध रूपविधियाँ भी वर्णित हैं, फिर महाराष्ट्री 'पवाडे' पर कुछ प्रकाश डाला गया है। म्यारद्वे अध्याय से अठ्ठाहरवें तक लोक साहित्य, विशेषतः लोकगीतों में मिलने वाले विशेष विषयों की खोज है—चारहमासी, छत्री प्रथा, नारी पर विचार तीन अध्यायों में, नमदा उपत्यका के गीत, मीला के विवाह के गीत, कब्रों के गीत आदि के तीन अध्यायों में, तब मालवा का एक प्रसिद्ध गीत 'बाला कक'—इस प्रकार १७वें अध्याय तक विशिष्ट विषयों अपना विशिष्ट प्रकाश और क्षेत्र के गीतों का परिचय दिया गया है। १८वें अध्याय में हम

सम्बद्ध लोक कथा की परिभाषा और परिचय दिया गया है। १६वें में 'लोक नाट्य' शीर्षक के अन्तर्गत नाटकों के लौकिक मूल पर प्रकाश डालते हुए आभ्र, महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल, राजस्थान, व्रज, मालवा आदि के लोक नृत्य और लोक रम्यमंच के स्वरूपों पर प्रकाश डाला गया है। नौमशों अर्थात् लोकांकि साहित्य पर है, २१वा 'प्रहेलिका-साहित्य' पर। दोनों ही अत्यन्त सक्षिप्त और परिचयात्मक हैं। २२वों अर्थात् महत्त्वपूर्ण है। इसमें लोकवार्ता शास्त्र सम्बन्धी प्रकाशित सामग्री एक स्थान पर मिल जाती है।

इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने इस छोटी सी पुस्तक द्वारा 'गागर में लागर' भरने की चेष्टा की है। इसमें 'लोक साहित्य' के विविध अंगों का परिचय ही नहीं दिया उसे छात्त्रीय स्तर पर पहुँचाने की भी चेष्टा की है, और भारतीय लोक-साहित्य की प्रमुख विशेषताओं की भी उभारकर दिखाने का प्रयत्न किया है। लेखक का मन गीतों की ओर विशेष आकर्षित रहा है, कलत अभिवाञ्छ अर्थात् गीतों से ही सम्बन्धित हैं। वस्तुतः इन्हें अर्थात् नहीं कह सकते, लेखक ने कहा भी नहीं। ये तो निश्चय हैं जो मिला मिल विषयों पर सुविधानुसार लिख गए हैं। अतः विविधता तो मरूप है पर परिपूर्णता उतनी नहीं। कहानियाँ पर भी प्रथम एक परिचयात्मक निबन्ध होता तो बहुत अशुद्ध रहता। पुस्तक का उद्देश्य सम्भवतः भारतीय लोक साहित्य का परिचय देना ही रहा है। उसमें लेखक सफल हुआ है, वस्तुतः उसने दोषक होने की भी पर्याप्त चेष्टा की है। इस पुस्तक का अवश्य ही स्वागत होगा। यह इस समय की आवश्यकता की पूर्ति करती है।^१

डॉ० रामभूनाथसिंह

‘साहित्य वार्ता’ और ‘आलोचना के सिद्धान्त’

हिंदी में इस समय समीक्षात्मक ग्रंथों का प्रकाशन सबसे अधिक हो रहा है। इस आविष्कार का कारण चाहे जो भी हो, किन्तु उसका परिणाम हिंदी साहित्य की उन्नति की दृष्टि से बहुत शुभ नहीं दिखाई पड़ रहा है। आलोचना के नाम पर आज दिन ओ ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं उनमें से अधिकतर ऐसी अंधकचरी और अशुद्ध सामग्री प्रस्तुत करते हैं^२ जिससे साहित्य के विद्वानों को तो कोई लाभ ही नहीं सकता, उल्टे साहित्य के नये विद्यार्थियों की अत्यधिक हानि हो रही है।

मेरे इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि हिंदी में इस समय अशुद्ध समीक्षात्मक पुस्तकें बिलकुल नहीं प्रकाशित हो रही हैं। वर्ष में दो चार अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी प्रकाशित हो जाती हैं। ऐसी कोई विचारोत्तेजक और शानवद्धक पुस्तक जब हाथ लग जाती है तो उसे पढ़कर जितना हर्ष होता है उतना ही दुःख किसी जाने माने

१ लेखक स्वयं परमार, प्रकाशक सत्येन्द्र।

२ 'साहित्य वार्ता'—डॉ० श्री गिरिचन्द्र शुक्ल गिरौरी, प्रकाशक, भारतीय साहित्य मन्दिर दिल्ली।

विद्वान् को ऐसी पुस्तक को पढ़कर होता है, जो केवल पैसा कमाने की दृष्टि से सकलित सामग्री और थोड़े ज्ञान के आधार पर लिखी गई होती है या जिसमें देखी विदेशी साहित्य शारिण्यां के मर्तों को बिना पचाये उगल लिया गया रहता है। लेखक के ‘बड़े नाम’ से प्रभावित होकर किया पुस्तक को पढ़ने पर जब उस समय का यथोचित लाभ नहीं प्राप्त होता तो काफ़ी मुँसकाहट होती है और समीक्षा-साहित्य के मन्विष्य के विषय में बहुत निराशा होने लगती है। इन ठाना प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले नौ समीक्षात्मक ग्रन्थ सम्प्रति मेरे सम्मुख हैं—पड़ला श्री गिरिजान्त शुरु ‘गिरीश’ का ‘साहित्य वार्ता’ और दूसरा ओझार राजेन्द्रसिंह का ‘आलोचना के सिद्धान्त’। इन दोनों ही ग्रन्थों के लेखक हिन्दी के पुराने और प्रख्यात साहित्यिक हैं। किंतु इनमें से प्रथम लेखक के ग्रन्थ को पढ़कर जिनकी आशा बँधती है, द्वितीय लेखक के ग्रन्थ को पढ़कर उतनी ही निराशा भी होती है।

‘साहित्य वार्ता’ में ‘गिरीश’ जी के समय समय पर लिखे २६ निबंध संकलित हैं। इनमें से तीन व्यक्ति-वृत्त या रचनात्मक निबंध हैं और एक परिचयात्मक निबंध है, जिसमें लेखक ने अपने अप्रकाशित महाकाव्य ‘तारक यश’ का आलोचनात्मक दृग से निरापण किया है। व्यक्ति-वृत्त निबंधों में व्यंग की प्रधानता है। आन साहित्य के क्षेत्र में अनवरदादा, यश लोचुर और सिद्धांतहीन व्यक्तियों की ही पूजा हो रही है, सच्चे साहित्य साधक प्रायः ऐसे नेता साहित्यिकों के राजनीतिक दायें-बायें क शिकार होते रहते हैं। ‘साहित्य-सत्ता’ और ‘आनंद बहिनो समिति’ में इसी प्रवृत्ति पर चोट की गई है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आज अनभिज्ञत ‘संविधान’ शब्दों ई जिनमें से यहाँ एक शमाजी का ही शीख निरूपण किया है। अमी अय कइ प्रकार के ‘शमा’ लोग मा हैं जिनकी ओर यदि गिरीशजी का ध्यान जाय तो साहित्य का परम उपकार होगा। ये दोनों निबंध तो साहित्य से सम्बन्धित होने के कारण इतने निबंध समग्र में व्यय जाते हैं, किंतु ‘किराये का मकान’ शीर्षक निबंध का मेल समग्र के अन्य निबंधों से नहा बढ पाता। ‘तारक-यश’ सम्बन्धी निबंध तो इसमें व्यर्थ ही रखा गया, क्योंकि जब तक वह काव्य प्रकाशित नहीं हो जाता, तब तक कवि के तत्त्वज्ञान-वैयक्तिक का निरापण के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं हो सकता। आलोचना तो उने कहा नहीं जा सकता, क्योंकि कवि स्वयं अपनी कृति की समीक्षा तदर्थ ही कर शायद नहीं लिए सकते।

शेष २२ निबंधों में से कुछ में साहित्यिक और सांस्कृतिक विचारों का प्रकाश मिलता है और कुछ व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में आते हैं। ‘मेरी साहित्यिक मान्यताएँ’ शीर्षक निबंध में सूर कृष्ण में लेखक के साहित्यिक सिद्धांतों का समावेश हो गया है। इस निबंध में लेखक ने प्रगतिवाद में अपना आस्था प्रकट की है। किंतु प्रगतिवाद की उसन जो परिभाषा की है वह उतना अपना आविष्कार है, क्योंकि प्रगतिवाद का आधार मार्क्स का द्वन्द्वत्मक मौलिकतादी दर्शन है जिसे अप्रुथ मानकर वह उसे अद्वैतवादी आध्यात्मिक दर्शन से समुक्त करना चाहता है। इस आध्यात्मिक प्रगतिवाद के जोश में वह यहाँ तक कह देता है कि “अन्ततः के रहस्य में मनुष्य का प्रवेश करना उसका सबसे बड़ा पराक्रम है। रहस्योन्मुखता जीवन का सबसे बड़ा पुरस्कार है।” इस तरह ‘साहित्य वार्ता’ का लेखक एक ही साथ दो

१ ‘आलोचना के सिद्धांत’, डॉ० ओझार राजेन्द्रसिंह, प्रकाशक आत्माराम पृथ्वी सम्प्रदाय, दिल्ली।

विरोधी दशना—द्वैतात्मक भौतिकवाद और अद्वैतमूलक एतस्यवाद—में विरवाद करता है। पर क्या गिरिशजी जैसे सुधी और चिन्तक लेखक को यह बताने की आवश्यकता है कि दशन तक का विषय है जिसमें असंगति और तर्कहीनता के लिए कोई स्थान नहीं होता। इस असंगति पूर्ण और अन्तर्विरोधी मान्यता का कारण एक ओर तो लेखक का अपना सांस्कृतिक परम्परा और हिन्दू संस्कारों के प्रति उत्कट प्रेम है और दूसरी ओर उसका मानवतावादी दृश्य तथा कुछ-कुछ प्रगतिवादी कहलाने का लोभ है।

किन्तु लेखक अपनी मायता के अन्तर्विरोध में सम्भवतः शायद ही अवगत हो गया है, हवोलियर उसने समूह के दूसरे निबन्ध 'प्रगतिवाद' में प्रगतिवादी विचारधारा की सीमाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है और यह घोषणा की है कि 'प्रगतिवाद ने व्यक्ति की सत्ता ही मिटा दी है' यत्कि को स्वतन्त्रता पर खगने वाले प्रतिस्पर्धियों के प्रति अपना विरोधी स्वर उँचा करना साहित्य का धर्म है। अपने इस धर्म का पालन करके साहित्य मानव की वैयक्तिक और सामाजिक प्रगति में सामञ्जस्य उपस्थित करता चलता है। 'इस उद्देश्य से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक व्यक्ति और समाज की सामञ्जस्यपूर्ण उन्नति या विकास की प्रक्रिया को ही प्रगतिवाद मानता है और उस प्रक्रिया के पीछे काम करने वाले दार्शनिक, आर्थिक या राजनीतिक सिद्धांतों को वह महत्व नही देता, अर्थात् या 'पूँजावा' द्वारा आज इस प्रकार का विकास सम्भव है तो वह उसे भी प्रगतिशील शासन पद्धति मानगा, और यदि समाजवाद शासन तन्त्र व्यक्ति-स्वतन्त्र्य का अवरक्षण करते हैं तो वह उसे अप्रगतिशील कहेगा। 'पूँजावाद और समाजवाद' में निहित सिद्धांतों और सम्भावनाओं को परीक्षा करके यह सिद्ध करने की आवश्यकता यह नही समझता कि इनमें से वास्तविक रूप से प्रगतिशील कौन है जिसे अपनाकर 'व्यक्ति और समाज की सामञ्जस्यपूर्ण प्रगति हो सकेगी। इससे स्पष्ट है कि लेखक का दृष्टिकोण सैद्धान्तिक नहीं बल्कि प्रज्ञा-बोधी है, दार्शनिक नहीं बल्कि उपयोगितावादी है। यदि ऐसी बात है तो गिरिशजी इस प्रगतिवाद के भ्रमेले मन्थन ही पड़े। उन्हें तो टालस्तय और महात्मा गांधी के 'उपयोगितावाद' का सहाय लेना चाहिए था, क्योंकि उन्होंने अनेक निबन्धों में अपने को गांधीवादी कहा है। फिर उनके उपर्युक्त कथन से यह भी ज्ञात होता है कि वे प्रगतिवाद की स्थिति किसी राजनीतिक या दार्शनिक मतवाद में न मानकर साहित्य में मानते हैं और उसे साहित्य के धर्म के रूप में ग्रहण करते हैं। क्या यह एकाङ्गी दृष्टिकोण नहीं है! साहित्य का धर्म प्रगति है या मानव के सौ इन्द्रियों की परितृप्ति? प्रगति और सौ-इन्द्रिय भावना के समन्वित रूप का ही अभिधान साहित्य है, इस सत्य की ओर उनकी दृष्टि नहीं जा सकी है। वे न कर्षवाणी प्रगतिवाद को सुगतस्य या स्वयं-सत्य मानते हैं और एक भारतीय प्रगतिवाद की कल्पना करने कहते हैं कि 'मेरे भारतीय प्रगतिवाद को अधिक रचनात्मक, अधिक शक्तिपूर्ण, अधिक सजीवन प्रद और पूरकत्व के अधिक निष्कर्ष मानता हूँ। उनके अनुसार भारतीय प्रगतिवाद यह है 'जिसमें समस्त पक्षों, समस्त जातों का समन्वय विद्यमान है।' वे इसी प्रगतिवाद को साहित्य में प्रतिफलित देखना चाहते हैं। प्रश्न यह उठता है कि कोई ऐसा भारतीय प्रगतिवाद है भी और याद है तो उसका सैद्धान्तिक स्वरूप और उसकी उपनिर्धियाँ क्या हैं? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस भारतीय प्रगतिवाद के आविष्कर्ता स्वयं गिरिशजी हैं। अतः उन्हें अपने इस नये 'वाद' की विस्तृत और समग्र व्याख्या तथा प्रचार करना चाहिए। तभी उसके सम्बन्ध में व्यापक विचार निमग्न सम्भव हो सकेगा।

इस समझ का एक अन्य निष्पत्ति है ‘विरह सस्कृति’ बनाम भारतीय सस्कृति, जो समस्त प्रागैतिहासी विचारों के बाह्य आन्तरिक को दूर केंद्रर लेखक को उसके वास्तविक रूप में उपस्थित करता है। गिरीशजी द्विवेदी युग या पुनरुत्थान-युग के लेखक हैं, अन आश्रय के कान्तिकारी गुण में भी वे अपने पूर्व सस्कृतियों और पुनरुत्थानकारी विचारों को छोड़ नहीं सके हैं। इसी कारण वे सस्कृति को देश-काल के भेद के अनुसृत्य निरन्तर प्रगतिशील और परिवर्तनशील मानते हुए भा भारतीय सस्कृति को ही सर्वश्रेष्ठ सस्कृति घोषित करते हैं और सादरपूर्वक यह कहते हैं “भारतीय सस्कृति के स्वरूप पर हम निश्चित करने को यह इसी विरह सस्कृति के साथ गलत पाया हुआ दिखाई पड़ेगा, उक्त विरह सस्कृति और भारतीय सस्कृति को हम एक दूसरे में सर्वथा अभिन्न कह सकते हैं।” इस कथन में ‘कृत्यञ्च निरुपमार्थ’ की सामान्यभारी श्रमणा शीर्ष्य राष्ट्रप्राप्ति मानना निहित है जो हिन्दू पुनरुत्थानकारी की प्रवृत्ति का चोतक है। सम्भवतः लेखक ने सस्कृति का अर्थ भी अच्छी तरह नहीं समझा है, क्योंकि निश्चित के प्रारम्भ में वह सस्कृति की परिभाषा करता हुआ कहता है कि “समुच्च को वैयक्तिक और सामाजिक साधना के परिणाम जिन कलात्मक साधनों द्वारा व्यक्त होकर स्थूल पदार्थ से इसे सुव्यक्त रूप में उपस्थित करत है उनही समष्टि को सस्कृति कहते हैं।” इस परिभाषा के अनुसार सस्कृति कलात्मक साधनों की समष्टि है, अतः धर्म, दर्शन, राजनीति, अर्थनीति आदि का उन्मूलन कोह स्थान नहीं है। किन्तु पूरे निरूपन में लेखक ने दर्शन, धर्म, आचार, राजनीति आदि के सम्बन्ध में ही विचार दिया है और कलात्मक साधनों की कहीं जगह भी नहीं की है। वस्तुतः सस्कृति समुच्च की सर्वोत्तम जीवन साधनाओं की निरन्तर विकासमान परिस्थिति है, जो धर्म, दर्शन, कला, शास्त्र, विज्ञान आदि के स्थूल रूपों में अपने को अभिव्यक्त करती चलती है, अर्थात् वह स्थूल जीवन विधियों के मूल में निहित सूक्ष्म जीवन दृष्टि है। यदि विरह मानव को एक होना है तो उसे जीवन दृष्टि के दृष्टांत और कालगत विशेषताओं तथा उपाधियों का मोह त्यागकर समस्त भूमि पर समान रूप में उपस्थित होना होगा। तभी विरह सस्कृति का उन्मूलन होगा और उस समय पारचाय और पौषाय, भारतीय और यूनानी, प्राचीन और नवीन के भेद तिरोहित हो चुके रहेंगे। क्या निरीश्वरी की ‘भारतीय सस्कृति’ भी कभी इस स्थिति को प्राप्त कर सके है या कर सकेगी?

समझ के अन्य निष्पत्तियों में हिन्दी साहित्य के विभिन्न रूपों, प्रवृत्तियों और लेखकों तथा उनकी कृतियों का मूल्यांकन किया गया है। इनमें से कुछ निश्चित तो निस्संदेह वस्तु ही सन्तुलित और विचारणीय हैं, किन्तु कुछ में लेखक के पूर्वग्रह या वैयक्तिक रुचि के कारण तदर्थ और वस्तुगत मूल्यांकन नहीं हो सका है। संतुलित निष्पत्तियों में ‘श्री सुमित्रानन्दन पन्त’, ‘श्री हरिऔध’ और ‘यदि मैं क्षमायुगी लिखता’ सर्वश्रेष्ठ हैं। ‘श्री हरिऔध’ शीर्षक निश्चित में लेखक ने हरिऔधजी के समस्त साहित्य या बहुत निष्पक्ष और नये दृष्टि से आकलन किया है। लेखक का यह कथन सर्वथा उचित है कि “भारतेन्दु के समय से लेकर द्विपदीनी के समय तक जिसने भी कवि प्रकाश में आया उनमें हरिऔधजी की प्रतिभा ही सबसे अधिक प्रगतिशील, पलर और रचनात्मक थी।” इस निश्चित में हरिऔधजी की प्रगतिशील, रुढ़ि विरोधी और प्रयोगशील प्रवृत्ति की सम्पूर्ण व्याख्या की गई है। लेखक ने हरिऔधजी की निरोपताओं का भी नहीं, उनके दोषों का भी सम्यक् विवेचन किया है, जो उसकी तदर्थ आलोचनात्मक दृष्टि का परिचायक है। इसी प्रकार ‘श्री सुमित्रानन्दन पन्त’ शीर्षक निश्चित में भी पन्तजी के साहित्य

त्यिक यत्किन्व और विचारधारा के विकास-क्रम का बहुत हा वैज्ञानिक तथा सतुलित रूप में विश्लेषण किया गया है, यद्यपि उसका पहला अनुच्छेद बहुत निवादास्पद है। उसमें लेखक की स्थापना यह है कि “हिन्दी साहित्य अधिकांश में प्रतिक्रियाओं के अधीन होकर अपना विकास पाता रहा है।’ प्रायः यही विचार इस संग्रह के एक अग्र निबन्ध ‘हिन्दी काव्य की प्रतिक्रियाएँ और प्रवृत्तियाँ’ में भी व्यक्त किये गए हैं। किन्तु श्रेष्ठ साहित्य प्रतिक्रिया-जन्य नहीं होता। यदि हिन्दी का अधिकांश साहित्य प्रतिक्रिया जन्य है तो वह श्रेष्ठ नहीं हो सकता। पर कौन तटस्थ आलोचक इसे मानने को तैयार होगा? साहित्य की मूल प्रेरणा प्रातम्यात्मक नहीं, सज्जनात्मक होती है, जो युगीन परिवेश और सांस्कृतिक परम्परा की देन होती है। इस भूमिका भाग के अतिरिक्त निबन्ध के अग्र अग्रशो में भी कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ लेखक से सहमत होना कठिन है। लेखक ने पन्तजी की गद्यात्मक, नीरस और उपदेशात्मक कविताओं की ओर ध्यान देकर ‘प्राम्या’ और ‘युगवाणी’ की सभी कविताओं को ‘कायमुलम’ ‘सरलता से युक्त’ और ‘मनोहर’ घोषित किया है। याय ही उसने पद्य के मानवतावादी स्वरूप के समर्थन के जोश में उनके विचारगत अर्थविरोधों का भी उल्लेख नहीं किया है।

‘यदि मैं कामायनी लिखता’ शीर्षक निबन्ध भी पद्यात विचारपूर्ण और कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें लेखक ने ‘कामायनी’ की अग्रतम विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उसके महाकाव्य और नायक-तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ दोष भी ढूँढे हैं। उनकी आपत्तियों प्रमुखतः तीन हैं—(१) मानव जीवन की समस्या के सम्बन्ध में कामायनी का उपचार मूलतः वैयक्तिक है। (२) उसमें जीवन का सम्पूर्ण चित्र नहीं है। (३) नायक तत्त्व समन्वित भ्रष्टा अपनी शक्तिहीन दया और सहाय्यता के कारण पारिवारिक सीमा के भीतर ही संकुचित रह गई है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पस्यात होगा कि ‘कामायनी’ नये रंग का प्रतीकात्मक और प्रतीकात्मक महाकाव्य है, अतः उसकी परीक्षा पुष्पन मात्राएँ से नहीं होनी चाहिए। ‘कामायनी’ का घटतल वैयक्तिक नहीं, सामाजिक है, क्योंकि उसका सत्य मानव जाति को अशान्ति, दुःख और वैषम्य से मुक्त दिलाना और पारित्रिक विकास के माध्यम से नवीन मानव समाज का रचना करना है। भ्रष्टा महाकाव्य की नायिका ही है, नायक नहीं, अतः उसका काय नायक की पक्ष प्राप्त में अधिकाधिक योग देना है। इन्हीं उपनायिका है। इन दोनों का चरित्र एक-दूसरे का पूरक है, क्योंकि भ्रष्टा आत्मिक शक्ति का प्रतीक है और इन्हीं भौतिक या सामाजिक शक्ति का। इन दोनों शक्तियों की अभिव्यक्ति हृदय और बुद्धि के माध्यम से होती है। अतः यदि प्रसादकी भ्रष्टा से आधुनिकयुगीन ज्ञानिकारी नेत्रियों की तरह सारस्वत प्रदेश की प्रजा का नेत्र्य करती तो उनकी रूपक योजना ही गड़ हो जाती। भ्रष्टा की कल्याण शक्तिहीन नहीं है। क्या गिरिशंजी अशक्त शक्ति को शक्ति नहीं मानते? तब तो उनकी भारतीय सृष्टि की दमरत ही उदघासनी।

रोप निबन्ध में ‘सुसज्जा का सन्त’, ‘आधुनिक हिन्दी काव्य का विद्रोही स्वर’, ‘मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में राधाकृष्ण’, ‘अग्नेय की का नदी के द्वीप’ तथा ‘हिन्दी उपन्यास में सज्जनात्मक सहरण’ उतने महत्त्वपूर्ण न होने हुए भी विचारपूर्ण तथा यावदात्मिक समीक्षा के गुणों से युक्त हैं। ‘सुसज्जा का सन्त’ में लेखक ने ‘सन्त’ की अति सच्चिद सिन्धु निष्पद आलोचना की है। ‘आधुनिक हिन्दी काव्य का विद्रोही स्वर’ में हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला

और दिनकर के काव्य के रुचिविरोधी उत्तरी और कान्तिदर्शी विचारों की सक्षिप्त विवेचना की गई है। ‘मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में राधाकृष्ण’ बहुत ही चिन्तनपूर्ण तथा निवारोत्तेजक निबन्ध है। उसमें राधाकृष्ण की माधुर्य भाव से की जाने वाली उपासना के मूल में निहित आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वों तथा कृष्ण, राधा, गोप, गोपी आदि के रूप में व्यक्त उनके प्रतीकों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। ‘हिन्दी उपन्यास में सृजनात्मक महारण्य’ में लेखक ने हिन्दी-उपन्यास के विकास क्रम का संवेत करते हुए उसके यथायवादी स्वरूप का विश्लेषण किया है और यथार्थवाद के सहायक पक्ष से अधिक उसके निष्प्राणान्तरक पक्ष पर जोर दिया है। इसने अनुत्तर प्रगतिवादी या मनोविश्लेषण शास्त्रीय यथायवादी उपन्यासों में मनुष्य की पार्श्विक वृत्तियों के सहार और मानवीय गुणों के विकास की प्रवृत्ति उत्तरी नहीं मिलती। लेखक ने इस कथन से सम्भवतः बहुत से लोग न सहमत हों।

समग्र के अन्य निबन्ध सामान्य हैं। उनमें से कुछ—‘हमारे चेतनाकार और आलोचक’, ‘विवेचना की आवश्यकता’, ‘उद्देश भाषा की ही एक शैली’ आदि—या तो भाषण हैं या भाषण वाली व्यास शैली में लिखे गए हैं। अतः उनमें आलोचनात्मक उत्कृष्टता, गम्भीरता तथा समालोचनात्मक शक्ति का अभाव है। कुछ निबन्ध ऐसे हैं जिनकी व्याख्यात्मकता टीका भाष्य की पद्धति के निकट पहुँच गई है, जैसे ‘निराला का तुलसीदास’ और ‘अन्धाय शुक्ल का काव्य सिद्धांत’। ‘इन्दुमती’, और ‘दिनकरजी का कुक्कुट’ जब पत्रिकाओं के लिए लिखी गई पुस्तक समीक्षा प्रतीत होते हैं। ऐसे निबन्धों में भी पत्रकारिता के गुण ही अधिक दिखाई पड़ते हैं। किन्तु कुल मिलाकर इस निबन्ध संग्रह को उत्तम कोटि का समीक्षात्मक ग्रन्थ कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें लेखक का गहन चिन्तन, निर्भीक निर्णय क्षमता और सूक्ष्म विश्लेषण शक्ति का परिचय सर्वत्र मिलता है।

दूसरी पुस्तक ‘आलोचना के सिद्धांत’ को पढ़कर घोर विराधा हुई। हिन्दी में साहित्य शास्त्र के सामान्य ज्ञान के लिए बाबू श्यामसुन्दरदास कृत ‘साहित्यालोचन’, बाबू गुलाबराय कृत ‘सिद्धांत और अर्थ’ तथा ‘काव्य के रूप’ और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत ‘साहित्य का लक्ष्य’ आदि पुस्तकें बहुत ही उपयोगी और सुंदर हैं। यदि कोई लेखक इनके बाद साहित्य शास्त्र पर नया ग्रन्थ लिखता है तो उसे उक्त ग्रन्थों से अधिक सामग्री और नवीन दृष्टिकोण उपरिधत्त करना चाहिए अथवा साहित्य शास्त्र के अलग अलग अंगों पर विशेष और गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करना चाहिए। तभी उसकी पुस्तक की कोई उपयोगिता हो सकती है। डॉ० द्विवेदीयों के उपयोग के लिए तबसे ‘नोट्स’ लिखकर पैसा कमाना हो तो दूसरी बात है। यह बात भी समझ में नहीं आती कि एक ही प्रकाशक एक विषय पर एक ही सामग्री से मुक्त कई कई पुस्तकें क्यों प्रकाशित करता है। आत्माराम एरंड सच के यहाँ से साहित्य शास्त्र पर भी गुलाबराय की तीन पुस्तकें ‘काव्य के रूप’, ‘सिद्धान्त और अध्ययन’ और ‘साहित्य समीक्षा’ तथा चौथी मुमन और मल्लिक की पुस्तक ‘साहित्य विवेचन’ पहले ही से प्रकाशित हो चुकी थीं। फिर उसी विषय की यह पाँचवाँ पुस्तक, जो उक्त पुस्तकों से किसी भी अर्थ में अच्छी नहीं कही जा सकती, प्रकाशित करने की क्या आवश्यकता थी? इस पुस्तक में कोई भी ऐसी विशेषता नहीं दिखाई पड़ती जो गम्भीर पाठकों का ध्यान आकर्षित करे अथवा जो लेखक को सुलभा आलोचक तो दूर, गम्भीर अपेक्षा भी सिद्ध कर सके। ‘आलोचना के सिद्धान्त’ दो भागों में विभक्त है—प्रथम भाग में भी अध्यायों में भारतीय और पश्चात्य साहित्य शास्त्र के विविध मत मतान्तरों का

परिचय दिया गया है, दूसरे भाग में आलोचना के विकास के सम्बन्ध में बारह अध्यायों में विचार किया गया है। प्रश्न उठता है कि यदि पुस्तक का नाम 'आलोचना के सिद्धांत' रखा गया है तो उसमें आलोचना के विकास का इतिहास देकर उसका कलेवर बढ़ाने का क्या प्रयोजन है? क्या इस प्रकार भ्रामक नाम देकर पाठकों को धोखा देना उचित है? किंतु पूरी पुस्तक पढ़ जाने पर बात स्पष्ट हो जाती है कि इस ग्रंथ में न तो आलोचना के सिद्धान्तों का ही सम्यक् विवेचन हुआ है, न आलोचना का विकास ही पूरा रूप में दिखाया गया है। उदाहरणार्थ प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में, जिसका शीर्षक है 'आलोचना के दृष्टिकोण', प्रारम्भ के कई पृष्ठों में शास्त्र और साहित्य तथा गद्य और पद्य का अन्तर तथा गद्य के विकास का इतिहास दिया गया है, फिर साहित्य के उद्देश्य या प्रयोजन अथवा उसकी उत्पत्ति के कारणों से सम्बन्धित कुछ मतों का बहुत ही सामान्य परिचय दिया गया है और बीच-बीच में साहित्य की प्रवृत्तियों में परिवर्तन, कला और कलाकार, यथायथा तथा समीक्षा की तुलनात्मक प्रणाली के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। इस तरह इस अध्याय का इसके शीर्षक से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इसमें साहित्य के मूल उत्स, विकास, उसका उद्देश्य, साहित्य के प्रकार तथा आलोचना सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों का विचित्र पालमेल दिखाई पड़ता है। 'भारतीय आलोचना शास्त्र' शीर्षक दूसरे अध्याय में नेत्रल साडे तीन पृष्ठों में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य सम्प्रदायों का विश्लेषण कर दिया गया है, जिससे पाठक के पहले कुछ भी नहीं पड़ सकता। इससे भी विचित्र तीसरा अध्याय है, जिसमें काव्य के स्वरूप, कारण, उद्देश्य और आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्तों को दो-दो, चार-चार पंक्तियों में कह दिया गया है। फिर प्रथम अध्याय में ही क्या ये बातें नहीं समाविष्ट हो सकती थीं? चतुर्थ अध्याय का शीर्षक तो है 'काव्य के भेद', किंतु उसमें काव्य की कोटियाँ तथा शुद्ध शक्तियों का अत्यन्त अधूरा परिचय दिया गया है। इसी प्रकार प्रथम भाग के सभी अध्याय नितान्त अव्यवस्थित, योजनारहित, अपूर्ण और अधकच्चा सामग्री से भरे हुए हैं।

दूसरे भाग का शीर्षक है 'आलोचना का विकास', किंतु इसे पढ़कर यही लगा कि इसका शीर्षक होना चाहिए 'पश्चात्त्य कला समीक्षा का विकास', पर पश्चात्त्य कला समीक्षा का भी इसमें नमिक, व्यवस्थित और पूरा परिचय नहीं दिया गया है। प्रारम्भ के सात अध्यायों में अफलातून, अरस्तू, एडिसन, लेसिंग और कचिस के साहित्य कला सम्बन्धी विचारों की उद्धृष्टी उपस्थित की गई है। इस तरह ये अध्याय मुख्यतः साहित्य से नहीं, सौन्दर्यशास्त्र से सम्बन्धित हैं। यदि समीक्षा शास्त्र का अथ सौन्दर्यशास्त्र मान भी लिया जाय तो भी उस क्षेत्र के लिए उपयुक्त लेखकों के नाम पर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि आधुनिक युग के सौन्दर्यशास्त्रियों—ग्रेम, हन, टालस्टाय, क्लाइव बेल, प्रारिस, पार्सिन, मोन्ते, फ्रायट, जार्ज मन्नायाना, आर्द्रे, रिचर्ड्स, हर्बर्ट रीड, फाउवेल आदि—के मतों का इसमें कहीं उल्लेख भी नहीं किया गया है। आधुनिकयुगीन साहित्य समीक्षा के सिद्धान्तों तथा उसके विकास का परिचय देने की तो इसमें कोई आवश्यकता ही नहीं समझी गई है। पूरी पुस्तक के प्रायः तीन चौथाई भाग में लेखक ने दूसरों के मतों और निम्नरों का ही विवरण और उद्धरण दिया है, अतः समीक्षा-सम्बन्धी उसकी निम्नी मायताओं और विचारसरणि का कुछ पता नहीं चलता। हिन्दी-साहित्य-समीक्षा की उपलब्धियों की ओर भी लेखक ने दृष्टि डालने की आवश्यकता नहीं समझी है। लेखक को हिन्दी

समीक्षा का कितना ज्ञान है यह इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि भूमिका में हिंदी समीक्षकों का नाम गिनाते हुए उसने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुंदरदास, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ० जगन्नाथ शर्मा, प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रो० विनयमोहन शर्मा आदि सिद्ध आलोचकों का नामोल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा है। पुस्तक प्रेस की अशुद्धियों से भरी हुई है। जहाँ नलिन विलोचन शर्मा खलित विनोचन, अभिनव गुप्त अभिनय गुप्त और चंद्रद रूपट हो गए हैं, वहाँ प्राण का पुण्य, गुणा का गुण, दुर्लभ लोके का दुर्लभ लोक, कारणम् का कारणम्, असम्भव का असम्भव, दलियट का दलियट, परतु का वस्तु हो कोढ़ बड़ी बात नहीं है। पता नहीं यह शुभ निशं कर आयोगा जबकि हिन्दी के प्रकाशक अपने प्रकाशनों का स्तर अंग्रेजी के प्रकाशकों के समान ऊँचा ठठा रखेंगे।



रामपूजन तिवारी

हिन्दी-साहित्य पर सूफीमत का प्रभाव

प्रस्तुत पुस्तक में सूफीमत को दृष्टि में रखकर हिन्दी साहित्य का अध्ययन किया गया है। विद्वान् लेखक के मत से हिन्दी साहित्य पर सूफीमत का व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा है। लेखक ने यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है कि सूफीमत से केवल निगूँधिया सत्य कबीर आदि ही प्रभावित नहीं हुए, बल्कि बहुसंख्योपासक और विशेष रूप से कृष्णभक्त मीरा, सूर आदि भी प्रभावित हुए हैं। लेखक के मत से कृष्णार्थी शास्त्रों में रहस्य तथा मरुत मानना का प्रवेश सूफीमत के कारण ही हुआ। छयागानी और रहस्यगानी आधुनिक कविता में इसका प्रभाव से अदृष्टी नहीं रही।

चूँकि सूफीमत को दृष्टि में रखकर यह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है इसलिए लेखक ने सूफीमत पर प्रथम पाँच अध्यायों में विस्तार से प्रकाश डाला है। बाक़ अध्यायों में हिन्दी सूफी काव्य के विश्लेषण द्वारा यह परिणाम निकाले गए हैं।

सूफीमत का अध्ययन अपने आपमें उलझा हुआ है, अतएव मात्मेन का सुत्रावश उसमें प्रचुर मात्रा में निहित है। सूफीमत के अध्ययन करने वालों का पद पद पर इन मात्मेन का परिचय मिलता है, इसलिए प्रस्तुत पुस्तक में प्रकाश किया गया विचारों तथा अर्थ तथा और परिणामों से हर समय सहमत नहीं होना कुछ असंभाव्य नहीं होगा।

'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'सोफिया' से बहूनां व भी है और इसी व्युत्पत्ति का लेखक ने स्वीकार किया है "क्योंकि सूफी लोग अनुभवमिद नाम का ही गायन करते हैं। सक्रिया, सूफी और स्वभाव (संस्कृत) शब्दों में बहुत साम्यत्व भी है।" शास्त्रों में 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का उल्लेख मिलता है। लेखक का मत है—एक तो यह कि उस शब्द से सूफिया के अर्थ हैं, जिनका आचार गिनाना, उनकी मान्यता और विश्वास का आभाव मिले और दूसरा मान्यता की दृष्टि से 'सूफी' शब्द से मान्यता

साम्य हो। इसीलिए 'अहल अल सुफा', 'सफा अ कब', 'सोफिस्ता', 'सूफ', 'सोफिया' आदि शब्दों से इसकी व्युत्पत्ति करने की कोशिश की गई है। लेकिन मायाशास्त्री माया भी दृष्टि में 'सूफ' से ही 'सूफा' शब्द का बनना मानते हैं। उनका कहना है कि मायाशास्त्र की दृष्टि से 'सूफा', 'सफा', 'सोफिस्ता' अथवा 'सोफिया' शब्द से 'सूफी' शब्द नहीं बन सकता। अतएव उनकी दृष्टि में 'सूफ' शब्द से ही इसका बनना मानना उचित है। अधिकांश लोग इसी व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हैं।

'सूफ' शब्द का अर्थ 'ऊन' है। उपयुक्त मत की पुष्टि के लिए अरब और तुर्क उपस्थित तर्क्ये आते हैं। नोएल्दके (सन् १८६४ ई०) ने दिखाया है कि इस्लाम के आगमन के बाद का प्रथम दो शताब्दियों में मोघल कबीलों का प्रचलन साधारण बनता में भी था, लेकिन विशेष रूप से इसका व्यवहार फकीरों या जीवन बिताने वाले लोगों में ही था। ऊनी चोगे का व्यवहार उस समय के साधक करते थे और पछात जीवन बिताने करते थे। बहुत लोगों का कहना है कि इसाद स तों से सूफी साधकों में इस प्रकार के चोगे का व्यवहार आया। इसका प्रमाण मिलता है कि सन् ७१६ ई० में उमरोऊन क चाने का व्यवहार विदेशी माना गया है और इसका अल बखरी के एक शिष्य फरकन सखरी को इसके लिए सुप मला कहा गया है।

इसी प्रकार उ सूफियों के 'क़ा' के सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी मतभेद नहीं है। 'क़ा' के सिद्धान्त की बहुतों ने बौद्ध के 'निवाण' के सिद्धान्त जैसा माना है और बहुतों की ऐसा मानने में संकोच है। निकोलसन दोनों में समानता नहीं स्वीकार करते। निकोलसन का कहना है कि सूफियों की भावनाग्रिमता का उल्लास, जबकि वह परमात्मा के सी-दर्य के ध्यान में लगा हुआ रहता है, अहंत की नारस बौद्धिक स्थिरता के प्रतिकूल है। 'वृत्तीमत और हिन्दी-साहित्य' के लेखक की दृष्टि में 'बौद्धों का निर्वाण यद्यपि क़ा के अनुरूप सा ही है तथापि हम क़ा को निवाण से एकतरफा नहीं दू सकते। निवाण केवल निपेवात्मक ही है, अर्थात् निजत्व का समाप्ति पर वाचनाहीन समरूपता में निर्वाण है, जबकि दूसी सी-दर्य के सहजान-ही ध्यान में निजत्व का पूर्ण अग्रमान ही क़ा है।' इस प्रकार से लेखक ने 'निवाण' को 'निपेवात्मक' माना है, जिसमें 'निजत्व' नहीं रह जाता, केवल 'वाचनाहीन समरूपता' रह जाती है। यही निकोलसन की 'नारस बौद्धिक स्थिरता' है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि बौद्धों का 'निवाण' का रूप कालक्रम से परिवर्तित होता रहा है, वह केवल 'नारस' या 'निपेवात्मक' ही नहीं रहा है। उसके क्रमिक विकास के इतिहास पर अगर दृष्टि डालें तो हम पाएंगे कि बौद्ध धर्म की ऐसी ही बहुत सी शाखाएँ थीं जिनकी भक्ति इस निपेवाण और नारस निवाण के प्रति नहीं थी। बहुतों ने बुद्ध की शिष्यता और अनौद्धिक माना तथा इस विचारधारा ने इसा की पन्नी सुनानी में इन्का और पकड़ के उपनिषदों से प्रभावित होकर इसमें बुद्ध को पूर्ण अग्र माना जाने लगा। समानमद्र तथा वैद्येयन के रूप में बुद्ध की पूजा होने लगी। इसके अलावा यह भी देखने को मिलता है कि बहुत सी शाखाएँ ने इस बात को स्वीकार नहीं किया कि तर्क द्वारा परम सत्ता को समझा जा सकता है। उ होने नानात्र को प्रपञ्च कहा और रहस्य वाक्यों के सदन ज्ञान से उसे गम्य माना। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि बौद्ध धर्म में भी निवाण केवलमात्र नारस और निपेवात्मक ही नहीं रह गया, बल्कि वह रहस्यमयी प्रवृत्ति

से भी प्रभावित हुआ और सबसे मजेदार बात यह है कि ये विश्वास महायानियों के हैं और महायान शाखा का पूरा प्रभाव फारस के पूर्वी अञ्चलों पर था। अतएव अगर यह कहा जाय कि सूफियों के 'फना' और 'बक्ला' के सिद्धांत बौद्धों की उस शाखा से प्रभावित हैं जिसने रहस्य पर जोर दिया, तो कोई आशुक्ति नहीं होगी।

लेखक के इस मन से भी सहमत होना कठिन है कि "वास्तव में इश्वर का मिहासना रुक होना और निरर्थक के दिन अन्तिम रसूल के नेतृत्व में सबको प्रतिफल मिलना सूफियों की मान्य नहीं।" जामी, मौलाना रूमी, अत्तार आदि सूफी साधक और कवियों के ग्रंथों में सयन 'आत्मा' और निरर्थक के दिन की चर्चा है। वैसे सूफी 'अन्तिम रसूल के नेतृत्व' की आवश्यकता नहीं मानते। अत्तार के 'मनिकुत्तर' में 'विशुद्ध' की कल्पना सिद्धासनासह इश्वर की है जिसे प्राप्त करने के लिए तीस पक्षी (साधक) पहुँचते हैं। इस प्रकार से और बहुत सी इसी प्रकार की अथवा बातों में मतभेद की पूरी सुझावशय है।

लेखक ने आधुनिक हिंदी साहित्य के छायावाद एवं रहस्यवाद को सूफी मत से प्रभावित होना बतलाया है। "आज छायावादी एवं रहस्यवादी कवि सर्वथ वस्ती व्यापक जल की छटा को छिद्रकी तुल्य देखता है। सूफी भी यही कहते हैं कि सबमें वस्तीका जलवा है।" भारतीय विचारधारा एवं साहित्य से परिचित कोई भी इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होगा कि रहस्यवादी प्रकृति का जन्मभूमि भारतवर्ष ही है। इसे प्रायः विदेशी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ अधिक कुछ कहना अनिष्ट नहीं। जहाँ तक छायावादी और रहस्यवादी कवियों के सूफीमत से प्रभावित होने का प्रश्न है, सूफीमत के सीधे पड़ने वाले प्रभाव को ढूँढना कठिन है। आधुनिक हिंदी काव्य नामा विचारधाराओं से प्रभावित है। उनमें सूफीमत भी हो सकता है। लेकिन लेखक ने महादेवी चर्मा की बहुत सी पक्तियों को उद्धृत कर यह दिखाने की चेष्टा की है कि ये सूफी साहित्य से प्रभावित हैं। एक जगह लेखक ने कहा है, "महादेवीजी उस असीम की किसी एक स्थान पर सोमित हुआ नहीं वरन् और न ससार को मिथ्या ही मानती हैं, वरन् सूफियों की भाँति उसे विश्व में प्रकाशरूप प्रदर्शित हुआ ही मानती हैं। उन्हें इस विश्वास का निश्चय तो है, परन्तु वह क्या है, कौन है, इसका पता नहीं।" यहाँ पर लेखक ने एक प्रकार से अप्रतिपक्ष से प्रभावित विचारधारा को एकदम गुला दिया है। दूसरी बात यह है कि सूफी भी सत्ता को मिथ्या मानते हैं। तीसरे, सूफी साधक के मन में यह कभी नहीं रहता कि 'यह क्या है', कौन है।' ऐसा सोचना बड़ गुनाह मानता है या अपनी साधना की अनकल्पता मानता है और कि वह विश्वास के साथ अपनी साधना में रत होता है। 'सूफी मार्ग' की एक दो मंजिला तक वह निश्चय अनिश्चय का बीच भ्रमकता है, लेकिन अपने इस 'अनिश्चय' के लिए उसे पश्चात्ताप होता है। वह सुखी की शरण लेता है, परमात्मा से प्रार्थना करता है कि जितने पेटा १ हो। महादेवी की उन पक्तियों में सूफी साधक की दृष्टि नहीं है। अतएव लेखक का इस कथन को

१ पृ० २१।

२ " २३२।

३ " २३३।

कि इस छायावाद और रहस्यवाद में स्पष्ट ही हम सूफी भावना का देखते हैं"। स्वीकार कर लेना कठिन है।

न केवल आधुनिक हिन्दी काव्य में ही ऐसा कोई प्रभाव परिलक्षित होता है बल्कि मध्य युगीन भक्ति काव्य में भी सूफीमत के प्रभाव को स्वीकार करने में संकोच हो सकता है। अगर मधुर रस की भक्ति की सूक्तियों में प्रभावित होना मान लें तो दक्षिण के आलवारों में इस प्रकार की भक्ति कहीं से आई ? नानदेव के 'गीतगोविन्द' में यह मधुर रस की सरस भक्ति कहीं से आई ? जैतय महाप्रभु ने इस प्रकार की भक्ति (मधुर रस की भक्ति) को कहीं से पाया ? तत्कालीन बगला, आसामी, उडिया, मराठी और गुजराती साहित्य में यह भक्ति कहीं से आई ? सूफीमत के प्रभाव से ऐसा मानना असंभव कठिन जान पड़ता है। ऐसी हालत में मरा आदि की 'मधुर रस की भक्ति' का कारण अन्यत्र ढूँढना समीचीन होगा।

इन मतभेदों के बावजूद भी यह निस्संकाच कहा जा सकता है कि लेखक ने सूफीमत की छान बीन की है और साहित्यपूर्वक अपने विषय का प्रतिपादन किया है। लेखक ने इस दिशा में काम करने वाले साहित्य के विचारार्थियों को काफी सोचने विचारने के लिए सामग्री प्रदान की है।

अंत में कुछ ऐसे वाक्यों के प्रयोग का निर्देश आवश्यक प्रतीत होता है जो सुचिन्तित नहीं हैं, ऐसे इस प्रकार के ग्रंथों से इस बात की अपेक्षा की जाती है कि उनमें प्रकट किये गए विचार सुचिन्तित और स्पष्ट हों। नमूने के तौर पर निम्नलिखित वाक्यों की परीक्षा की जा सकती है—

"यद्यपि शंकराचार्य ने अद्वैत का प्रतिपादन किया था, तथापि शिव की महत्ता को योगियों ने अंगीकृत किया।" *

"शिव का शिवरात्रि सो स्पष्ट सा दीप्ति पड़ता है।" *

"वास्तव में यहाँ कुरान का अल्लाह ही ईश्वर बन गया है, जिसकी प्राप्ति में पौराणिक देवताओं का भी हाथ है।" *

"हस्ताक्षरी भावना से अद्वैत प्रभव अपना रूप निखार रहा था, परन्तु इसमें प्रेम की मादक लहर ने अभिज्ञता होते हुए भी ईश्वर को प्रियतम का रूप दे दिया था और भावना को मधुर बना दिया था।" *



१ पृ० २२६।

२ " ८६।

३ ' ८६।

४ ' ६०।

५ ' ३८।

६ लेखक, डॉ० विमल कुमार जैन प्रकाशक, आत्माराम प्रेस स.स., दिल्ली।

दत्तात्रेय पाण्डेय

भागवत सम्प्रदाय

भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास में वैष्णव दर्शन का विशिष्ट स्थान है। हिंदी में इस दर्शन से सम्बंध रखने वाले एक दो ग्रंथ इतने आवश्यक प्रकाशित हुए हैं, परंतु इन पुस्तकों में इस दर्शन का सान्द्रोपाङ्ग विवेचन नहीं पाया जाता। प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ प० बलदेव उपाध्याय की कृति है, जिनसे हिंदी के दार्शनिक पाठक सम्भवतः अपरिचित नहीं हैं। दर्शन के क्षेत्र में उपाध्यायजी के अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। 'भारतीय दर्शन' के उपर आपकी सम्मनन द्वारा मालाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हो चुका है। इसी प्रकार 'बौद्ध दर्शन' भी हरपी मल डालमिया सुरकार से सुरक्षित है।

'भागवत सम्प्रदाय' नामक प्रस्तुत पुस्तक में उपाध्यायजी ने वैष्णव धर्म के उत्थान और विकास की गथा का सान्द्रोपाङ्ग विवेचन किया है। उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का विवेचन करके बृहत्तर भारत में इस धर्म के व्यापक प्रभाव का वर्णन किया गया है। वैष्णव साधना की मीमांसा प्रस्तुत करके विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक की महत्ता को और भी अधिक बसा दिया है। इस ग्रंथ की विषयसूची से ही इसकी 'यापकता' का पता चल सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में बारह अध्याय हैं, जिसमें पहला अध्याय 'वैष्णव धर्म की महत्ता' के सम्बंध में है। इसमें वैष्णव धर्म के उन तत्वों का स्पष्टीकरण किया गया है, जिनके कारण इसको इतनी महानता प्राप्त हुई है। विद्वान् लेखक ने बृहत्तर भारत—जावा, चम्पा, श्याम, कन्नौज और बालिद्वीप—में वैष्णव धर्म की विजय माया का बड़ा सुन्दर तथा प्रामाणिक वर्णन उपस्थित किया है। इस धर्म का प्रभाव भारतीय भाषाशास्त्र के साहित्य—विशेषकर तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, मराठी और हिंदी—पर कितना अधिक पड़ा है इसका विवेचन सम्मीरता के साथ किया गया है।

दूसरे अध्याय में वेदों में विष्णु का क्या स्वरूप है, इसका बखान है। इस अध्याय में यह निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया गया है कि भक्ति का उद्गम किस प्रकार हुआ, संहिता काज में भक्ति का क्या स्वरूप था और ब्राह्मण युग में किस प्रकार विष्णु के विभिन्न अवतारों की अवतारगथा की गई।

तीसरे अध्याय में वैष्णव धर्म की प्राचीनता का ऐतिहासिक क्रम से वर्णन प्रस्तुत किया गया है। कुछ विद्वान् इस धर्म की बहुत प्राचीन नहीं मानते, परंतु वर्तमान लेखक ने प्रबल प्रमाणी के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह धर्म बहुत प्राचीन है। बेथनगर के शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि २०० ईसा पूर्व में ही इस धर्म का इतना 'यापक' प्रभाव था कि हेलेनोरोस नामक विदेशी यवनदूत ने इस धर्म की स्वीकार कर 'भागवत' की उपाधि धारण की थी और अपनी उत्कट विष्णु भक्ति के फलस्वरूप वहाँ गुरुकुल स्तम्भ का निमाण किया था। इसी अध्याय में पंचरात्र साहित्य की बड़ी सम्मीर मीमांसा की गई है।

चौथा अध्याय 'पुराणों में विष्णु' है। विभिन्न पुराणों—जैसे ब्रह्मवैवर्त, विष्णु पुराण तथा पद्म पुराण—में विष्णु किस रूप में पूजित हैं, इसका वर्णन है। भागवत पुराण का वैष्णवों में बड़ा समादर है। यह उनका उपासीय ग्रंथ है। भागवत का साध्यतत्त्व और साधनतत्त्व

इन दोनों का विशिष्ट विवेचन इसका मुख्य विषय है।

पौरवों अध्याय दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखता है। दक्षिण के सम्प्रदायों के विषय में उद्यम भारत के लोगों की जानकारी प्रायः बहुत कम है। विद्वान् लेखक ने ध्यानवरी तथा विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्त और साधना पद्धति का रोचक विवरण दिया है।

रामानन्द सम्प्रदाय का वर्णन वृद्ध अध्याय का विषय है। पहले उत्तरी भारत में भक्ति आन्दोलन का प्रचलन करके तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक पुष्टभूमि का उल्लेख किया गया है। इसके 'इच्छा' स्वामी राघवानन्द और स्वामी रामानन्द के सिद्धान्त तथा साधना की उद्दिष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने रामानन्द का शिष्य परम्परा का विवेचन करते हुए हिन्दू साहित्य में इसके प्रभाव के ऊपर प्रचुर प्रकाश डाला है।

सातवें आठवें और नवें अध्यायों में क्रमशः निम्नांक सम्प्रदाय, श्री वल्लभ सम्प्रदाय तथा राधावल्लभाय सम्प्रदायों का वर्णन है। प्रत्येक सम्प्रदाय के विवेचन में उसकी ऐतिहासिक समीक्षा, सिद्धान्त निरूपण और साधना पद्धति के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है। वल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रह्लादपंथ के कवियों के कृतित्व तथा व्यक्तित्व का उल्लेख हुआ है और यह दिखलाने का लेखक ने प्रयत्न किया है कि इस मत का प्रभाव हिन्दी साहित्य के ऊपर कितना गहरा पड़ा है।

दशमं भारत में भक्ति आन्दोलन (दसवें अध्याय) का वर्णन करते हुए बंगाल, उड़ीसा और आसाम में प्रचलित तत्कालीन विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का रोचक वर्णन दिया गया है। मलयुग में केवल महाप्रभु चैतन्य देव ने ही उत्तरी भारत में भक्तिरस की छवि नहीं बसाई, बल्कि आसाम के शंकरदेव और माधवदेव ने भी अपनी पियूष-वर्षों वाशा से जनता को आत्माविष दिया था। उन्नीसवें अध्याय 'पञ्चमला घम' से सम्बन्धित बहुत कम लोगों का परिचय है, जो इस अध्याय में उपलब्ध है।

महाराष्ट्र का वैष्णव पंथ (बारहवें अध्याय) नामक परिच्छेद में इस प्रदेश में प्रचलित बार विविध सम्प्रदायों का प्रामाणिक विवेचन पाठकों के सामने प्रस्तुत है। ये सम्प्रदाय हैं—महानुभाय पंथ, बारकरी पंथ, रामदासी पंथ और हरिदासी पंथ। इनमें बारकरी पंथ बड़ा प्रसिद्ध है जिसके उद्भव और अस्तित्व में शनदेव, नामदेव और तुकाराम का हाथ रहा है।

बारहवें तथा अग्निस अध्याय वैष्णव साधना से सम्बन्ध रखता है। वैष्णव धर्म की विशिष्टता, इनके विभिन्न मतों में साम्य और वैषम्य, पंचधा भक्ति, रस भावना और उपासना तत्त्व इस अध्याय के विवेच्य विषय हैं। इस परिच्छेद की प्रस्तुत ग्रन्थ का सारभूत अंश समझना चाहिए, जिसमें वैष्णवों की रहस्यमय साधना पद्धति का एक पहलू है हुए साधक द्वारा अनुभूति मय विवेचन किया गया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ की यदि वैष्णव धर्म का विश्लेषण करें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। विवेच्य पुस्तक लेखक का चिरन्तन साधना और अध्ययन का फल है, जिसमें वैष्णव धर्म के उद्गम तथा विकास की गाथा सीधे सारे शब्दों में बड़ी यत्न है। गत पृष्ठ में पुस्तक के विभिन्न अध्यायों का जो वर्णन दिया गया है उसीसे इसके विषय की व्यापकता का पता चल सकता है।

यदि इस पुस्तक में वैष्णवधर्म के ऐतिहासिक विकास का इतिहास किसी एक ही स्थान में उपलब्ध होता तो पाठकों का बड़ा उपकार होता। परन्तु यह सामग्री अनेक अध्यायों में बिखरी

पड़ी है। इसी प्रकार पुस्तक के अन्वयों की व्यवस्था (Arrangement) में भी सुधार की सुझाव है। कहीं कहीं निर्मिष्ट ग्रंथों का नाम ठीक नहीं है, जैसे पृ० ६६३ पर मरुतारकर की पुस्तक का नाम और पृ० ६६५ पर डॉ० एच० दास गुप्त के ग्रंथ का शीर्षक अशुद्ध है। आशा है अगले संस्करण में इसका निवारण हो जायगा। भारतीय विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक नितांत पठनीय है। ऐसा विद्वत्पूर्ण ग्रंथ प्रस्तुत करने के लिए पाठक धन्यवाद का पात्र है।^१



डॉ० राजबली पाण्डेय

भारतीय संस्कृति

लेखक की योजना सम्पूर्ण ग्रंथ को आठ खंडों में पूरा करने की है। उसका प्रथम खण्ड 'वैश्विक धारा' है। इस ग्रंथ में विश्व प्रस्तावना के साथ दो खण्ड और ग्यारह परिच्छेद हैं। प्रस्तावना में लेखक ने भारतीय संस्कृति के वर्तमान विवेचकों और इतिहासकारों की तीन बर्गों में बाँटा है—(१) सन्नोच साम्प्रदायिक, (२) पूर्वाग्रही तथा पश्चीतिष्ठ इष्टि वाला पाश्चात्य लेखक समूह तथा (३) लोक जीवन से उन्नासन, आक्षेप, किंतु एकदेशीय इष्टि रखने वाला शुद्ध पश्चिन्तरम। उन्होंने इनसे भिन्न एक चौथे बर्ग का प्रस्तावना की है, जिसको वे वैश्वानिक कहते हैं। यही उनकी अपना विचार पद्धति है और उनका लक्ष्य है, "एक सम-व्यापक भारतीय संस्कृति का आधार पर हमारे भारतीय राष्ट्र को बढावा और पुष्टि प्राप्त कराना।"^२

ग्रन्थ में विश्व ग्रंथ के अध्ययन में दो बलि अत्यंत महत्त्व की हैं—एक तो चिन्तन पद्धति और दूसरी ग्रंथ अध्ययन का लक्ष्य अथवा उद्देश्य। शुद्ध उक्ति, अनुमान और निष्कर्ष के ऊपर आधारित चिन्तन पद्धति का स्वस्थ हो सकता है। विवेक की आवश्यकता ग्रंथ के उपायानों के लक्षण तथा निदान और उसका अर्थ विशेष के कलात्मक निवारण में होता है। पूर्वाग्रह और सामग्र्य से रहित चिन्तन पद्धति ही शुद्ध वैश्वानिक पद्धति है। इस प्रकार किसी ग्रंथ के अध्ययन का उद्देश्य केवल तथ्यों का संग्रह, वर्गीकरण और विश्लेषण तथा उनके द्वारा सूचना संप्रदा उद्देश्य प्रमाण करना हो सकता है। इसके विपरीत दूसरा उद्देश्य तथ्यों को प्रवर्तमान और विश्वन्याय सार्वभौम में रखकर मनुष्य के सम्बन्ध जीवन का सम्कार और उपाय करना हो सकता है। उद्देश्य साक्ष्य के निमाण तथा मोक्ष जीवन के विकास के लिए हमारे प्रकार का लक्ष्य ही वास्तविक है। प्रस्तुत ग्रंथ का निदान लेखक ने दूसरे प्रकार का लक्ष्य अपनाने रखा है।

भूमिका खण्ड के प्रथम परिच्छेद में भारतीय संस्कृति के आधारों का निवेदन करते हुए उसकी समग्र्यमूलक दृष्टि पर बल दिया गया है और इसके प्रमाण में वर्तमान पौराणिक निगमनाम धर्म का उल्लेख किया गया है।^३ यह निदान समीचीन है, परंतु जिन

१ खे०, पृ० बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी मण्डल, काशी।

२ पृ० ८।

ऐतिहासिक तथ्यों पर भारतीय समन्वय आका गया है वे भाग नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, 'निगम' का मौलिक अभिप्राय लेखक ने वैदिक परम्परा से लिया है और 'आगम' का अर्थ प्रागैतिक वैदिकेतर सांस्कृतिक परम्परा से। वेगों से पूछ कोइ आगमिक परम्परा थी, इसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया है, सम्भवतः इसके लिए कोई प्रमाण है भी नहीं। भारतीय साहित्य में 'निगम' का अर्थ 'अनुभव पर आधारित अपरोक्ष ज्ञान' और 'आगम' का अर्थ 'तर्क पर आधारित बुद्धिगम्य ज्ञान' किया गया है। इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध किसी काल विशेष या जाति विशेष से नहीं है। इतिहास में यह सम्भव नहीं कि कोई जाति शुद्ध निगमवादी और कोई शुद्ध आगमवादी हो। हों एक ही जाति की दो चिन्तन पद्धतियों या दो सम्प्रदाय हो सकते हैं, जिनमें मतभेद और समन्वय दोनों सम्भव हैं। इसी प्रकार असुरों की देवों (आर्यों) से बिलकुल भिन्न समझना भारतीय इतिहास का साथ आयाय करना है, जबकि वैदिक ग्रंथों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि असुर और देव दोनों ही प्रजापति की सन्तान थे, यद्यपि आपस में उनका सम्पर्क भी था। यही बात ब्रह्म शिव की कल्पना के बारे में भी कही जा सकती है। ब्रह्मण्य शिव की कल्पना एक कल्पनामात्र है, इनका कोई साहित्यिक अथवा ठोस प्रमाण नहीं। किसी देवता के स्वरूप निरूपण और पूजा पद्धति में परिवर्तन केवल विभिन्न जातियों के सम्पर्क से ही होता है, आन्तरिक, स्वगत अथवा सजातीय में और विकास से नहीं, यह एक पुनराग्रह मात्र है। 'सृष्टि और 'सृजि' को मूलतः दो विरोधी जातियों और सङ्कटतयों का प्रतिनिधि मानना भी अतिहासिक तथा तर्कशून्य है। वास्तव में ये साधना के माग थे, जातीय प्रभेद नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि आर्यों ने दूसरी जातियों से कुछ सीखा ही नहीं और आय सङ्कृति न दूसरी सङ्कृतियों से समन्वय नहीं किया। किन्तु यह प्रक्रिया आयावत में आर्यपूर्व नहीं, बल्कि परवर्ती काल में आर्यों के प्रसार, सम्पर्क, स्वर्ण और समझौते के कारण आर्येतर जातीय भूमियों में और वहाँ से प्रयावतन और सम्पर्क के कारण आयावत में भाषित हुई।

इसी तरह के दूसरे परिच्छेद में भारतीय सङ्कृत के दृष्टिकोण ने तत्त्वों में उसकी प्रगतिशीलता, साम्प्रदायिकता, अपने सम्पूर्ण इतिहास में ममत्वभावना और अखिल भारतीय भावना का बहुत ही विशद विवेचन किया गया है। वास्तव में भारतीय सङ्कृति की जावन शक्ति के ये ही स्रोत हैं। तीसरे परिच्छेद में भारतीय सङ्कृति का वैज्ञानिक विचार पद्धति का निरूपण किया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि यद्यपि साम्प्रदायिक आग्रह और सङ्कीर्णता होते हुए भी भारतीय चिन्तन की मुख्य दिशा वैज्ञानिक और उन्नत रही है। चौथे परिच्छेद में भारतीय सङ्कृति की विचारधारा का लक्ष्य प्रस्तुत किया गया है। साम्प्रदायिक और स्थानीय भावना को छोड़कर किस प्रकार एक समाविष्ट और सन्तुलित जीवन तथा सङ्कृति का विकास इस देश में हो सकता है, इस पर लेखक के सुन्दर और महत्त्वपूर्ण सुझाव हैं, यद्यपि विभिन्न सम्प्रदायों के अदृष्ट साहित्य का अध्ययन, विभिन्न सम्प्रदायों के महापुरुषों का आदर्श, साम्प्रदायिक पारिमायिकता का त्याग आदि। इन परिच्छेदों में लेखक के लक्ष्ये अध्ययन और अनुभव का साधन परिष्कृत है।

दूसरे खण्ड में भारतीय सङ्कृति का वैदिक धारा का दर्शन और विवेचन है। इसके पंचम परिच्छेद में वैदिक साहित्य की रूपरेखा दी गई है। छठे में वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका है। यह परिच्छेद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें वैदिक देवतावादा, देवताओं का स्वरूप,

होता का स्वरूप, वैदिक जीवन की दृष्टि और चरम लक्ष्य तथा वैदिक दार्शनिक दृष्टि का महत्त्व आदि विषयों का स्पष्टीकरण है। इसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार आराधना तथा आनन्दपरक वैदिक दर्शन परवर्ती दुःखवाद और मोक्षाकांक्षी दर्शन से भिन्न है। वैदिक धारा में ऐतिहासिक कारणों से कैसे परिवर्तन हुए, इसका विवेचन सातवें परिच्छेद में है। इसमें वैदिक जीवन के उल्लासमय प्रादुर्भाव, संघटन और विजगहन (जखडन) के क्रम का समभाव उल्लेख है। आठवें परिच्छेद में वैदिक उदात्त मानक्यों का निर्देशन है। यहाँ पर लेखक ने वैदिक अध्ययन की पश्चात्य और भारतीय दृष्टि के भेद को स्पष्ट किया है। पश्चात्य दृष्टि का वैज्ञानिक अध्ययन शोध यांत्रिक और हृदयहीन है। भारतीय के लिए वेद का महत्त्व उनके जीवन और दर्शन को समझने के लिए है, केवल उत्सुकता की भाँति के लिए नहीं। वेदों ने श्रुत, स्मृत, धर्म, शौच, आशा, आनन्द, भद्रता, आत्मविश्वास आदि महान् तत्त्वों का उद्घाटन और विकास किया। अगले परिच्छेदों में वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि, वैदिक धारा की वेद तथा वैदिक धारा के द्वारा का पाण्डित्यपूर्ण परीक्षण है। परिशिष्टों में (१) वैदिक धारा का अवृत्त स्वरूप, (२) वैदिक एकता मञ्जरी, (३) प्राकृतिक शक्ति मञ्जरी, (४) व्रत ने आत्मशुद्धि तथा (५) ब्रह्मचर्य आदि विषयों का संक्षेप है।

श्रीमद् अथवा संस्कृति के विकास में दो तत्व काम करते हैं—(१) स्थिति और (२) प्रगति। स्थिति के अन्तर्गत व्यवस्था, स्थिरता तथा संरक्षण सम्मिलित है, प्रगति में गई परिस्थितियों और प्रभावों के सम्पर्क में आवश्यकता का समावेश है। जब तक दोनों समानांतर चलते हैं तब तक विकास सुचारु रूप से होता है। यदि स्थिति रुक हो गई और प्रगति इससे असम्बद्ध, तो संस्कृति या तो जड़ अथवा विशुद्धलिप्त हो जाती है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में यह प्रक्रिया कैसे चलती रही है, इसका परीक्षण संकलन के साथ इस ग्रन्थ में हुआ है।

अध्ययन की दृष्टि और उद्देश्य तथा साहित्य, धर्म एवं दर्शन के विचार से प्रस्तुत ग्रन्थ विचारोत्तेजक तथा उच्च स्तर का है और पाठकों को प्रेरणा प्रदान करने वाला है। इसके लिए लेखक साधुवाद के पात्र हैं। किन्तु इस ग्रन्थ में कतिपय अभाव रहस्यते हैं। संस्कृति के अन्तर्गत सामाजिक संस्थाओं और राजनीतिक विचारों का भी सम्बन्ध तथा समुचित समावेश होना चाहिए, साथ ही साहित्यिक और भलात्मक मूल्यों का भी पर्याप्त विवेचन। शैली और विषय प्रयोजन की दृष्टि से सुव्यवस्थित बहुत अधिक हैं और शब्दों का समग्र अभावपूर्ण है। परन्तु यह दोष है तो प्रस्तुत रचना महत्त्वपूर्ण है और आशा है कि पाठकों तथा विचारकों द्वारा इसका समुचित आदर होगा।^१



१ ले०, ए०० महाप्रबोध शास्त्री, ए०, समाज विज्ञान परिषद्, काशी विद्यापीठ, पाराणसी।

राजबली पाण्डेय

भगवान् बुद्ध

हिंदी भाषा में महापरिणित राहुल साह्यायन की 'बुद्धचर्या' के पश्चात् यह दूसरी पुस्तक है, जो मूल स्रोतों के आधार पर प्रामाणिक रूप से आदि हो। यह पुस्तक मूलतः मराठी में लिखी गई थी, उसीका भी भीषाद जोशी द्वारा हिंदी में यह सफल अनुबां है। प्रारम्भ में श्री काका साहेब कालेलकर द्वारा लिखित 'भक्त परिणित धर्माना कोसम्भी' का साहित्य जीवन वृत्त भी है। इस ग्रंथ का प्रणयन ऐसे विद्वान् की लेखनी से हुआ है जिन्होंने न केवल आजीवन बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया, अपितु बौद्ध धर्म और दर्शन को अपने जीवन में उतारने का भी प्रयास किया।

सम्पूर्ण ग्रंथ भूमिका के अतिरिक्त बारह अध्यायों और चार परिशिष्टों में विभाजित है। भूमिका और प्रथम तीन अध्याय प्रायः प्रास्ताविक हैं। भूमिका में प्रारम्भिक पालि साहित्य का परिचय और भगवान् बुद्ध के इतिवृत्त के स्रोतों का विवरण है। प्रथम अध्याय आर्यों की जय है। इसमें लेखक ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि आर्यों के आगमन के पूर्व ब्राह्मण पुरोहितों की अभ्युत्थान में दास सम्प्रति थी, जिसका आर्यों ने हर्ष की अवस्था में विध्वंस किया। 'दास' का अर्थ उहोंने 'दाता' स्वीकार किया है। उनके विचार में बाण सत्सुति के मुख्य अंग अहिंसा और योग थे, जो पराजय के बाद भी बचे रहे और जो अरुनी ऋषि मुनि परम्परा द्वारा जैन, बौद्ध आदि धर्माचार्यों धर्मों के उदय के कारण बने। दूसरे अध्याय में 'समकालीन राजनीतिक परिस्थिति' का वर्णन है। इसमें सोलह महाजनपदों, आठ प्रसिद्ध राजकुलों, शाक्य कुल के स्वतंत्र अस्तित्व की अपेक्षाकृत अवगमना तथा गणराज्यों के विनाश के कारणों का वर्णन तथा निवेदन है और गणराज्यों के बीच बौद्ध धर्म का कैसे विकास हुआ, इसका सन्देश है। समकालीन धार्मिक परिस्थिति का विश्लेषण तीसरे अध्याय में किया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि इस प्रकार का विचार आमक है कि वेदा से उपनिषद् और उपनिषद् से मुधारणा के साथ बौद्ध धर्म का उदय हुआ, वास्तव में बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के पहले कई ऋषि मुनि और भ्रमणों के वैदिक सघ स्थापित थे, जिनमें बौद्ध धर्म के इतिवृत्त विद्वान्तां और परम्पराओं के मूल विद्यमान थे, इन्हीं से बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हुई। चौथे अध्याय में गौतम बोधिसत्त्व के जन्म, बाल्यावस्था, विवाह, पुनोत्पत्ति, वैराग्य और गृहत्याग का उल्लेख है। पाँचवें अध्याय में भ्रमण, तपश्चर्या और सर्वबोधि (सम्बोधि) प्राप्ति की कथा दी हुई है। छठे में आवक सघ अथवा बौद्ध सघ की स्थापना के उद्देश्य, विकास, कार्यक्रम और विनय का निरूपण किया गया है। सातवें अध्याय में बुद्ध के समकालीन आत्मवाद, अक्रियवाद, निवृत्तिवाद, उच्छेदवाद, श्रयोयवाद, विच्छेदवाद, चानुयाम सरकारा आदि अनेक धार्मिक से बौद्ध धर्म का भेद और वैशिष्ट्य बतलाया गया है। आठवें अध्याय में बौद्ध धर्म के ऊपर नास्तिकता के आरोप, उसके कान्तिकारी दर्शन, अनासक्ति योग तथा ब्राह्मणों के कर्मयोग से उसके अंतर का स्पष्टीकरण हुआ है। नवें अध्याय में पौराणिक बुद्ध, यज्ञों की निषारता, यज्ञों का नया अर्थ, यज्ञों के रूपक आदि की नई

व्याख्या की गई है। पूरा दसवाँ अध्याय जाति भेद के उद्गम, बौद्ध धर्म में जाति भेद के निषेध, उसकी सीमा आदि का बखान करता है। ग्यारहवाँ अध्याय मासाहार के उपर है। इसमें यह स्वीकार किया गया है कि बौद्ध और कभी कभी जैन मिलु भी मासाहार करते थे, फिर भी उन्होंने गोमासाहार के विरुद्ध आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया, गुनना में ब्राह्मण अधिक मासाहारी थे, जिनका गोमास खाना पीछे छूटा। बारहवाँ अध्याय में बुद्ध की दिनचर्या और निवास का बखान है। परिशिष्टों में 'महाप्रदानसुत्त' के लएड, चम्बियों की अभ्युन्नति के सात निबन्ध, अशोक का भाग शिलानेल और उसमें निर्दिष्ट सूत्र तथा सन्म विचार का समावेश है।

इस ग्रन्थ में जिन विषयों की चर्चा की गई है उनके आधार के लिए ब्याससम्भव ऐतिहासिक तथ्यों का प्रमाण लिया गया है और उनके परीक्षण तथा विश्लेषण के पश्चात् उनको स्वीकार किया गया है। परन्तु यह बात बिल्कुल बौद्ध साहित्य तथा धर्म के सम्बन्ध में सत्य है उसकी अन्य साहित्य तथा धर्म के सम्बन्ध में नहीं। उदाहरणार्थ 'आर्यों की वय' वाले अध्याय में वैदिक तथा पौराणिक साक्ष्य की परीक्षा किये बिना यह मान लिया गया है कि आर्य बैरिलोनिया या हुनेरिया के आसपास से आये और ब्राह्मण दासों के पुरोहित थे जिनको हराकर यह प्रभान धर्म की स्थापना उन्होंने (आर्यों ने) की, फिर ब्राह्मणों ने आर्यों का पौरोहित्य स्वीकार कर लिया। वेदों के अधिकारा मन्त्रब्रह्म ब्राह्मण थे, इस तथ्य की ओर से बिल्कुल अलैं मूँद ली गई है। उन्होंने 'गण' का अर्थ 'दाता' कल्पित कर लिया है, जबकि उसका स्वीकृत अर्थ है 'सुमे दो, ऐसा कहने वाला'। साथ में यह भी मान लिया गया है कि आर्य अपना वैदिक सम्प्रदाय अहिंसा, योग और परिश्रम के बोध तथा नहीं हैं, इसलिए जैन और बौद्ध धर्म आर्यों के तारों से प्रादुर्भूत हुए, जबकि इन धर्मों की मूलजिन परम्पराओं में इनके प्रवर्तक, प्रवर्तकों के पूर्वज और अनुयायियों ने बहुसंख्यक लोग आर्य प्रत्यवा वैदिक परम्परा के थे और अपने धर्म तथा विद्वान्तों को आर्य धर्म और आर्य सत्य मानते थे। इस प्रकार के निष्कर्षों में पूरा-पूरा अधिक है और तथ्य बहुत कम। यही बात बौद्ध धर्म के कर्मबोध और गीता के कर्मयोग की तुलना करते समय भी की गई है। गीता के 'यज्ञ' के व्यापक और लाक्षणिक अर्थ छोड़कर बार बार उसके कम काण्डाय अर्थ पर ही ध्यान दिया गया है। गीता के समस्त, स्थितप्रज्ञता और निष्काम लोक समग्र का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है।

ग्रन्थ संपादन की दृष्टि से ऐसा लगता है कि छुटे अध्याय के बाद की सामग्री अलग अलग स्वतंत्र रूप से मिली गई थी, जो पाछे एकत्र कर दी गई है। परन्तु उसमें कोई प्रयत्न एकता नहीं आया है। मगवान् बुद्ध के उपदेशों तथा दार्शनिक तथ्यों का क्रमिक तथा शारणीय विवेचन छारे ग्रन्थ में कहीं भी नहीं मिलता। जाति भेद और मासाहार पर अलग अलग अध्याय देने का महत्त्व समझ में नहीं आता। जाति भेद और वर्ण भेद का स्पष्ट अन्तर ग्रन्थ में नहीं है। जाति अथवा वय अन्तर्गत हो या न हो, किन्तु जैन और बौद्ध धर्म के सामने ये मुख्य समस्याएँ नहीं थीं। मगवान् बुद्ध ने इन समस्याओं का विरोध नहीं किया, अपितु उनकी दूसरी परिमाणा और लक्षण दिये। अशोक के समय तक बौद्ध धर्म में नए विरोध नहीं पाया जाता। अशोक ने अपने धर्मशेखों में ब्राह्मण और ब्रह्मण को समान आदर दिया है। पीछे साम्प्रदायिक कारणों से वर्ण की निन्दा प्रारम्भ हुई। परन्तु इसका परिणाम ऊनटा ही हुआ। अपने वल्ल अथवा जाति के प्रति

साम्प्रदायिकता एवं पक्षपात बढ़ गया, परवर्ती बौद्ध धर्म में वंश का नाश नहीं हुआ, किन्तु चार वर्णों की गणना में प्रथम ब्राह्मण के बदले क्षत्रिय आ गए और सलित विस्तार में तो यहाँ तक कहा गया कि बुद्ध का जन्म केवल क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ण में ही हो सकता है, जबकि वर्ण भेद मानने वाले ब्राह्मण ग्रंथों में इक्ष्वाकु का अवतार मत्स्य, कच्छप, वासुद, सिंह (सुसिंह), वामन (अर्द्ध पुरुष), परशुराम (ब्राह्मण), राम (क्षत्रिय), कृष्ण (क्षत्रिय), बुद्ध (क्षत्रिय) आदि सभी कीवधारियों में हो सकता है जैन धर्म के अनुसार तीर्थंकर का जन्म केवल क्षत्रिय कुल में ही सकता है। महावीर ब्राह्मणों के गर्भ से निकालकर क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में डाले गए। जहाँ तक पतिव्रत और सत्यास का प्रश्न है, जैन और वंश का उनमें कोई महत्त्व भारतीय धर्म में नहीं माना गया था। यदि कुछ था भी तो बहुत गौण। मगवान् बुद्ध ने विशेष परिस्थितियों में माला हार की छूट दी थी, आशा नहीं। उसकी वैधता पर बल देकर उनके मूल सिद्धान्त अहिंसा, कष्टत्याग, मैत्री आदि की ही अवहेलना करना है।

प्रथम प्रणयन में लेखक की दृष्टि वैज्ञानिक और तटस्थ न होकर साम्प्रदायिक अधिक है और समाज के विकास में बौद्ध प्रारम्भिक ही नहीं, अन्तिम मान लिया गया है। अतः भारतीय अन्य सम्प्रदायों के साथ बौद्ध धर्म की सजातीय समानता पर बल न देकर उनसे भेद और वैशिष्ट्य पर ही अधिक जोर दिया गया है। वास्तव में बौद्ध धर्म भारतीय धर्म था। कमलाण्ड और देववाद अथवा वेत्ताद के विरोध में भी वह औपनिषदिक और भक्तिवादी परम्परा का ही अनुसरण कर रहा था। मगवान् बुद्ध का मार्ग मध्यम मार्ग अथवा समन्वय का मार्ग था, विमन्यवाद अथवा उच्छेदवाद उनको स्वीकार नहीं था, इसका विचार इस ग्रन्थ में नहीं हुआ है। दूसरे सम्प्रदायों की निंदा और विरोध पर सत्य और धर्म का भवन खड़ा नहीं किया जा सकता। इसे निंदा और विरोध का ही वातावरण उपन होना, शान्ति और सुख का नहीं। प्रथम में यन्त्रि योन्त्री और वैचारिक उदारता से काम लिया गया होता तो इसका मूल्य बहुत बढ़ जाता, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि लेखक की दृष्टि पैनी और शैली विचारोत्तेजक है। पाठक को विचारने के लिए इसमें प्रचुर सामग्री है।^१



प्रकाशन समाचार

ही एक मात्र ऐसी मासिक पत्रिका है जो पाठकों को आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगति से अवगत रखती है। साथ ही इसमें प्रकाशन, लेखन, पुस्तकालय व अन्य सम्बन्धित विषया पर रोचक लेख रहते हैं। पुस्तक परिचय, लेखकीय मंच, प्रकाशकीय मंच इत्यादि स्तम्भ लेखक, प्रकाशक व पाठक वर्ग में निकटता स्थापित करके हिन्दी साहित्य-परिवार को सुसम्बद्ध व संगठित करने में सहायक होते हैं। यदि आप अब तक इसके ग्राहक न बनें हो तो वीछ ही २॥) दो रुपये छाठ आना मनी आडर से भेजकर अपनी प्रतियाँ सुरक्षित कर लें। पोस्टल आडर स्वीकार नहीं किये जाते।

—प्रबन्ध विभाग,
प्रकाशन समाचार,
८, जैन बाजार, दिल्ली

सूचना

आलोचना का भाषासी अंक

नाटक विशेषांक

इस समय प्रेस में है, और इसका प्रकाशन
जनवरी, १९५७ में अवश्य हो जायगा ।

—प्रबन्ध विभाग,
आलोचना,
८, क्रेण बाजार, दिल्ली

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, रानकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, चम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।

21760

आलोचना

नई कविता
साहित्यिक संघर्ष और सामाजिक तत्त्व
रस सौन्दर्य और आनन्द
आदर्श और यथार्थ हिन्दी कथाकार
भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपवास
मैक्सिम गोरकी
प्रस्तुत प्रश्न नई कविता

सम्पादकीय
डॉ० प्रवीरचन्द्र मिश्र
विष्णु प्रसाद त्रिवेदी
अनन्त
अनन्त चतुर्वेदी
गंगाधर झा
ब्रजलाल वर्मा
आचार्य विद्यादास

त्रै मा सि व आ लो च ना

वर्ष ५ अंक ४

पूर्णाङ्क २०

अक्तूबर, १९५६

वार्षिक मूल्य १२)

इस अंक का ३)



▲ सम्पादकीय

— नई कविता --- १

▲ निबन्ध

— साहित्यिक सौष्ठव और सामाजिक उत्थ

डा० भगोराय मिश्र - ६

— रस सौन्दर्य और आनन्द

प्रो० दिग्विजयसिंह १० त्रिवेदी १८

— आदर्श और धर्मात्मा हिन्दी कथाकार

प्रबन्ध - २५

अध्ययन भारतीय लेखक

— भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यास

अनन्त चतुर्वेदी ३५

अध्ययन विदेशी लेखक

— मक्सिम गोर्की

गयाधर झा - - ५२

▲ प्रस्तुत प्रश्न

— नई कविता— दो समीक्षाएँ

प्रबलाल वर्मा - - १४

▲ मूल्यांकन

— ब्रूट और समुद्र वास्तव की समस्या

रामबिलास गर्मा - ८१

— हाथी के दाँत

प्रकाशचन्द्र गुप्त - ८३

— यह बीवी

प्रकाशचन्द्र गुप्त - ८५

— कौटिल्य का नाच

गिबकुमार मिश्र ८६

— हिन्दी रीति-आदित्य

रामचन्द्र तिवारी ८८

— पद्मसिंह गर्मा के पत्र

महमूदमल्ल शारदा - १०२

— पुरानी रात्रिस्थानी

भोलानाथ तिवारी १०४

— बेकरी का मजदूर

गिबकुमार मिश्र १०७

— कला-दंगल

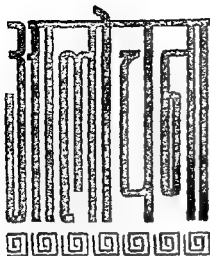
सतीशचन्द्र झा - ११५

— प्रतिमा विगान

कृष्णदेव शर्मा ११६

— धर्मा सुम

धनोहर गर्मा ११८



सम्पादकीय

‘नई कविता’

पत्रिका के इस अंक में नई हिन्दी कविता पर दो सनीहार्द प्रकाशित की जा रही हैं। दोनों समीक्षकों ने नई कविता शब्द से उस विशेष प्रकार की रचना का अर्थ लिया है जो इन दिनों बहुत-बल से वक्त्र पत्रिकाओं में छुवा करती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी की नई कविता वर्तमान समय में इस विशेष शैली या प्रकार तक सीमित है। हिन्दी के अधिकांश मौखिक और गद्यमाध्यम कवि अथवा भी भिन्न प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनकी अपनी गरिमा और महत्व है। यह कहना भी अनुचित न होगा कि हमारी नई कविता का प्रतिनिधि और प्राजल रूप वही है, जो उन मौखिक कवियों द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। ॥ तो माना में और न वैशिष्ट्य में इन प्रशस्त रचनाओं की समता नये प्रयोगों और अभ्यासों द्वारा की जा रही है। पर विशेष तर्क के बिना एक विशेष सहज की रचनाएँ तैयार कर रहे हैं और इसे ही नई कविता का नाम देने लगे हैं। इस नई सुवि

य भाव या विचार ग्रथन शैली और शिल्प की दृष्टि से ऐसी विशिष्टता नहीं लाई जा सकती है कि हम उसे हिन्दी कविता के विकास का आगामी चरण कह सकें। इस प्रकार की रचना भविष्य के प्रति कोई बड़ी आशा भी नहीं बँधाती। ऐसी स्थिति में हिन्दी-कविता की स्वस्थ और प्राजल परम्परा को छोड़कर इस अटपटी शैली की रचना को नई कविता का नाम देना आमक और असमीचीन होगा।

हिन्दी से भिन्न अन्य भारतीय भाषाओं में जो वाक्य-रचनाएँ हो रही हैं, उन्हें देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन भाषाओं के नये कवि नई भावभूमियों का स्पर्श कर रहे हैं। उनकी काव्य शैली आवश्यक नवीनता भी अपने साथ लाई है। परन्तु हिन्दी की भौतिक अन्य भाषाओं में लगातार काव्य पद्धति से दृढ़ता उका विलगाव नहीं दिखाई देता। तनका वाक्य क्रमागत काव्य को नया विस्तार और नई प्राण शक्ति देता है, कि न हिन्दी की यह नई रचना अपने नयेन में एक अचम्भा उपान करती है। हिन्दी की मौखिक काव्यधारा से नये प्रयोगों की रचना इतनी भिन्न हो

गई है कि दोनों में किसी प्रकार का तारतम्य देख पाना भी कठिन हो गया है। कदाचित् यही कारण है कि इस प्रकार की कविता हिन्दी के सामान्य पाठक के काम की नहीं रही। उसका क्षेत्र एक विशेष तन्त्र तक सीमित हो गया है। यदि नवीनता के नाम पर प्रतिदिन सीमित और सीमा क्षेत्र की वस्तु बन जाना ही नई कविता की गतिविधि है तो यह संपूर्ण हिन्दी जगत् के लिए विचार करने की बात है। हम इस नई शैली की रचना को नई कविता कहेंगे नाम से नहीं पुकार सकते, क्योंकि हिन्दी की नई कविता इस छोट घेरे में घिरी हुई नहीं है। साथ ही हमें इस छद्म नाम वाली नई कविता की संपूर्ण परीक्षा करनी होगी ताकि उसकी असलियत का उचित ज्ञान हो सके।

हमें यह देखकर कम आश्चर्य नहीं होता कि नई कविता के हिमायती छद्म के विरोधी हैं और लय के पक्षपाती। जिन नये कवियों को कोई रचना किसी छद्म को अपनाकर चलती है, उनके प्रति नये सम्प्रदाय के कर्णधार सशक्त रहते हैं और अवसर आते ही उन्हें चेतावनी देते हैं। यदि चेतावनी मिलने के साथ ही कवि ने छद्मों का रास्ता न छोड़ा तो उसे सम्प्रदाय से बाहर किये जाने का खतरा उठाना पड़ता है। यदि हम पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित होने वाला प्रयोगवादी समीक्षाओं को ध्यान से देखेंगे कि प्रयोगवादी कविता किस छद्मों का वर्णन एक आवश्यक तथ्य बन गया है। छद्म के स्थान पर लय का चन्दा प्रयोगवादी विचारक अवश्य कहते हैं, पर छद्म का बहिष्कार करके लय की उपयोगिता बताना एक निश्चित अंतर्विरोध का परिणाम है। काव्य के लिए छद्म के बाह्यकार की ऐसी पाय की कविता के इतिहास में शायद ही कभी लगी हो। जिन कवियों के कानों की

छद्मों का संगीत वर्जित है वे लय की संगति कहाँ तक समझ और पा सेंगे? यही कारण है कि काव्य में लय की अभिव्यक्ति करने वाले श्रजेय जैसे रचनाकार भी हिन्दी काव्य के संगीतात्मक और लयात्मक पक्ष से अनवगत रह गए हैं। साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'भारतीय कविता, १९५३' नामक सद्यः प्रकाशित पुस्तक में उनकी एक कविता का कुछ अंश इस प्रकार है—

यह दीप अकेला स्नेह भरा,
है गव भरा मदमाता, पर
इसको भी पक्षि को दे दो।

यह प्रकृति स्वयम्भू, मक्ष अयुत
इसको भी शक्ति को दे दो।

मिश्रासु प्रसन्न सदा भद्रामय,
इसको भक्ति का दे दो।

हिन्दी का साधारण पाठक भी इन पंक्तियों की लयहीनता बिना प्रयत्न के ही बता सकेगा, परन्तु की आवश्यकता भी न होगी।

पूछा जा सकता है कि नई कविता के ये पुरस्कर्ता का क्या सहज संगीत और लय की पहचान क्यों नहीं रखते, उत्तर यह है कि ये काव्याभ्यासी अपनी विलक्षण मनोवृत्ति और भावना के जाल में फँसकर काव्यता के इस सर्वसम्मत अंग से घचित हो गए हैं। इन लेखकों ने हिन्दी काव्य की अपनी लयपद्धति का भी उचित अनुशीलन नहीं किया है और प्रायः अंग्रेजी कविता का लय स्वरूप को हिन्दी में अनुकरण कर रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि पश्चिमी संगीत और भारतीय संगीत, पश्चिमी काव्य और भारतीय काव्य में जितना और जो कुछ स्वाभाविक अंतर है हिन्दी और अंग्रेजी भाषा का लयपद्धति में भी उतनी ही

मिनता है। इस प्रकार की कविता की अगद लयों का एक तीसरा और उदात्त मूल कारण यह है कि नये रचनाकार काव्य की सहज और अतर्क प्रेरणाओं से संचालित नहीं हैं। वे अधिकांश भ्रमनाभ्य और गढ़े हुए कवि हैं जिन्होंने कवि कर्म का वातावरण मिला है।

जब से इस नये प्रकार की कविता का प्रारम्भ हुआ, तब से इस शैली के कवि स्वयं समीक्षक बन गए हैं और अपनी कविता का मर्म आप ही बतलाया करते हैं। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि इन कविताओं का मर्म और मूल्य प्रकट करने के लिए इन कवियों को अपना ही सहारा रह गया है, कदाचित् अर्थों को इन स्थितियों से कोई रजि या संशोधन नहीं रहा। यह न केवल कविता की गलत है, शका और भय की भी वस्तु है। वह भी क्या काय है जिसका पारायण और आस्थादान करने के लिए हर पक्षी ‘चारपाओं’ की आवश्यकता पड़े। और चारपा भी वही जो स्वयं रच दिया है। हिंदी पाठकों का विश्वास समाप्त क्या इस स्थिति से सतृप्त या प्रवृत्ति हो सकता है? समस्या यह है कि हम कविता की अधिक महत्त्व दें, या उसकी शक्त को? किसी युग के काव्य के लिए क्या यह कम बुनायत की बात है कि गिना विस्तृत व्याख्याओं और वक्तव्यों के उसका पारायण ही न किया जा सके। नई कविता के इस परावृत्त का अर्थ यही है कि यह प्रकृत धारा से टूटकर अलग हो गई है, सहज भावगम्यता का आदर्श छोड़ती है और अपनी भाव सम्पत्ति को बौद्धिक आवरणों से आवृत कर डुबड़ बन गई है।

कुछ समय पूर्व इस नई कविता के सम्बन्ध में चर्चा करने पर एक पत्रकारी युवक ने कहा था कि इस कविता में बुद्धिरस की प्रमुखता

माननी चाहिए। साहित्य के नवरसों के अतिरिक्त यदि कुछ लोग वास्तव्य, सत्य और माधुर्य आदि रसों की कल्पना कर सकते हैं तो बुद्धिरस को स्वीकृति क्यों नहीं दी जा सकती? प्रश्नकर्ता को इतना तो ज्ञात ही था कि काव्य की प्रक्रिया भावमूलक ही होती है। प्रतिभाशाली कवि आत्मस्वर बौद्धिक और दार्शनिक तथ्यों या अपनी भावमयी रचना में समाहार किया करते हैं। शायद ही कोई कृति हो जिसमें बौद्धिक चेतना का प्रवेश नहीं हो पाया। अतिशय भावना प्रपञ्च कल्पना चाही भी यह मानते हैं कि सहज कृतियों का उदात्ततरंग मानव संस्कृति के विकास के साथ साथ होता है। कोई राष्ट्र या जाति अपनी मूल या आदिम कृतियों को सौंपे बैठी नहीं रहती। कविता में जातीय जीवन का बौद्धिक विकास भी प्रतिबिम्बित होता है, परंतु बुद्धिरस तो एक अनोखा पदार्थ है। काव्य के इतिहास में यह शब्द इसके पूर्व कदाचित् कभी नहीं आया। यहाँ इसका निषेध करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस पर गम्भीरता पूर्वक आस्था रखने वालों की संख्या नगण्य है।

तथास्थित यह कविता में इसी बुद्धिरस का बाहुल्य है, इसीलिए कविता की यह तरंगधारा साहित्यिकी के लिए अटपटी और अमात्र बनी हुई है। काव्य में साधारणीकरण के प्रश्न पर मत देते हुए भी अनेक एक स्थान पर कहते हैं, “असे (कवि को) अभी कुछ कहना है जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है। इसलिये वह उसे उनके लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हें वह समझा सके साधारणीकरण को उसने जोड़ नहीं दिया है पर वह चित्तों तक पहुँच सके वन तक पहुँचता रहकर और जाने जाना चाहता है, उनको

झोड़कर नहीं।" इस अभिमत में लेखक भाव और भाषा दोनों ही क्षेत्रों में एक सावधानिक असाध्यता की आशङ्का करता है। लेखक की समझ में कवि के भाव और उसकी भाषा सहज प्रेम्भ या सार्वजनिक नहीं हो रहे। वह उद्भ्रमशय प्रेम्भ और रोधगम्य बनाने की आशा रखता है। उसका यह भी सन्देह है कि नई पीढ़ियों के कवि नई भाषा चेतना का आविर्भाव करते हैं और इस निमित्त नई भाषा का माध्यम ग्रहण करते हैं। इस समस्त निरूपण में यह कहीं नहीं कहा गया कि काव्य या साहित्य में यह नवीनता अपना लक्ष्य आप ही है या इसकी कोई वस्तुस्थिति या सामाजिक स्थिति या सत्ता भी है। युगचेतना के निमाता कवियों की इतनी लक्ष्मी सफाई नहीं देना पड़ती। समाज के सामने उनका प्रदम्भ का य रहता है, उनकी अनुपस्थिति अनुभूति रहती है और उनकी ममस्पर्शिता अभिनव भाषा रहती है। इन विविध सम्पत्तियों से सम्पन्न कवि को साधारणीकरण की द्विचिन्चाहट भरी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

नई कही जान वाली इस कविता की भाषा सम्पत्ति पर भी एक दृष्टि डालनी चाहिए। यह कौनसी नवीनता है जिसके साधारणीकरण में इतना सदेह और अविश्वास है? निश्चय ही साधारणीकरण में विलम्ब या असामर्थ्य वे ही कृतियों उत्पन्न करती हैं जिनकी भावधारा असामाजिक है, लोककवि अथवा लोक की आशा आकांक्षा के प्रतिकूल है, इतनी निजी या वैयक्तिक है कि समाज उसकी उपेक्षा करता है अथवा ऐसी उलझी हुई और रहस्यमय है कि उस तक पाठक की पहुँच नहीं हो पाती। नई काव्य उपज का अनुशीलन करने पर इनमें से एक या अनेक विशेषताएँ अवश्य दिखाई दे जाती हैं। अनेक

रचनाएँ क्षणिक विनोद अथवा भोंडे यम्य की सृष्टि के आगे नहीं जातीं। उन पर किसी प्रकार की गम्भीरता देना साहित्यिक कार्य नहीं है। आगे उठने पर ऐसी रचनाओं से सावधान पड़ता है जिसमें अर्थपरम्परा टूट टूट जाती है और पूरी रचना पल लेने पर किसी भाषा विविध का बोध नहीं होता। ऐसी रचनाएँ अतमन से अधिक सन्न व रसती हैं, अतएव जब तक पाठक का अतमन और उसकी प्रज्ञा उसी संचे में नहीं ढल जाती, जिसमें रचयिता की ढली है, तब तक वह रचना उसकी समझ के बाहर ही रहेगी। स्थिति यह नहीं है कि कवि अपने भाव-वाह्यत्व में इतना प्रगल्भ है कि पाठक को उसकी सम्पूर्ण अभिज्ञता कुछ विलम्ब से होती है, बल्कि वहाँ तो भावधारा की विरलता ही आँके आती है। वहाँ भाषना अतमन की उदास भर है। इस प्रकार की रचनाएँ परिचय से हिंदी में आ रही हैं। इनमें अन्तर्चेतन की प्रतिक्रिया बिना किसी प्रकार का चेतन सूत्र पकड़े व्यक्त होती है। ये रचनाएँ सामाजिक और सावहारिक तथ्यों से नितान्त अक्षुब्ध रहती हैं और कवि के निगूढ मन की छाना प्रतिभासित करती हैं। ऐसी कविताएँ हिंदी में किसी नैसर्गिक प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं कही जा सकती। यह निहायत विदेशी कलम है और हिंदी के लिए बहुत कुछ बेमानी है। तीसरे प्रकार की कुछ रचनाएँ कवि को समाज अथवा राज्य द्वारा सन्नत होने की सूचना देती हैं। सामाजिक यथार्थता और राष्ट्रीय दायित्व का इन रचनाओं में यम्य हुआ करता है। युग-जीवन के प्रति विरसित इन रचनाओं का प्रधान स्वर है। प्रतिक्रिया में कुछ कवि समान और राज्य को घोर अपराधी टट्टाकर अपने लिए अथवा अपने जैसे अर्थों के लिए हर

प्रकार का छूट चाहते हैं—नैतिक, वैचारिक और क्रिया सम्बन्धी। एक कृत्रिम विपाद की आशंका यह छूट माँगी जाती है। जिस प्रकार वह विपाद दिली और श्रव्यवास्थान है उसी प्रकार यह छूट भी अनधिकृत है। कहते हैं कि ऐसी रचनाओं में मध्यम और विशेषतः उसके बुद्धिजीवी अर्थ का अन्तर्भाव और किंवदन्तता मिश्रित हुए हैं। किन्तु किसी भी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक स्तर पर इन रचनाओं का समाधान नहीं किया जाता।

और भी रातों इस नई कविता में हैं, परन्तु जिस मूल वस्तु की अपेक्षा और अघोषिता सर्वत्र की गई है वह है जीवन सम्बन्धी रचनात्मक दृष्टि, परम्परा और क्रियाशीलता। वैयक्तिक या वर्गागत प्रतिस्पर्धाओं में भी वास्तविकता होती है या हो सकती है, पर उस वास्तविकता का अवलम्ब केन्द्र राष्ट्रीय स्तर का कार्य उत्पन्न नहीं होता। नई कविता व्यक्ति और वर्ग की प्रतिनिधि होती जारी है। सामूहिकता और सार्वजनिकता उसके उपादान नहीं रह गए हैं। यहाँ हमें अपेक्षीक साधारणीकरण वाले अभिमत की ओर फिर से दृष्टि निक्षेप करना पड़ता है, जिसका अहंता हम ऊपर कर चुके हैं। साधारणीकरण के मूल में सामाजिक और सामूहिक छवेदना ही होती है। लम्बी-चौड़ी भूल भुलैया में भटकने के बाद अन्त में हम तथ्य पर आना ही पड़ेगा कि कान की कार्यक्षमता वैयक्तिक सुख-दुःख की भूमि से ऊपर उठकर सार्वजनिक सुख-दुःख की भूमि में पहुँचने में है। यह प्रश्न अन्ततः कवि के व्यक्तित्व का है। वह अपने निजी परिवेश और प्रवृत्तियों से परिचालित होकर अपने व्यक्तित्व को सीमित कर बैठा है, अथवा परिवेश से ऊपर उठकर राष्ट्रीय और मानवीय धरातल पर आ

सका है। व्यक्तित्व की इस परिधि का अतिक्रमण करने पर ही सृष्टि सम्भव है और श्रेष्ठ काव्य कभी अवसादमूलक नहीं हो सकती।

पिछले कुछ समय से नई कविता के समर्थन में एक नया तर्क दिया जाने लगा है, यह कि किन्तु नई कविता वादों के आग्रह को छोड़ कर मानवीय स्तर पर आ रही है। कुछ समर्थकों ने इसे काव्य में नये मानववाद का नाम दिया है। यह तथ्य की अपेक्षा कुछ अधिक है। पारघात्य साहित्य में मानवतावाद और मानववाद के अर्थ को घोटन करने वाले दो शब्द प्रचलित हैं। मानववाद का पर्याय हाय्मनीटेरियनिज्म है और हाय्मनिज्म को मानववाद कहते हैं। मानववाद के अन्तर्गत शेक्सपियर, मॉन्टेन, इम्बेन आदि परिगणित होते हैं, जिन्होंने मनुष्य की सम्पूर्ण दृष्टियों का— उसकी सम्पूर्ण शक्ति और दुर्बलता का—निस्संग चित्रण किया है। मानवतावादी लेखक अधिक भावुक और आदर्श प्रेमी होते हैं। दासदाप को मानवतावादी लेखक कहा जाता है, क्योंकि उसने अपनी अपार सहानुभूति से पददणित मानव की अशेष निहित शक्तियों और सम्भावनाओं का आलेख किया है। प्रश्न यह है कि प्रयोगवादी काव्य में मानववादी अथवा मानवतावादी दृष्टिकोण कहाँ है और किस प्रकार है। क्या इन रचनाओं में मनुष्य के सुख-दुःख की, उसके मिलन-विषोग, दर्प-विषाद की सज्जित पारणा है या वह एकांगी रूप से व्यक्ति और वर्ग की सीमित आकांक्षाओं और स्थितियों का विरापन है। अथवा जो अधिकांश रचनाएँ हम पढ़ सकते हैं, उनमें हमें यह सन्तुलित मानववाद कहाँ नहीं दीखता। उसके बदले भूरी विमीरिका में पड़े हुए रोते-झरोकते हुए बाइबल की छद्म श्रमि

लापाएँ, लुप्त चिन्तनाएँ अधिक परिलक्षित होती हैं, अथवा फिर ऐकान्तिक इच्छापूर्तियों और तुच्छाओं का बाहुल्य है। क्या यही मानवतावाद की भौंकी है, यही टाल्सटॉय की प्रतिच्छवि है? हम देखते हैं कि ये लेखक टाल्सटॉय के जीवन दर्शन से भिन्न—बहुत भिन्न—जीवन दर्शन के हिमायती हैं। अभी अभी एक कविता संग्रह की भूमिका में हमने पढ़ा कि नये लेखक और नये कवि 'क्षण' के महत्त्व की सर्वोपरि मानते हैं। हम नहीं कह सकते कि यह वक्तव्य नई कविता को देखते हुए कहाँ तक ठीक है। यदि इसका अर्थ यह है कि क्षण के अतिरिक्त और कुछ भी सब या सार्थक नहीं है, अतएव आये हुए क्षण का सम्पूर्ण सुखात्मक उपभोग कर लेना है, तो इस क्षणवाद की मानवतावाद का नितांत विरोधी और विपरीत दर्शन मानना पड़ेगा। मानवतावाद त्याग और आस्था की भूमि पर सन्निहित है, क्षणवाद के उठरने की व्यक्तिगत विलास की भूमि है।

नई कविता के वादरहित स्वरूप पर बल देते हुए एक अन्य समीक्षक ने एक दूसरे अनोखे तर्क का सहारा लिया है। वे कहते हैं कि हिन्दी के पिछले काव्य युगों में नायक के आधार पर काव्य के लक्ष्य विशेष की सूचना मिलती थी और वे नायक एक विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों वाले व्यक्तित्व की प्रतिफलित करते थे। उदाहरण के लिए छायावादी काव्य में नायक की रूपरेखा एक विशेष प्रकार की होती थी, जिससे इसका प्रवृत्ति या भाव दिशा का परिचय मिलता था। 'कामायनी' के मनु अथवा निराला के 'तुलसीदास' ऐसे ही व्यक्तित्व हैं। इसी प्रकार प्रगतिवादी काव्य के नायक भी अपनी विशिष्टता लेकर आये हैं। इस प्रकार की किसी एकदेशीय विशेषता का

आग्रह नई कविता के नायक नहीं करते। यह भी कहा गया है कि नायक का अस्तित्व नई कविता से विलीन होता जा रहा है। पता नहीं इस कथन के पक्ष में कौनसे प्रमाण हैं। देखा यह जाता है कि नई कविता में या तो कवि का अहम् प्रमुख व्यक्तित्व ही व्यक्त होता है अथवा फिर ऐसे व्यक्तित्व और वातावरण की सृष्टि की जाती है जिसमें नायक और उसकी परिस्थितियों अन्धकारमयी दिखाई पड़ें। श्री घमवीर भारती का नया नाटक 'अंधा युग', जो कई दृष्टियों से एक सफल कृति है, इसी अनास्था की अभिव्यक्ति करता है। तीसरे प्रकार की कृतियों वे हैं जो किसी भाव दृष्टि या चरित्ररेखा का निमाण करती ही नहीं। ऐसी रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से असफल ही कही जायेंगी, क्योंकि उनमें किसी प्रकार की स्पष्ट ग्राह्यता आती ही नहीं। हम नहीं कह सकते कि समीक्षक ने किन नवीन कृतियों का आधार लेकर नायकहीनता अथवा निश्चयता की बात कही है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि नायक हीनता से काव्य के मानवीय दृष्टिकोण का बोध कैसे और किस प्रकार होता है? अधिक सम्भव है कि कविता की निश्चयता ही नायक हीनता का हेतु हो। जिसे कुछ कहना है वह किसी न किसी चरित्र को आधार बनाकर चलेगा ही।

वर्तमान समय में साहित्यिक और काव्य समक मूल्यों की अभिरुता घटती चली जा रही है। जिन युगों में उत्तम साहित्य की सृष्टि नहीं होती, कदाचित् उन ही युगों में साहित्यिक मूल्य भी अज्ञेय रहा करते हैं। पश्चिम की चटकीली पुस्तकों और चंचल प्रतिमानों ने हमारे बीच अवस्था उत्पन्न करने में और भी सहायता दी है। वहाँ अनेक नामों के साथ अनेक प्रसिद्धियाँ लगी हुई हैं। अनेक

युगों की अनेकविध प्रशंसा की गई है। किंतु समाहित रूप में साहित्यिक आकलन की कमी वहाँ भी पूर नहीं हुई। नये नये वादों के स्रष्टा और संचालक अपने सम्प्रदायों में पूजित हैं। किंतु सम्पूर्ण साहित्य जगत् सम्प्रदायों की चंचा से अनुप्राणित नहीं हो सकता। सार्वजनिक मूल्यों और मानों का निरूपण और स्थिरीकरण होना ही चाहिए। किसी एक विशेषता या आविष्कार को लेकर बाढ़े जितनी दुहाई दी जाय, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भूमि पर उसकी परत भी करनी होगी। सम्भव है नई कविता की बहुत सी उपलब्धियाँ अनुसिलित और अनकटित रह गई हों। परंतु इतना तो स्पष्ट है कि नई कविता की विवेचना बहुत अधिक अतिरिजित भी होती जा रही है। पश्चिम में जिस प्रकार विविध साहित्यिक सम्प्रदायों के बीच आत्म विश्लेषण की प्रथा है उसकी आवृत्ति हम हिंदी के क्षेत्र में भी कर रहे हैं। किंतु पश्चिम में राष्ट्रीय भूमिका पर समग्र विवेचन की जो प्रणाली अपनाई गई है उसे हम अब तक नहीं अपना सके। समय बदलता है, समय के साथ स्थितियों और बलियों बदलती हैं, साहित्य की पद्धति बदलती है, परंतु इस अनवरत परिवर्तन में साहित्य के मूलभूत उपादानों और उपकरणों को सुला बेना मुड़ि मानी नहीं है। साहित्यिक समीक्षा की सार्थकता इस बात में है कि वह स्थिति और गति, ‘व्यशील और अभ्य’, के चिरकालीन वैषम्यों में अपने को खो नहीं देती, यत्कि न निश्चित और निर्विकल्प रूप में अपने आपको निरंतर प्राप्त करती रहती है।

ऊपर के सज्जित वक्तव्य से हिंदी की नई शैली की रचना का जो रूप हमारे सामने आता है, उससे हम इसके भविष्य पर कुछ भी कह सकने की स्थिति में नहीं हैं।

हम यह मानते हैं कि छायावाद की काव्यधारा अपने ऐतिहासिक उभे में जो मूल्यवान मॉड साहित्य को दे गई है, उससे परचात् नये काव्य की सुस्पष्ट रूपरेखा बनने में समय लगेगा। हम यह नहीं कहना चाहते कि हिंदी उस पुरानी शैली की आवृत्ति ही होती रहे। नवीनता का य का प्राथमिक उपादान है और पिष्टपेषण उसका अंतिम अभिशाप। छायावाद की शिष्ट और अलङ्कृत पदावली तथा उसकी विमोहक कल्पना छवियों की प्रतिक्रिया होनी ही थी, परंतु कोई भी प्रतिक्रिया अपने आप में साहित्यिक मूल्य नहीं रखती। हम नवीन निमाय, नये शिल्प, नई यस्तु योजना और नई सम्योचित जीवन दृष्टि की भी चाहते हैं। इन तत्त्वों के समन्वित योग से जो नई काव्य प्रतिमा बनेगी उसका स्वागत भी सभी सुभी जन करेंगे। अतिशय भावात्मकता के स्थान पर अतिशय बौद्धिकता स्वभावतः उसका स्थानापन्न बनना चाहती है, संगीत के मोहक स्वरों के परचात् वर्कशता का भी एक आकर्षण हो सकता है, हिंदी काव्य की कल्पना प्रत्यक्ष आध्यात्मिकता के परचात् एक नये मासल प्रकृतिवाद की पुकार भी अनहोनी नहीं है। दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि महायुद्ध के परचात् हमारी सामाजिक परिस्थितियों भी बड़े वेग से बदली हैं, विशेषकर बुद्धिजीवी वर्ग के जीवन में आपात परिवर्तन आया है। किंतु इस समस्त परिवर्तन और स्थित्यंतर के बीच हम अपना सतुलन नहीं खो सकते। हिंदी कविता आज अपनी आरोप प्रियता और व्यंग्यमयता में उस सतुलन को खोती जा रही है, जो राष्ट्र की सबसे मूल्यवान घरेलू है। नये समय में लेखकों और कवियों का दायित्व बहुत बड़ा है, परन्तु वे समझते हैं कि उन पर किसी ने कोई अनत्याहित विपत्ति

दा दी है। वे अपने को समाज या राज्य से आहत मानते हैं। उनकी कविता का मुख्य स्वर पीड़ा का व्योतन करता है, इसी पीड़ा की अगली प्रतिक्रिया आत्मपीड़ा में परिणत होती है और तब कविता में श्रृंगारिक भावना की शारीरिकता जोर पकड़ती है और कवियों को बहुत कुछ आत्मपीवी और असामाजिक बना देती है। हिंदी की नई कविता में यथार्थवाद के नाम पर इन्हीं भावनाओं और प्रवृत्तियों

की प्रमुखता हो रही है। किंतु भावना की ऐकांतिक शून्यता में पग रखते हुए कवियों को विशाल सामाजिक जीवन और उसके घात प्रतिघातों में मुँह नहीं मोड़ लेना है। नई कविता के उनायक यदि हिंदी काव्य की मध्यशील राष्ट्रीय परम्परा को कुछ भी मूल्य या महत्त्व देते हों तो उन्हें अपने रचना क्षणों में अधिक समय, शालीनता और दायित्व का परिचय देना ही होगा।



निराल

डॉ० मंगीरथ मिश्र

साहित्यिक सौष्ठव और सामाजिक तत्त्व

साहित्य और समाज का अटूट और अगाध सम्बन्ध है। समाज की जीवन धारा में साहित्य का कमलजल बिजाया होता है, समाज के तक का परिष्कार साहित्य का नवनीत है, समाज के शरीर का सुख साहित्य है। वह समाज की धरती पर उगने वाले जीवन का फूल है। समाज के सुख तु लोगों की गंगा-यमुना की धाराओं के संगम पर साहित्य त्रिवेणी और तीर्थराज है। साहित्य सुगन्ध है, साहित्य मधुरिमा है। वह रूप, सो-दर्य और प्रगति के प्रभाव का साकार चित्र है। यह समाज की बुद्धि का परिष्कार और अनुभव पर अनुभूति का गार है। साहित्य समाज की चिरस्थायी सृष्टि है। व्यक्ति उत्पन्न होते और समाप्त होते हैं, पर साहित्य उत्पन्न होने पर चिरकाय तक स्थिर रहता है, बल्कि यह कहना सक्ता है कि उच्च साहित्य तो अमर ही है। साहित्य इस प्रकार समाज की अमर सृष्टि है। उनमें चित्रित जीवन का रूप शाश्वत है। आज हमारे बीच राम, रावण, लुह, इसा, इलियड, बस्तन, दुष्मन्त, सीता, शकुन्तला आदि नहीं, परन्तु साहित्य के बाव में आज भी जीवित हैं। इतना ही नहीं, जो समाज में कमी नहीं थे, वे भी साहित्य में उत्पन्न हुए और अमर हैं। इस प्रकार साहित्य, समाज की सृष्टि होता हुआ भी, अपने निजी समाज की सृष्टि करता है। अतः साहित्य और समाज का अनायास सम्बन्ध है।

समाज की शरती में उलझ जाने पर या समाज में विकृति हो जाने पर साहित्य की स्थिति दबाई है। जब तक एक क्षीण बूढ़ा भी समाज से साहित्य की पतन को बाँधे रहता है, तब तक वह दूर दूर तक उड़ता हुआ भी प्रगतिशील, यथस्थित एवं सुकालित है, परन्तु यह सामाजिक सूत्र कट जाने पर वह कटी फलक के समान विग्रहित होकर यथ उड़ता है। समाज की मनुष्य चेतना, जो साहित्यकार में निष्ठ रहती है, साहित्यिक सृजन की परिचालिका है, जिसके बिना न उसे समाज की धरती ही मिलती है और न बलपना का आकाश ही।

साहित्य की सामर्थ्य तभी है जबकि वह जीवन के प्रति एक अटूट आस्था और प्रयत्न उत्साह भर दे। जीवन के विविध पक्षों का सौन्दर्य इतने प्रेरक रूप में वह हमारे सामने प्रस्तुत करे कि उसकी निवृत्तियों को हम दूर करके उसे सुपर बनाने की उत्पत्ता प्राप्त करें। विवृत्तियों

इस रूप में और इस अनुपात में न आएँ कि उसके सौ द्य को ढक लें, रूप को बोझिल बना दें और हमारे मन में एक निराशा और निरुत्साह भर जाय। अगति और स्थिरता की सड़ों से हम ऐसे श्रोत प्रोत हो जायें कि विवृति के साथ समझौता कर लें। वहाँ साहित्य इस प्रकार की स्थिति में पड़ जाता है वहाँ उसमें असामाजिक तत्त्व प्रधान हो जाते हैं और सामाजिक तत्त्व शीघ्र हो जाते हैं। ऐसी दशा में न केवल साहित्य ह्रासो मुख होता है, वरन् समाज भी पतन को प्राप्त करता है।

साहित्यकार के तेजस्वी व्यक्तित्व का तेज साहित्य में सदैव व्योतित रहना चाहिए। वहाँ पर साहित्यकार तेजस्वी न होकर स्वयं विकारग्रस्त और कृष्ण रूप में आता है, वहाँ हम उसके साथ सहानुभूति भले ही रखें परन्तु उससे कुछ प्ररणा प्राप्त नहीं करते। ऐसा भी होता है कि उसके विकार का सफ़मण दूसरों पर भी हो जाय। अतः अत्यधिक रोना साहित्य में असामाजिक है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि यदि साहित्यकार की निजी अनुभूति दुःखमयी हो और परिस्थितियाँ भी विषाद और निराशा-ग्रस्त, ऐसी दशा में उसकी प्रतिभा उसके निजी अनुभवों को प्रकाशित करेगी, तो क्या ये समस्त दुःखात्मक अनुभव के प्रकाशन असामाजिक होंगे? इस प्रसंग में उत्तर यही दिया जा सकता है कि यह बात साहित्यकार की निजी प्रवृत्ति एवं सामाजिक भावना दोनों ही पर निर्भर करती है। साहित्य एक सामाजिक अर्थात् समाज के हित की गह सृष्टि है, अतः उसमें अपनी वैयक्तिक दुःखानुभूति को सामाजिक धरातल पर, सामाजिक सम्बन्धना के रूप में प्रकट करना अधिक उत्कृष्ट है। इस प्रसंग में गोभामि तुलसीदास और प्रेमचन्द का नाम लिया जा सकता है। इन दोनों के समान दुःख और निराशापूर्ण परिस्थितियाँ और क्लेश भी क्या होंगी या हो सकती हैं? फिर भी, इनके साहित्यों में सामाजिक तत्त्व इतने उदात्त और शुद्ध रूप में प्रतिफलित हुए हैं कि इनकी रचनाएँ हमारे लिए आदर्श का काम करती हैं।

दूसरी शक्ति यहाँ पर एष और यह उठ सकती है कि 'व्यक्ति समाज का अवयव है। व्यक्ति ही मिलकर समाज बनाते हैं, तब वैयक्तिक अनुभूतियों का, चाहे वे दुःखात्मक हों या सुखात्मक, साहित्य में प्रकाशन महत्त्वपूर्ण है। अतः वैयक्तिक निराशा, समाज के भीतर निराशा के प्रति संवेदना जगाने वाली होती है और इस प्रकार सामाजिक संस्कार अधिक संवेदनापूर्ण बनते हैं, तब उनको साहित्य में क्यों स्थान न मिलना चाहिए? बात हमारे सामने यही है कि हमें अपने कर्त्तव्य की प्रेरणा तथा जीवन में प्रवेश करने का उत्साह यदि साहित्य से मिलता है, तो वह साहित्य का रूप अभिनन्दनीय है। यदि निराशा या दुःखों के चित्रण ऐसे हैं कि वे हमें पीड़ितों या दुःखियों के लिए क्रुद्ध करने और सोचने के लिए बाध्य करते हैं, तो वे सामाजिक उद्देश्य को ही सिद्ध करते हैं। परन्तु यदि वे हमें स्वयं ही निराशा और अकर्मण्य बनाते हैं, तो वे वाञ्छनीय नहीं हैं। यह प्रभाव साहित्यकार के दुःखानुभूति के चित्रण में यात दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। देखना हमें यही है कि निराशा और विवृति का चित्रण हमें उसे दूर करने की कोश प्रेरणा देता है या उसके साथ समझौता करके हमारे आत्म विकास के स्थान पर आत्म संकोच का प्रेरक बन बैठता है। यदि वह आत्म विकास को प्रेरणा देता है, तो वह उपात्त है अथवा सकीर्ण।

इस प्रकार साहित्य की कसौटी प्रधानतया सामाजिक है। वैयक्तिक आनन्द को देता हुआ

भी साहित्य या काव्य का रूप सामाजिक होता है, क्योंकि वह एक साथ ही एक व्यक्ति को नहीं, परन्तु, समाज के अनेक व्यक्तियों को उसी प्रकार की अनुभूति प्रदान करता है। सामाजिक अनुभूति और चेतना की पूर्णतया अवहेलना करके साहित्य सामायुक्तता नहीं बन पाता। केवल एक स्थिति इस प्रकार में सम्भव है, जिसमें समाज पूर्णतया पतनो मुख और विभूत हो तथा साहित्यकार एक प्रबुद्ध चेतना का व्यक्ति। ऐसी दशा में वह समाज में व्याप्त भावना के विपरीत उदात्त चेतना का प्रवर्तन करता है और समाज की भ्रष्टता के कष्टा प्रदाय से विचार, आदर्श और प्रभाव को जनकात्तर स्फूर्ति एवं उदात्त चेतना प्रदान करता है। कबीर आदि का कार्य इसी प्रकार का है।

साहित्य सृजन की प्रेरणा भी सामाजिक भावना के अनुपलब्ध होती है, प्रातृक नहीं। अधिकतर विद्वानों द्वारा सृजनत्मक प्रेरणा के दो कारण माने गए हैं वे हैं, अभाव आत्म प्रकाश, सौंदर्य प्रेम, कामना पूर्ति और आनंद। यदि हम विचारकर देखें तो इनमें भी सामाजिक सम्बन्ध देखा जा सकता है। साथ ही साहित्यकार जब इनमें से किसी तत्त्व से प्रेरित होकर लिखता है, तब वह समाज की भावना का प्रतिनिधित्व भी करता है। अभाव की दशा में वह अपनी प्रपञ्च समाज की स्थिति में किन्हीं बातों का अभाव देखा है जो उसकी कल्पना में स्थित आदर्श समाज के भीतर होनी चाहिए। अतएव वह अपनी प्रतिभा द्वारा साहित्यिक सृष्टि करता है, जिनमें उस अभाव की पूर्ति है। इसका एक पक्ष तो वैयक्तिक सतोष है, परन्तु दूसरा पक्ष सामाजिक है। उस अभाव की समाज के बहुत से लोग अनुभव करते हैं, अतः उसकी इस कारपनिक पूर्ति में उन्हें भी सतोष मिलता है, वह सामाजिक मनोविज्ञान की बात है। पूर्ति न भी करे तब भी अभाव का यथार्थ चित्र साहित्य में आने पर, उसे पूर्ण करने की एक प्रबल भावना हमारे हृदयों में जागती है और यदि कवि या साहित्यकार ने उस दिशा में मार्ग प्रदर्शन कर दिया, तो हम अपने बीच उस आदर्श को उतारने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्ध स्पष्ट है।

आत्म प्रकाश या आत्मामिव्यक्ति, साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा मानी गई है। साहित्यकार का आत्म, लोकमानस में प्रतिष्ठा प्राप्त होता है। उसकी आत्मामिव्यक्ति जैसे समाज के अनेक व्यक्तियों की निजी आत्मामिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ गोस्वामी तुलसीदास की 'विनय पत्रिका' या मीरा की पदावली, आत्मामिव्यक्ति होते हुए भी अनेक व्यक्तियों के मन को मारी है। यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि क्या विकारपूर्ण आत्मामिव्यक्ति का भी लोकानुभव इसी प्रकार विकारी हृदयों में नहीं होगा? मैं कहता हूँ कि अवश्य होगा। साहित्य एक प्रबल और शक्तिमत्क अभिव्यक्ति है और उसका बहुत सामाजिक प्रभाव है, अतः साहित्यकार को यही बात ध्यान में रखते हुए विकृत मानवों को ऐसा प्रकाश न देना चाहिए कि समाज उल्टा अपने लोगों को विकार का विकार रूप में ही चित्रण करना चाहिए।

सौंदर्य प्रेम साहित्यकार की उज्ज्वल प्रेरणा है और इसका बहुत बड़ा सामाजिक महत्त्व है। रूप गुण के सौंदर्य के प्रति साहित्यकार सबसे अधिक संवेदनशील होता है। अतः वह इनके सत्तम से सत्तम प्रभावों को चित्रित करने में आनंद का अनुभव करता है। साहित्य के भीतर आकर ये रूप गुण के चित्र स्थायी हो जाते हैं और समाज के सौंदर्य कोष को प्रवृद्ध करते हैं। यद्यपि उसके द्वारा पहेली प्रभाव व्यक्त सौंदर्य के होते हैं, पर वे साहित्य में निर्वैय-

यह भावना मानवता के तथ्य का ही चरम विकास है। इसमें व्यक्ति समाजमय है। यहाँ यदि समष्टि का भेद समाप्त हो जाता है। साहित्य का यही प्रतिपाद्य है। इसे प्रकट कर साहित्य उत्थान को प्राप्त करता है। यह मानवता और विश्वव्युत्पत्ति का भाव साहित्य में हृदय को हृदय से जोड़ता है। यह भाव हमारे हृदय का विस्तार है।

साहित्य के उत्थान का तीसरा तत्त्व है निम्न चरित्रों का चित्रण। साहित्य का सामाजिक पक्ष प्रत्यक्ष कायों में ही निरपराध है, जिनमें कथानक द्वारा कुछ चरित्रों का स्वरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष होता है। यह एक साहित्य का सत्कार है। साहित्यकार को प्रेरणा देने वाले निम्न चरित्र रोचक अथवा प्रभावशाली यत्किन्व होते हैं। चरित्र चित्रण के प्रसंग में आदर्श और यथाथ का प्रसंग उठाना अनावश्यक है। बड़े से बड़ा साहित्यकार यथाथ की पृष्ठभूमि में ही किसी आदर्श चरित्र का उद्घाटन करता है। ऐसा आदर्शनाम वाङ्मयीय नहीं, जो यथाथ की अवहेलना करे या उसकी हत्या ही कर दे। लोकानुभव यह भी है कि सत्जन के सत्कार का सुपरिणाम भी मिलता है, और यह भी है कि सत्जनता के दुष्परिणाम प्राप्त होते हैं। सत्य और यथाथ यही है कि इस प्रकार के परिणाम वास्तविक एक स्वामाजिक पृष्ठभूमियों पर फैलाए जायें। प्रेमचंद का 'मोक्षान' यथाथवादी उपन्यास है, परन्तु उसका पात्र होरी एक आदर्श चरित्र है जो कलम और सत्यता तथा मयादा पर अपना सब कुछ स्थापना कर देता है। समाज में उसे अपने पुण्य का फल नहीं मिला। पर ऐसे चरित्र हमारे हृदय में घर कर जाते हैं, वह अपने निर्मल चरित्र के कारण ही तो। यह निम्न या उदार चरित्र एक क्षेत्रीय भूमि पर है। देशवासी या विश्ववासी भूमि पर जो चरित्र अपने सद्गुणों को प्रकट करता है, वह निश्चय ही राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि के समान होता है। अतः हमें देखना यह है कि किस चरित्र का चित्रण हुआ है, वह सच्ची वास्तविक भूमि पर कितना विवक्षित हुआ है। यथार्थ का तात्पर्य यह नहीं माना जा सकता कि दुष्टों, दुजनों, छलियों और कपटी लोगों का ही चित्रण किया जाय, क्योंकि समाज में सत्जन यत्किन्व भी बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं और यह भी जीवन का वास्तविक यथाथ है।

चरित्र चित्रण में उदात्त गुणों का उद्घाटन सामाजिक उत्थान का प्रेरक होता है। उससे हमारे मन में उत्थिता, चरित्र में दृढता और हृदय में उत्साह प्राप्त होता है। अतः सामाजिक हित के लिए त्यागी, उदार, तेजस्वी, अत्याय का विरोध करने वाले तथा जिनमें समाज के नेतृत्व के गुण हों, ऐसे व्यक्तियों के चरित्र पर विशेष प्रकाश डाला जाना चाहिए। उनके सभी कार्यों का पुरस्कार ही मिले यह उचित नहीं। आपत्ति, कठिनाई, विरोध, सभी उनके जीवन में आने चाहिए। इस प्रकार के चित्रणों से साहित्य उत्कृष्ट होता है और उत्थित गुणों की समाज में प्रतिष्ठा होती है। ऐसे चरित्रों के साथ दुष्ट, कपटी, क्रूर पात्रों का भी चित्रण होना आवश्यक है। महाकाव्य में नायक के चरित्र को उदात्त गुणों से ओत प्रोत माना गया है। उसके सामाजिक सत् प्रभाव की प्रतिष्ठा के हेतु 'बचचिनि' दा खल्लादीना सत्त च गुण कीतनम् अथात् दुष्टों की निन्दा और सत्जन की प्रशंसा का भी विधान है। परन्तु यह सब चित्रण विश्वसनीय और स्वामाजिक होना चाहिए, भौंडा और हास्यास्पद नहीं। यह दूसरा पक्ष कला से सम्बंध रखता है।

सत्य के प्रसंग में ही यह कहा जा चुका है कि साहित्य सत्य को अपने समग्र रूप में प्रस्तुत करता है, वरन् उसके सुंदर रूप का उद्घाटन करता है। सौंदर्य का चित्रण ही साहित्य

को इतना मोहक और रमणीय बनाता है। अतः साहित्यकार जीवन के विशाल अभाव पारे समुद्र में हाहाकार, बर्बन तर्जन के साथ भी रत्नों को प्रकाशित करता है। यह सौन्दर्य चित्रण रूप का भी होता है और गुण का भी। साहित्य ने जो रूप और सौन्दर्य की सृष्टि की है, आज हम और हमारा समाज उसा से सी दयवान् हैं। साहित्य का सौन्दर्य तिहरा है—रूप का सौन्दर्य, गुण का सौन्दर्य और अभिव्यक्ति का सौन्दर्य। रूपात्मक सौन्दर्य सृष्टि हमारे हृदय को कोमल और मुकुमार बनाती है तथा रूप को हम कोमलता एवं मुहुता के साथ देखने का संस्कार प्राप्त करते हैं। उसके प्रति कोमलता का भाव हमारे हृदय में जागृत होता है। सौन्दर्य की सहज प्रक्रिया यह है कि हम उसे सुखिन् रक्खना चाहते हैं और विह्वल एवं गड़ होने से बचना चाहते हैं। यह हमारे हृदय को कोमल और दृष्टि को सूक्ष्म तथा कल्पना को प्रवृत्त बनाता है। वे रूप चित्र हमारे मन की घरोदर होते हैं। हम उन्हें संभोकर रखना चाहते हैं। पैर की लताइ और गति का गतिमय रूप चित्र देखिए—

गगन गगन गगन अगमन परति, धरन अरन छु ति कूजि ।

और और कलिपत उदे, हुणहरिया से कूजि ॥

इसी प्रकार मतिराम का एक रूप। चम है—

कुन्द को रंग लीको लगी, ललकै लसि लयन चार गुराई ।

आशिन में अलसानि चिलोनि में मण्डु विजासन को मधुराई ।

को बिन भोज बिकास नहीं, मतिराम चले अलियान दुगाई ।

ज्यों ज्यों निहारिये पैर हूँ नैननि, त्या त्या खरी निकसै कूँ निकाई ॥

अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। रूप का प्रभाव तो हमारे हृदय पर पड़ता ही है। गुण का सौन्दर्य रूप-सौन्दर्य को पुष्ट करता है और हृदय पर प्रभाव डालता है। हम इस सौन्दर्य से युक्त व्यक्ति के प्रति स्नेह, प्रेम, सम्मान, भक्ति आदि के भावों से ओत प्रोत हो जाते हैं और इस प्रकार हमारे सद्गुणों के संस्कार बनते हैं। अतः यह सौन्दर्य चित्रण साहित्य का सामाजिक तत्त्व है, जिसका जितना ही विकास हो उतना ही अच्छा।

अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य तत्त्व विषय से नहीं, यरन् इसके प्रकारान की कला में सम्बन्ध रहता है। साहित्य अभिव्यक्ति पर सबसे अधिक निर्भर है। अभिव्यक्ति ही तो साहित्य का अचली रूप है। अभिव्यक्ति-सौन्दर्य के बिना तो उत्तम से उत्तम विषय भी प्रभावहीन है। अभिव्यक्ति भी एक सामाजिक तत्त्व है। इसके द्वारा ही व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध है, व्यक्ति-व्यक्ति का सम्बन्ध है। यदि अभिव्यक्ति नहीं, तो हम अपने सुन्दर से सुन्दर भाव से भी किसीको प्रभावित नहीं कर सकते। अभिव्यक्ति सौन्दर्य ही अलंकार, यकीन, ध्वनि आदि के रूप में प्रकट होता है। अभिव्यक्ति चाहे जितनी सुन्दर और उत्कृष्ट हो, है साधन ही। अभिव्यक्ति को ही साध्य समझ लेने से साहित्य का उत्थान रुक जाता है। जब वह साधन है, तब उत्कृष्टता और सौन्दर्य के साथ पर सचेतता का गुण भी उत्तम होना चाहिए, अर्थात् दूसरे व्यक्ति उसमें बड़ी हुई भाव को मली मोति सम्पूर्ण प्रभाव के साथ ग्रहण कर सके यह आवश्यक है। इस प्रकार सरलता और सुगमता उसका प्रधान गुण है। गोस्वामी तुलसीदास के काव्य का आदर्श प्रकट करने वाली पंक्तियाँ इसी प्रकार की माँ यदा प्रकट करती हैं। वे कहते हैं—

सरल कवित कीरति विमल, सुनि आदरहि सुजान ।

सहज वैर विसराय रिपु, जो सुनि करै बखान ॥

इस प्रकार सरलता, अमि यत्ति का विशेषता और विमल कीर्ति वश्य विषय की विशेषता तुलसीदास के आग्रह । अनुसार ठहरती हैं । लोकहित तो समस्त साहित्यिक कृतियों का उद्देश्य होना ही चाहिए । यह गोस्वामीजी का निश्चित मत है ।

कीरति भनिति भूति भवति सोई । सुरसरि सम सब कहैं हित सोई ॥

साहित्य रमणीय वाङ्मय है । कालिदास की उक्ति 'यथे यथे य नवतामुपैति, तदेव रूप रमणीयताया' के अनुसार रमणीयता का स्वरूप नितनवता का है । जो सदैव नय हो, वही साहित्य है । इस नव्यता के लिए साहित्यकार मय कल्पना का प्रयोग करता है । कल्पना वस्तु, तथ्य या घटना के मनोरम चित्र प्रस्तुत करती है और इन चित्रों में ही नवता और रमणीयता का निवास है । अतः भय कल्पना भी साहित्य का एक तत्त्व है, जो उसे शोभा या पाठक के लिए प्राप्ति बनाता है । मय कल्पना द्वारा प्रस्तुत वस्तु, तथ्य आदि हमारे मानस में घर कर लेते हैं, जैसे—

अमंगि हिये के कायो प्रेम को प्रवाद, साके जाज गिरी परी तख्तर कीर की ।—मतिराम

×

×

×

छोग मेरे नीर में सावन समक कर दूबत हैं ।

दबदबाती छोल के मोती घुराकर गा रहा हूँ ।

छोग मेरे दीप की सूरज समककर जागते हैं ।

मैं समो क स्नेह में बातो डुबोकर गा रहा हूँ ।—वीरेन्द्र मिश्र

×

×

×

विद्युत की इस चकाचौंध में दूख दीप की जौ रोखी है ।

अरी इदय का धाम महल के छिपे भोंवकी बलि होती है ।

×

×

×

झिलके उठते जा रहे, नया अक्षर मुख दिखलान को है ।

पह जोख तनोवा मिमट रहा आकाश नया ध्यान को है ।

यह मय कल्पना साहित्य के उत्थान के लिए अपेक्षित है । इस मय कल्पना के साथ साथ दूसरी वस्तु जो समाज का प्रभावित करती है और हमारे मन पर प्रहार करती है, वह है भावुक 'यग्य' । बौद्धिक व्यंग्य में तो प्रभाव मन्त्रिक पर पड़ता है और हम थोड़ी देर के लिए प्रेरित होकर रह जाते हैं, परन्तु भावुक 'यग्य' की मार रह रहकर कसकती रहती है । हमारे लोकगीत इन भावुक 'यग्यों' से भरे पड़े हैं, जिनमें प्रकृति की सृष्टि पृष्ठभूमि में बड़े मार्मिक चित्र हमारे सामने आते हैं और उनमें सामाजिक विषमता, दुःख-व्यथा, गरीबी, अनैतिकता, क्लेश आदि 'रूप' के प्रकट रहती हैं । यह भावुक 'यग्य', जो लोकगीतों की भाषा है, यदि कविता में हमारे कविगण उतार सके तो वास्तव में आश के काय में मार्मिकता स्वतः आ सकती है । कुछ कवि लोकगीतों के उन्नयनशील तत्वों को अपनी रचनाओं में उतार भी रहे हैं । ये दो बातें अभिव्यक्ति सौंदर्य से सम्बन्धित थीं ।

एक और सामाजिक तत्व का उल्लेख करके हम यह वक्तव्य समाप्त करते हैं । यह है लोकानुभव या लोकनीति का तत्व । संस्कृत काव्य की अनेक सूक्तियों से मन्त्रकन प्रचलित हैं ।

गाय की कहावतें हमारे ग्राम समाज के घर घर में घर कर बैठती हैं। तुलसीदास, कबीरदास आदि की सृक्तियों जन जिह्वा पर नाचती रहती हैं। इन सृक्तियों में लोकानुभव व्यक्त हुआ है। ये लोक नीति का काम करती हैं। ये कवि के चानुआनुभव का निचोड़ हैं। ये हमारा मार्ग प्रशस्त करती हैं और विविध प्रसार के अनुभव में हमें लाभाहित करती हैं। अतः साहित्य में लोकानुभव और लोकनीति का भी प्रकाशन होना चाहिए। ये सृक्तियाँ उपदेशात्मक, व्यंग्यात्मक होती हुई भी सरस हैं, जैसे—

बाह गढ़ घिम्ता मिटी मनुष्या बेपरबाह ।
पाको क्यूँ न चाहिण सोई साहसाह ॥
बात पास की मीचियो, बरी बरी को कोन ।
तुलसी छोटे चतुरपन, कलि कहक कहु कोन ॥
तुलसी पावल के समय, धरो कोकिलन मौन ।
अब सो दादुर बोझिहैं, हमें पविहैं कोन ॥
तुलसी मुख जलझूल का, निरख निवट बिकाज ।
कै राखै कै सग चखै, चाँद गढ़े की जान ॥

तौलरे दोहे में तो एसा मातृक व्यर्थ है कि वह स्मर्यस्थों प्रभाव डालता है। ये लोकानुभव कवि के अनुभव के रूप में अभिव्यक्ति पाकर साहित्य के जनममार्गसे रत्न बन जाते हैं। ये सृक्ति मुक्तवक्तियों जितनी भी साहित्य की समृद्धि निधि हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि साहित्य के उत्थान के लिए प्रेरक उत्तम सामाजिक दृष्टिकोण है और उसके सहायक सामाजिक तत्त्व हैं, सत्य, मान्यता, निष्ठा, स्वार्थ, सौ दय, भव्य कल्पना, मातृक व्यर्थ और लोकानुभव की अभिव्यक्ति। मातृक व्यर्थ और निष्ठा, स्वार्थ, निरय के भीतर रस का समावेश रस हो जाता है। इन सामाजिक तत्त्वों से युक्त होकर साहित्य उत्थान को प्राप्त करता है। ऐसा साहित्य समाज का भी उत्थान करता है। इस प्रकार के साहित्य युक्त के लिए साहित्यकार को साधना, तपस्या और अनुभव अजन करनी की अपेक्षा होती है। यह साहित्य समाज में समभाव का प्रसार करता है। इसी प्रकार के साहित्य की तुलना देव-भक्ति से करते हुए हमारे एक कवि ने कहा है—

जय देव मंदिर देहलो,
समभाव से जिन पर कपी ।
गृह हेम मुद्रा और रक्त वराटिका ।
मुनि तत्त्व सौरभ की कली,
कवि कल्पना जितमें बिली ।
चूले फले साहित्य को वह बाटिका ।

कवि के स्वयं में रस मिलाकर हम भी इस साहित्य की बाटिका में फूलने फलने की कामना करते हैं।

रस, सौन्दर्य और आनन्द

साहित्य के सभी प्रकार—गोतिकान्य हो या प्रबन्धकान्य, कहानी हो अथवा उपन्यास—सभी में अभीष्ट रूप में जीवन के उपासन प्राप्त हैं। जीवन को हम एक निश्चित समयावधि में ही ले सकते हैं, इसलिए उसमें हम समग्रोन्नत आकृति, स्वरूप या क्षेत्र का पता नहीं पा सकते। स्वरूप तो हम सबेना से, बुद्धि से, दृष्टि से और कल्पना से रचते हैं। जीवन को प्रवाहरूप कहने का तात्पर्य इतना ही है कि इसमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष गति है, किन्तु इस गति की गिना या सायकता स्पष्टता इतनी नहीं होती। जीवन एक अभीष्ट सागर है शतशतक उप सागरों को और छोटे बड़े नालों को तथा अनेक नदियों को अपने अन्तर समाहित करने वाला महासागर है। उसमें अपार लहरें, क्वार और माग तथा ऊपर दृश्यमान गति के अतिरिक्त अनेक अदृश्य प्रवाह हैं। केवल हमारी दृष्टि या प्रतिमा ही इसमें रूप का दर्शन कर सकती है।

हमारे दृष्टिबिन्दु से सतत गतिमान काल में फैले हुए जीवन को रूप (Design) या आकार मिलता है। संस्कार, शिक्षा और कल्पना की विधि से मुक्त सचक बुद्धि या प्रज्ञा से जीवन में अथ और रूप (रूप का अर्थ है सहेतुकता, सायकता) देखता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि एक विशेष दृष्टिबिन्दु से की गई कल्पना अर्थवाय है, ऐसा रूप स्थापित कर सकने का क्षमता, सम्भावना इस अनन्त जीवन में विद्यमान है, ऐसा माना जाना चाहिए। एक सार्वत्रिक आकृति, विशेष दृष्टिकोण से देखा हुआ रहस्य, समग्र जीवन का प्रतिनिधित्व भी कर सकता है। अन्यथा ऐसे दृष्टान्तों में सब और भूट का हमारी कसौती अपवाद है। कुल्लुकुमुमित बबूल बोंगों में मुक्त होना दुःख भी मुन्दर है। मायकालान् रूपमा में उसे देखकर कवि नमः (गुच्छाती का एक सुप्रसिद्ध कवि) आनन्द में विमोह हो गया था। प्रातः या सायकाल इसका छायाचित्र चमा-कमी मनोरम बन जाता है। इस रमणीयता को यथाय क्यौं नहीं कहा जा सकता? फिर भी इनके द्वारा दृष्ट का पूणता का दान होना भी सम्भव नहीं है। मानव-जीवन का प्रश्न भी ऐसा ही विष्ट और कठिन है।

जीवन की मानमा को अनानास रूप दे देने वाले प्रसंग व्यक्ति के जीवन में बार बार आते हैं। किसी स्थान से या मित्र से टाटकाल के लिए विद्रुडते हों, तो वह क्षण भूतकाल की प्रवाहों को आकृति देने वाला साधन बन जाता है। स्मृति ॥ बलाभूत बन दूर सस्पर्श व्यंग्य होते हैं, अपनी तीव्रता के अनुसार वे प्रभावशाली होते हैं। इन सस्पर्शों के प्रकाश और छाया के मिश्रण से किन्ना रूप की आकृति मन में बन जाती है। इस प्रक्रिया का स्वाभाविक अन्त मिलन, विरह या मृत्यु हो है और इन अन्त का रहस्यमय बनाने वाली, अनिवार्य बनाने वाली, समझाने वाली अथवा एक प्रश्नचिह्न होकर भी सायक करने वाली घटनाओं की कल्पना अनुभव

में से चुन लेती है। तात्पर्य यह है कि वास्तविक जीवन में भी विरोध प्रसंगों पर पाव, परिस्थितियों के घात प्रतिघात ने मन में विरोध आकृति उपस्थित हो जाती है।

सजक ऐसी वास्तविक घटनाओं की प्रतीक्षा के लिए बैठा नहीं रहता। उसकी जीवनदृष्टि या तो निश्चित होती है और ऐसा होने पर अपने अनुकूल जीवन-सामग्री को बट ले लेता है, अथवा उसे ऐसा मोड़ दे देता है। निश्चित जीवनदृष्टि के अभाव में बुद्धि उटार होने पर भी कभी कभी किसी रहस्य को समझ करने वाली प्रथम परम्परा दिखाई पड़ जाती है। वास्तविक जीवन में नियामक तत्त्वमिदु अनायास ही प्राप्त हो जाता है। सर्वज्ञ के पास जीवन सामग्री अत्यंत अधःश्रुत रूपविहीन आकृति में विद्यमान है। दीवार पर की लकीरों में अथवा भूमि पर पड़े हुए पानी में से जिस प्रकार गौतमबुद्ध, नटपञ्च या अन्धता की अप्सराओं की आकृति दिखाई देती है, उसी प्रकार जीवन के उपादानों के कुछ प्रकार प्रतीत होते हैं। फिर जैसे कोई मिटल्ला कलारसिक उन चेलाओं को हट कर देता है, उन्हीं प्रकार साहित्यसर्जक अपनी कल्पना के अनुसार रूपयोजना निश्चित कर देता है। जीवन से प्राप्त उपादानों के तात्पर्य की कल्पना में सजक का मन वैज्ञानिक की भ्रंति काम करता है। परन्तु वैज्ञानिक वस्तु सत्य को बदल नहीं सकता, उसे विशेष स्वरूप देने के लिए कट छूट नहीं कर सकता, इतना ही नहीं, अपितु कोई बात कल्पना के अस्त भी नाश हो जाय ता अपनी कदा (Hypothesis) या कल्पना ही बनानी पड़ती है। इसमें कोई दूसरा उपाय है ही नहीं। साहित्यकार अधिक स्वतन्त्र है। जिसकी केवलमात्र भ्रंति ही मिली है, ऐसे अन्त या तात्पर्य को भी निश्चित मानकर तदनुकूल जीवन का स्वरूप गढ़ लेता है। तात्पर्य ही उसका प्रयोजन है और वह तात्पर्य सहज ही प्रकट हो सके, ऐसे अन्त उसे हट होते हैं तथा उहाँ को वह अग्रगण्य करता है। अन्त प्रत्येक घटक में सम्प्रयोजनता रहती है। सजक व्यापार में इसका अर्थ यह हुआ कि आकृति की प्रत्येक कल्पना में सर्जक की बुद्धि अव्यवस्थित और सार्थकताविहीन जीवन उपादान में से अर्थ और रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न करती है। उस रहस्य या अर्थ को निश्चित करके तदनुकूल पूर्वोक्त उपादान को व्यवस्थित करती है, परिष्कृत करती है, आवश्यकतानुसार परिवर्तित भी करती है। इस प्रकार उसकी चेतना में समग्र विभावना या कल्पना उपस्थित हो जाती है, जो शब्दों में मूत होने का प्रयत्न करती है, अर्थात् कल्पना के पूर्व और कल्पना के अभिव्यक्त होने तक इस व्यापार में आरम्भ से अन्त तक और अन्त से आरम्भ तक किया प्रतिक्रिया चलती ही रहती है।

अन्त उपादान की अनुनेयता (Flexibility) और रूपवृत्तता के कारण सजक की जीवनदृष्टि साहित्यिक रचना विधान में एक नियामक तत्त्व बन जाती है। जिसकी दृष्टि सत्कात्मान है, जो अर्थात् कान खोलकर रहस्य को ढूँढने के लिए विचरता है, वह विशेष तटस्थ साहित्यकार हो सकता है। उसके सजक का हेतु केवल सौन्दर्य ही और तात्पर्य या रहस्य केवल उसी के अधीन रहे, ऐसे लेखक की भिन्न भिन्न कृतियों में प्राप्त जीवन दर्शन कहीं पर समान और कहीं पर असमान प्रतीत होता है। किन्तु बाद के अनुयायी या निश्चित जीवनदृष्टि वाले सर्जक में ऐसा नहीं होगा। साहित्य का सौन्दर्य और औचित्य तथा रखतत्त्व की रक्षा करते हुए भी वह ऐसे रूपविधान की रचना करेगा, जिसमें अमीष्ट विचारों की पूरा अथवा आंशिक सुसंगत अभिव्यक्ति प्राप्त होगी। पूर्वोक्तवादी, समाजवादी या सर्वोदयवादी, नियतिवादी, मार्गल्यदर्शी, असारदर्शी या

अथ किसी निश्चित विचारसरणी का अनुयायी अपनी अभीष्ट यजना अनुमोदन करने वाला रूपविधान ही बहुधा प्रस्तुत करता है। वह कुशल कलाकार नहीं होगा तो उसकी कृति में कृत्रिमता आ जायगी, उसका प्रतिपादन शिथिल और अविश्वमनीय होगा। महान् लेखकों ने भी कथ ऐसे निश्चित विचारों का वर्णन करके स्वामाविक्ता और सौन्दर्य का त्याग किया है, तो फिर मध्यम सर्जक का, अभीष्ट विचारों का कला द्वारा प्रतिपादन करते हुए, कृत्रिम बन जाना असम्भव नहीं।

चाहे उपवास हो, नाटक हो या कहानी—ऐसी कृतियों में प्रारम्भ, मध्य और अन्त तक, कथाप्रवाह की विविध सम्माननाओं में से लेखक अपनी कल्पना के अनुसार किसी एक को चुन लेता है। प्रारम्भ अथवा मध्य की ध्वजा में अनेक प्रकार के अन्तों की सम्भावना निहित है। लेखक इनमें से एक अन्त को चुन लेता है। किसी वाग का प्रचारक या प्रस्थापक होने पर वह उसे सन्नेह रूप से चुनता है, अथवा सत्कार, परम्परा या लोककवि के अनुसार अन्तों का चुनाव अपने आप हो जाता है। महामारतकार ने सुयोग्य चुनाव कर लिया है, कालिदास ने शाप और शाप के निवारण की योजना का चुनाव कर लिया है। बयावस्तु को इसी रूप में रखते हुए भी यूरोपीय कलाकारों ने शाप इस अन्त को बर्णन किया होता। 'सरस्वतीचन्द्र' (एक गुजराती उपवास) की कथा की भूमिका बतले बिना यक्ति स्वातन्त्र्यवादी कोई लेखक कुमुद और कुसुम की कथा का अतमिन प्रकार का बना देता। कुशल कथाकार इसमें परिणाम की स्वामाविक्ता ढिला सकता था। परन्तु मौलिक ग्रन्थ के अत और इस अन्त के सम्बन्ध में कला सौन्दर्य की दृष्टि से भेष्टता का प्रश्न बना रह रहा। वहाँ तक कथ की भूमिका एक ही प्रश्न को प्रस्तुत करती है, वहाँ तक दो भिन्न दृष्टि वाले सजक भी उसे एक समान रख सकते हैं। भिन्न भिन्न कथाओं में मुख्य प्रश्न भिन्न भिन्न स्थान पर आ सकता है। किसी में अत के समीप हो सकता है, तो किसी में लगभग बीच में। यह सच है कि छोटी कहानियों में प्रारम्भ और अत के समीप होने से उनमें परिवर्तन की सम्भावना कम है, किन्तु असम्भव नहीं है। लघुकथाओं में तथा गीतिकाव्या में भी वही भूमिका रखकर अन्त की भिन्नता सम्भव है। मणिकर मङ्ग ने अपनी कुछ कविताओं का अत परिवर्तित करके उसकी मूल सवेदना को ही बर्णन किया है। रामनारायण भाई को 'वैशालीनो वयो' (वैशाल का मध्याह्न) में मानवता के पुरस्कार के स्थान पर नियति की क्रूरता दिखानी होती, तो मजदूरों की मण्डली ने भी भूखे पिता पुत्र का तिरस्कार किया होता—मजदूर लोभ पिता पुत्र के साथ अपना खाना बाँटकर खा लेते हैं, यह अन्त अनिवार्य नहीं है, परन्तु असम्भव भी नहीं है। सम्य समुदाय में से भी रोगी देने वाले की सम्भावना थी, किन्तु कवि को यह सम्भावना दृष्ट नहीं और न काव्य प्रयोजन के लिए अनुकूल।

यह चचा कृति के सौष्ठव और रसतत्त्व के चिन्तन के सम्बन्ध में समीचीन है। कृति छोटी हो या बड़ी, कहानी हो या उपवास, उसका उपादान समुष्पित और रूपविधान सुनिश्चित होना चाहिए। परिस्थिति, पात्र, घटनाओं तथा कथोपकथन में जितनी ही सुस्पष्टता हो उतनी ही उसकी रूप सौष्ठव प्राप्त होता है। सम्पूर्ण योजना अन्त के साथ जितनी अपरिहाय रहेगी उतनी ही उसकी कलात्मकता की सफलता विशिष्ट मानी जायगी। हो सकता है कि कोई कृति किसी विशेष दृष्टि का, अथवा शृंगार आदि किसी रस का प्रतीक बन जाय।

सामग्री के नियोजन पर ही रस के स्वरूप तथा आनन्द की सद्मता का आधार रदता है। कृति का प्रारम्भ प्रणय से हो और अन्त भी प्रणय सुप्त में हो तो उस कृति का प्रभाव रस शृंगार होगा, परन्तु कृति का अन्त कष्ट होने पर प्रारम्भिक शृंगार केवल उसका बोधक होगा और कृति की भावना कहख रस की ही होगी। सर्वत्र के पूर्णपर अरु सम्प्रयोजनता के साथ कार्य कारण की शृङ्खला में आश्रय दें। इस परम्परा में कार्य का प्रभाव कारण पर नहीं पड़ता, परन्तु रसास्वादन में वेष्टी जात नहीं है। अन्त सम्पूर्ण कृति को उठा सकता है, या विगाड भी सकता है, सम्पूर्ण कृति के रसतत्त्व को सायक अथवा निरर्थक बना सकता है। सभी मन अन्त जानने की उत्सुकता में 'यम हो कहख को विलीनकर हास्य या हस की निष्पत्ति करता है, किसी अन्तर्गत की अनुभूति बनाने की इच्छा रखते हुए भा उसका अन्त अतिशय कष्ट बन जाता है और यह अन्त समस्त सौन्दर्य तथा रस में व्याप्त हो जाता है। परन्तु यह शान सम्पूर्ण कृति का आनन्द लेने के बाद ही सम्भव हो सकता है। सम्पूर्ण भावों का और सभी सुप्त छेदनों का आकलन होकर कृति के हृदयगम करने से अन्त में तल्लीन करने वाली किसी विशिष्ट अवस्था का साक्षात् अनुभव होता है। यही तो दयबोध है। यह सच है कि कृता द्वारा लोकप्रसिद्ध वस्तु ली जाने पर रस की विशिष्टता के आस्वादन की अनुभूति मन को पहले से ही प्राप्त रहती है, परन्तु जहाँ हम निष्पत्ति के कारणों की क्रमबद्धता का विचार कर रहे हों वहाँ यह बात समीचीन नहीं है।

इस विषय में भारतीय संगीत के रागों के आस्वादन और ग्राह्य कृति के आस्वादन में बड़ा भेद है। राग के प्रारम्भ होते ही आप उसे पहचानकर उसकी लीला में प्रवृत्त होने वाले भावों की कल्पना कर सकते हैं, अथवा उस भाव का आस्वादन आप पहले से ही ले सकते हैं। काय में यह सम्भव नहीं है और इस हद तक तो सम्भव ही नहीं है। भारतीय रागों में भी रस निष्पत्ति की अपेक्षा जेतना की आह्लादक कृतियों का ही अनुभव किया जाता है। चित्त का विकास या उत्कर्ष, चित्त की प्रसन्नता, चित्त की आर्द्रता—अर्थात् ओजस, प्रसाद या माधुर्य जैसे गुणानुभवों—का साक्षी हो सकता है। ये सब मन की ऐसी साधारण अवस्थाएँ हैं कि उन पर रस का नाम नहीं दिया जा सकता। किसी राग की पीदिका में कोई पक्षित मीठा या खट्टा की हो और उसकी पुनरावृत्ति में अपनी कल्पना को भाव से मिलाकर रसाभुव करें तो यह एक असंगत बात है। इसमें भी इतना स्पष्ट ही है कि 'मेरे खूबीर' के आवर्तन की अपेक्षा 'मुनी में हरि आवन की आवाज' के आवर्तन में रसोत्पादक भूमिका अधिक मात्रा में है। रागों में प्रयुक्त गीत पक्षित का हृदय से विचार होना चाहिए। कला के आस्वादन में तटस्थ मन तब द्वारों को खुला रखकर अनेक संस्कारों को अन्दर बहने देता है, हृदय की विशालता एक कला के आस्वादन में दूसरी कलाओं का भी आस्वादन करता है। गीतिकाव्य में संगीत का और संगीत में गीतिकाव्य का अनुभव होना एक सामान्य तथ्य है। जो कलाभावक काव्य के विषय में यह मानते हैं कि उनका कर्तव्य तो किसी विशिष्ट समन्वित स्थिति में चित्त को पहुँचा देना है, शेष काव्य चित्त ही अपनी स्मृति और संस्कार से कर लेगा, उनकी यही मजहबी है। ऐसे काव्यों में वस्तुतः संगीत का तत्त्व काव्य के स्वर में मिला जाता है। काव्य में शब्द और अर्थ का सद्विचार समान रूप से हृदय है। शब्द के बिना अर्थ का आश्रय नहीं, वैविध्य नहीं, विशिष्टता या निश्चितता नहीं है। शब्द की गति के बिना अर्थ की गति नहीं, उसका नियमन नहीं,

आकार नहीं है। इसलिये काव्य को 'रम्याय' से पहचानते हैं। यदि शब्द और अर्थ में तारतम्य करना ही हो तो काव्य को अर्थ की कला कहें, शब्द की, लय की या मौखिक ध्वनि का नहीं।

इस प्रकार सदन और आम्बान्न व्यापार की परीक्षा करें तो साहित्य के मुख्य प्रतीकन आनन्द के विराम में भी विचार उत्पन्न होते हैं। यह स्पष्ट है कि आम्बान्न और आनन्द का कोई ठोस स्वरूप साहित्य-परामर्श में अनुभव किया जाता है, परन्तु किस साहित्य में और कहाँ होता है इसका खोज की जाना चाहिए। किन्ना भी कृति के आम्बान्न के सम्पूर्ण स्वरूप का विचार करें तो भी उसके विशिष्ट तत्त्व नहीं मिलें तो आनन्द ही है और उस विशिष्ट तत्त्व का आचार कवि का लक्ष्य तथा उसकी उपलब्धि पर आश्रित है। 'मध्य रात्रि में कोयल' काव्य का आनन्द तत्त्व, 'सुगमा चरित' का आनन्दतत्त्व, 'शकुन्तल' और 'अंधिनो' का आनन्दतत्त्व क्या एक ही है? एक ही मात्रा का है? इस आनन्द का मूल कला के अभास और सिद्धि बिन्दु हुए अन्त में है, वस्तु के लक्ष्य में है, विषय की निम्न गण गुणों में है।

रम्यायता या सामान्य अर्थ में सौन्दर्य (रमणीयता में मन्त्र और रौद्ररम्य (Sublime), सुन्दर (Beautiful) और चार (Pretty, graceful) का समावेश होता चाहिए) और निम्न निम्न तत्त्व के रूप में रस की स्वीकृति होनी चाहिए। रस आम्बान्न रूप है, काव्य के प्रवाह के साथ यह आम्बान्न कम या अधिक आम्बान्न हो सकता है परन्तु रस में कम है, यह कृति के साथ काल में ही प्रवृत्त होता है। रस का सम्पूर्ण कृति के साथ सम्बन्ध होत हुए भी तबमें कृति के अवसरों के साथ रहने वाला एक विशिष्ट रूप है। इस रूप के प्रत्येक बिन्दु पर तबमें पहल होने वाले कृति अनुभवों के स्वरूप एक होत हैं और इस प्रकार रसालम्ब में सत्कारों का विशिष्ट बहान चलता रहता है। किन्तु रम्यायता या सौन्दर्य में कम नहीं है। कृति का सौन्दर्य कृति के अवगाहन के अन्त में होने वाला उत्कल अनुभूति है, इसमें कालक्रम नहीं है, काल का मन्त्रा या अवधि भी नहीं है। तत्पुनः कथन के अनुसार सौन्दर्यबोध कृति का समग्र अनुगमन है, मन को तन्मय करने वाली विशिष्ट अवस्था है, जिसमें कृति-सम्बन्धी तत्त्व-सम्बन्धी का अन्वित होती है। सौन्दर्यबोध एक अन्तर्गत, कमहीन, सम्पूर्ण समन्वित अवस्था है। रम्यायता रसतत्त्व को पचाकर उत्पन्न होने वाला स्थिति है।

'सौन्दर्य' तत्त्वान्वयान् काव्य कमनीयतत्त्वमनुभव।

रमणीयता एक विशेष व्यापक तत्त्व है और रस के बिना भी इसकी स्थिति सम्भव है। रमणीयता के लिए रस के आश्रय की अनिवार्यता नहीं है। रस के होने पर वह तबका घटक या विशेष तत्त्व हो सकता है, परन्तु रस का अभास होने पर भी वही रम्यायता सम्भव है। ऐसा समझ लेने पर छोटे छोटे मुक्तकों में, दिनमें वस्तुतः कोई रसतत्त्व नहीं है, हम रस बूझने का भ्रम प्रयास नहीं करेंगे। तबका आम्बान्न से ही प्रसन्नता अनुभव करेंगे। यह कहना कठिन है कि सौन्दर्य में किन्तु तत्त्व या तत्त्वों के साथ हमारी चेतना का अनुसन्धान होता है। इसमें रसबोध मा हो सकता है जो बुझा होता ही है। इसमें वातावरण की विशिष्टता और समता भी हो सकती है। इसमें रेखाओं का ललित लीला या रंग की आभा सुशोभित भी हो सकती है। आचार्य कुतक के कथन के अनुसार इसमें लुप्त-बड़े पत्तों का, सुगन्धों का, गीता और आक्षेप में परस्पर स्पष्ट करने वाला संयोजन किसी स्थापनकृति की भाँति

भी हो सकता है। अर्थात् प्रकृति में साहित्य, वास्तव, सौन्दर्य और मन्यता की मिश्रित तथा अनर्गल सम्पत्ति भरी हुई है। ऐसी ही मिश्रित, अनर्गल और निरमूर्त के बचन से रहित सम्पत्ति सम्पत्ति की भी है। इसका स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन सभी चेतना की किसी सूक्ष्म अवस्था तथा वास्तव पदार्थ (यहाँ कलाकृति से तात्पर्य है) के तत्त्वों का योग होता है। यह अवस्था अन्तर भी और प्रकट हुई अवस्था न भी और वास्तव पदार्थ के सम्पर्क से उत्पन्न हुई, या किसी रूप विशेष की भी और अवस्था रूप में प्रकट हुई, इसका पता लगाना रसनिष्पत्ति के लक्ष्य ही एक एक प्रश्न है।

अब कलाओं से साहित्य की प्रमुख निम्नता यह है कि साहित्य में मानव व्यवहार की सामग्री प्रवेश रहता है। मनुष्य की मित्र मित्र प्रकार की वृत्ति और अच्छे-बुरे कार्य उपादान के रूप में आते हैं। पात्रों की वृत्ति अच्छे बुरे, पात्र अच्छे बुरे, कार्य अच्छे-बुरे, इन सभी विवेक विचार साहित्य में अपरिहार्य है और लगभग उसी भाँति अपरिहार्य है जिस प्रकार स्वर की कोमलता या उच्चता का विचार संगीत में, अवस्था पथ्य की वाक्ता का विचार रसावली में अनिवार्य है। कभी कभी साहित्य शुद्धशुद्ध, शुभाशुभ कार्यों और वृत्तियों का संयोजन है और ऐसे संयोजनों में से कोढ़ जीवन रहस्य स्फुरित हो जाता है या उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार आकाश के रंग, नाति विचार से निरपेक्ष विन में उत्तर आते हैं और उसे देखकर हम आश्चर्य होते हैं, उसी प्रकार का व्यवहार साहित्य की सीमा में आए चित्रों का नहीं होता। प्रश्न की मानव या परम्परा में वास्तव नीति के स्फुट या अस्फुट विचार व्यावहारिक कार्यों के साथ अनिवार्य रूप से सम्बंधित हैं और इन्हें संस्कारों से युक्त जीवन व्यवहार साहित्य में कला स्वरूप को धारण करना है। साहित्य के सौन्दर्यबोध में स्फुट या अस्फुट रूप से जीवन के मूल्य प्रविष्ट होते हैं, प्रविष्ट हुए बिना यह ही नहीं सकते और विन भाँति के जीवन मूल्य स्फुरित होते हैं उस पर भी इनके मूल्य का आधार रहता है। यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जीवन मूल्य का अर्थ किसी समान विवेक या काल-विवेक के पारस्परिक मूल्य ही नहीं हैं, पारस्परिक मूल्य से उर्ध्व या निम्न या विवेक मूल्य भी हो सकते हैं, और जीवन के मूल्य सौन्दर्य के घटक तथा के रूप में तथा सौन्दर्यरूप में उपस्थित होने चाहिए।

उच्चजीवन की कतिपय भावनाएँ सार्वजनिक हैं। प्रेम, मैत्री, समभाव, कष्टता, दया, क्षमा, विनम्रता, आर्जन, पुति, सत्यता, सत्यनिष्ठा, कर्तव्यबुद्धि, अनादिक, समत्व, त्याग, इनमें से किसी एक या अनेक का अपाचारण दर्शन—बचनमान नहीं, उसका साक्षात्कार और प्रतिमान—हृदय के लिए अत्यन्त आह्लादक होता है।

अब हम विचारें कि साहित्य का स्वरूप, जीवनमूल्यों के स्फुरण और आह्लाद की उन्मादकता कि प्रकार एक साथ अभित हो सकते हैं। 'शाकुन्तल' के प्रथम अंक में मुग्धा यौवना के दृश्य से तथा सखियों के परिहास से सामाजिकों का मन अत्यधिक आकर्षित होता है और राजा के पीति रसों से परिचित पुत्र कुल प्राप्त आकर्षण को प्राप्त करता है। इस अंक के दर्शन में आनन्द प्राप्ति होती है, किन्तु इसकी समग्र नाटक के सौन्दर्य विमर्श के आनन्द के साथ समरूपता नहीं दिखाई दे सकती। कोढ़ नाटक नाटक शकुन्तला आनन्दता के प्रत्याख्यान में ही नाटक का अर्थ निष्ठावे, अथवा दोनों यहाँ से व्यक्त शकुन्तला आनन्दता करे, और तत्पश्चात् दुष्प्रसन्न को पूर्व स्मरण हो, ऐसे सविधान की रचना करे, तो नाटक के रस में सौ परिवर्तन

होगा ही, साथ ही मेरे मतानुसार उसके ज्ञान = तत्त्व में भी परिवर्तन था बायगा। इस ज्ञान-द में स्तानि या यथा का मिश्रण होगा। मनुष्य मनुष्य रूप में दृढ और पराक्रमी होता है या केवल नियति की ही जय होती है, इस पर भी ज्ञानन्द के स्वरूप का 'आधार रहता है और कदाचित् यह ज्ञान-द पराकोटि का न भी हो। नाटककार प्रदुसन या फारस लिखता है तो इसमें आकषण होता है, ज्ञान-द भी होता है और कदाचित् हृष का उद्रेक भी होता है। नाटककार पूर्वोक्त शाकुन्तल के विषय में एक गूढ़ प्रश्न या जीवन वैषम्य को मूत करे तो उसमें भी सामाजिकों का चेतन विशालता और गूढ़ता का अनुभव करके नये ज्ञान के बारे में—चाहे वह केवल प्रश्नरूप ज्ञान हो—विस्मित होता है, परंतु उलझन में पड़कर, कलाकार के लुम्भाव से, जीवन के किसी अन्तिम या सनातन मूल्य की स्फुरणा से सच्चे स्वरूप में छूटने का अनुभव करने में ही वास्तविक ज्ञान-दमय विभ्रान्ति है। शाकुन्तल जैसी कृति में काव्यसमार्जित प्रणय दर्शन के आकाश के तन्त्र शुद्ध होते हुए सूक्ष्म होकर स्थिर सुप्तरूप में अनुभव किये जाते हैं। चेतना असाधारण चेतनमयता, व्यापकता और विश्वमैत्री का दर्शन कराती है, यही उत्कृष्ट ज्ञान-दानुभव का रहस्य है। विश्व योजना में आध्यात्मिक ऋतु के दर्शन से उसे परितोष होता है। कदाचित् कृति में भी आदरता के सवेग से व्यक्तिगत रागद्वेष और अथ मानसिक दकावटें दूर हो जाती हैं तथा आत्मशुद्धि के ज्ञान-द का अनुभव होता है। उदारता, वीरत्व, त्याग, आत्मभोग आदि के साक्षात्कार में जीवन के अप्रत्यक्ष मूल्यों में भद्रा प्रकट होकर उदात्त जीवन की कृतायता की सूक्ष्म दृष्टि उपलब्ध होती है। अमूर्त सवेदना के उदय का विस्मय और प्रेमवत्त्व का विस्तार, अथात् प्रकाश, प्रीति और माधुर्य, उत्तम ज्ञान-द के आधार हैं। कोलाहल, यमता, विह्वलता, आतुष्टा, आवेग आदि के बाद की शान्ति, प्रसन्नता, सुख, मैत्री, प्रीति, भक्ति जैसे जीवन तत्त्वों का समावेश करता हुआ सूक्ष्म और मानों स्थिर ज्ञान-द प्रशिष्ट कृति के समग्र सौंदर्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से विद्यमान है। इसे पहचानना, इसका प्रत्यभिज्ञान करना, इसके लिए आतुर रहना और इसकी प्रतिपत्ति होने पर सहृदयों से निवेदन करना ही विवेचक का काम है।



१ शुनीलाल गांधी, विलासवन, सूरत की अगस्त १९२६ की बुलेटिन में प्रकाशित गुजराती लेख का अनुवाद अनुवादक प्रा० ए० एम० दसाई, एम० टी० बी० कॉलेज, सूरत।

आदर्श और यथार्थ हिन्दी कथाकार

मनुष्य समाज में 'यात' विधियों का नियंत्रण आदर्शवाद के अनुसार उन्हें जानकर दूर करना नहीं है, बल्कि उन विधियों से परे ऐसे साहचर्यिक रूप को सामने रखना है, जिससे व्यक्ति को आध्यात्मिक सुख मिले, अर्थात् आनन्दजानी यह मानते हैं कि भौतिक जगत् में उद्भूत कष्टनाश्यों या पीड़ाएँ निरर्थक अलौकिक शक्तियों या जगत् से सम्बन्ध रखती हैं। वे उदात्त दुःख जनक सत्कार और 'वर्तमान' से भागते हैं, क्योंकि उन्हें इससे बिलग एक सुखी सत्कार की आशा रहती है। यह जीवन ही दुःख का मूल है और उससे मुक्ति पाने का उपाय इस जीवन जगत् से दूर दूरे जगत् का अनुभव को स्वीकार कर उसने ज्ञान में मन को समा देना है। 'यति' और समाज की पीड़ा का कारण किमी परा शक्ति में मान लेने से भौतिक जीवन को गौण मान लेना व्यापारिक है। कोरे आनन्दवादियों ने उपाय नहीं किया, इसी कारण मनुष्य के सम्मुख 'द्वन्द्व' का रूप बड़ी तटस्थ मटक के सामने खड़े करने पर भी वे उसकी पीड़ाओं को नहीं कम कर सके।

जीवन भौतिक तत्त्वों के द्वा द्व के कारण सम्भव है। मनुष्य वहाँ एक ओर प्रकृति से जन्म पाता है वहीं वह उसके स्वरूप में परिवर्तन भी करता है। इस कारण भौतिक जगत् से अलगाव का अर्थ है जीवन के आधार को मानने से इन्कार करना। 'यति' के जीवन में उपस्थित 'भयों' या 'कथा' का उत्तर इसी भौतिक जीवन से पाया जा सकता है। किन परिस्थितियों में मनुष्य किस तरह का व्यवहार करता है, एक ही परिस्थिति में रहने वाले यति क्यों एक ही ढंग से विचार नहीं करते तथा यदि समाज का ढाँचा बदलता जाय तो मनुष्य की क्रियाओं और विचार शक्ति में किस प्रकार का परिवर्तन होगा, ये सभी बातें मनुष्य के अन्तःकरण और बाहरी उपकरणों के उन पर प्रभाव का ठीक बाल लेने पर ही अंशतः अन्त हो सकती हैं। पश्चिम में भौतिक जीवन के मन्दन को पूरी स्वीकृति मिलने के कारण इन समस्याओं पर अधिक विचार हो रहा है। इसी भौतिकता की स्वीकृति के बाद ही मनुष्य ने साहित्य में केवल 'यति' का शुद्ध मानक करके स्वयं का पीड़ा की 'याद' प्रारम्भ की। आज यह अनुभव करता है कि समाज की प्रणाली में भरे दोषों को निन्दित करने का मार्ग समाज से अलग दूरे पारलौकिक समाज की कल्पना में खोजी जाना नहीं है, बल्कि समाज की प्रणाली का ही आमूल परिवर्तन है।

कथा साहित्य में यथार्थवाद का मूल जीवन के लिए हमें बोक्केचियो (Boccaccio १३१३-७५) के 'डीसेमरों' (Decameron) तक जाना पड़ेगा। वही पहला कथाकार था, जिसने समाज की समस्याओं को व्यापक रीति से चित्रित किया। उसके व्यंग्य और

यथाय से चरकर कुछ देशों के नैतिकवादी उसकी कथाओं में 'कुत्सा' घोषित कर उसकी कृतियों को श्रवण कराने का यत्न कर रहे हैं। बोवेंचियो के तात्कालिक यथायवाद और दत्त मान यथायवाद के बीच कितना ही सांघर्ष बन गई है। अंग्रेजी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ निगुड और कथामयों का तो यहाँ तक कहना है कि 'तत्कालीन दश से कला को अभिमुख कर सकने वाला हर प्रयत्न किसी ॥ किसी यथायवाद स्वरूप ॥ ही सम्पादित होता है।'

साहित्य में यथाय के दो रूप मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्तों के परचात् प्रचलित हुए। इन दोनों सिद्धान्तों ने जिस मौलिक मनुष्य समाज की पिछली मायताओं को गलत साबित किया, उसी प्रकार साहित्य के कोरे आदर्शवादी रूप को भी धक्का दिया। मार्क्स ने इतिहास के दश द्वाद को सिद्ध किया। उन्होंने इस दश युद्ध के परे के माग का और भी सफा किया था, यानी उन्होंने दश-युद्ध को कोरे चिरन्तन नियम नहीं माना था। काह्य ॥ उस द्वाद को वे समाप्त करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त प्रकृति या सौर मण्डल के कार्य और प्रभावों का कारण भी उन्होंने समझने का यत्न किया और अन्त में मौलिकवाद को ठीक माग माना। एक ओर जहाँ उन्होंने समाज के दश युद्ध को समाप्त करने की बात कही, वहीं व्यक्ति का विकास अबाध रीति से हो सके इसके प्रति भी सचेत रहे, किन्तु उनके सिद्धान्तों को कम्युनिस्ट सरकारों के बनने के बाद गलत दश से मान लिया गया। फल यह हुआ कि 'यक्ति को नहीं, महत्त्व राय को लिया जाने लगा और राय ने व्यक्ति की स्वतंत्रता को काफ़ी क्षति पहुँचाई। राज्य ॥ शक्तिवान होना जरूरी है, किन्तु ऐसा नहीं कि 'यक्ति का विकास रुक जाय। मार्क्स के दर्शन को अपूर्ण ही समझने के कारण कम्युनिस्ट साहित्य शास्त्र आगे चलकर राजनीति से अपना सम्बन्ध ज्यादा रखने लगा, किन्तु यह निषिद्ध है कि समाज का दुःख दर्द को और दलित की पाड़ा को समझने में मार्क्सिय दर्शन ने अभूतपूर्व योग दिया।

फ्रायड ने मनुष्य जीवन के कुछ ऐसे सत्य प्रमाणों सहित बताये कि नैतिकता की दुहाइ देकर समाज-सुधार में विश्वास करने वाले लेखक उह तरह तरह का मालियों से विभूषित करने लगे। पहले फ्रायड की किताबों को जलाया गया, उह श्रवण और अनेकिक ठहराया गया, किन्तु धीरे धीरे उनकी सत्यता का रहस्य जानने पर गलती मानी गई। मानी किसने नहीं—यात्रिक मार्क्सवादियों या कुत्सित समाज शास्त्रियों ने। उन्होंने समझा कि फ्रायड 'पशुवाद' का प्रचारक है, किन्तु फ्रायड ने सिद्ध कर दिया कि ऊपर से चाहे जितनी सचेतपोशी आत्मी ने कर ली हो, वह अदर ही अदर घुट घुटकर बी रहा है और उसका कारण है उसका कामनाओं की अतृप्ति। 'यक्ति की तुष्टि के लिए 'नाम' की तुष्टि ही एकमात्र माग है। यहाँ तक तो ठीक था, किन्तु जब उन्होंने समाज को भी 'यक्ति के विकास में बाधा माना तो उनका दृष्टिकोण एकांगी हो गया। समाज स्वयं 'यक्ति के विकास को हानि नहीं पहुँचाता, बरन् समाज की 'व्यवस्था पहुँचाती है। जरूरत समाज से विद्रोह की नहीं, धर्मिक समाज की मौजूदा प्रणाली से है। फ्रायड ने इसे अस्वीकार किया, इसी कारण उनके शिष्यों तक ने उनसे मृत वैमिष्य प्रकट किया। किन्तु मनुष्य की मन स्थिति को समझने में उन्होंने महान् योग दिया, उसका उपचेतन को खोलने का यत्न कर मनुज की धीन का कारण बतलाया। साहित्यकारों ने भी जहाँ फ्रायड का सत्य को अपनाया, वहीं उनकी कमजोरी से भी वे न बच सके और इसीलिए समाज और व्यक्ति का सतुलित सम्बन्ध स्थापित करने के बदले व्यक्ति के अवचेतन को उठोलना ही अनेक साहित्यकारों

का घघा हो गया।

प्रेमचंद किसी 'वाल्' में नहीं बैठे। उन्होंने जन के दुख-दर्द की अनगिन कहानियाँ कहकर मनुष्य में अपनी अपार आस्था प्रकट की थी। 'प्रेमाभ्रम' और 'सेवासदन' तक के आदर्शवाद को अपना मार्ग मानते थे, वैसे इन उप-पात्रों में भी युग सत्य का जो चित्रण हुआ है वह यथार्थवादी है। हाँ, वे खोजा या भोपाखों की तरह सत्य को नहीं देख सकते थे, क्योंकि वह उनका रास्ता ही नहीं था। इससे कला और यथार्थ दोनों को क्षति पहुँची है, किंतु मनुष्य के देवास में विश्वास रखने वाले व्यक्ति के लिए यही मार्ग भी है। 'कफ़न' और 'बड़े घर की बेटी' जैसी कहानियाँ जीवन के सत्य को चीर चीरकर कहती हैं, लेकिन वे यह भी बतलाती हैं कि उनका लेखक केवल सत्य को ही नहीं देखता, यदि उस सत्य से मनुष्य को क्षति होती है तो वह उनसे आगे की बात भी सोचता है और वह है मनुष्य की मर्यादा। 'मात्र' और 'सुनान भगत' इसने प्रमाण हैं। 'गोदान' के पात्र भी जंगल आदर्शों के लिए नहीं जीते, वे मनुष्य की अन्ध्राह-धुराह को अपने में समोहर कर रहे हैं।

प्रसाद की भाँति दूसरा था, किंतु 'कफ़न' और 'तितली' में उन्होंने अपनी जनता का साथ लिया था, यहाँ तक कि अपने ऐतिहासिक पात्रों के मुँह से अपने युग के जीवन में सुधार और देश-प्रेम का भाव व्यक्त कर उन्होंने अपने भीतर की छुपटाहट को ही प्रकट किया। शुबेरीजी की कहानी 'उमने कहा था' कला की दृष्टि से ही नहीं जीवन सत्य की दृष्टि से भी सदा स्मरण की जायगी। प्यार, त्याग और शौर्य जैसी वृत्तियों को लहना के चरित्र में पिरोकर कहानीकार ने एक धमक पात्र की रचना की थी।

प्रेमचंद के समय तक उनका व्यक्तिगत समूचे कथा साहित्य पर इस प्रकार छाया हुआ था कि अनेक अथ भेगियों के कथाकारों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं हो सका था। नग्न यथार्थवाद के मर्मभंग उग्र, चतुरसेन, सर्वदान इन्हीं और श्रुपभचरण जैन उनके समय से ही लिख रहे हैं। नग्न यथार्थवादियों ने जो कुछ लिखा वह समाज में व्याप्त प्रचलित यथार्थ का पूरा ज्ञात ही चित्र नहीं बन सका था (सच्चाई उल्टे कहा गया हो), पर उनकी 'मनहा' के प्रति उतनी ही प्रीति साहित्यिक सीमा को लॉच गई थी। अब भी उग्र और चतुरसेन लिख रहे हैं और 'जीजी जी' में उग्र अपनी पूर्व परम्परा से कुछ दूरे प्रतीत होते हैं। चतुरसेन ने अपने पात्र 'वतमान' से 'वस्तु' को खोज खोजने का अमर छेड़कर इतिहास या पौराणिकता की ओर बल भर लिया है। 'वैशाली की नगर कथा' और 'यय रत्नाम' जैसे भारी भरकम उप-पात्र लिखकर उन्होंने इतिहास की 'प्रामाणिक' ध्वजाओं को कलाबद्ध करने के प्रयत्न में अनेक कल्पित और भ्रष्ट पटनाओं से ही उड़े भर दिया है।

जैनेन्द्र का भाग अलग था। उन्होंने पारिवारिक जीवन में व्यक्ति की मन-स्थिति को समझने का यत्न किया। उनका एक आदर्श भी रहा जो अद्वैतवाद और गौंधीवाद को मिलाकर खन किया गया था। नारी के जीवन की पीड़ा को निखारने का आरम्भ जैनेन्द्र ने ही किया और वह ढग प्रेमचंद से भिन्न था। प्रेमचंद की पद्धति समाज शास्त्रोंय भी, जैनेन्द्र की मान्यमयी। उन पर खेपे बाजू के पात्रों का प्रभाव भी पड़ा, किंतु एक तो इस कारण कि उनकी भाषा सरल दीखने पर भी वह रेखाओं का भ्रंश घम गई थी, दूसरे गौंधीवादी प्रभाव से भी उनके पात्रों में वह अक्षिप्त नहीं आइ जो रवीन्द्रनाथ के उप-पात्रों में थी। जीवन के प्रति

अनास्था भा बैने-द्र में कहीं कहीं मिलती है।

बैने-द्र के व्यक्तिवाद को अश्वेय ने ठाक माग माना है। वे समाज के बंधन को स्वाकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे पश्चिम के दार्शनिकों, विशेषकर फ्रायड और अय मनोविश्लेषणवादियों तथा बट्ट्रेट रसेल से प्रभावित हैं, जिनका ध्याना है कि समाज का बंधन व्यक्ति के विकास को रोकता है। उनके लिए समाज-व्यवस्था से व्यक्ति के नैतिक स्तर या व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। 'शेखर एक छावनी' तक तो गनीमत थी कि वे दुष्ट दर्शन को मिटाने के लिए, वैयक्तिक विद्रोह ही सही, चाहते थे, पर 'नयी क द्वाप' में समाज को बिल्कुल अलग करके 'व्यक्ति का असली विकास' दिखाया गया है। कुछ कहानियों में अवश्य, विशेषकर 'जय दोल' और 'शरणार्थी' में, समाज से रिश्ता कायम रखा गया है, किन्तु आधुनिक वैक्यूम (Vacuum) में ही अपनी कला की पैतरेबासी निभाते रहे हैं। बिना समान गठन को परिपार्श्व में रटे व्यक्ति को समझ सक्ने का हम मरना मात्र अहम् है। अश्वेय इसके शिकार हैं।

इलाचद्र भी प्रायश्चित्त दृष्टिकोण को उचित मानते हैं, किन्तु उन्होंने अपने को एक बाड़े में बंद नहीं कर लिया है और वहां कारण है कि जहाँ 'काम' को समस्या के रूप में मान कर उन्होंने उसका विश्लेषण किया वहीं वे जन जीवन के प्रति भी अँधेरे मूँदकर नहीं रह सके। वे देखते हैं कि समाज में बड़ी पीड़ा है, पर उससे निस्तार पाने का माग क्या है यह वे नहीं कहते। शायद वे सोचते हैं कि यह पीड़ा तो विद्यमान है। यह लगभग उसी तरह का विचार है जैसे मानवावादी कहते हैं कि यह तो भगवान् की लीला है, मनुष्य इस ज्वाल से नहीं छूट सकता। यदि यन्त्रस्थिति को उसके असली रूप में चित्रित कर देना हो सब कुछ मान लिया जाय तो 'जहाज का पछी' एक महान् कृति है, किन्तु बरी कलाकार का अतिम दायित्व नहीं है। मार्ग की ओर सकेत जरूरी है। हों मार्ग का प्रन्धन होना और भी जरूरी है। पर अगर मार्ग की ओर सकेत न हो तो 'छे' मेंटे रास्ते' के लोचक भगवतीचरण वमा की भाँति उसे कोई माग दीलेगा ही नहीं। भगवती वावू एक कुशल शिल्पी हैं, किन्तु वहाँ तक यन्त्र स्थिति या मन स्थिति का विश्लेषण कर मौन हो जाने का प्रश्न है वे जोशीजी के ही समान हैं। भगवती वावू ने 'चित्रलेखा' में कहा—पाप और पुण्य कुछ नहीं है, 'छे मेंटे रास्ते' में वे बोले—जितने भी रास्ते हैं सभी बेकार हैं, और 'आखिरी दौंव' में सिनेमा जगत का नक्शा खींचकर मौन साध लिया गया है। प्रश्न यह नहीं है कि ये लेखक बनी तदक भटक के साथ जाति की आबाध क्यों नहीं उठाते, पर इतना जरूर है कि वे पाठक को कोई संदेश क्यों नहीं दे पाते।

'विद्रा' और 'विजया' के यशस्वी लेखक प्रतापनारायण श्रीवास्तव भी समय के साथ नहीं बढ़ सके। उन्होंने पूर्व जन्म और आत्मवाद को ही अपनी उपयास कला का साध्य माना। यह अवश्य है कि प्रेमचंद काल के लेखकों और उसके बाद के कथाकारों में भी वे ही थे जिन्होंने हिंदू इसाई हृदयों को प्रेम सूत्र में बाँधने की ओर ध्यान दिया था। 'विसर्जन' उनकी पहली की मायताओं में कोई फल नहीं डालता।

समाज या व्यक्ति के यथाय को दृष्टि में रखकर कुछ लेखकों की कृतियों का मूल्यांकन सम्भव नहीं है, क्योंकि उन्होंने इतिहास से अपने कथानक चुनकर उनमें नये आदर्शों को खनकिया है। ऐसे लेखकों में वृंदावनलाल वमा का नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वमाजी की कलम ने पिछले दो सौ वर्षों के बुदेलक्ष्ण को नवीन और जीवन्त रूप देकर अमर कर दिया

दे। उनकी लक्ष्मीबाई, बचनार, निनी, साखी, हेमवती और कुसुम बुन्देलखण्ड की घाटी की उपलब्धी हूँ भी भारतीय सभ्यता के गौरव की प्रतीक हैं। इतिहास के प्रति उनका जो दृष्टिकोण है उससे सहमान होना कठिन है, किन्तु उनके पात्रों में जीवन के प्रति जो आस्था और उनके चरित्र में प्रकृति के बीच में जीने के कारण जो आकर्षण है वह हिंदी के लिए ही नहीं संपूर्ण भारतीय साहित्य के लिए आदर्श की चीज है। हनारीप्रसाद की 'शायम्भूत' की आत्म-कथा उनकी विद्वता और बहुशता को जो प्रकट करती है, काफी सीमा तक बायमेट के युग का चित्र भी बसा सकलना से पेश करती है। द्वितीयकी यदि भारतीय सभ्यता की महानता को सकारते हैं तो उसकी दुर्बलताओं से भी इनकार नहीं करते।

इन लेखकों के अतिरिक्त समाज के सुख दुःख को अपने साहित्य का माध्यम बनाने वाले लेखक मार्क्सवादी वर्ग में उठे। उ होने सामाजिक प्रणाली की विवृतावस्था को पहचानकर उससे पहले एक नए 'यथार्थ' की कामना प्रकट की। व्यक्ति को समाज से अलग काटकर देखने की गलती भी उनसे नहीं हुई और अत्यात्मवाद तथा रहस्यवाद को भी वे नहीं अपना सके। इसका फल यह हुआ कि मौलिक जीवन को अधिक निष्ठ रखने के कारण उन्होंने मनुष्य से अपार किया, उसमें पशु नहीं माना, न ही इसलिये बहुत चिन्तित हुए कि 'व्यक्ति का हक' माना जा रहा है। जन साधारण की विपत्ति और पीड़ा को, जैसे प्रेमचन्द ने असाधारण ढंग से व्यक्त किया था, उन्होंने और भी निखारा तथा युग के दह से भी अपना सम्बन्ध बनाए रखा। मार्क्सवादियों की इस दैन को स्वीकार करना ही होगा।

मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों ने जन समाज के सङ्घर्षों के प्रति तो ध्यान दिया, पर उन्हें गंभीर मोड़दा समाज के बारे में उन्होंने जो आदर्श रखा वह सत का था। सभी ने ऐसा नहीं किया, पर अधिकांश इस पद्धति पर जोरते रहे कि कभी समाज ही एकमात्र नियति है। ऐसा सोचने के कारण अपनी सभ्यता के स्वस्थ तत्वों को भी अनेकेला करना लाजिमी था। प्रत्येक देश या समाज अपनी प्राचीन सभ्यता से नाता छोड़कर कभी जीवित नहीं रह सकता, वर्तमान और अतित का एकवर्तीय गठन उतना ही आवश्यक है जितना वर्तमान और भविष्य का। दूसरी गलती मानसवादियों ने यौन सम्बन्धों के विषय में की। यहाँ तक तो उचित था कि परम्परागत विरुद्ध यौन आस्था पर प्रहार करते, झूठी नैतिकता का पदा उठा दते, धार्मिकता और सफेदपोशी को आद में होने वाले कदाचार के प्रति जन में प्रेरणा उपजाते, किन्तु यह और भी जरूरी था कि उन सब प्रेरित आचारों के स्थान पर एक नई स्वस्थ यौन भावना और सम्बन्धों का रूप खड़ा करते, जो वे पूरी सकलता से नहीं कर सके। भारतीय दर्शन से प्रभावित लेखकों ने मर्त्यत्व को भावसाधकता की दृष्टि से नज़र देना। अमरत्व प्राक्वर्ग्य युद्ध और बनावटी विद्वत्ता से सवेदना प्रकट करने की नहीं है, पर मध्य वर्ग ही समाज के बुद्धिजीवियों का सबसे बड़ा खजाना है, जहाँ यह सत्य सुना देने की भी नहीं है।

सबसे पहले राहुल सांकृत्यायन ने ही मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कहानी और उपन्यास लिखे। 'बोल्गा से गया' के प्रकाशन पर कई आलोचक तो नेत्रध धरवा गए थे कि आर्थों के इस पवित्र देश में इस तरह की परम्परा विरुद्ध पुस्तकों की क्या जरूरत? इस ॥ य में राहुल ने नवी कुशलता से मनुष्य के इतिहास को कहानियों में लिखने का प्रयास किया था। कहानी इतिहास नहीं हो सकती, कल्पना का समावेश उसमें अवश्य रहेगा, 'बोल्गा से गया' में भी यही

या। पर मगवतशरण उपाध्याय इसलिए नाराज हो गए कि उसमें 'साहित्य नहीं या और इतिहास भी सबथा गलत था' और रामविलास इसलिए कि उसमें ब्राह्मणों के प्रति रिश्तावत नहीं की गई थी। उसके बाद ही रामविलास ने राहुल के विरुद्ध सम्प्रदायवादी होने का गलत आरोप लगाया था। 'सिंह सेनापति', 'जय यौदेय' उनके दो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास हैं। पर यह एक सत्य है कि कला की दृष्टि से राहुल बहुत ऊँचे नहीं उठ पाते।

माक्सवादी साहित्य शास्त्र की गहराइयों में बैठकर समाज और 'यक्ति के प्रश्नों का हल खोजने में यशपाल एक समय कलाकार हैं। उनके साहित्य को पढ़ने पर हमारे दिमाग में माक्स या माक्सवाद नहीं आते, आता है अपने इस देश की दरिद्रता का चित्र, छुन और गनाबत। समाज के यथाथ को प्रेमचंद के बाद यशपाल और रागेय राघव से अधिक समझने में आय कोई समय नहीं हुआ। 'यग्य और विद्रूप करने में यशपाल समूचे साहित्य में बेजोड़ हैं। 'पिंजरे की उड़ान' से 'उत्तमी की मा' तक कहानियों का ऐसा स्रोत है जो हमारे पराधान और स्वाधीन भारत की उथल पुथल को सामने रखता है। 'मंगला', 'हलाल का टुकड़ा', 'इसी मुराज के लिए' जैसी कहानियों का यथाथ पाठक को भीतर ही भीतर कचोटकर रख देगा। पर 'मनुष्य के रूप' और 'देराद्रोही' न अपने अपने युग का चित्र उपस्थित करते हैं, न हमें अनाचार से लाने की प्रेरणा देते हैं। यशपाल प्रकृतवाणियों से भी बहुत प्रभावित हैं। उन्होंने सेक्स के प्रति बड़ी दृष्टि कोण रखा है जो प्रेक्षक प्रकृतवादियों का था। अपनी कहानियों में तो उन्होंने समाज और 'यक्ति की समस्याओं की बड़ी पैनी दृष्टि से देखा, किंतु उपन्यासों में वे यौन सम्बन्धों की विकृतियों का चित्रण करते करते-उठते रस लेने लगे।

रागेय राघव ने भरसक अपने को यशपाल की इस कमबोरी से बचाया। उनका 'बरी' शिल्प की दृष्टि से हिन्दी के लिए नई चीज थी। भाषा और शैली के नयेपन ने पाठकों को मोह लिया था। रहमान के चरित्र में कमरे में बैठकर क्रांति की बात सोचने वाला पर व्यग्य होने से एक माक्सवादी आलोचक नाराज हो गए, पर वह एक सत्य था, इसलिए सारे विरोधों के बावजूद उन्होंने जनता के जीवन को अपने साहित्य में सदा ही उतारा। 'विशाल मठ' में बगाल की आकुल मानवता की छुपटाइट का एक मदकर सत्य उन्होंने उपस्थित किया। स्वाधीनता के बाद लिखा गया 'टूलर' लघु उपन्यास होने पर भी अधिक-से अधिक समाज की यथाथता को समोने का सफल प्रयत्न था। हिन्दी में तो नहीं ही, शायद भारतीय साहित्य में भी इतने कम में इतना अधिक कह सकने वाला कोई उपन्यास नहीं लिखा गया। बग ६३ के चित्र के कारण शैलालास अहिंसा और समझौतावाद की दृष्टि से इतिहास को देखने वाले लोगों ने 'मुठों का टाला' उपन्यास का महत्व भरसक कम करने का नारा लगाया पर, सचाई यह है कि आंध और द्रावड़ संस्कृतियों के मिलन की दिखलाने का बटा हा कुशल प्रयास इसमें था। इतना सब होते हुए भी रागेय राघव ने अभी किसी ऐसे चरित्र का निर्माण नहीं किया जो सबयुगीन महत्व का हो।

नागाजुन के उपन्यासों में स्थानावरण (Local colour) अधिक मिलता है, इसलिए उनके पात्रों में ग्रामीण जीवन की उदासी और सुख, प्रीति और डाह के जो दृश्य दिखलाए पड़ते हैं वे यथाथता के इतने निष्ठ होते हैं कि हम उन्हें पढ़ते समय उनके व्यक्तित्व में अपनी तस्वीर देखते हैं। पर यह स्थानीय तत्व हादों के उपन्यासों से भिन्न है। हादों ने कुछ पात्रों को लेकर यह दिखलाना चाहा कि नियति के नियम में बँधा जीवन अन्त में पीड़ा का कोप हो है, नागाजुन

पीठा को, नियति को भी मनुष्य के जीवन से ऊपर नहीं मानते, उनका ध्यान पीड़ा को देत रहने पर भी उसके कारण व्यवस्था पर सदा रहता है। मिथिला की ग्रामीण बनता के दुःख और पीर को नागातुन से अधिक शाब्द ही कोइ बता हो। नगर के जीवन का ज्ञान उनको कम है। इसके विपरीत पटनाल और रागेश राघव का शहरी जिनगी का अध्ययन बहुत गहरा है।

ममयनाथ की कहानियाँ ही उनको यथार्थवादी सिद्ध करती हैं। वे एक ओर तो व्यक्ति को यवसा की उदक मानती हुई उसके भीतरी भावों—प्रेम, ईर्ष्या—को भी कला के माध्यम से समझने का यत्न करता है, दूसरी ओर तबमें विद्रूप और तीक्ष्ण भी भिन्न होता है। इस दृष्टि से 'शिक्षादात्री का जन्म' एक भेद्य रचना है।

'अश्रु' ■ रामविलास बहुत नायाब रहते हैं और शिष्टाचार अति प्रचलन। 'गिरती दीवारों को मा रामविलास कोइ महत्त देने को तैयार नहीं, क्योंकि यह उपवास पनाश के मध्यवर्गीय जीवन को काफी निकट से देखता है। फ्यूनाल्ट दर्शन के अनुसार मध्यवर्ग प्रतिक्रियावादी है, इस कारण रामविलास इस बग के जीवन के बारे में कुछ भी सुनना बर्नास्त नहीं कर सकते, पर यह भा एक सत्य है कि वास्तव अपनी कमजोरियों के साथ बग समाज की बौद्धिक शक्ति है। लेकिन 'अश्रु' गोर्की भी नहीं है, जैसा कि शिष्टाचार का कहना है। गोर्की ने यदि अपने युग यथार्थ को पढ़ाया या तो वह जीवन के यथार्थ को भी अधिक जानने में 'अश्रु' की 'बड़ी बड़ी आँसू' तो वाया और समाज के सिवा कलाओं को ही बतान कर रह जाती है। फिर 'नदी के द्वीप' की अवामाजिकता से अश्रु क्यों नायाब हैं ?

'यया का बाला' में पहाड़ी ने भी पहाड़ी जीवन के दर्द को व्यक्त किया था। वे यदि मानव से प्रभावित हैं तो मायब से और अधिक। 'हिरन की आँसू' की कहानियाँ इसका प्रमाण हैं। उनके पास शिल्प की भी कमी है।

विष्णु प्रभाकर की दो कहानियाँ 'बरती शय भी घूम रही है' और 'नचिरेता' उनकी कहानी कला के विकास की ओर स्पष्ट संकेत हैं। गांधीवाद से प्रभावित प्रभाकरजी के सामाजिक दायकोण में परिचित हुआ है। नौकरशाही पर जैसा व्यंग्य 'बरती शय भी घूम रही है' में है वैसा दूसर कद बपों से हिंदी कहाना में नहीं देखा गया था। 'नचिरेता' बाल मनोविज्ञान और जीवन सत्य का ऐसा पुनः मिला रूप है जो हमारे अन्तरमन को झकझोर देता है। सरल, सीधी भाषा में इतना सार 'कथादमेक' हिंदी कहानीकारों में नहीं मिलता। अमृतदास की भाषा भी लज्जित विज्ञा से प्रेम रखने वाले कवि की भाँति सरल है, किंतु 'बीज' में ऐसा लागता है जैसे मारा की सरसता का लेखक ने अधिक ध्यान रखा है, समाज सत्य की ओर कम। भक्ति क जीवन को लेकर उतका गन्ना घँटने वाली सम्प्रदायों की ओर ध्यान खींचा या कृष्ण नंदन सिंहा ने। उनके 'हरदम आश' में शहरी जिन्गी की छुटपटाहट साफ़ तौर से नजर आती है।

निष्कर्ष ने मनुष्य की उदात्त वृत्तियों को अपने पात्रों के माध्यम से सुरक्षित कर देते आदर्श की सृष्टि की कि मूल्य में हमारा निश्वास बदे। 'सावुन' कहानी का प्यार, माँमी और देवर का निरलून सम्बन्ध इतना प्रभावशाली है कि पाठक पकक सोचता है—अर्थ सफ़ट के चक्र में पड़ने पर भी जीवन कितना आनंदमय है। पर निष्कर्ष में कहाँ कहाँ अधविश्वासी के प्रति भी आत्मिक दिलचस्प पड़ती है। सिन्धुवादसिंह में गाँव का डुरा दद कहने पर

मी 'निर्गुण' की तरह मंत्रों के बल पर स्वराज गले के तुरन्त ठीक हो जाने जैसे उदाहरण नहीं मिलते। यहाँ तक तो ठीक है कि शिवप्रसाद रेखाचित्र बनाते चलते हैं, पर उन रेखाचित्रों का 'लक्ष्य' क्या है यह साफ नहीं हो पाता। कला का लक्ष्य पूरी तरह से स्पष्ट नहीं होना चाहिए, मानता हूँ, किन्तु इतना तो होना ही चाहिए कि पाठक उसे सोचकर लें। इस दृष्टि से देखने पर कमल जोशी मी शिवप्रसाद जैसे ही हैं। जोशी भी यक्ति के भीतर देख पाते हैं, उसही चेष्टेनियों को मी बनी कुशलता से यस्त कर सकते हैं, किन्तु वे यक्ति से उसकी वस्तुमान स्थिति से बाद भी कुछ चाहते हैं यह स्पष्ट नहीं है। इसी कारण उनकी कहानियों को पढ़ने के बाद कुछ साफ़ तरह से भङ्ग नहीं आता, यदि आता है तो उस एक प्रश्नचिह्न 'रावे' के बाद ही बात समझ में आती है, यानी अगर वे व्यंग्य के माध्यम से ही कहते हैं तो मी 'लक्ष्य' ऐसा प्रबल नहीं रहता कि वह कहीं मिले ही न। उनका साथ कठिनाई यह है कि अभी वे यह नहीं निश्चय कर पाए हैं कि प्रगतिवाद या प्रयोगवाद में कौन सही रास्ता है और यदि वे दोनों ही नहीं हैं तो क्या है? ऐसे चेष्टन के यथायवादी दृष्टिकोण से वे प्रभावित हैं।

हाल के ही कथाकारों में रेणु और कृष्णा सोबती के नाम सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। रेणु का 'मैना आँचल' प्रेमचन्द ने उपवासों के बाद हिंदा का सबसेष्ट यथायवादी उपवास है। एक प्रान्त की वेदना बनाकर लेखक ने समूचे भारतीय जीवन के पिड़ले ताम्र दशका की उपल-पुथल को बिस माया में लिखा है वह भारतीय साहित्य में अपना अलग स्थान रखता है। चिन्तकन गाय की माया, गाय ने ही पात्र और ग्रामीण जीवन में बीमे घामे होने वाले परिवर्तनों को रेणु ने एक कुशल शिकरी की भाँति खड़ा किया है। लेखक की दृष्टि केवल वस्तुस्थिति को देखकर नहीं रह गई है, वह आँश की ओर भी देखती है और यही कारण है कि डॉक्टर का चरित्र अन्त तक पहुँचकर मानवीय तेज और त्याग का असाधारण पुञ्ज लगता है। उपवास के अन्त पर कलात्मक मुद्रि या करे अदृशवाद का दोष लगाया जा सकता है, पर यह निरावाद है कि 'मैना आँचल' हिंदी कथा साहित्य के हावहास में एक कालि-स्तम्भ की भाँति सरा रहेगा जैसे कि 'मोदान' है, 'शेखर' है, 'चित्रलेखा' और 'अज्ञान का पक्षी' है। सोबती का क्षेत्र रेणु से तनिक भिन्न है। परिवार, उसका दुःख दर्द, विछाड़, यक्ति की छुटपटाहट को सोबती स्पष्ट जानती है। उनकी कहानियों की टीस हमें हार्दिक और शक्ति की याद दिलाती है। सोबती के लिए पीढ़ी ही जीवन का सत्य है। उस सत्य की तीव्र अनुभूति और कुशल अमि-यक्ति देकर लेखिका पाठक के अन्तर्मन की गीला कर सकती है। चित्रराय साधारणतया कहानियों में शक्ति नहीं हो पाता, किन्तु सोबती में वह है।

समान सत्य और यथायवा की कथा साहित्य के माध्यम से अमि यक्ति देने वाले अन्य महत्वपूर्ण लेखकों में अमृतलाल नागर, नेनोपुरी, चन्द्रकिशोर सोनरिखा, माहन राकेश, कमलेश्वर, ओपकाश और कृष्णदास आदि हैं।

प्रयोगवादियों का अपना अलग आस्तत्व है। उन्होंने एक दूसरा हा माग बनाया है और उसको सही विद्व कर्ने के लिए उनका प्रगतिवादि्यों से वेचाराक है। इसी लिए प्रगतिवादियों ने उन्हें बहुत माला दी। कारण यह था कि उनमें ऐसे अनेक लेखक थे जो 'कम्प्युनिज़म' का विरोध करते थे। विरोध काफ़ी दृढ़ तक ठीक था, यह मौजूदा पूर्वी यूरोप और सोवियत के सपन से स्पष्ट हो गया है। प्रयोगवादियों ने भाषा, भाव और कला के क्षेत्र में जो एक

रक्ता (stereotypedness) हो गई थी उसे गढ़ कर नयापन दिया, इसे न मानने का अर्थ है मुद्रकालीन और मुद्रकाल हिन्दी साहित्य के सबसे बड़े सख से इन्कार करना। यहाँ तक ठीक है कि इन्होंने कम्युनिज्म का विरोध किया, क्योंकि किसी भी सिद्धांत का विरोध करना गलत नहीं है, किंतु उसके स्थान पर 'क्या होना चाहिए' यह न बता करना ही गलत है। प्रयोग यदि भी से यह गलती हुई। इस कम्युनिज्म विरोध के स्वरूप ने धीरे धीरे टमक टो का रूप ग्रहण कर लिया, इस तरह से जिस चीज के लिए कम्युनिस्ट लोगका से इनका विरोध आरम्भ हुआ था कि लेखक को पत्रकार (journalist) नहीं होना चाहिए (और जो ठीक भी था) उही चीज इन्होंने अपना ली। इसी कारण भाषा, शिष्य और माँ को इच्छा कर सुकन क था इनके यहाँ जिस चीज की कमी पड़ गई वह थी 'उत्सु', यानी इन तक चाँचा के माँ से क्या कहा जाय ? जिस तरह कम्युनिस्ट लेखक ने आदर्श गोरी, शोशोकोक, नरुंग और नाचिम दिक्कत से, ठीकी तरह इनके लिए आदर्श यूरोप से ही लिये गए, जैसे जगन्म, लोरेन्स, प्रुल, मोर्लेन आदि।

धर्मवीर मास्ती के पाठ कवि का हृदय है, भाषा भी है, पर एक तो इसलिए कि मास्ती शब्द का विरोध करना वे अपना कर्तव्य मानते हैं, दूसरे माथवग के अतिरिक्त वे अन्य किसी से अपना सम्बन्ध नहीं रखते, उनके यहाँ कमी हुई यथार्थ की। 'पृथ्वी और स्वर्ग' की कहानियों में जिस अज्ञाने देश के पानी को गटने बैठा प्रयास था, आगे चलकर ठाँही का विकास हुआ। उनके पानी का व्यक्तित्व अत्यंत तो इसी जगत् का लगता है पर अधिकतर वे हमारे बीच में नहीं लगते। जैसे बागल से कमी कमी गड़े मनहर चिन चन जाते हैं पर इनमें स्थाय्य व नहीं होता उठा तरह मास्ती के पान हैं। वे मध्यम के सुल बुल को हमारे धामने रखता चाहते हैं, पर उसका भी चिन अपनी समस्त पीड़ाओं सहित, जो हमें अपनी शक्ति से सोचने को मजबूर करे, कम ही दे पाते हैं। इसके लिए माग है अत्यधिक रोमान्तिज्म या मातृकता से निस्तार पाना।

डॉ० देनपात्र ने गाँधी भरकम उपवास 'पथ की खोज' लिखकर अपना मीठरी उपलब्ध को कादिर किया था। तीसरे गांव के आने तक अविम बात नहीं कही जा सकती, पर भाषा की नीरवता और प्रमाण डाल सकने की अशक्तता में 'पथ की खोज' नेत्रांड है। उन्होंने इसमें यन किया है कि वे निष्पक्ष होकर परिस्थितियों या सिद्धांतों को देखें, लेकिन 'प्रवा शोरिकर्न' के सिद्धान्तों में उनका विश्वास क्षिपता नहीं। 'मीतर बाहर' छोटा है इसलिए सरल है, क्योंकि कुछेक चरित्रों को लेकर लेखक एक वातावरण को स्वीक कर देता है। भाषा के पागल होने पर मध्यमिज्म समाज की लचीला पाठक को झकझोरकर जैसे पड़ती हो यह यथार्थ है, इस यथार्थ से भुँद लुपता असम्भव है, और सचमुच देखाज का यह लुप उपवास उनमें मध्यमार्ग जीवन के अध्ययन को प्रकट करता है।

प्रमाकर माचवे अपने उपवासों में मनोविश्लेषण की जाड़ में अपनी बहुकता का दिखाने या समझाने का एकल अग्रय होते हैं, पर कथानक टक वातावरण और प्रश्न या समस्याएँ भी, निंद लेखन उठाना चाहता है, नहीं उठ पाती। 'परतु' और 'खाना' कुछ छोटे हुए बतरनों का समूह लगते हैं। मात्र प्रयोग कर सकने की लानसा कला और मनोविश्लेषण दोनों की निम्नी चाह पहुँचाती है, यह भाचवेनी के उपवासों से स्पष्ट है। 'ब्रम्हा' इसका प्रमाण है।

इस दल से सम्बंधित अन्य महत्वपूर्ण लेखकों में लक्ष्मीनारायणलाल, गिरधर गोपाल

और सर्वेश्वरदास सक्सेना हैं। सर्वेश्वरदास लगभग उसी घारा के उदीयमान लेखक हैं, जिसके कि औरवेन और कोयलर, अर्थात् जिनका एकमेव ध्येय कम्युनिष्ठों की जनता की नज़र में मिलाना है। 'सोया हुआ जल' नव इतना ही करता है। गिरधर गोपाल का 'चौदनी के खण्डहर' -वायस की परम्परा में आता है। ओंकार शर्मा का सम्बन्ध इस दर्ल से टूट चुका है।

प्रयोग की दृष्टि ■ महत्त्वपूर्ण, किन्तु प्रयोगवादी दल से काट सम्बन्ध न रखने वाला उपवास शिवसागर मिश्र का 'बहती गंगा' है। लगभग पिछले दो सौ वर्षों की घटनाएँ और जीवन की गंगा की लहरों के माध्यम से कहलाकर लेखक कुछ श्रमर पात्रों और मानवीय त्याग शीघ्र का रूप पेश करता है। बासवों सदा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, जैसे सत्याग्रह, अनशन और पन्ना नगर की कारस्तानियों के प्रति लेखक का मौन अनुमत्त की कमी के कारण ही है। भूमिका में 'विराट साहित्य में विशिष्ट देन' का दावा भी उतना ही भ्रामक है जितना 'पय की खोज' में प्रस्तुत से तुलना। उत्पराकर भट्ट का 'सामर, लहर और मनुष्य' किसी 'वाद' से अपना सम्बन्ध न रखने हुए भी बर्रर के निरु के बरसोवा निवासियों का जैसा चित्र उपस्थित करता है, वह 'मैला आँचल' के घोर यथार्थ की भाँति ही प्राणवान् हैं, अन्तर केवल इतना है कि उसमें रेणु-जैसा यम्य या विद्रूप नहीं है।

हिन्दी कथा साहित्य पर एक दृष्टि डालने से इतना स्पष्ट है कि यहाँ इमानदार लेखकों की कमी नहीं है। यक्ति के अन्तरामन में चक्कर लगा सकना ही काफी नहीं है, अपने से परे की पीडा और निरंतर होने वाले अ-यथार्थ के प्रति सचेत रहना और भी जरूरी है। कलाकार का काम यथार्थ से मुँह मोटना नहीं है, पर वह राजनीतिक सम्प्रदायों के लिए परचे तैयार करने वाला कारकून भी नहीं है। वह कदाचार से लड़ता है, जीवन में आस्था दिलाता है और मनुष्य के 'मनुष्यत्व' को उभारता है। जब समाज जीवन में विचार और आदर्श विषम होकर उसकी गति रोक देते हैं तो कलाकार नये आदर्श, नये मानों को स्थापित करता है। साहित्य या कला में यथार्थ का अर्थ निरुद्देश्य होकर जो है उसी का स्वरूप खण करना होना तो वह अधिक मुश्किल काम नहीं था। मुश्किल काम है प्रये मय की ओर सकत बर सकना। जो लेखक वस्तुस्थिति में प्रवेश कर समस्याओं को देख सकने के साथ ही सड़े गले तरबों के स्थान पर स्वस्थ जीवन के निमाण में सहायक तरबों को समझ सकता है वही यथार्थ और आदर्श में समुचित सम वष स्थापित करता है। आने वाले युग की जनता उसे ही वाद रखेगी।

अध्ययन : भारतीय लेखक

अनंत चतुर्वेदी

भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यास

हिन्दी उप-यास में सामाजिकता का आग्रह प्रेमचंद की रचनाओं से आरम्भ होता है। यह ठीक है कि प्रेमचंद से पूर्व के उप-यास सामाजिक परिवेश से प्रभावित होते हैं और उनकी कथावस्तु सामाजिक समस्याओं एवं समाधानों को उद्घोषित करती है, परंतु उनमें सामाजिक चिन्तन की न वह व्यापकता मिलती है, न सामाजिक समस्याओं के प्रति वह गहरी श्रद्धा, जो प्रेमचंद की विशेषताएँ हैं। प्रेमचंद की सामाजिक अदृष्टि अपूर्व थी और उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संबंधों, अतिरिक्तों और व्यर्थों को अपने उप-यासों में माधुर्य से सुलभित किया है। 'सेवासदन' से 'गोदान' तक हम भारतीय शहर और ग्राम की एक अत्यन्त विशाल चित्र-पट्टी से परिचित होते हैं और इन रचनाओं के कैरों और चरित्रों का माध्यम से समाज के विभिन्न वर्ग और उनकी समस्याएँ हमारे सम्मुख आ जाती हैं। किंतु प्रेमचंद के सामाजिक चिन्तन की भी श्रमों की सीमाएँ हैं। वह अधिकतर सामूहिक या समूहगत दृष्टि से रखा हुआ है और मानव के विचित्र प्रश्नों से उसका सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाया है। उसमें व्यवसायिक की प्रधानता है और कभी कभी ऐसा लगता है कि जिस जीवन का चित्रण प्रेमचंद कर रहे हैं वह मानव सृष्टि बनकर रह गया है। इसका कारण केवल इतना ही है कि गहरी अन्तर्दृष्टि के हाते हुए भी उनकी चित्रपट्टी इसकी विशाल है कि वह सब पर अपना समान ध्यान रखकर चलना चाहते हैं। दूसरे, कविता और कल्पना का चरम जो जिस औप-यासिक सामाजिक चिन्तन को सम्राट बनाता है, वह प्रेमचंद में अत्यंत सीमित रूप में है। सन् १९२८ के लगभग इस स्थिति की प्रतिनिधिता दी दी उप-यास में परिलक्षित होती है और तदर्थ चित्रण का स्थान औप-यासिक व्यंग्य तथा काल्पनिक चित्रण का प्राप्त हो जाता है। कल्पनारूप आनंद यक्ति में बल आता है और उप-यास का सामाजिक दृष्टि को चित्रण समस्याओं के साथ बुँधने लगते हैं। और ये चित्रण समस्याएँ होती हैं कि वास्तव में समाज को जिस दृष्टिकोण से देखना चाहिए, वास्तव में समाज में पाप और पुण्य की क्या व्याख्या हो, प्रेम और विग्रह का क्या स्वरूप हो, और समाज में पक्ति के जीवन का लक्ष्य क्या माना जाना चाहिए, आदि। ये समस्याएँ अलग-अलग रूपों में उठती हैं और लोक-तटस्थ दर्शक की स्थिति से ऊपर उठकर इन पर अपना टोप निर्णय देता है। नैतिकता और आदर्श के सत्य उसके इन निर्णयों में बाधक नहीं होते और इसीलिए चित्रण के क्षेत्र में सत्य का स्थान अतिवादिता को मिलता है। प्रसाद के 'काला' और 'तितली' उप-यासों में सामाजिक चिन्तन की एक नई ही चरती उभरने लगती है और जीवन का सत्य पला का सत्य बनकर सामने आता है। 'निराला' और भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उप-यास इसी मानव विकास की सूचना देते हैं। उनमें कवि दृष्टि की प्रधानता है और भावना का उद्भूत विशाल

है। प्रेमचंद के सामाजिक चिंतन से उनके सामाजिक चिंतन की प्रवृत्ति ही भिन्न है। उसमें उतना नैतिक यादी प्रचार भले हा त हो, उतना शान्तिदर्शिता भा नहीं है—परन्तु एक नया बौद्धिक आधार अवश्य है। उनकी वैचारिकता भी प्रेमचंद के उपन्यासों की वैचारिकता से अधिक पुष्ट है। प्रेमचंद का साहित्य चित्रणमूलक कहा जा सकता है और इन उपन्यासकारों की रचनाएँ समस्यामूलक एवं तर्कमण्डित। उनमें मध्यमवर्ग समाज की दार्ढ्यात्मक स्थिति अधिक स्पष्ट रूप से उमरी है।

भगवतीचरण वर्मा हिन्दी के रसातिप्राप्त कवि, कहानीकार और उपन्यासकार हैं। उपन्यास क्षेत्र में उनका आगमन 'पतन' के साथ हुआ, किन्तु उनकी प्रसिद्धि 'चित्रलेखा' के प्रकाशन और उनके सफल फिल्मीकरण से हुई। ये दोनों ही उपन्यास उस युग की प्रवृत्तियों से विभिन्न रूप में थे—विशेषकर 'चित्रलेखा' एक नवीन ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण लेकर आई थी, इसलिए वर्माजी का उपन्यास क्षेत्र में स्वागत और मान हुआ। 'तीन वर्ष', 'छठे मंते रास्ते' और 'आखिरी टाव' उनके अन्य उपन्यास हैं जो विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे गए हैं।

'तीन वर्ष'

विवाह और प्रेम दोनों में क्या सम्बंध है यह प्रश्न बहुत ही उलझा हुआ है और इसकी यह उलझन ही इसी विभिन्न यक्तियों के सामने विभिन्न रूप में रहता है। क्या विवाह के लिए प्रेम आवश्यक है, अथवा प्रेम का अन्त विवाह में ही होना चाहिए? हर व्यक्ति इस सम्बंध में अपनी अलग राय दे सकता है और हो सकता है कि इसकी राय उसके दम से छड़ी हो। 'तीन वर्ष' की मूलाधार समस्या यही है।

'तीन वर्ष' का नायक रमेश प्रभा से व प्रभा रमेश से प्रेम करती है। दोनों सुंदर हैं, दोनों युवक हैं, परस्पर प्रेम होना आवश्यक नहीं। आदर्शवादी रमेश प्रेम का अंतिम परिणाम विवाह मानता है, यद्यपि उसका अंतिक समझदार और दुनिया को परखे हुआ मिन अजीत जानता है कि निधन रमेश व विनाश में पली पेरूवय की सम्पत्ति प्रभा के मध्य विवाह सम्बंध अस्मन है। प्रभा स्वीकार करती है कि रमेश में उसे प्यार है, किन्तु विवाह के लिए वह राजी नहीं। उसके अनुसार प्रेम का सम्बंध बसना भोग से है, यौन की उन्मुक्त लालसा से है, विनाश का सम्बंध है जीवन यापन अर्थात् धन की सुविधाजनक स्थिति से। रमेश की सामान्य हतनी नहीं कि वह प्रभा की आवश्यकताओं को, जो काफी बड़ी हुई हैं, पूरी कर सके। अंत विवाह का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है।

दुनिया से भागा हुआ, शराब की वेदोशी में अपने मन को गलत करने में सचेष्ट रमेश का अनायास सरोज से परिचय होता है और दुनिया को चोंदी से तोलने वाली 'हृदयहीन' वेश्या निरुद्देश्य जीवन को उलटने वाले इस लापरवाह संसृष्ट की ओर झुकता हो जाती है। उस वेश्या के यहाँ, जहाँ प्रेम का मूल्य अथ की सीमा से नाप नाछा है, रमेश सच्चा प्रेम पाता है। मदहोशी के आलम के साथ जीवन की कीमल अनुभूति का उसके जीवन में सम्भव हो जाता है। किन्तु उस समय तक वह प्रेम को परखने की शक्ति ही खो चुका था, अतएव वह पत्थर हृदय व्यक्ति सच्चे प्रेम की उपेक्षा कर पतन के मार्ग की ओर, पशुता की ओर बढ़ता जाता है, दुनिया और स्वयं से बेपरवार। सरोज के त्याग से उसका जमा हुआ हृदय विफलता है कि नु होश

में आकर देखता है कि उसने सरोज को जो दिया है, उसको अपनी निष्ठा से दत्ता कर दी है। इसे दत्ता ही कहना उचित होगा। उस समय प्रथम बार उसे ज्ञात होता है कि प्रेम में केवल पाना ही पाना नहीं है, त्याग भी होगा, कुछ देना भी होता है। प्रेम का चरम उत्कृष्ट त्याग है। सरोज का त्याग उसके मोह के बंधों को तोड़ देता है और वह लाछी की सम्पत्ति का स्वामी बनकर, किन्तु हृदय की शक्ति गुना निवन बन, उठने के लिए फिर सवार में आ जाता है, क्योंकि सरोज ने मरते समय उठने का आग्रह भी किया था। लखवती रमेश से विवाह करने में प्रभा को जब कोई आशंका नहीं है, बल्कि वह उसने लिए उत्सुक है, किन्तु सरोज की दोषर रमेश लौट गया है कि विवाह आत्माओं का सच्चा सम्बन्ध है और उस दृष्टि से उसका सरोज से वास्तव में विवाह हो चुका है।

तब अंत में प्रश्न उठता है कि प्रेम क्या है? क्या प्रभा का लेन देन, शारीरिक विज्ञास का नाम प्रेम है, अथवा सरोज का मौन त्याग? लेखक का मत है कि विवाह का आत्मिक सम्बन्ध प्रेम है। किन्तु लेखक का यह कथन भी बहुत अस्पष्ट सा है। वस्तुतः "प्रेम की परिभाषा करना असम्भव है। हम प्रेम को समझ सकते हैं, उसको अनुभव कर सकते हैं, पर इसकी परिभाषा करना हमारी शक्ति के बाहर है।" प्रेम के दो रूप—एक तो जो प्रभा का आग्रह है और दूसरे की साधना सरोज में दिखाई देती है—तामने आते हैं। दोनों रूप विभिन्न हैं। मौनता रूप सत्य है इसका अप्रत्यक्ष रमेश द्वारा बताया गया है। 'चित्रलेखा' के लेखक ने 'तीन वर्ष' में उठाना यह समस्या को उसी दृष्टि से हल करने के लिए इस बार केवल एक ही पात्र चुना, अवश्य-उत्तर भी अब की बात अधिक स्पष्ट मिल गया है।

सरोज रमेश से प्रेम करती है व उसके लिए जीवन का बलिदान भी करती है, किन्तु उसने निस्वार्थ प्रेम की—ऐसे प्रेम की साधना व बचन से मुक्त है—सच्ची परीक्षा उस समय होती जबकि सरोज निर्धनता को स्वीकार कर, अभाव की चपेटों को बरदाश्त करते हुए भी रमेश से बिना शिकायत किये हुए अपने प्रेम में अग्रिम रहती। प्रेम की महत्ता उसी समय प्रकट होती जबकि ऐश्वर्य में पली सरोज अभावों से भी विचलित न हो। बहुत से मनुष्य प्राण्य व सक्षते हैं, किन्तु प्रभाओं की बरदाश्त नहीं कर सकते। सरोज के पक्ष में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इनके सामने ऐश्वर्य को त्यागकर निधनता को अपनाने का प्रश्न ही नहीं आता जैसा कि प्रभा के सामने आया था, यत उसको प्रेम प्रदर्शित करने का बुरा अवसर ही नहीं दिया गया। जहाँ अवसर मिला है उसका निश्चल प्रेम आगर के समान अखाद व गम्भीर ही दिखाई देता है। रमेश के सभी आत्माचारों, कर्तव्यवादों व अपमानों के बावजूद यह शिकायत मरी उपासक नहीं निकलती।

मेरा व सरोज का विवाह सम्भव सम्भव था। वह वेश्या की पुत्री थी तो क्या? जबकि यह सम्भव है कि एक विलकुल देशाती हिन्दू का पुत्र, जिसकी टोपी ने छोटी बाहर की हवा पाने को मना है, कुछ ही महीनों के छोट से शहर में एक बड़े बकील की दाखलत फ़ैशन में पली नवयुवती को आकर्षित कर सकता है, जबकि यह भी सम्भव है कि वेश्याई किसी व्यक्ति में दाशनिता की बूपाकर विभिन्न मान से देखे और शक्ति ही यह मान एवं निस्वार्थ व निश्चल प्रेम का रूप धारण कर सकता है, जहाँकि यह भी सम्भव है कि एक ऐसा व्यक्ति किसी पहले शायद शरण, छोटा भी न जगह हो, अनायास हो पक्ष शपथी बन बैठता है और 'नीट' हिस्की

के गिलास के गिलास टैंडेलकर भी होश कायम रखकर पुराने शराबियों को चकित कर सकता है (शराब पीना अपने हाथ में है, किन्तु उसने बाद होश न खोना नहीं), तब बहुत कुछ सम्भव है। उस हालत में वेश्या के साथ विवाह सम्भव भी सम्भव हो सकता है (कम से कम इससे वह समाज में एक आदर्श उपास्थित करने की प्रेरणा दे सकता था)। किन्तु अब छा हुआ कि उपवासकार इस आदर्श को प्रस्तुत करने के चक्कर में न पड़कर अपने रास्ते पर सीधा ही बढ़ता गया है। 'प्रेम क्या है ?' यही समस्या लेकर वह बढ़ा है और उसी के हल में उसे हम प्रयत्नशील पाते हैं।

'तीन वष' के पान

यमाजी के इस उपवास में नायक रमेशसहित कुल चार पात्र हैं—रमेश, अजित, सरोज तथा प्रमा। गौण पात्र भी बहुत अधिक नहीं हैं, गिने गिनाए हैं। इस प्रकार दो प्रमुख पुरुष हैं व दो नारी। ये पात्र दो विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। रमेश व सरोज आश्रयवादी पात्र हैं और प्रेम के आत्मिक पक्ष को स्वीकार करते हैं। अजित और प्रमा प्रेम को यथार्थवादी (मौलिकवादी) दृष्टिकोण से देखते हैं। इस प्रकार एक पुरुष व एक नारी पात्र एक दृष्टिकोण—आश्रयवादी दृष्टिकोण—ने पोषक हैं तो दूसरे दृष्टिकोण—यथार्थवादी दृष्टिकोण—को लेकर आगे बढ़ने के लिए भी एक पुरुष व एक नारी दिखाए जाते हैं।

रमेश प्रेम के आत्मिक पक्ष में आस्था रखता है। वह प्रेम को अनात्म, अनन्त, मनुष्य का प्राण और जीवन मानता है। वह आदर्शवादी नयुवक प्रेम का अन्त विवाह में स्वीकार करते हुए आशा करता है कि उसकी प्रेमिका प्रमा उससे प्रेम करने के नाते बिना हिचकिचाहट के जीवन समिती बनना स्वीकार कर लेगी। आशा को टोकर लगती है और अपनी आस्था को बिना छोड़ ही रमेश अपने जीवन को बर्तलना चाहता है, पुराने जीवन को भुला देना चाहता है। इस प्रयास में वह भिक्षित सा हो जाता है और लापरवाही के साथ पतन का ओर बढ़ता जाता है। किन्तु न वह पुराने जीवन को ही छो पाता है और न पुरानी आस्था को ही। यही कारण है कि वह जीवन की नई आस्था ले भये सिरे से प्रारम्भ नहीं कर पाता और जावन यों ही अस्त-वस्त चलता रहता है, उस समय तक जबकि उसको एक दूसरी टोकर द्वारा, सरोज के त्याग द्वारा, होश नहीं आ जाता।

प्रेम के आत्मिक पक्ष पर पूरा आस्था सरोज के हृदय में भी मिलती है। वह वेश्या है, शरीर एक रूप का सौदा करती है। जैसे का उसके लिए विशेष अर्थ नहीं, चौंटी के टुकड़ों की कीमत इतनी ही है कि उससे शरीर खपता जा सकता है। वह एक ऐसे समाज का अंग है जो धुनित माना जाता है, जिस पर भित्रीकी सहायभूति नहीं, बहाँ छोटा चौंटी के टुकड़ों पर होता है। वह उस समाज में टनेल दी गइ है बहाँ सम्भव धार्मिक होते हैं। सच्चे प्रेम, सहायभूति मरे दो शब्दों और ऐसे सम्भव कि नितमें चौंटी के टुकड़ों का दर्जन न हो और जो स्थायी हों—वह तरसती रहती है। जीवन में प्रथम बार एक व्यक्ति ऐसा आता है जो उसके रूप और जीवन को चौंटी के बल पर नहीं खरीदना चाहता, जिसको उसके रूप की ओर ध्यान देने का अनुरोध ही नहीं। वह मुक्त जाती है, उसे पहली बार सच्ची मानवता का, पाठित मानवता का, परिचय मिला है। हृदय की पीड़ा एक पीठित हृदय के सम्पर्क में आकर लपलपाने लगती

है और पहली बार सरोज मानवता के सुखों से अपने हृदय को छुनबता हुआ पाती है। ऐसे की उसे परवाद नहीं, उसके पास आवश्यकता ने अधिक धन है। उसको तो सच्चे प्रेम की चाह है और वह उस प्रेम की स्निग्ध किरण से रमेश के हृदय को प्रकाशित या अपनी पूर्ण निधि सहित उस पर बौझार हो गई। सरोज को प्रेम के अलावा और कुछ नहीं चाहिए। प्रेम का आत्मिक पक्ष मात्र ही उसे पर्याप्त है। शारीरिक प्रेम तो एक ऐसी वस्तु है कि वह चाहे वहाँ से प्राप्त की जा सकती है। उसने तो अनमोल रत्न पा लिया और उस रत्न को वह प्राण देकर भी रखने में सचेष्ट है।

अज्ञित यथार्थवादी है। उसने दुनिया देखी है। मौलिन सुखों का उसने पूरा उपयोग किया है और वह जानता है कि मौलिक सुखों को महत्त्व देने वाले व्यक्ति की किस अवसर पर क्या प्रतिक्रिया होगी। अज्ञित के पास पैसा है और उसने उसके बल पर उस तरह का आनन्द लूटा है। उसके लिए उनमें कोई नवीनता नहीं और न उस वर्ग के प्रति कोई आकर्षण है जो मौलिकवादी पक्ष का है। प्रमा यात्रि तितलियों के जल तिलसाह की वस्तुएँ हैं, उनसे आत्मिक प्रेम सम्भव नहीं—यह तथ्य का उसे पूर्ण ज्ञान है, क्योंकि वह स्वयं न जाने कितनी तिलतियों के साथ तिलसाह कर चुका है। मौलिकवादी सुखों में उसे कोई आकर्षण नहीं रह गया है। इसीलिए तो वह अपने वर्ग से अलग वर्ग के व्यक्ति रमेश से मिलता जोड़ता है। रमेश का आदर्शवादी प्रेम उसके लिए एक नवीन वस्तु है, यद्यपि उसके प्रति उसके हृदय में अनास्था का भाव नहीं है। रमेश की असफलता से अज्ञित को चक्का नहीं लगता क्योंकि उसे पहले ही प्रमा की मनोवृत्ति का पता है। किन्तु उसे वास्तविक चक्का लग लगता है जबकि वह देखता है कि असफल होकर भी रमेश अपनी अवस्था से हिमा नहीं, आस्था की मिठाकर नवीन आस्था—प्रेमने खाने की आस्था—को ग्रहण करने के स्थान पर वह (रमेश) स्वयं अपने को मिटाने पर तृप्ता हुआ है। अज्ञित ने दुनिया देखी है, वह यथार्थवादी है और उसके विचार तर्क पर अभिहित होने के कारण एक हद तक सही होते हुए भी प्रेम का ऐसा पक्ष उसके सामने आया जिसकी उसे कम सम्भावना थी और इसका धन उसको अपेक्षा नैदा। उसने अनुभव किया कि रमेश की इस अवस्था की जिम्मेदारी उस पर है। मौलिनवादी आस्था के प्रति आकर्षण तो पहले ही न रह गया था, इस पक्ष ने उसे मौलिकवादी सुखों को लात मारकर वहाँ बले जाने की प्रेरणा दी। अतः प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में रमेश द्वारा लेम्क ने जो मत प्रकट किया है उसमें अज्ञित व रमेश दोनों के विचारों का सम बव है। प्रमा के प्रति मौलिकवादी पक्ष की अवश्य सहित माना है। अज्ञित विवाह के लिए प्रेम इसलिए आवश्यक नहीं मानता क्योंकि प्रेम रूप के आकर्षण की उपलब्धि होने से अस्थायी है। इस प्रकार वह प्रेम के मौलिकवादी स्वरूप को नहीं स्वीकार करता—यही कारण है कि वह यथार्थवादी होते हुए भी बहुत कुछ आदर्शवादी है, विवाह के बाद प्रेम के आदर्श पर जोर देता है।

प्रमा ऐश्वर्य में बसी है, उसकी आवश्यकताएँ बनी हैं। प्रम की वह पक्ष धरे का विशाल मानती है। धन प्रमुख है, उसके पश्चात् अन्य वस्तुओं पर ध्यान दिया जा सकता है। इस दृष्टि से वह मौलिकवादी यथार्थ पक्ष को ग्रहण निये हुए है। प्रेम और धन में उगका घा। महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। वह प्रेम के बौध्दपक्ष (Sexual side of love) का ग्रहण करती है। वहाँ सरोज के प्रेम में त्याग का चरम उत्कथ है, वहाँ प्रमा के प्रेम में प्राप्ति की धरम जाणना।

इस तरह का यौनिक प्रेम और अनन्य वस्तु नहीं, वह तो उसे चाहे वहाँ मिल जायगा। अधिक कठिन है घन पाग, इसीलिए वह घन पर विशेष प्रयत्न रखती है। त्याग की आवश्यकता ही क्या है, जो कुछ रमेश से उसे मिलता है वह तो वह वहाँ भी पा सकती है। हाँ, सख्त को रमेश ने जो कुछ मिला है वह एक तुल्य वस्तु है, यही कारण है कि दोनों के दृष्टिकोण अलग हैं। एक सब कुछ छुड़ाकर रमेश से प्रेम करती है, दूसरा घन ने पीछे रमेश को ठुकरा देती है।

अश्वि और प्रभा दोनों यथावस्था ही हैं, अन्तर नेत्रल यही है कि अश्वि भौतिक वातावरण में रहकर भी लिप्त नहीं है, उसे हाँ सब कुछ स्वीकार नहीं करता और प्रभा भौतिक दुर्लभों को ही चरम उद्देश्य मान लेती है। एक ही प्रकार के वातावरण में रहते हुए भी दोनों के दृष्टिकोण भिन्न होने का मूल कारण यही है। इसीलिए प्रभा की प्रेम और विवाह की 'याददा' में 'याददा' है, जो आत्मिक सम्बन्ध को वहाँ भी स्वीकार नहीं करती—न विवाह ने पूरा, न विवाह के पश्चात्। अश्वि प्रेम को विनकुल स्थाय्य न मानते हुए केवल उसका परिस्थिति में अन्तर भर चाहता है। वह प्रेम का मूल्य विवाह के पश्चात् मानता है।

लेखक ने अपना निष्पक्ष उपन्यास के अन्त में किया है। विवाह के दो पहलू हैं—पहला आत्मिक, जिसे प्रेम कहते हैं व दूसरा आर्थिक—जीवन यापन से सम्बन्धित। प्रभा का प्रेम भोग विलास तक सम्मिलित था व विवाह का अर्थ था घन के बदले में शरीर का लौटा। प्रेम और विवाह में यह सम्बन्ध नहीं मानती, इसलिए एक व्यक्ति से वह प्रेम करते हुए उससे विवाह की राखी नहीं होती। वह वही व्यक्ति घनात्म्य हो जाता है तब वह उससे विवाह को उत्तुल्य हो जाती है। इस प्रकार प्रभा विवाह का कारण घन मानती है, प्रेम नहीं। वह उसके शारीरिक एवं आर्थिक पहलू मान को स्वीकार करती है। वह पुष्प का घन लेता है, अपना शरीर देने के बन्ने में और वह वैश्यावृत्ति है। उपन्यासकार ने जो हल रखा है उसने आर्थिक पहलू पर विशेष ध्यान न दे आत्मिक पहलू को स्वीकार किया है। इस पहलू का स्थायित्व के परिणामस्वरूप ही रमेश सरोज के साथ अपने इस बचन को स्वीकार करता है।

उपन्यास एक समस्या को लिये हुए है जो तार्किक होना में निष्ठा गया है। समाजी की भाषा सम्य और प्राक्ल है, उसमें ललचाऊपन नहीं है।

'विनलेला' के प्रभाव से उपन्यासकार शुक नहीं हो सका है। कुछ सीमा तक यही शैली पकड़े हुए है। 'तीन बग' का अश्वि 'विनलेला' के बीजगुप्त की भाँति रमेश को प्रभाओं की दुनिया से उठाकर एश्वर्य के प्रासाद में लाकर छोड़ देता है, विभिन्न प्रकार के त्याग करने को प्रस्तुत है, यद्यपि वह बीजगुप्त की भाँति महान् नहीं हो सका है, न वह उपन्यास ही उतना सँका उठ सका है जितना 'विनलेला'।

'टैडे-मेड रास्ते'

समाज में दो प्रकार के बग हैं—एक वह जो पुण्य विचारों में पला है व वे विचार उसके रग रेशों में इस तरह समा गए हैं कि वह अनौनता का समर्थन नहीं कर पाता और समय के साथ बढ़ने में असमर्थ हो अपने ध्यान पर ही अट्टे रहना चाहता है। इस प्रयास में वह प्रातिशाल विचारों का विशेष करते हुए अपने साथ ही समय को भी रोक्ने की चेष्टा करता है,

किंतु इस चेष्टा में वह स्वयं भी घिस्टता चलता है।

दूसरा वर्ग है उस समाज का जो नवीनोदित मानवशास्त्रों का स्वागत करता है, उनके विकास तथा प्रसार में सहायक होता है। अधिकांशतः मनुष्यक इस वर्ग में ही शामिल हैं। इस वर्ग में विभिन्न उपवर्ग हैं—यथा साम्यवादी, समाजवादी, क्रांतिकारी, कांग्रेसी आदि।

प्रथम वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि हैं—पूर्वोक्तवादी व साम्राज्यवादी तथा सामाजिक क्षेत्र के पुरक हैं प्राचीन रुढ़िवाणी।

द्वितीय वर्ग में भी दो भेद हो गए हैं—१ हिंसावादी, २ अहिंसावादी। क्रांतिकारी तथा साम्यवादी दल हिंसात्मक क्रांति में विश्वास करते हैं, यद्यपि प्रस्तुत उप-यास में साम्यवादी दल ने हिंसा का आश्रय नहीं लिया है। कांग्रेस तथा माधीजी से प्रभावित व्यक्ति अहिंसा में विश्वास करते हैं।

समुत्त सार्व सफल एवं निराल के बीच है। साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध गुलामों का, पूर्वोक्तवादियों के विरुद्ध मरीच मजदूरों का, कर्मोंगर के विरुद्ध शोषित किसानों का तथा त्रयणी इच्छा लादने वाले परिवार के सुगम्य के विरुद्ध परिवार के स्वतन्त्र चिंतक मनुष्यों का विरोध है। इस प्रकार समस्या आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी प्रकार की है।

आलोच्य उप-यास में सचन वर्ग ने प्रमुख प्रतिनिधि हैं व० रामनाथ तिलारी। वे कर्मोंदार हैं और इस हेतिय स किसानों पर उनका कोटा चलता है व पिता तथा परिवार के सुनिया की हेतिय वे छोटे माह २ पुत्रों पर शासन व्यवस्था अधिभार समझते हैं। साम्राज्यवादी शक्ति, जिसके पुत्रिन, फौज, विद्यमानरदयाल मरोते यकिन पुत्रों हैं, सारे देश के शासन को हाथ में रखने में प्रयत्नशील है। इन प्रयत्न में बाधक शक्तिवर्गों का दमन करने में प्रथम वर्ग पुण्यता हट है। व० रामनाथ पुन से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं और किसानों का दमन कटोरा से करते हैं। साम्राज्यवादी शक्ति भी दमन करने में पूरी तौर पर कटोर व निर्मय है, यद्यपि यह बात दूसरी है कि अहिंसात्मक आंदोलन की कुचलते समय प्रयत्न करने पर भी बहुत निर्णय नहीं हो पाती।

प्रस्तुत उप-यास में निराल और सफल का रूप तो है ही, साथ ही सफल का सफल से भी भय पड़ पड़ता है। सहित का पुनारीक्षण दन यह है आस्था रखता है और इस अह की रक्षा हर कीमत पर करना चाहता है। रामनाथ व विश्वम्भरदयाल के बीच इसी अह का मातम ने सफल का बीच रोष। विश्वम्भरदयाल तथा रामनाथ दोनों ही शक्ति व अह के दश में मददोश हैं, धन की उन्हें चिंता नहीं और इसलिए एक ही दल—सफल दल क होते हुए आपस में जुक्त जाते हैं। सफल दोनों की होती है। प्रभावना का सरकारी सुगमिक पतान में विश्वम्भरदयाल अग्रमथ रहते हैं और नी को मीन से वचन में रामनाथ अग्रमथ दा जाते हैं। सफल की आपसी लड़ाई में ही तो निराल को अग्रमद भिन्नता है कि सफल की इस विपक्षता का लाभ उठाकर अपनी सहित बनाह बाय, सचन को करारी जोड़ नी बाय।

मिरीची निराल दल का प्रतिनिधित्व व० रामनाथ क तीनों सहज करते हैं। यह एक मने की बात है कि उनके तीनों लड़के तीन अलग दशा में समिश्रित होते हैं व करीब करीब उ तम नेता का वर्ग पा जाते हैं। दयानाथ कांग्रेस का माना हुआ नेता बनता है, रामनाथ साम्यवादी दल के देश के सबसे बड़े नेता का पद सम्पादता है और प्रभावना क्रांतिकारी दल का नेता व

होने पर भी हीरो (Hero) बन जाता है। इस प्रकार असाधारण पिता के तीनों पुत्र असाधारण निकलते हैं। पिता एक दग का प्रतिनिधि है तो तीनों पुत्र तीन अलग दलों में त्रिषेप स्थान रखते हैं।

पिता व पुत्र की विचारधाराएँ सवया भिन्न हैं। सबका दृष्टिकोण अलग है, सबने रास्ते अलग हैं। सबाल उठता है कि आखिर कौन सही रास्ते पर है और किनका माग गलत है? सब अपने अपने दग से सोचते हैं व उसी दग से अपने माग पर चलते हैं। हरेक अपने दग से ईमानदारी के साथ अपने माग का ठीक समझकर उस पर बंता है। लेखक ने सबका दृष्टिकोण यथासम्भव तन्त्रय की मूर्ति स्पष्ट कर दिया है। अतः तब उसकी चेष्टा रहे कि वह किसी एक माग को सही व सीधा मानकर उसके प्रचार में न शामिल हो जाय। सभी मार्ग उसके लिए >> भेद हैं, आमान उनमें से कोई नहीं है। तब भी उनकी सहानुभूति गांधीवादी अहिंसात्मक आन्दोलन के प्रति है। साम्प्रदायी दल के प्रति उनकी सहानुभूति कम है। कुछ कुछ वह उसे अराष्ट्रीय मानता है, रुस का चलाया आन्दोलन स्वीकार करता है। क्रान्तिकारी आन्दोलन को भी वह सही नहीं मानता, किंतु राष्ट्रीय होने के नाते उनकी सहानुभूति का यह मागी अवश्य है। यही कारण है कि वह एक प्रमुख क्रान्तिकारी द्वारा मरते समय आत्मकथा को गलत कहलाते हुए भी अपने माग पर ईमानदार प्रमानाथ व बीणा के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार कायम रखता है और प्रभाकर का चरित्र उल्लेख चित्रित करता है। दूसरी ओर गांधीवाद व कांग्रेस का समर्थन करता है और रामनाथ सरीले दम्पियान्नी के मुँह से अहिंसा की शक्ति की प्रशंसा व गांधी के प्रति भक्ति प्रकट कराते हुए निजा स्वाध म लीन दयानाथ की कुछ फजीहत भाँटा देता है।

पात्र

प्रत्येक काल में, प्रत्येक राष्ट्र में, समयानुकूल प्रगति के अनुसार नई पीढ़ी पैदा होती है, सम्पूर्ण सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्थाओं एवं मानव की मायताओं में क्रमानुसार परिवर्तन होते चलते हैं और पुरानी पीढ़ी भी परिवर्तनों का त्रिषेप करते हुए उनकी बढ़ती चारा को रोकने में असफल हो घारे धीरे उनके अशुक्ल ढलती चलता है। इस प्रकार नई पीढ़ी तथा पुरानी पीढ़ी में सतत बौद्धिक रूप से चलता रहता है, भले ही यह समय संकटपूर्ण परिस्थिति में उत्पन्न करता हो।

कभी कभी ऐसी परिस्थितियाँ बन जाती हैं कि दृष्ट व समाज में होने वाले इन बाह्य एवं वैचारिक परिवर्तनों की गति अथवा तत्त्व हो जाती है और पुरानी पीढ़ी की मान्यता इनका साथ न दे सकने के कारण उपयुक्त संघर्ष विकट रूप धारण कर लेता है। प्रस्तुत उपन्यास में ऐसा ही अवसर प्रस्तुत हुआ है। पुरानी पीढ़ी के प्रतिनिधि एवं उपवास के सम्भवतः सम्प्रदाय पात्र रामनाथ की मनोस्थिति इन शीघ्र परिवर्तनशील परिस्थितियों के कारण ही अस्तित्व में गई है। वे उनमें म हैं कि अचानक सभी कुछ नवीन और अज्ञानता का कथो होता जा रहा है। पुराने युग के सुशिक्षित एवं तर्कशील प्रतिनिधि रामनाथ अपने को नये युग का समझते हैं, क्योंकि वे पुरानी रूढ़ियों एवं परम्पराओं के बिना तक की कसौटी पर कसे स्वीकार करने को तैयार नहीं, किंतु जब वे देखते हैं कि वे तो समय से काफी पिछड़े गए हैं अथवा नया माने जाने वाले युग का स्वरूप उनकी समझ के परे है तो उनकी अहम्मायता की मात्रा को टेस

लगती है। सारी समस्या यही है कि वे अपने को विकृत मानने को तैयार नहीं। यही उनका नये युग से विरोध है। वे नये युग को सामाजिक एवं कल्याणकर मानने से ही इंकार कर देते हैं। दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी का अल्पशिक्षित एवं सर्ववृद्धि से प्रायः रहित पुरातनपथी मगड़ू भित्ति में अहम्भ्यता का अभाव होने से हठधर्मिता नहीं है और परिणामस्वरूप वे नई पीढ़ी के साथ सामंजस्य स्थापित करने में, उसके साथ काम मिलाकर चलने में, सफल हैं। उनकी रुढ़िवादिता एवं उनका बौद्धिक विकृतगण ज्ञान का परिष्कार दे, रामनाथ की भाँति यह हठधर्मों के साथ ज्ञान वृद्धि कर नई पीढ़ी का विरोध नहीं है। रामनाथ का व्यक्तिगत जितना प्रचार एवं शक्तिशाली है, यदि उनमें उद्युक्त कमी न होती तो उसके अनुसार उनमें सारे पात्रों की विचारधारा को संचालित करने की शक्ति सम्भव थी। जातिवादी प्रभाव भी इस व्यक्तित्व की प्रगल्भा से मध्यम है, किंतु परिणत रामनाथ का स्वयं अपन से ही समय है। वे जिस बात को तब द्वाप समझते हैं उसको स्वीकार करने में उनके हृदय में द्विचक है। अपनी हठी दुर्बलताय से अपनी शक्ति बहुत कुछ खो बैठते हैं। वे ऐसे शक्तिशाली नेताओं के समान हैं जिनमें नेतृत्व की समता, प्रबल समता है, किंतु जो गलत पक्ष का समर्थन कर रहे हों तथा साथ ही स्वयं भी इस बात को अच्छी तरह समझते हैं। उनकी अहम्भ्यता न एक ऐसे पुतले का निमाण किया है जो ऊपर से कौलादी है और हर परिस्थिति में अडिग रहन वाला हो, किंतु जिसके भीतर मानवीय भावनाएं भी भरी हैं (दरी दुद ही सही) तथा इन भावनाओं की आग इस बटोर कौलादी लोचों को भीतर ही भीतर जलाकर जोखली करती चली जा रही है। बाहर से अंध भी भले ही बटार कौलादी बाँचा लगे, किंतु वस्तुतः उसकी अरदाशत करने की शक्ति ब्यर्थ हो चुकी है।

वास्तव में समस्त जीवन भर रामनाथ की कोशिश यही रही है कि वे कहीं पराजित न हों। मिथिला शासन के आगे भी वे इसी दृष्टि से सिर नहीं झुकाना चाहते हैं। उनके अहंसात् त्रिटिका शासन तथा कर्मोद्धार बग एक दूसरे के सहारे ठिके हुए हैं और इस दृष्टि से उनमें परासरी का सा सम्बन्ध है। लड़कों द्वारा प्रतिपादित नवीन विचारों के आगे अपने विचारों एवं धारणाओं की अजहेलता उनको पुनः वे बुझा कर देती है। वे अपने विचारों को, अपने यक्तित्व को ही, सर्वोपरि मानते हैं। छोटा लड़का प्रमानाथ कहा झुन न जाय, इसी निता है, क्योंकि बच्चों की दुर्बलता में भी वे अपनी पराजय देखते हैं। दोनों बड़े लड़कों को अपने पथ से भ्रष्ट होने से (उनके पथों के विरोधी होने हुए भी) वे बचाते हैं। छोटे लड़के का भी उनसे शक्ति मिलती है कि दृढ़ रहे, किंतु परिस्थितियों कुछ ऐसी हैं कि यह दृढ़ता शकास्प है। रामनाथ विप्लव हैं, बेधम हैं। उनकी सारी शक्तियाँ इन परिस्थितियों का सशुभ निरर्थक हो गई हैं कि बीणा इन कार्य में आगे जाती है। बीणा द्वारा मगध को दुर्बलता प्रशंसित करने से रोکنे का कार्य यद्यपि रामनाथ के अह की रक्षाप्राप्त के लिए नहीं था, किंतु इससे रामनाथ की पराजय अवश्य बन गई। रामनाथ का पक्षपात होती है स्वयं के साथ युद्ध में और इस युद्ध में वे इतने भीषण शीर्ष्य हो जाते हैं, इतने अशक्त हो जाते हैं कि एक अशेष बालक के सहारे के लिए ही व्याकुल हैं। जिस व्यक्ति ने सदैव सब पर शासन करना ही सोचा हो उसका अंत में एक अशेष बालक को निपटा लेना उसकी मनोदशा का चोकर है। स्पष्ट हो रामनाथ भयभीत हैं कि सब कुछ छु

गया, वही यह सहाय भी न छिन जाय। उनकी सारी शक्ति का महल अब इस छोटे से सहारे पर ही टिका रह गया है। वस्तुतः यह उस 'यक्ति' का अत्यन्त दीन स्वरूप है—उस प्रखर यक्ति का जो सबको भुलसा देता है, जिसके आगे प्रभावकर सहस्र क्रांतिकारी भी टहलते हैं। तथापि सम्भवतः पहली बार रामनाथ यहाँ हाड मॉस से बन मानव के रूप में स्पष्ट रूप से प्रकट हो सके हैं, इसने पहले उनके मानवस्वरूप पर अहम्म यता का आचरण सदैव ठका मिलता है।

नद पीपी के पात्र अनेक हैं। उनके माग अनेक हैं। रामनाथ के तीन लम्बे दयानाथ, उमानाथ तथा प्रभानाथ तीन विविध मामों के प्रतिनिधि अनुयायी हैं, शेष पात्र इनके राजनीतिक सिद्धांतों का 'युनाधिक पालन करते हैं। उदाहरणार्थ ब्रह्मन्त को लेने पर शत होता है कि वह साम्यवादी मन्त्रदूर आन्दोलन का समर्थक होते हुए भी कांग्रेस दल का सन्ध्य है।

दयानाथ कांग्रेस का उद्देश्य एव प्रमुख नेता है। कांग्रेस का कार्य के हेतु वह अपने पिता के रोष का सामना करता है। उसमें जहाँ एक ओर देश प्रेम की भावना कूट-कूटकर मरी है और उसके कारण वह विदेशी शक्ति के समर्थक जमींदार वर्ग (पिता सहित) का विरोधी है, वहीं उसमें अहम्म-यता की पैतृक सम्पदा कूट-कूटकर मरी है। उसमें अपने पिता से स्वभावगत कोश भिन्नता नहीं है। केवल वह कुछ दुर्गल है तथा बौद्धिक तर्क वितर्कों से परे है। उसका 'यक्तित्व भी उतना प्रखर नहीं है, केवल फटोरता एव दपभाज उसमें है। यह जनता के लिए लज्जा है, किंतु जनता से, कांग्रेस के अपने अधिकांश साथियों से, भी समान भाव से नहीं मिल सकता है। यह पैतृक अहम्म यता उसकी पराजय का कारण बनती है और भारत में यह पराजय उसके लिए आवश्यक है। तथापि उसके चरित्र की दुर्बलता इतन से ही प्रदर्शित हो जाती है कि वह पराजित होते ही माग से डिग जाता है और यदि उसका पिता ने, जिन्होंने निममता के साथ अपने इस बागी पुत्र को 'त्याग' घोषित कर लिया है, उससे सहा दिया का निर्देश नहीं किया होता तो उसका चारित्रिक पतन तो हो ही चुका था।

उमानाथ भारत के बाहर से अन्तराष्ट्रीय साम्यवादी समूहन एव आन्दोलन का प्रशिक्षण प्राप्त करके भारत आया है। उसकी पश्चिम भक्त दृष्टि में भारत रूढ़िवादियों और जाहिलों से भरा हुआ जंगली देश है। भारत के बुद्धिजीवी वर्ग की हानत उसको और भी परेशान करती है। यदि वह चर्कित होता है तो अशिक्षित और 'गायत्री' ब्रह्मदत्त की तर्कशुद्धि एव सूर्य वृक्ष से। अन्तिम धक्का लगता है महालक्ष्मी के प्रेमपूष्य त्याग एव अदृष्ट अद्भापूष्य 'यवहार' द्वारा। उसकी सारी पश्चिमी विचारधारा आस्था की इस प्रखल आँवा में सूरे पत्ते की मूर्ति उठ गई। पश्चिमी तर्कवाद यहाँ भारतीय अद्भा के आगे घुटने टक देता है। उमानाथ के माध्यम से मानो उपन्यासकार ने विदेशी साम्यवाद को भारत से निकाल फेंका है, भारत की भूमि इस पौत्र के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होती है। यह सम्भव है कि साम्यवाद भारत में आए, किंतु यह निश्चय है कि वह अपने विदेशी स्वरूप को त्यागकर विशुद्ध भारतीय बनकर ही आ सकता है। उपन्यासकार साम्यवादी धारणा के विपरीत नहीं शत होता है, किंतु उसको राष्ट्रीयता विरोधी साम्यवाद किसी भी रूप में स्वीकार नहीं है। उमानाथ में भी अहम्म-यता का बीज विद्यमान है, मने ही पारिचात्य वातावरण में रहने के कारण उसके हृदय में यह पनप नहीं पाया है। प्रारम्भ

में वह प्रकट के प्रति जो उपेक्षा भाव प्रकट करता है^१ उसमें दूतों को तुच्छ समझने की भावना काय कर रही है, तथापि उसमें अपनी मूल को स्पष्ट स्वीकार करने का भारी गुण विद्यमान है। अहम्भक्तता के विरोध में यह विशेषता उसने यत्नित्व को आवश्यक बना देती है। परिणामी स्वच्छ दत्ता उसकी कमजोरी है जिसके अतहत वह अपने जीवन में अनेक परिवर्तन ले आता है—यथा एक पत्नी के होते हुए भी दूसरा विवाह करके प्रथम पत्नी को तलाक देनी का निवार करता है, अपनी दूसरी पत्नी हिल्टा के साथ स्वच्छ दत्त व्यवहार आदि—किंतु यह योग्य ही अपेक्षाकृत सयत एवं भारताव्य वातावरण के अनुकूल होता जाता है।

प्रमानाथ मरुत रमभाव का सीधा सञ्चा नचयुक्त है। मानसता के प्रियतम स्वरूप को देखकर उसका हृदय हिला उठता है, जीवन के प्रति आस्था तक की नींव हिल जाती है और वह अनायास ही उम्र कान्तिकारी दल में जा पड़ता है। जीवन की अपेक्षा मानसता के प्रति उसका प्रेम उस समय पूरी तरह प्रकट होता है जबकि वह जीवन पर भीषण सकट की अवस्था में भी अपने चापल साथी प्रमानाथ को नहीं छोड़ना चाहता है। प्रमानाथ के माध्यम से उपवासकार ने हिंसक कान्ति के मार्ग को 'बना गलत रास्ता' बताया है तथा यह भी संकेत किया है कि इस मार्ग को उन लोगों ने अपनाया है 'जो निराश हो चुके हैं'।^२ प्रमानाथ की आयु अधिक नहीं है, अतएव उसमें जीवन के प्रति गम्भीरता का हावगोण नहीं बना है।

उपवास के प्रमुख नारा पात्रों को दो वर्गों में रख सकते हैं—(१) स्वतन्त्र व्यक्तिपरक नारी, तथा (२) स्वतन्त्र व्यक्तिगत सत्तायुक्त नारी। प्रथम वर्ग में महालक्ष्मी तथा राजेश्वरी आती हैं तथा दूसरे में बीणा। तीनों नारी पात्र प्रेम में त्याग एवं समर्पण की स्वीकार किये हुए हैं। इस प्रकार प्रकट अथ नारी हिल्टा का तुलनात्मक चरित्र प्रस्तुत किया गया है। हिल्टा पाश्चात्य समान अधिकार का दावा करने वाली दुबल नारी का स्वरूप प्रकट करती है—देखी नारी का स्वरूप को स्वच्छ दत्तायुक्त व्यवहार को प्रगति एवं बौद्धिक चेतना का आधार मानती है। उपवासकार ने इस प्रकार पश्चिम तथा भारत के वैवाहिक सम्बन्धों का तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है। पश्चिमी दाम्पत्य जीवन केवल एक आर्थिक समझौता मान है, पात पत्नी के सम्बन्ध उतने गहरे नहीं हैं जितने भारतीय जीवन में होते हैं। भारतीय दाम्पत्य जीवन का आधार आत्माओं का मिलन है। उपवास के तीनों भारतीय नारी पात्र भारतीयता का इस विशेष पहलू को प्रकट करते हैं। राजेश्वरी तथा महालक्ष्मी का अपना स्वतन्त्र चरित्र है ही नहीं। उनके यत्नित्व तो उनके पतिव्रतों के साथ ही हैं। सुशिक्षित एवं सभ्य नारी बीणा का स्वतन्त्र यत्नित्व है। वह सोच सकती है, स्वयं के निश्चय करती है, किंतु प्रेम का स्वाभाव तथा गहरा स्वरूप उसके चरित्र में भी प्रकट होता है। प्रमानाथ उसका पति नहीं है, किंतु प्रेम के नाते उसने यह सम्बन्ध मान लिया है और वह कारुणिक सम्बन्ध भी इतना गहरा है कि उसके विवाह हेतु बीणा स्वयं अपने प्राणा के महत्त्व को छो देती है। भारतीय नारी का जो आदर्श माना गया है वह इन तीनों नारियों के चरित्रों में भरपूर प्रकट हुआ है। रामनाथ सदश सकारी, कठोर तथा बिंदी यत्नि भी, जिसके लिए किसी विजातीय कथा को पुनर्व्यू स्वाकार करना अनल्पित था, इस भगाली लड़की के दृढ़ एवं आदर्श विवाह के आगे टिग जाता है

और धार्मिक अनुष्ठानों सहित विविध विवाह संस्कार के अभाव में भी, केवल एक भावना की शक्ति के स मुग नन होकर, इस भावना के सम्बन्ध को चुनौती देने का भी विचार नहीं कर पाता। वह बीणा से पूछता है, 'क्या पत्नी के कथ य जानती हो?' मानो वह चुपचाप बीणा के इस आश्चर्य को कि वह प्रमानाय की पत्नी है, स्वीकार कर लेता है। भावना की इस शक्ति के स मुग इस दृग्गुक्त तथा प्रखर यक्ति का यह आत्मसमर्पण बहाँ एक और रामनाथ की पराजय नहीं प्रकट करता (क्योंकि यह आत्मसमर्पण ही अधिक स्वाभाविक है) वही बीणा का चरित्र इससे अधिक निरार आया है। कमल इसी शक्ति ने आधार पर यह दुर्बल सी लड़की उस पराभवपूर्ण परिस्थिति को विनष्ट कर देती है, जिसके आगे रामनाथ का अस्तित्व, घन सम्पदा आदि, श्यामनाथ का उच्च शासकीय पद एवं माय दौड़, सभी असफल निवृत्त हुए थे। इस दृष्टि से वह रामनाथ की सहायिका ही बड़ी जा सकता है।

‘आखिरी दौंव’

आज के भौतिकवादी युग में, समसमाता सम्पत्ता के इस युग में, सबसे शक्तिशाली है पैसा। पैसा ही मानव का भगवान है, उसका दृष्ट है। पैसे में वह शक्ति है कि उससे शरीर भ्रम किया जा सकता है, आत्मा त्रय को बा सझी है। मानव का मूल्य चोरी के सिककों से निर्धारित किया जाता है। वर्मानों के ‘आखिरी दौंव’ उपन्यास में यही प्रतिपाद है।

इस पैसे के साधन द्वारा समाज में ऊँचा स्थान मिलता है। यह पैसा मिले। कोई भी आदमी बिना चेदमानी के, बिना आत्मा को बेचे, धनवान नहीं बन सकता। रामेश्वर, जाकि इस तथ्य को जान गया है, परी तौर पर पैसा पैदा करने में लग जाता है। रामेश्वर को चमेली से प्रेम है और वह जानता है कि पैसे के न होने से ही उसकी चमेली उससे पैसे माने छीने ले रहे हैं। चमेली को पाने के लिए ही वह पैसा पैदा करने के लिए हर कदम उठाने को तैयार है। रामेश्वर से चमेला को भी प्रेम है। वह रामेश्वर का सच्चे अर्थों में है। किन्तु परिस्थितियों उसे दूर दूरे रहीं हैं। चमेला के पतन का मुख्य कारण अपने को समझकर रामेश्वर इतना अमीर होना चाहता है कि किंद कोई उसका चमेली को न छीन सके। जिस पैसे के कारण चमेली को वह पतन के गर्त में डालने को निरा हुआ, उसके प्रात एक प्रकार का रोष सा उसके हृदय में समा जाता है। वह उस शक्तिशाली पैसे को भी गुलाम बनाने के लिए पागल-सा हो उठा है। दुनिया की कोई शक्ति, चमेली तक में शक्ति, नहीं कि उसकी गति को रोकें। दुनिया का कोई तक, घम व आत्मा को पुकार भी उसके बड़े कदम को नहीं रोक पाते। जिस भाग्य ने उसको निधनता देकर लूटा था उस पर वह ईर्ष्या चाहता है, कि उ भाग्य की अन्त में विजय होती है। अपनी पाप की कमाद वह हार जाता है। यह विजय भगल की नहीं, भाग्य की है। भगल तो एक साधन मात्र है, भाग्य का एक अस्त्र मात्र है, जिसके रूप में भाग्य रामेश्वर को लूटने आया है। सारा घन तो रामेश्वर हार ही जाता है, कि तु साथ ही वह आखिरी दौंव, जिसमें उमने कभी खुची पूँजी भी लगा दी थी, हार जाता है। भगल के सामन तो आखिरी दौंव में वह थोड़े से चाँदी के डकड़े ही हारता है, किन्तु नियति के विरुद्ध लगाये गए इस आखिरी दौंव में वह स्वयं अपने और अपनी चमेली को भी हार जाता है। यह उसकी आखिरी हार है। अब हारने को उसके पास कुछ नहीं है और

बोझने का कोई प्रश्न ही नहीं। इस अन्याय में एक निराशा मिश्रित विपत्ति (Resignation) के साथ बह मुक्त जाया है, आत्मप्रमनस कर देता है। अब उसमें कोई विरोध शेष नहीं रहा।

‘आखिरी दौंव’ में समस्या है वैसे की, किन्तु समस्या को प्रधानता न भिन्नकर परिस्थितियों प्रमुख हो गई हैं। वे राष्ट्रीय तथा किन्तु के दम की उत्तर चाहिये हैं।

बनानी मुक्त समस्या प्रधान उपन्यासकार है। उनके उपन्यासों में समस्या प्रधान होता ही है। आलोच्य उपन्यास सम्प्रदाय किन्तु के लिए लिखा गया था। उपन्यास के गठन से ही यही प्रतीत होता है। किन्तु के लिए लिखा जाने के कारण परिस्थितियों को महत्त्व देना पड़ा और इस प्रकार समस्या अब गढ़, परिस्थितियों प्रमुख हो उठी है। किन्तु ‘संस्था’ के लक्ष्य में पूर्णतया सत्कार ने किन्तु अनैतिकता और भ्रष्टाचार पैदा किया है, उसके विपरीत करने का प्रयास मा इस उपन्यास में है।

द्वितीय प्रकार बनानी ने ‘विजयेश्वर’ में पाप पुण्य का, ‘श्रीमन्त’ में प्रेम और विवाह का, ‘हेमन्त रास्ते’ में विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का दृष्ट दिखाया था, वहीं भी ‘आखिरी दौंव’ में वैसे और नैतिकता का संपर्क है, जिसमें सत्य की हा विषय है, नैतिकता की बार बार उसके समुद्र छूटना पड़ता है। पूरा अर्थस परिस्थितियों का एका एक का है जिसमें कैंसा मनुष्य विवश-सा है, वह उसमें पराजित होता है।

पाप

रामेश्वर प्रमुख पुण्य पाप है। उसमें पौरुष है और इसलिए वह चमेनी के मन पर बग मोहन का भाँति आभिष्ट होने को तैयार नहीं। स्वयं अपने पाँव पर खड़े होने का आत्मविश्वास उसमें है। यही कारण है कि उपन्यास के प्रारम्भ में ही लुप में सप सन हारने पर उसमें विचरता व मभिन्ध के प्रति आशा का व आतंक का भाव नहीं है। अपने पर उसे आत्मविश्वास है, इसलिए वह मभिन्ध से निश्चित है। उसके हृदय यत्किन्तु का ही प्रभाव है कि क्लृप्त हा वह मयहूर कर्मा यत्कितों का नेता बन जाता है। रामेश्वर की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह गहरी किस्म का यत्कि है, शीघ्र ही वह जाने जाना क्लृप्ता किन्तु का नहीं। अपने पर उसे सयम है, यही कारण है कि चमेनी को सेठ शाउजमस्य का साथ शरण पीते देखकर उत्तेजित हो उठता है अवश्य, किन्तु बगही ही वह अपने पर काबू पा लेता है। उसका यह दृष्टा, पौरुष व शक्ति सन उसके उस यत्किन्तु के अग्र है, जिसके आगे चमेनी परास्त है और सन नत है, हतप्रभ से हैं। इसमें कमबारी है तो केवल एक। यह यह है कि वह लुप के मोह को नहीं छोड़ पाता। अन्त में माग्य के साथ लुप में वह हिंदी का आखिरी दौंव लगाता है जिसमें वह स्वयं अपने को चमेनी को भा शर जाता है। पहली शरवद् परास्त होता है। यह पराजय अपनी दार पर नहीं बल्कि चमेनी को मो लो बैठने पर ही स्वीकार करता है। चमेनी के प्राप्त उसके हृदय में जो सज्जा प्रेम है, उसके अन्तर किंवाह है वे उसके चरित्र की बहुत उच्च बनाना देते हैं। चमेनी के पतन पर भी रोष प्रकट नहीं करता और न चमेनी को पतित स्वीकार करता है। उसके पतन की बिम्बेदारी अपने ऊपर से लेता है। इस प्रकार वह असफलताओं व पाप की बिम्बेदारियों दूसरों के माथे पर पटककर मुँह लुपने वाला फलायनवादी नहीं है, बल्कि सबको स्वीकार करते

हुए भी पराजय स्वीकार न कर जीरुत वाला पुरुष है। जमेनी को खोकर वह अवश्य टूट जाता है, यदि ■ टूटता तो वह आदमी नहीं रह जाता। उसका पतन भी हमारी दृष्टि में उसे गिराता नहीं और अन्त में उसकी पराजय हमें विषाद में डाल देती है।

जमेनी प्रमुख नारी पात्र है। परिस्थितियाँ उसे पतन के गढ़े में ढरेलती हैं जिसमें वह गिरती ही जाती है, प्रयत्न चटुन करती है कि सँभल जाय। उसके पतन के बावजूद रामेश्वर के प्रति उसके हृदय में सच्चा प्रेम है, वह उसे बहुत कँना उड़ाए रखता है और वह हमारी सहा नुभूति की पात्र रहती है। अन्त में सेठ शीतलप्रसाद की हत्या कर वह आत्महत्या करके अपने कलक को घों डालती है।

इस उप यात्र में भी नारी तुल्य है, पुरुष का आश्रय चाहती है। जमेनी को घन से बाहर रामेश्वर की आवश्यकता है।

इस उप यात्र के चरित्रों की यह विशेषता है कि उनमें अ तर्द्ध पयास मात्रा में है। पात्र पथाथ की भूमि से कहीं अलग नहीं हैं, उ हैं वह स्थिति स्वीकार करनी पड़ती है जिसमें वे फसे हुए हैं। वे सब परिस्थितियों के शिकार हैं और उनसे हार मान भी लेते हैं। वे बार बार गिरते हैं और बार बार उठने का प्रयत्न भी करते हैं, किन्तु वे पराजित होते हैं—लेकिन यह पराजय ब्रह्म जगत् का है, अ तर्ग की नहीं, अ यथा जमेनी पतन के गत में गिर कर भी फिर एक बार उठने का प्रयत्न न करती, न रामेश्वर ही अपने जीवन को बदलने की बात को गिराता। इस दृष्टिकोण से उप यात्र अपना विशेष महत्त्व रखता है।

उप यात्र में सम्म्या परिस्थिति के आगे दृढ़ अवश्य गढ़ है, किन्तु बीच बाच में वह गिर उठा लेती है। गुपगुप परिस्थितियों को प्रभावित तो वह कर ही रही है। परिस्थितियाँ स्वतंत्र नहीं हैं। रामेश्वर से सम्बंधित परिस्थितियाँ तो मुख्यतः ऐसे ही समस्या से ही प्रभावित हैं। रामेश्वर प्रमुख पात्र है, इसलिए उसने काय सब परिस्थितियों पर असर डालते हैं। इस प्रकार समस्या का अस्तित्व व अप्रत्यक्ष महत्त्व तो रहता ही है।

विचार पक्ष

बमानी के उप यात्र समस्या प्रधान हैं। 'चित्रलेखा' में आध्यात्मिक, 'तान वय' में सामाजिक, 'टेडे मे' रास्ते' में राजनीतिक, 'आखिरी टॉप' में नैतिक समस्या उपस्थित की गयी है। समस्या उपस्थित करते समय लेखक तटस्थ रहने का प्रयास करता है और हर दृष्टिकोण को तार्किक शैली में प्रस्तुत करता है। इस प्रयत्न में वह प्रत्येक पक्ष को पूर्णतया विचारित या प्रकट होने का अवसर देता है। इनकी कला की पक्क एक वैज्ञानिक भी भोज्य है जो प्रत्येक वस्तु को परखकर ही अपना निष्कर्ष देने का यत्न करता है, इसलिए उप यात्रों के अन्त में अपना मत भी कहीं कहीं दिया है। 'चित्रलेखा', 'तान वय', 'आखिरी टॉप', प्रायः सभी में उनका अपना दृष्टिकोण है।

बमानी की विचारधारा का मूल आधार वेदल अनुभव और तर्क हैं, कोई तात्विक सिद्धान्त नहीं। वे किसी भी मूल को मानन वाले नहीं हैं। वे अश्रेय की भौतिक बौद्धिक हैं, जेनेट्र की भौतिक भावुक और विचारक तथा प्रेमचन्द की भौतिक विश्लेषण करने वाले हैं, किन्तु वे इन सब कलाकारों की रुढ़िवादिता से अलग हैं, उनसे विशिष्ट हैं। उ होने समाज की विभिन्न

विचारधाराओं को देता है, उन्हें तर्क पर बसा दे और जो निष्पत्ति निकले हैं उन्हें ही उद्देश्य के लक्ष्य दृष्टि से रखा है। ब्रमाजी ने स्वयं एक स्थल पर लिखा है—“जो कुछ मैं लिखता हूँ, तर्क करने को नहीं लिखता। मैं तो अपने उन विचारों को पेश करता हूँ जिन पर मैं अपने उन तर्कों द्वारा पहुँचा हूँ जो अनुभवों और अनुभूतियों पर अवलम्बित हैं। बहुत सम्भव है जो बातें ग्राम में कद रहा हूँ वे ग्रामों चलकर मेरे भावी अनुभवों की कसौटी पर गलत जतरें और मुझे स्वयं अपने इन विचारों को बदलना पड़े। पर इससे ये शर्त नहीं कि मैं निष्पत्ति करना ही छोड़ दूँ। मुझे अपने जीवित के लिए कुछ आशंकाओं की चाहिए ही।” उनके इन आशंकाओं का स्पष्टीकरण उनके एक शब्द लेख से होता है—“जो भी साहित्यकार इस प्रकार के साहित्य का सृजन करता है, जिसमें समाकृतिक चीजों का समावेश हो, वह साहित्यिक सफल न हो सकेगा जेना मेरा विश्वास है। ग्राम का विरसित स्तिरूप कल्पना के पेंच तान की सहायता नहीं चाहता—एकदम से उसे विशेष रस नहीं है। यह चाहता है सीधी सादी बातें, जीवन की वास्तविक घटनाएँ, जिन्हें वह रोज देखता है और कलाकार को जो कुछ लिखना हो, उसे वह वास्तविक जीवन से ही लेना पड़ेगा। ग्राम हमें जिस साहित्य का सृजन करना है वह वास्तविक मानवीय विकास के आदर्शों को ही सामने रखेगा और उन आदर्शों का प्रचार करने के लिए हमें अपनी कला की नीति भी बदलनी होगी। मैं फिर कहता हूँ कि हमें, हम साहित्यिकों को, अपने घरों में रहकर दखना है, दूसरों के दुःख दर्द को, दूसरों की कमजोरियों को अनुभव करना है। हमें अनुभव को देखना है, उसके कर्मों से सरोकार है। अनुभव की उपेक्षा करके उसके कर्मों पर अपना निष्पत्ति देना मानवता के लिए हितकर नहीं है।”

कला पक्ष

ब्रमाजी के उप यात्राओं की कथावस्तु की यह विशेषता है कि वह चरित्रों के नायों और लालची है, उसमें घटनाओं का महत्त्व, बलिष्ठ चरित्र की विशेषताओं का उत्पादन अधिक है। उन्होंने प्रेमचंद से पूर के उप यात्राओं की घटना परकता और प्रेमचंद की यथार्थ शैली तथा आधुनिक वातावरण को लेकर विचार प्रधान शैली के साथ मिलाकर सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है। फलतः उप यात्रा न तो शुष्क हुए हैं और न बोझिलता से बोझिल। उन्होंने सभी रूप से प्रेमचंद की कथावस्तु रखने की परम्परा में चमत्कारपूर्ण योग दिया है और उसमें आवश्यक परिवर्तन किया है। प्रेमचंद की भाँति उनके उप यात्राओं में न तो कद कथाएँ उपकथाएँ चलती हैं और न उनकी भाँति ब्रमाजी में एकता का अभाव है। उनकी कथावस्तु तो एक श्रृंखला में जुड़ी हुई कड़ी की है और यह कथा की श्रृंखला बहुत सावधानतापूर्वक चोरी जाती है, कहीं भी शब्द व्यवस्था का अर्थ नहीं होता।

प्रेमचंद की ही भाँति ब्रमाजी के उप यात्राओं की कथावस्तु में प्रत्येक वस्तु, पान,

१ भगवतीचरण वर्मा, 'हमारी उलझन' (लेख संग्रह), 'विचार विनिमय' नामक लेख से, पृ० ३०।

२ भगवतीचरण वर्मा 'हमारी उलझन' (लेख संग्रह), 'एक साहित्यिक दृष्टिकोण' नामक लेख से, पृ० १६ से २४।

घटना का वयन विस्तार और सूक्ष्मता से हुआ है। उनकी दृष्टि में कोई भी बात छूटने नहीं पाती है। पन्नाएँ भी प्रत्यक्ष जीवन से ली जाती हैं।

पात्र

(१) बमाजी के पात्रों का अपना विशेषता है। वे बग के प्रतीक होते हुए भी अपनी व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताओं को समाहित करे हुए हैं, दूसरे रूप में कहा जाय तो उनका बक्तव्य ही प्रधानतया उपन्यास में उभर आता है। इस रूप से देखा जाय तो बमाजी के पात्र यजुनादी उप नायकों की श्रेणी में आते हैं। उनके उप नायकों में सामाजिक समस्याओं के साथ व्यक्तियों का विमाण्य हुआ है, बक्तव्य में टकरा हुआ है और व्यक्ति की समस्या ने समाज की समस्या का रूप धारण कर लिया है, इसलिए व्यक्तिगत पात्र रखते हुए भी उनके उपनायक व्यक्तिवादी नहीं हैं और न बमाजी व्यक्तिवादी कलाकार ही। पाप पुण्य, प्रेम और विवाह, विभिन्न राजनीतिक मतमतान्तर के संघर्ष, अर्थ और नैतिकता का संघर्ष, व्यक्ति की अपना समस्या होते हुए भी समाज की समस्याएँ हैं और उनका हल भी व्यक्तिवाद दृष्टिकोण से न दिया जाकर सामाजिक दृष्टिकोण से ही दिया गया है। इसीलिए उनके पात्र किन्हीं अर्थों में अपने बक्तव्य से पूर्ण होते हुए भी बग के प्रतीक भी हैं। रमेश, प्रभा, अश्विनी, रामनाथ, दयानाथ, उमानाथ, प्रमानाथ, शीतलप्रसाद, चमेली और रामेश्वर—इस बात के उदाहरण स्वरूप हैं।

(२) बमाजी के सभी पात्र परिस्थितियों के शिकार हैं और परिस्थितियों ही उनके जीवन के उत्थान पतन को निर्देशित करती हैं। किन्तु इस क्षेत्र में भी इन पात्रों की अपनी व्यक्तिगत विशेषता यह है कि वे परिस्थितियों के बाह्य रूप से पराजित होते हैं, लेकिन उनका अन्तर उनसे पूर्णतया पराजित नहीं होता। उनके पात्रों में अन्तरंग और बाह्य जीवन में संघर्ष चलता रहता है और अन्त में प्रायः अन्तरंग का दृढ़ की ही विजय होती है। चित्रमेला, बीजगुप्त, रमेश, रामनाथ, चमेली और रामेश्वर के जीवन का अध्ययन इस तथ्य का उदाहरण है। वे बाह्य परिस्थितियों के समुद्र में डूबते हैं, किन्तु अन्तरंग दृढ़ उनके चरित्र को ऊँचा उठा देता है। बमाजी के पात्रों की यह विशेषता उनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन की विशेषता को प्रकट करती है।

(३) बमाजी के उपन्यासों में मानव की कमजोरी पर विचार पाने का प्रयास है। प्रायः हर पात्र अपनी दुर्बलता से नाद रहता है, लेकिन केवल इच्छा शक्ति मात्र से वह ऊपर उठ नहीं पाता, बाहरी सहायता की आवश्यकता होता है। बाहरी सहायता प्रत्यक्ष हो सकती है, जैसे प्रमानाथ व दयानाथ कमजोरी का रामनाथ से व रामनाथ बीधा की सहायता से जीते हैं। रमेश सरोज की व अश्विनी रमेश की प्रत्यक्ष सहायता पाते हैं। बीजगुप्त अपने सहकारी श्वेतांग द्वारा यशोवरा से विमुक्त कराया गया है। अप्रत्यक्ष रूप से पन्नाएँ भी सहायक होती हैं। चमेली शीतलप्रसाद के शिवसे से रामेश्वर की गिरफ्तारी की सम्भावना की बात सुनकर लुट जाती है। अन्तर्द्व द्व पहलू से चित्रमान रहता है, केवल जरा से सहारे की आवश्यकता है।

(४) बमाजी के पुरुष पात्र प्रायः एक अधिक करते हैं। वे स्वयं अपने बारे में अधिक से अधिक बता देते हैं, जो कुछ रह जाता है वह परिस्थितियों के चक्र और उनके अन्तर्द्व से

स्पष्ट हो जाता है।

(५) वर्माजी ने नारी पात्र विशेष हैं। उनके सभी उपवासों में नारी पुरुष पर आश्रित व त्यागमयी हैं। उसका यह त्याग ही उससे पुरुष ने कर उठा देता है और पुरुष को उसके आगे नत हो जाना पड़ता है। 'तीन वर्ष' की बेइया सरोज रमेश की पतन से अपने व्यक्तित्व द्वारा बचाती है और 'उठे मेरे रास्ते' में महालक्ष्मी के त्यागपूर्ण व्यक्तित्व के आगे तर्कपाटी उमानाथ नत हो जाता है। 'चित्रलेखा' की चित्रलेखा और 'उठे मेरे रास्ते' की राजेश्वरी देवी भी त्यागमयी नायिकाएँ हैं। 'आखिरी टोंक' की चमेली रामेश्वर के लिए स्वयं पतन के रात में गिरती है और अंत तक उसे बचाने का यत्न करती है। पाश्चात्य शिक्षा पाई हुई प्रमा सदृश तितलियाँ अवश्य अवधार हैं।

शैली

वर्माजी की शैली तार्किक है और भाषा साफ़ मुथरी। यह बैंगल तर्क करने के लिए तक नहीं करते, बरन् तथ्य प्रस्तुत करने के लिए सज्ज रहते हैं। सही रूप से वे देवकी के क्षेत्र में एक प्रयोगवादी कलाकार की भाँति हैं जो इस मिश्र में बहुत हद तक सफलता पा चुका है।

उपन्यास

वर्माजी के उपवासों में प्रेमचंदजी की भाँति व्यापक बीजक दृष्टि नहीं है, उनके उपवास एक सीमित क्षेत्र और वर्ग की कुण्डलांगी और समस्याओं से सम्बंधित हैं। प्रेमचंद के सम्मुख एक विशाल सगर था, उ होने उसे अपनी सहस्रभूतिपूर्ण दृष्टि से देखा था—कि तु मना भी ने जीवन के किन्हीं अंशों को लिया है और प्रेमचंद की भाँति है। सहस्रभूतिपूर्ण दृष्टि से उठाया है। प्रेमचंद की ही भाँति उनका दृष्टिकोण भी मानवीय रहा है, मानव को उ होने दुर्बल माना है और इस दुर्बलता में कूटने का उसका प्रयत्न ही उनके उपवासों के मूल में है। कथा की ऐक्यता के क्षेत्र में वे प्रमत्त से आगे हैं और उठाने गाँव एक नगर की कथावस्तु को साथ साथ नहीं उठाया है। उ होने केवल नगर के जीवन की ओर ही अपनी दृष्टि रखी है और उसमें भी प्रायः उच्च मध्यमवर्ग की ओर। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने एक लेख में वर्माजी के विषय में लिखते हुए कहा है—'स्वर्गीय श्री प्रेमचंदजी ने अपनी सरल, सुबोध भाषा में लोगों का ध्यान समाज की प्रामाण्य तथा निम्न श्रेणी की अवस्था की ओर पहली बार दिखाया था, भगवतीचरण जी ने अपनी आकर्षक शैली में बड़े सारे लोगों का ध्यान जीवन के आदर्शों के सम्बंध में उनके बलके हुए मस्तिष्क की ओर आकर्षित किया है।'^१

अध्ययन विदेशी लेखक

गंगाधर झा

मैक्सिम गोर्की

हिन्दी जगत् में गोर्की निज्जगत् रूप से सशर के एक श्रेष्ठ कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उ हैं जब हम दार्शनिक की समकक्षता में रखते हैं तब यह बहुत स्वाभाविक प्रतीत होता है। गोर्की की यह प्रतिष्ठा प्रधानतः उनके 'मों' नामक उप नाट्य पर आधारित है। इस कृति को हम विश्व के उपनाट्य साहित्य में बहुत उच्चस्थ मानते हैं। इसके अतिरिक्त गोर्की की अनेक कहानियाँ भी हिन्दी में अनूदित हैं। किन्तु गोर्की के समस्त कृतित्व का यह एक इतना सूक्ष्म अंश है कि उसके आधार पर उनकी कलाकारिता का उपयुक्त मूल्यांकन सम्भव नहीं। सच तो यह है कि हमारे यहाँ उनकी मान्यता किसी भिन्न ही वस्तु पर आधारित है। भारत में वे निम्न और निराश्रितों के महाहा जाति के अग्रदूत तथा मानव मान का मुक्ति के अमर स्वर संचालक के रूप में प्रसिद्ध हुए। जिस समय यह देश अपने सामाजिक बंधनों तथा विदेशी शासन से स्वतन्त्र होने के लिए संघर्षरत था, उस समय चारपाही से निर्गोधित रुसा बनता भी कान्ति की सफल सारना करके एक अभिनव सुगम्य समाज के निर्माण में अग्रसर हो रही थी। जो माग दोनों देशों ने अपनाए वे नितान्त भिन्न थे, किन्तु उभुक्त और मानव जीवन की आकांक्षा और साधना में वे हमपाही थे। स्वतन्त्रता के आशयवाणी विचार भारत में सहज प्रविष्ट हुए तथा रूस का किसान भारतीय किसान के बहुत आत्मीय व पु के रूप में प्रस्तुत हुआ। ऐसी मानक पुण्ड्रभूमि ने भारत के हृदय को समस्त रूसी के प्रति सहायभूतिपूर्ण, कोमल और आत्मीय बना दिया था। अतएव गोर्की जब कान्ति और साम्यवाद के प्रमुख प्रचारक के रूप में उपस्थित हुए तब गांधीवाद के अनुयायी भारत ने उन्हें भी प्रभूत उपादर के साथ स्वाकार किया।

गोर्की के अनुयायीन का उत्साही समीक्षक प्रकाश की आशा में स्वमानत विदेशी विद्वानों की ओर मुन्ता है। प्रकाश उसे सम्भवतः कुछ मिलता है, किन्तु अनेक बलिष्ठ समस्याएँ भी उसके समक्ष उपस्थित होती हैं। मैक्सिम गोर्की माकसगानी एवं बोलशेविक पार्टी के एक संस्थापक थे। इस तथ्य के अनुकूल एक ओर उन्हें एक महान् कलाकारी कलाकार और समाजवादी यथायवाक का अग्रणी उदात्त चोषित किया जाता है तो दूसरी ओर एक ऐसा प्रतिमा के रूप में, जिसने राजनिति का वेगी पर अपनी कला को बलि चढ़ा दिया। अनेक विद्वानों द्वारा कलाकार से अधिक प्रचारक चोषित किये जाते हैं। इसी प्रकार रूस के विषय में पश्चिमी चारणा भी अनेक बलिष्ठताएँ उत्पन्न करती है। यह धारणा सदा एकछी नहीं रही और परिस्थितियों के अनुसार बदलती गई। यह प्रमाणित किया जा सकता है कि इस धारणा के विकासक्रम में पूनप्रद और स्वाध तथा अन्ततः साम्यवाद का विरोध मुख्य प्रेरक हैं। रूसी साहित्य और विशेषतः गोर्की के मूल्यांकन में इस तथ्य का गहरा प्रभाव पड़ा है। ऐसी चर्चितताओं के समक्ष गोर्की का निष्पक्ष

और वस्तुएँ अनुशीलन बहुत सरल नहीं प्रतीत होता। आरम्भिक आवश्यकता यह है कि हम गोर्का के समस्त कृतित्व का सामा य परिचय प्राप्त करें तथा उन तथ्यों पर ध्यान दें जो उनके निम्नलिखित अनुशीलन को आलस्यित करते हैं। यही प्रस्तुत निबन्ध का प्रयोजन है।

गोर्की ने जिस समय साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया, मित्स्की के अनुसार उसके कुछ वर्ष पूर्व ही रूसी उप दास का स्वतन्त्र सम्पन्न हो चुका था। बीच में कुछ समय रुस के लेखक उपयोगितावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया में बलात्कृता की ओर अभिसर हुए। इस समय में मादर्स वाग्नर की रुस में प्रचलित अथ विद्वानों के ऊपर प्रमुखता प्राप्त हो चली। किन्तु सभी लेखकों और कलाकारों ने उसे नहीं अपनाया। मित्स्की अपने रूसी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—
“सन् १९०० और १९१० के बीच रूसी साहित्य दो स्पष्ट और परस्पर अभेद भागों में विभक्त था। एक ओर गोर्की एण्टीप सम्प्रदाय या और दूसरी ओर प्रतीकवादी और उनके अनुयायी थे। आरम्भ में गोर्की एण्टीप समूह ने प्रतीकवादियों को घाण्टादित कर दिया। किन्तु आज वह अन्धविश्वास हमें प्रतीकवाद युग के रूप में दिखाई देती है।” दोनों दलों का मुख्य अन्तर प्रतिभा के अन्तर पर नहीं, किन्तु सांस्कृतिक घातक पर आधारित है—“गोर्की एण्टीप वल पुराने दुखिनीवियों का उत्तराधिकारी है, जो पुराने प्रगतिशीलों की नैतिक शिक्षा के अधिकार से वंचित थे और जिसके बदले में निराशावाद और अनास्था का एक ‘नृपित शून्य’ के अतिरिक्त जिन्होंने कुछ प्राप्त नहीं किया। प्रतीकवादी एक नई संस्कृति के अग्र दूत थे, जो यद्यपि एकांगी बीना अर्थों की समाप्ति जिसने रूसी मानस को अग्रिम व्याप्ति और समृद्धि दी तथा दुखिनीवियों की एक साथ अधिक यूरोपीय और अधिक राष्ट्रीय बना दिया।” संस्कृति से मिर्- का क्या अर्थ है तथा उनके उपरुक्त वक्तव्य के साथ कितने लोग सहमत हो सकते हैं यह निश्चय हम दूसरों पर छोड़ते हैं, किन्तु हमारे प्रयोजन के लिए जो अर्थ उसमें उल्लिखित हैं वे कमश इस प्रकार हैं—गोर्की की प्रतिभा निराशा नहीं है, रूसी साहित्य के इतिहास में उनका स्थान सीमित है तथा कुछ मध्यमवर्गीय कृतियों के रूप में उन्होंने कोई ऐसा प्रवर्तन नहीं किया जो रूसी साहित्य के अभिन्न विकास को प्रेरित करे। इस अन्तिम मार्ग की भूमिका दूसरी द्वारा निर्मित हुई।

अभाव की अवतल गहराइयों से उठकर गोर्का ने बरा और सकलता के चरम शिखर का अनुभव किया। उनका जन्म सन् १८६८ में निखनी नोबोरोसोव नामक स्थान में हुआ। उनका मूल नाम ए० एम० पेश्कोव है। गोर्का उपनाम है जिसका अर्थ पीछे अथवा विपन्न है। उनका आरम्भिक जीवन उन्नीसवीं और अभाव की एक विशिष्ट कदावी है। उनका बाल्य काल में ही उनका पिता की मृत्यु हो गई और उनका माँ उन्हें लेकर अपने पिता के यहाँ रहने लगी। गोर्का को जीवन यापन के लिए बचपन से कार्य करना पड़ा। मोची के काम से लेकर देखा कोट धाया नहीं जो उन्होंने न किया तो। एक समय जब वे मोलगा नदी के एक बहाव पर काम करते थे तब जहाज के शराबी रसोइये ने उन्हें पकड़ा लिया। उनसे आरम्भिक अध्ययन में जनयित मार्काट, साहित्यिकता और रोमान्स की पुस्तकें की पढ़ाई हुई थी। इसका प्रभाव गोर्की की आरम्भिक कहानियों में स्पष्ट दिखाई देता है। ब्रह्म वध की रचना में उन्होंने काफ़ान की एक पाठशाला में प्रविष्ट होने का प्रयत्न किया, किन्तु घनाभाव के कारण अपने उद्देश्य में वे निफल हुए। यही नहीं, उदरपोषण के लिए वे एक भूगर्भ में स्थित रोटी के कारखाने में

के साथ यथापवादों है। उसमें काथ का एक ऐसा प्रबल प्रवाह है, सौ दर्श, स्वतन्त्रता और मनुष्य के मूलभूत औदात्य के प्रति ऐसी विरक्तनीय आस्था है, और उसी समय इतनी सूक्ष्मता और अनिवार्यता के साथ उसे कहा गया है कि एक सर्वोत्कृष्ट कृति के नाम से उसे चर्चित करना बहुत कठिन है। गोर्की को वह हमारे साहित्य के सच्चे महानों की महली में प्रतिष्ठित करती है। किन्तु अपने चरम तौ दय में वह भकेली है—और गोर्की के आरम्भिक उत्तम काथ में अन्तिम है।”

इस युग में पश्चिमी यूरोपीयों ने अपने स्वर्ण युग की तद्गा में मग्न था। वहाँ उदारवाद की प्रधानता थी। अपने प्रजातांत्रिक आदर्शों में वे देश स्वयं सुख थे और उन पर गर्वित थे। रूसी शासक उन्हें इन आदर्शों के परम शत्रु प्रतात होते थे और उनके प्रति उन्हें कोई सहानुभूति न थी। उनकी सहानुभूति उन विचारकों, कलाकारों और क्रांतिकारियों के साथ थी जो इस शासन को मिटाकर उद्द व्यवस्था का आशाहक थे। रूसी साहित्य उनमें बहुत विचित्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करता था और दस्तोयवस्की के उपन्यासों की ‘आत्मात्मिक गहराइयों’ में डूबकर वे उल्लसित और पूर होते थे। मानवाय मनोवृत्ति के इस विचित्र अमिश्रण काल में उस स्वयं प्रशसित, गर्वोन्मत्त भूमि पर ने गोर्की को भी बहुत सहज कृति के साथ स्वीकार दिया।

१८६६ से १९१२ तक गोर्की अपने रचनात्मक के द्वितीय सोपान पर आरुढ़ रहते हैं। इस काल में उन्होंने अनेक उपन्यासों और नाटकों तथा कतिपय सामा य कृतियों की सृष्टि की। उनके उपन्यास क्रमशः ‘फोमा गोदयेव’ (१८६६), ‘थी ऑफ़ दैम’ (१९००-१), ‘द मदर’ (१९०७), ‘ए कॉन्फेशन’ (१९०८), ‘ओकरोव विथी’ (१९०९) और ‘मस्वी कोलेन्याचिन’ (१९१०) हैं। ‘द पैदी यूज़ा’ (१९०१), ‘द लोअर डेव्स’ (१९०२), ‘सपन स’ (१९०४) ‘द चिल्लरन ऑफ़ द सन’ (१९०५), ‘द थैरिय म’ (१९०६), ‘एनीमीज’ (१९०६) और ‘बारला कैनेज़ोवा’ (१९१०) इस काल में निरचित करने निकल हैं। सृजन का यह परिमाण आप्त्त विपुल है, किन्तु इन समस्त रचनाओं को मिलकर गोर्की के कृतित्व का मण्डप सम महरा पूरा अश मानते हैं।

गोर्की के उपन्यास प्रचार मूलक और स्पष्ट रूप से सामाजिक सदेश की लोकर चलने वाले माने जाते हैं। मिल्वी की धारणा है कि गोर्की के सामान्यतः सभी उपन्यास बहुत उत्तम टन से आरम्भ होते हैं, किन्तु आगे चलकर वे अशक्त और प्रमानदीन हो जाते हैं। उदाहरणार्थ “‘द थी ऑफ़ दैम’ और ‘ए कॉन्फेशन’ के आरम्भिक कुछ पृष्ठ कथा के अन्वेषण और प्रामाण्य विरक्त्य द्वारा पाठक को मन्त्र मुग्ध रखते हैं, किन्तु तब वह अतडोम और थका देने वाली ‘निष्ठाता’ आरम्भ हो जाती है पर तब वह अपने अन्वेषण के समीप पहुँचने लगती है और नायक सोचता है कि समाज के लिए उसने रामबाण पा लिया है तब वह और अधिक उबाले वाली हो जाती है।” यही समीक्षक ‘फोमा गोदयेव’ को गोर्की का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास मानते हैं। “आरम्भिक अध्याय गोर्की की कलासृष्टि के सर्वोत्तम अंश का अंग है। उसकी रचनात्मक और पौष्ट्यपूर्ण सृष्टि उस एक ऐसी विशेषता प्रदान करती है जो रूसी साहित्य में दुर्लभ है।”

गोर्की के उपन्यासों पर जो आरोप लगाए जाते हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं। सर्वप्रथम उनकी प्रचारवादिता उन्हें दुर्बल बनाती है। अतः यत मार्को ने अपना कृतियों में दाशानिक विवादों का विपुल योग किया है। स्थान स्थान पर जीवन के अर्थ को लेकर बहस छिड़ जाती है।

सम्बद्ध किसी कृति को हम तभी महत्त्वपूर्ण मानें जिसके पात्र आत्मपीडन बनकर उपस्थित होते हैं और अपनी मुक्ति का आदर्श बिना आध्यात्मिक कल्पना में पाते हैं। गोर्की की यह कृति एक और यन्त्र ऐसी विशेषताओं से युक्त है जो दूसरी ओर उस विनाशकता से भी, जिसे साम्यवादी प्रचार और घृणा प्रसार के नाम से अभिहित किया जाता है। सिद्धान्त निरूपण से भी अधिक आसक्ति गोर्की ने मानवीय मूर्तियों के प्रति प्रदर्शित की है, यदि यह सच है कि दार्शनिक मार्गालाप की बहुलता इस कृति को शिथिल बनाती है तो यह भी कम सच नहीं कि ध्वज यात्रा, रोषिन की बलिदानी इत्यादि, यमोरोप की मृत्यु और श्रद्धालय के दृश्यों के चित्रण में गोर्की की कला एक गर्भीर उत्कृष्ट और प्रभावशालिनी ला देती है। स्वयं 'मो' का चरित्र एक मौलिक और महत्त्वपूर्ण सृष्टि है। यन्त्र अपने जीवन के प्रथम पक्ष में वह अचेतन रूप में कहरता के चरणा पर बलि थी, जो अन्तिम पक्ष में स्थितिधारित लक्ष्य के पथ पर चलती हुई स्वेच्छा से बलि होती है। समस्त उपवास वास्तव में उनके इस विश्वास की एकता के अन्तर्गत गठित है। पुस्तक के अन्त में मो का बलिदान मानवत्व की अन्धकार कीमलता और त्यागशीलता तथा उस नव आदर्श की प्राप्ति के स्वरूप को एक साथ पकड़ करता है जो आत्म के निष्पक्ष और निपीडितों को कल वास्तविक मानवीयता के धरातल पर प्रतिष्ठित करेगा।

गोर्की के नाटकों में सबसे प्रसिद्ध 'द लोअर डेप्लेस' है। उसे तात्कालिक सफलता मिली और बलिन ने यह लगातार दो वर्ष तक प्रदर्शित होता रहा। किन्तु मिर्स्की उसकी इस सफलता का कारण उसके मूलभूत गुण को न मानकर अथवा जोते हैं—“‘द लोअर डेप्लेस’ एक विषय थी। देश में स्टालिनस्काकी दल का विस्मयजनक अभिनय निष्पादित सिद्ध हुआ। विशेष में इसकी सफलता इस प्रकार की वस्तु को आतिशयिक नवीनता पर आधारित थी, अर्थात् इसकी भूमिका की आधुनिकता तथा आधुनिकता और दार्शनिक चोरों, आचार्यों और वेदवाच्यों के गर्भीर मार्गालाप को सुनने का अभिनय आनन्द।” किन्तु इसी नाटक के विषय में दूसरे समीक्षकों ने भिन्न प्रकार के मत भी प्रस्तुत किये हैं। १९०५ में प्रकाशित अपनी 'इकोनोमिस्ट्स—ए बुक ऑफ इमेजिन्स' नामक पुस्तक में रूस हुनकर ने लिखा है—“पेरिस में उद्घाटित और वार्षिक रूप में अमेरिका में निर्यात होने वाला व्यभिचार के नाटक की दुर्लभा में समावेशित नव चारित्र्यों के एक समूह का यह अध्ययन एक शक्तिशाली नैतिक शिक्षा है।” १९१५ के अपने 'रेंट थियेटर्स एण्ड द ग्रीन वेडू' नामक लेख में रूसी थियेटर्स की प्रशंसा करते हुए हाइसटैज वेहस ने 'द लोअर डेप्लेस' का उल्लेख करते हुए 'एक परमोत्कृष्ट कृति' कहकर किया है। गोर्की के शेष नाटक समीक्षकों के आपाजप नहीं बन सके। उनका रूप रचना में चमक की नाट्य शैली का अनुकरण माना जाता है, किन्तु इस महत्त्वपूर्ण अंतर के साथ—कि चेखव के नाटकों के प्रच्छन्न यातमान समझने से वे वंचित हैं।

इसी समय एक ऐसी घटना हुई जिसका गोर्की और उनकी रचना पर गहरा प्रभाव पड़ा। सन् १९०६ में गोर्की ने अमेरिका की यात्रा की। वहाँ बहुत घूमघाम से उनके स्वागत की तैयारियों की गई थीं, किन्तु बहुत शीघ्र यह समस्त उनकी निंदा और विरोध में बदल गया। अपनी 'नैतिक गोर्की' एण्ड दिव्य रसिया (१९३१) पुस्तक में अलेक्जेंडर नाउम ने इस विचित्र घटना का विस्तृत विवरण दिया है—“यह निश्चित प्रतीत होता था कि गोर्की का इस देश में प्रवास अनेक साहित्यिक और राजनीतिक माध्यम व्यक्तियों से युक्त प्रीति

भोत्रों और जनसभाओं की श्रमला के रूप में होगा। यह जनश्रुति थी कि राष्ट्रपति स्टावेड की ओर भी एक निम व्रण उद्ग्रे मिलने वाला है। गोर्की ३० अप्रैल, १९०६ को अमेरिका पहुँचे। कुछ ही दिनों के अन्दर उनका उत्थान और पतन सम्पन्न हो गया। अश्व वे अमरीकी मित्रों की सलाह के शिकार हुए, उन्होंने उनसे इटाहो की खान में काम करने वाले ऐसे मादुरों के प्रति सद्मानुभूति सूचक तार में हस्ताक्षर कराया तिन पर अपराध के लिए उस समय कानूनी कायवाही चल रही थी अश्व न्यूयार्क के समाचार पत्रों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता इसका कारण हुई अश्व रूसी दूतावास के प्रभावपूर्ण कि तु प्रसन्न प्रदर्शनों से यह सम्भव हुआ और अश्व अमरीकी जनता के नैतिक सन्निपात के कारण, जो इन शीघ्र सूचनाओं से उद्दीप्त हो गया कि गोर्की एक ऐसी स्त्री के साथ यात्रा कर रहे थे जो वैध रूप में उनसे विवाहित नहीं थी। कि तु यह नहीं बतलाया गया कि तलाक विपक्ष रूसी कानून के अन्तगत वे ऐसा कर ही नहीं सकते थे।”

मार्क ट्वेन ने एक सभा के समक्ष पढ़ने के लिए एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने रूसी शासन के विरुद्ध और कान्तिवारियों के पक्ष में विचार प्रकट करते हुए यह आशा प्रस्तुत की थी कि ‘यह दिन देखने का सौभाग्य तुम्हें प्राप्त हो जब रूस में ज़ार और प्रेषक द्यूक उठने ही विरल हो जायेंगे, जितने विरल, तुम्हें विश्वास है, वे स्वर्ग में हैं।’ कि तु इसी बीच निदा अभियान चल पड़ा। उससे मार्क ट्वेन अत्यन्त चिन् और उद्विग्न हो गए। एक दूसरे प्रसिद्ध साहित्यिक विलियम डीन होवेल ने अपने भाई की एक पत्र (१६ अप्रैल, १९०६) में लिखा—‘हम जाना उद्ग्रे एक बहुत बड़ा साहित्यिक भोज देने जा रहें थे, कि तु वे उस स्त्री के साथ जो उनकी पत्नी नहीं है, तीन होटलों से निकाले जा चुके हैं। गोर्की ने भूल की है, कि तु मुझ उनके लिए दुःख होता है अपन ही देश में वे बहुत कष्ट के लगे हुए हैं। वे एक सरल हृदय व्यक्ति हैं और महान् लेखक, कि तु वे असम्भव काय नहीं कर सकते।’ इन परिस्थितियों के उत्तर में गोर्की ने ‘द सिंगी ऑफ द यलो टेबिल’ नाम से लेखों का एक पूरा श्रमला प्रस्तुत की।

कलाकार के रूप में गोर्की की मायता पर भी उपशुक्त विचित्र वृत्तांत का गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी निन्दा ही स तोप के लिए पयाप्त नहीं थी, यह भी प्रारम्भिक था कि लेखक के रूप में उद्ग्रे उच्छिन्न कर दिया जाय। ‘हुकमैन’ (जून, १९०६) में ‘द एक्लि-स ऑफ गोर्की’ शीर्षक के अन्तर्गत ऐसे विचार अन्तित हुए—गोर्की स्वयं में कोई विशेष व्यक्ति नहीं वे राष्ट्रीय धर्मियों का उपन हैं यथोक्त व आवाह रहे और उन्होंने कुछ पुस्तकें लिखी हैं जो एक हवाश अनास्था से श्रोत प्राप्त हैं और जिनमें कम से कम पाठक को हृत्ती और खिन्न बनाने की शक्ति है। अमेरिका के क्रांति-उत्साहियों पर यन्त्र करते हुए लिखा गया—‘उनकी विरुद्ध बुद्धि उस आतंकपूर्ण अयकरता का अनुभव करने में असमर्थ है जो एक ऐसी जनता के सामूहिक विद्रोह के साथ अनिवार्य उत्पन्न होगी जो स्वराज्य की असमर्थता में लगभग पशुवत् है।’ डोपोथी त्रियुम्फर का वक्तव्य है कि “इस प्रकार गोर्की के साथ रूसी जनता और रूसी लेखकों, सचका पतन हो गया” तथा “इसके पश्चात् कलाकार के रूप में गोर्की की निष्पक्ष समीक्षा की बड़े परिमाण में आशा नहीं की जा सकती।’

१९०६ और उसके पश्चात् रूसी शासकों के प्रति इम्लैण्ड डे द्वाइफोण में भी परिवर्तन

हुआ। इसके साथ विद्रोहियों के प्रति उसकी सहानुभूति में भी कुछ परिवर्तन स्वाभाविक हो गया। इन परिस्थितियों का गोर्की के साथ प्रत्यक्ष रूप में कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु यह अत्यन्त था कि अत्यन्त रूप से इस व्यापक दृष्टिकोण का प्रभाव गोर्की पर भी न पड़े। रूस के साथ इंग्लैण्ड के सम्बन्ध में नवंबर १९१४ के अपने 'कॉमन सेन्स अथावत वार्' नामक निबंध में मनोरञ्जक प्रकाश डालते हैं—“१९०६ तक सामान्यतः यह माना जाता था कि आरशाही प्रत्येक ऐसी स्वतन्त्रता की शत्रु थी जिसका इंग्लैण्ड को गर्व था, किन्तु समाचार-पत्रों ने रूस द्वारा इन राजनीतिक सिद्धांतों की अवहेलना का उदाहरण प्रकाशित करना बाद खर दिया है जो इंग्लैण्ड के आदर्श हैं। क्यों? उत्तर सरल है। १९०६ वह वर्ष है जब हमने रूस को ज्ञात देना आरम्भ किया और रूस 'द डाइमस' में विज्ञापन छपाने लगा। तब से रूस इसके लिए स्वतन्त्र है कि हमारे धनीबग क प्रेस से विरोध का एक शब्द सुने बिना। पहले एच० जो० बैक्सों और जॉबन जॉर्जों पर दूजनों की सत्ता में दशावास करे और उन्हें पॉली पर लटका दें।”

स्पष्ट है कि पश्चिम की दृष्टि में इस प्रकार के परिवर्तन के साथ गोर्की का निश्चल मूल्यान्त अधिक दुष्कर होता गया। कहा जाता है कि अचानक महात्ता के शिखर की पाकर गोर्की की मायता इस काल में रूस में भी खोखली हो गई। सर्वमान्य राष्ट्रीय लेखक के स्थान पर वे केवल मास्त्वानियों के प्रियवाक्य बनकर रह गए। इस काल में गोर्की और लेनिन में कुछ मैनारिक मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है। कुछ लोग चाहते थे कि गोर्की पार्टी के नियमित कार्य में भाग लें और गोर्की 'प्रोलिटेरियन' के लिए कुछ छोटी छोटी चीजें लिखें। लेनिन ने विनम्रता के साथ इन प्रस्तावों का विरोध किया। लूनेखावकी को १३ फरवरी, १९०८ के एक पत्र में उन्होंने लिखा—“ठोकर लगान पर होने का कारण आप अधिक अच्छा निर्यात कर सकते हैं। यदि आप सोचते हैं कि पार्टी के नियमित काम में लगाकर गोर्की का (स्वतन्त्र) कार्य अतिमूल्य नहीं होगा (और उसके द्वारा पार्टी का बहुत बड़ा लाभ होगा), तो आप उसके लिए प्रयत्न कीजिए।” उनी तापीत के एक दूसरे पत्र में लेनिन ने गोर्की को लिखा—“प्रोलिटेरियन के लिए कुछ छोटी छोटी चीजें लिखने की आवश्यक योजना आपके अग्रिमन्दित कर रही है। किन्तु यह निश्चित रहना चाहिए कि यदि आप महत्त्वपूर्ण कार्य में लगे हुए हैं तो स्वयं को उसमें अभिमुखित मत कीजिए।” इन बातों का अर्थ स्पष्ट है, किन्तु आगे चल कर बात कुछ अधिक गम्भीर प्रतीत होती है। कुछ लेखकों का एक वल 'मास्त्रिज्म' और 'रिकॉलिज्म' नाम से अभिहित आंदोलनों का अप्रसर करने में रुचि रखता था। गोर्की का सम्मेलन इन आंदोलनों की ओर कुछ झुकता था। उक्त वल के साहित्यिक गोर्की की अपना नेता बनाना चाहते थे। लेनिन की प्रतिक्रिया विषय और स्पष्ट थी—“‘मास्त्रिज्म’ और ‘रिकॉलिज्म’ को दबाने के लिए इस अधिकारी (गोर्की) का उपयोग करना इसका दृष्टान्त प्रस्तुत करना है कि अधिकारियों के साथ कैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। प्रोलिटेरियन कला के विषय में गोर्की एक बहुत बड़े सहायक हैं, किन्तु यह ‘मास्त्रिज्म’ और ‘रिकॉलिज्म’ के प्रति उनकी सद्गुणभूति के बावजूद है।” इसी समय पश्चिम में यह हल्ला उठा कि गोर्की को सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी से निकाल दिया गया है। इसे मिथ्या घोषित करते हुए लेनिन ने लिखा—“किसी निम्नकोटि के सबादवाता ने रिकॉलिज्म और ‘ईश्वर निर्माण’ से सम्बन्ध

मतभेद के विषय में अफवाह के एक छोर को सुन लिया (और यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर सामाजिक रूप में पार्की में और विशेष रूप से 'प्रोजेक्टिविज्म' में एक वर्ष से अधिक समय तक सुले गाम बहस होचो रही है) और सूचना के डक्कों की अतिरिक्त करके उसने एक (महत्वपूर्ण और सनसनीखेज) समाचार गढ़ लिया।" लेनिन के इन वक्तव्यों से कुछ बातें बहुत स्पष्ट हो चली हैं—एक महान् प्रतिभाशाली कलाकार के रूप में मोझा सब माय थे, एक लेखक के रूप में उनकी रचना तथा स्वीकृत थी, किंतु पाठ के सिद्धांत और कार्य की दिशा में उनकी कुछ प्रवृत्तियों का हस्तक्षेप लेनिन को माय न था। गोर्की ब्रिटेन की द्वीप में थे तो उनकी राजनीतिक भूलों पर आक्षेप किये जाने पर उन्होंने उत्तर दिया—'मैं जानता हूँ कि मैं एक दुबला मानववादी हूँ और फिर हम सब कलाकार कुछ न कुछ उत्तर देना चाहते हैं।'

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अद्यपि मिस्की जैसे अधिकारी पक्ष गोर्की के इस काल के कृतित्व को किसी विशेष महत्त्व से हानि मानते हैं, तथापि सम्बद्ध कृतियों के अनुशीलन में बहुत सतकता की आवश्यकता है। १९१३ से गोर्की के कृतित्व का नया युग आरम्भ होता है। इस समय उनकी तीन कृतियों का प्रकाश में आया—'आत्मजीवनी की शृङ्खला' (१९१३), 'माइ एम्पेयिण्डिग' और 'माइ यूनियर्सिग'। 'रिकलक' (१९२०, कोरोने की, चेखव, एण्डीव इत्यादि), और 'नोय्स ऑफ ए डायरी' (१९२४)। इन कृतियों में गोर्की सच्चे यथार्थवादी के रूप में प्रस्तुत हुए हैं और उन्होंने तत्त्वता के साथ पूर्ण वस्तुमूलकता प्राप्त कर ली है। उनकी आत्मजीवनी के विषय में मिस्की लिखते हैं—“यथार्थवादी सत्यता उनकी आत्मजीवनी शृङ्खला को किसी भी समय खिली गी समय विचित्र आत्मजीवनी बना देती है। वह कबल गोर्की को छोड़कर और सबके विषय में है। उनका यथार्थ केवल वह आशय है जिसके चारों ओर विस्मयकारी चित्ररत्न संकलित की गई है। इन पुस्तकों में गोर्की की सबसे बड़ी विशेषता उनकी चातुर्य सजीवता में है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह मनुष्य बस आँखें ही आँखें हैं और पाठक चरित्रों की विस्मयकारी रूप से सजीव और स्पष्ट आकृतियों को इस प्रकार देखता है मानो वे सुरत चित्रित हों।

गोर्की की आत्मजीवनी शृङ्खला जगत् को कुरूप प्रस्तुत करती है, किंतु मकर से विहीन नहीं जा बाँटें उसके भार को हलका बनाती है और जो मानवता की रक्षा कर सकती है तथा जिन्हें ऐसा करना ही चाहिए व ज्ञानादय, सौ दय और सहानुभूति हैं।" मिस्की की दृष्टि में गोर्की अपनी आय दो कृतियों में और अधिक उच्चकोटि के लेखक के रूप में प्रस्तुत होते हैं—

'टारस्या के सम्मरण' उस महान् मनुष्य के विषय में किसी भी काल में लिखे गए पृष्ठों के बीच सबसे अधिक सारपूर्ण है और यह सब इसके बावजूद है कि गार्की सुनिश्चित रूप में टारस्या के बौद्धिक समकक्ष के समान कुछ भी नहीं है। वह उनकी आँखें हैं जो आर पार देख लेती हैं न कि उनकी बुद्धि या समझती है। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि वे होने के चीजें देखीं और अकित कीं बिना देखने में दूसरे असमर्थ थे, अथवा यदि वे देखते थे तो उन्हें अकित करने की शक्ति उनमें न थी। गार्की निमित्त टारस्या की प्रतिमा रचना मक की अपेक्षा स्वभाविक अधिक है—वह अनुश्रुति की एकता को जीवन की गति जवा की वेदों पर बलि चढ़ा देता है।' 'द नोट्स ऑफ ए डायरी' में चरित्रों की एक माला

है। मोलिकता उसमें मूल वस्तु है और मिलीं उसे टालसटाव के सम्मरण को छोड़कर गोर्की की सर्वोत्कृष्ट कृति मानते हैं।

किन्तु इस बीच में पश्चिम की दृष्टि भी रुस के प्रति और भी बदली। इस दृष्टि के पीछे शायद मद्रव की अनेक घटनाएँ हैं। १८१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ा। रुस इसमें भिन्न राष्ट्रों का सहयोगी बनकर सम्मिलित हुआ। १८१७ में रुसी कान्ति हुई और वहाँ साम्यवादी शासन स्थापित हुआ। साम्यवादी सरकार ने बर्मेनी से सविनय और रुस को युद्ध से हटा लिया। युद्ध समाप्ति के पश्चात् समस्त पश्चिम ने रुस का विरोध किया और साम्यवादी शासन को मिटाने के लिए हर प्रकार के प्रयत्न किए जो विफल हुए। एक नद और कट्टर शत्रुता का जन्म हुआ जिसका दानवीय विस्तार वर्तमान युग को भी आच्छादित किये हुए है। साम्यवाद के विरोध ने बहुत शीघ्र उन्माद का रूप धारण कर लिया और वहाँ तक कि सोवियत रुस से सम्बद्ध कोई भी वस्तु वस्तुओं के लिए वृक्षित और अग्रगण्य, अस्पृश्य और त्याज्य हो गई। यह असम्भव है कि रुसी लेखकों के मूल्यांकन में इस प्रबल मनोदशा का कोई प्रभाव न पड़े। इस प्रकार के प्रभाव से गोर्की का मूल्यांकन भी यचित नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में पश्चिम के अनेक विद्वान् रुस आत्मा और रुसी लेखकों से आध्यात्मिक शक्ति और सहायता प्राप्त करने के मातृक अभ्यासी थे। ऐसे ही एक सभ्यन स्टेफेन प्राहम ने रुस की इस आध्यात्मिकता का केन्द्र बनाकर बहुत ही पुस्तकें लिखी थीं। महायुद्ध शुरू होने के समय और उसके पश्चात् ये रुस में तीथयात्री थे। गोर्की इस समय दस्तोयव्स्की के विरुद्ध लेख लिखने में व्यस्त थे। दस्तोयव्स्की के विरुद्ध उनके मुख्य आरोप यह थे कि उन्होंने पीड़न और मृत्यु में ही अपनी समस्त शक्ति केन्द्रित कर दी थी। गोर्की का मन यह था कि रुस को रदस्ववादी, पोरित और मलिन बनना छोड़ देना चाहिए और इसके बदले उसे स्पष्ट बुद्धि, आशावादी और अपनी आत्मा का स्वामी बनना चाहिए। यह सब देखकर प्राहम के मर्म पर आघात लगा। दस्तोयव्स्की दा तो 'आध्यात्मिक मूल्य' के प्रत्यक्ष कोप थे। उन्होंने लिखा—“जिस रुस पर गोर्की आक्रमण कर रहे हैं वह ठीक वही है जिसके प्रति हमें ईर्ष्या में आध्यात्मिक रुचि है—रदस्ववादी और अन्धवहारीक रुस, वह रुस जो तोथयात्री है, वह रुस जो कलामक है और रुस को जो वे बनते देखना चाहते हैं वह ठीक ऐसा है जो आध्यात्मिक रुस से हमारे लिए अस्वस्थ रुचिकर होगा—रुस जो आशावादी, आत्मविश्वासी, स्वायत्तवादी, सुपरिधानित, स्फूर्तिमय और चतुर तथा परिचयी है।” यहाँ यह स्मरणीय है कि भारत पर पश्चिम के शासनकाल में हमारे देश के 'आध्यात्मिक मूल्य' का उपयोग करने में भी पश्चिम के लोग कभी कृपण और शिथिल नहीं रहे। प्राहम की 'द वे ऑफ माया एण्ड द वे ऑफ मेरी' नामक पुस्तक को लेकर गोर्की ने लिखा—“अमेज उस स्वीकार करते हैं क्योंकि हमें पावन दीधसूत्रियों और अन्धवहारीक यन्त्रियों के रूप में चित्रित करने में अमेज पूँजोवादी के लिए अथोका और भारत के समान रुस में एक भविष्य ब्रिटिश उपनिवेश देखकर कदाचित्त में ह्रास मलने के लिए स्थान रह जाता है।” किन्तु इन्स्ट के कल्याण को ध्यान में रखकर आदम आध्यात्मिक मूल्य वाले रुस से चिपके रहे।

किन्तु उपर्युक्त उल्लेख उद्य धनिपात की केवल आरम्भिक जानकारी है जिसके आगमन

के साथ पश्चिम की समस्त शक्तियाँ रूस और रूसी साहित्य के शिकार में लग गईं। ज़ा य सभी दृश्यों से प्रभूत प्रशस्ति गोर्की की 'टॉल्स्टाय क सम्मरण' कृति के विषय में एडमण्ड गॉप ने अभिमत दिया कि वह विवेकहीन है और भोरशेविस्ट साहित्य द्वारा अपने मसीहा की समाधि के पथ का उगाहरण है। यह उमात्र किस सीमा तक पहुँचा हुआ था इसका उगाहरण १६१८ में प्रोफेसर पॉल शोरे द्वारा 'अमेरिकन मेडिसो साइकॉलॉजिकल एसोसिएशन' के समक्ष दिये गए इस वक्तव्य में स्पष्ट लक्षित होता है—'टॉल्स्टाय यदि स्वयं पागल नहीं, तो दूसरों में विशेष हावपत्र करने के विपुल सात (अवसर) रहें हैं।' उन्होंने और बतलाया कि रूसी साहित्य का अध्ययन अमरीकी साहित्य समीक्षा के मानसिक स्वास्थ्य और अमरीकी जनमत के उतुलन की क्षति पहुँचा रहा है। ऐसे उमात्र किन्तु सगठित प्रचार का परिणाम यह हुआ कि अमेरिका में रूसी साहित्य की खपत घट गई और 'डायल' ने यह आशंका प्रकट की कि उसके कारण गोर्की की आत्मजीवनी के प्रकाशन में कड़ी बाधा न हो।

१६१७ में गोर्की ने रूस की बोलशेविक क्रांति का साथ दिया। बहुत दूर तक लेनिन और उनकी नीति का समर्थक होने पर भी गोर्की ने एक स्वतन्त्र स्थिति अपनाई। बड़े बड़े लोगों से उनकी मैत्री थी तथा उनका यश बहुत समृद्ध था। परिणामतः स्वतन्त्र स्थिति रखकर भी वे बहुत काम कर सके। उन्होंने स्वयं की कला और सस्कृतिक संरक्षक के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस दिग्गज में उनके काय का महत्त्व मिस्कीने इस प्रकार अक्षित किया है—'स्वनिर्धारित सस्कृति और सम्प्रदाय के संरक्षक का काय उन्होंने चितना उनसे सम्भव था, उतनी कचड़ी तरफ किया। ऐसी सस्कृति पर उनका बहुत बड़ा अण्ड है। १९१८ और १९२१ के बीच रूसी लेखकों और अन्य उच्च बुद्धिजीवियों को भूखों मरने से बचाने के लिए जो काम किया गया वह सब गोर्की के कारण था। यह मुख्यतः कवियों और उपन्यासकारों का अनुवाद का काम देकर किया गया। सम्भवतः यह युक्ति निर्दोष नहीं थी, कि तु इन परिस्थितियों में कदाचित् केवल यही सम्भव थी।' १६२१ में गोर्की अपनी चले गए और वहाँ से १६२४ में इटली। १६२८ में अपनी साठवीं वयसोठ के समारोह में सम्मिलित होने के लिए वे रूस लौटे। इसके श्राप पश्चात् वे पुन रूस में ही रहे गए। स्टालिन के शासन का उन्होंने समर्थन किया। १६२६ में उनकी मृत्यु हो गई। अपने आन्तम काल में साहित्यिक मानदण्डों को उठाने और नये लेखकों को शिक्षित करने में उन्होंने अथक परिश्रम किया।

अपने जीवन के अन्तिम पक्ष में भी गोर्की ने बहुत सी पुस्तकें लिखीं। उनका 'द आर्त मानोव' उपन्यास १६२५ में प्रकाशित हुआ। १६२७ से १६३६ तक 'द लाइफ ऑफ विलम सामगिन' लिखा गया, जिसके निम्न भाग 'बाइस्टरटर्', 'द मैगनेट', 'अदर फायर' और 'द स्क्वैर' नाम से अंगरेजी में अनुजित हैं। उक्त दोनों कृतियों सहज सम्मानित हुईं। गोर्की अपने द्वितीय उपन्यास को पूरा नहीं कर पाए। इसी प्रकार उनकी एक नाटक रसी की योजना भी अधूरी रह गई। उसके केवल दो भाग 'व्लाडिमिर एण्ड अन्स' (१६३२) और 'दस्तीगवेन एण्ड अन्स' (१६३३) पूरे हो सके। ये समस्त गोर्की के जीवन के स याकाल की कृतियाँ हैं और गोर्की की प्रतिमा की दीप्ति उनमें बनी हुई है। उनकी पूर्ववर्ती कृतियों का तुलना में अन्तिम कृतियों की निमाण योजना आबक महत्वाकांक्षापूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने अन्त्यत पन्नापूर्ण जीवन में जो कुछ उन्होंने देखा था उसके समस्त सारभूत अंश को वे कतिपय विशाल

चित्रपटों की एकता में उसकी मूल गतियों के साथ अंकित कर देना चाहते थे।

एक शिल्पकार और शैलीकार के रूप में मो गोर्की पर अनेक आक्षेप हैं। सगठन की दृष्टि से उनकी बहुत सी कृतियाँ दुर्बल कही जाती हैं। इस दुर्बलता का मुख्य कारण तथाकथित दार्शनिक विचारों की विपुलता और उसके साथ अशक्त वातावरण की शैली का प्रयोग है। किंतु यह एक ऐसा प्रश्न है जो विशुद्ध कला पक्ष से सम्बद्ध है और उस पर कुछ कहने के लिए अधिक और एक विशेष प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता होगी। समीक्षक करते हैं कि हास्य की क्षमता ■ गोर्की वंचित थी और इसलिए उनकी कृतियों का वातावरण अधिक मलिन और धूमिल हो गया है। जिस शैली को लेकर गोर्की ने आरम्भ किया वह स्वयम्भूततावाद की शैली है, और विवेक सामान्य समीक्षा में 'क्रांतिकारी स्वच्छ दत्तावादी शैली' नाम दिया है। इसके परन्तु गोर्की जमना यथार्थवाद की ओर बढ़े। उनके आरम्भिक यथार्थवाद का रूप देखकर पश्चिमी समीक्षक कड़ी आलोचना के लिए प्रेरित हुए। उनकी तुलना मास के जोला से की गई और वेम्स हुनेवर ने उदाहरण 'एक ऐसा प्रश्नवादी' कहा, 'जिसके समीप जोला अपनी कला का 'कलम' सीलने के लिए जा सकते थे।' अपनी 'लेटर नाइनटी थ सेंचुरी' (१९०७) पुस्तक में प्रकाण्ड विद्वान् सेवट्सबरी ने इसी लेखकों पर चर्चा करते हुए लिखा—“ परन्तु और सचमुच (हमारे) समकालीन गार्की के दृष्टिकोण के लिए यथार्थवादी पर्याप्त माना जा सकता है कि उन्होंने 'गन्दगी' में और प्रगति की।” यह हम देख ही चुके हैं कि गोर्की के कृतित्व के सूचीय काल की कृतियों में निश्चयी सच्ची यथार्थवादी और तटस्थता से युक्त वास्तविक यथार्थवाद को प्राधान्य प्राप्त मानते हैं। गोर्की के यथार्थवाद की चर्चा हम जल्दी से केवल यही कहकर बंद करते हैं कि यह 'समाजवादी यथार्थवाद' का युग है।

गोर्की के इस सर्वेक्षण में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें बहुत स्पष्ट हो जाती हैं। जिस प्रकार 'आलोचना' में प्रकाशित दस्तोएव्स्का पर अपने लेख में हमने देखा था कि विशिष्ट सिद्धांतों पर अभिमत समीक्षा कलाकार पर सहायक प्रकाश डालने के स्थान पर उसके अनुशीलन की अधिक बढ़ित और कठिनाई बनाती है, उसी प्रकार प्रस्तुत लेख यह प्रदर्शित करता है कि ऐतद्देशिक मतभेद के अतिरिक्त गोर्की की समीक्षाओं में विशिष्ट राष्ट्रीय दृष्टिकोणों की बहुलता है। विभिन्न देशों के लिए किसी भी समय अपने अपने विशेष दृष्टिकोण का कारण और मूल्य हो सकता है और कदाचित् कला के मूल्यांकन की भी सबसे पुष्टतया मुक्त करना कभी सम्भव नहीं, किंतु इस कार्य में उम्मीद इतने स्थूल और साफ रूप में प्रभाव किसी प्रकार वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। सातव्य यह नहीं है कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण क्यों है और विशेष प्रकार के समीक्षात्मक यथार्थवादी दिखे गए हैं। इन्का होना तो अत्यन्त स्वाभाविक है। किंतु यह स्वाभाविक है इसलिए यह आवश्यक है कि निम्न मूल्यांकन के पूरे तटस्थता के साथ ऐसे तथ्यों पर ध्यान दिया जाए जिससे हमारे निर्णयों में यथार्थसम्भव इस प्रकार के देशी या विदेशी पूर्वग्रहों का समावेश न हो सके। हिन्दी जगत के हृदय में गोर्की की प्रतिमा सेनोद्घोष है, किंतु वह रूपहीन है। उसे स्वरूप बनाने के लिए जैसे स्वयं गोर्की के समस्त साहित्य का अध्ययन आवश्यक है, उसी प्रकार गोर्की की समीक्षा के उस पक्ष का अध्ययन और विश्लेषण भी, जिसके संकेत का प्रयत्न प्रस्तुत निबंध में किया गया है और हमारा शुक्रान है कि जिनेन अपना हाइड्रोजन बम फोड़े उसके पूर्व ही हमें यह कार्य सम्पन्न कर लेना है।

प्रवाद प्रश्न

© 1957 BY THE AUTHOR. ALL RIGHTS RESERVED.

‘नई कविता’—दो समीक्षाएँ

1

राजलाल वर्मा

[नई कविता शब्द स हमारे दोनों समीक्षकों न ‘नव प्रकार का कविता’ का अर्थ अनायास ले लिया है । हमारी दृष्टि में नई कविता शब्द का प्रयोग इतने सीमित अर्थ में करना ठीक नहीं है फिर भी हमने प्रस्तुत शोधक को यत्न करना उचित नहीं समझा । कवयित्री उसे ‘चिह्नों से समीकृत कर दिया है ।]

—संपादक

मानव हृदय की राग चेतना और कविता दोनों सहजात एवं अतृप्यत्वमिश्रित हैं, दोनों के इतिहास का एक साथ उद्भव होता है तथा दोनों एक दूसरे की सुलभिता हैं । कविता के क्षेत्र में हम राग चेतना तथा बुद्धि का भेद भी युग युग है, फिर भी राग-चेतना में बुद्धि का एकान्त अभाव अथवा एकांत अतिरेक दोनों ही समथ रचना के बाधक हैं । सुष्टु एवं मार्मिक काव्य रचना के लिए मस्तिष्क स्थित बुद्धि को सदैव अपना आसन छोड़कर हृदय की ओर झुक नीचे उतरना पड़ता है तथा हमारी हृदयस्थ भावना को बुद्धि के स्वागत के लिए सदैव तत्पर रहना पड़ता है—सफल रचना का प्रादुर्भाव इसी सम वय में सम्भव है । कविता के लम्बे अन्तात पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि कविता के सामने ऐसा स्वतुल्य पहलू कभी नहीं आया जबकि उसे निम्नलिखित ही हाकर अपने गत य पथ पर बचने के लिए किसी क निर्देश, संकेत की आवश्यकता पड़ी हो, जैसी कि आज कविता के सामने ‘किंचित् कार्य’ का समस्या आ खनी हुई है । सस्मृत कवियों, आचार्यों की सम्प्रदाय परक परिभाषाओं के बड़े बड़े व्यूहों में कविता को प्रवेश करना पड़ा, तथापि वह सबको पार करता हम तक आ गइ है । परन्तु आज कविता समस्या विह्वल भी खनी न आगे बढ़ रही है और न पीछे । वह स्तम्भित सी एक स्थान पर खनी है । विभिन्न मार्गनिर्देशक अपनी अपनी कविधियों द्वारा उसे परस्पर प्रतिबल दिशाओं में बढ़ने का संकेत दे रहे हैं—कविता किस निर्देशक पर विश्वास करे, किसके संकेत पर आगे बढ़े, एकांतनिष्ठ प्रतिबल प्रताडनाओं से वह किसका आदेश माने यह एक समस्या है । उसे भय और आशंका है कि यदि किसी आत्मक निर्देश के सहारे किसी अनजाने पथ पर वह बढ़ गइ तो ऐसा न हो कि

उसे यहाँ से फिर भापस लौटना पड़े।

इतनी श्रुतिश्रुति से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि ‘नई कविता’ शीघ्र में हम हिन्दी की किस काव्यधारा को बँधना चाहते हैं। हमने ‘नई’ शब्द के लिए ‘आधुनिक’ शब्द का जगमगातार प्रयोग नहीं किया, क्योंकि नई कविता के उद्भासक नई कविता को आधुनिक कविता कहने के पक्ष में नहीं हैं। “हम ‘नई कविता’ के नाम से इधर एक विशिष्ट शैली और ‘स्कूल’ की जाय कृति को पुकारने पड़ना लगे हैं और अब शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं रही कि सभी सामयिक अथवा आधुनिक कविता नई होत हुए भी नई कविता नहीं है।” नई कविता से यहाँ प्रयोजन है नई कविता को ‘प्रसाद’, ‘निराला’, पत और महादेवी की छायावादी तथा रहस्यवादी धारा की प्रतिनिधियों में उत्पन्न हुई। नई कविता का अनिर्वाच्य विशेष रूप से उस कविता से है जो भी अज्ञेय के पहले और दूसरे ‘तार सप्तक’ से पूरी। हम नहीं कहते कि नई कविता ‘तार सप्तक’ से स्फुरित होने के पश्चात् ही आविर्भूत हुई, हो सकता है ‘तार सप्तक’ की तारी में ‘नई कविता’ पहले से ही निर्वाह तारों में निहित रही हो। हमारा आशय इतना ही है कि नई के प्रथम आलोक के दृश्य सभी हुए नई कविता के सप्तमि कवि भी ‘अज्ञेय’ के ‘तार सप्तक’ की शल्लकी को छेड़कर अपने स्वतन्त्र राग अलापने लगे। यद्यपि आधुनिक कविता के इतिहास का कोई भी पर्यवेक्षक इसी यथार्थ को स्वीकार करेगा कि नई कविता ने पिछले पन्चीन वर्षों में अपने तीन नाम चले हैं। पहले नाम था प्रगतिवाद, दूसरा नाम था प्रयोगवाद, और तीसरा नाम है ‘नई कविता’। ध्यान रहे कि नई कविता के अर्थ के योग्य नामों की इस परम्परा को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है। नाम यथा, ये नई कविता तथा प्रगतिवाद में कोई सन्नमि स्वीकार करने की तैयार नहीं और हम तो नई कविता को प्रयोगवाद भी कहते चलाते हैं, क्योंकि इस दिशा में भी ‘अज्ञेय’ के निधि निवेश पहले से ही निर्धारित हैं। वे कहते हैं—

“प्रयोग का कोई नाम नहीं, हम जादी नहीं रहे, न ही हैं। न प्रयोग अपने आप में हुए था साथ ही यह हमें प्रयोगवादी कहना उठता ही सार्थक या निरर्थक है जितना हम कविता वादी कहना।” उक्त कथन में ‘नहीं रहे’ अर्थ इतना तो सकेव करता है कि पहले कभी ये अब नहीं रहे, तब फिर हमारा तीन नामों का परम्परा का उल्लेख असंगत नहीं है। प्रश्न यह उठता है कि नामों के परिवर्तन की आवश्यकता क्यों पड़ी? उत्तर सरल और निष्पक्ष है। जैसे किसी देश में *आशावादी* उत्पन्न करने के लिए *विद्रोही शासनाधिकारियों की गिरफ्तार* से कचने के लिए तथा उगकी नष्ट करना जाने के लिए जितने अपने रूप और नाम बदलता रहता है, जैसे ही यह नई कविता भी शासक समाजोत्कर्ष के कठोर अनुशासन एवं नियन्त्रण से बचने के लिए अपना नाम और रूप बदलती रही। पूछा जा सकता है कि फिर नई कविता की यह परिवर्तन-परम्परा पक्ष में कैसे आई? हमका उत्तर भी सरल ही है। नाम रूप का परिवर्तन सरकारों में कोई अनुरोध नहीं आता। उपर साहित्य के अनुशासक भी नई कविता के पीछे पड़ गए। आज तो नई कविता के विद्रोही ने आज की बदली हुई मौलिक परिस्थितियाँ और परिवेश में पर्याप्त रूप

१ ‘कवयिता’ मासिक पत्रिका जनवरी १९२६ का ‘नई कविता’ निबन्ध, ख० श्री बाबूदत्त राय।

२ ‘दूसरे सप्तक की श्रुति’, ख० श्री अज्ञेय।

से शक्ति सकलन कर लिया है और अब तो वह अनुयायियों के सामने मोक्षोन्मुखी करके खुले रूप से आ गया है। याद ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यही निष्पक्ष आश्चर्य हमारे सामने आया कि हिन्दी काव्य की छायावाद घारा में भारतीय संस्कृति और भारतीय सौन्दर्य के मान जब अपना मूल्य और महत्व स्थापित करते देते गए, जब छायावादी घारा कलात्मक प्रणाली में स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्रीयता के उद्घोष का माध्यम बनने लगी तो भारत के राजनीतिक अंचल में एक बग ऐसा भी था जो मार्क्स और लेनिन के आप्त निर्योग्यता का परिपोषक था और जिसने यह अनुभव किया था कि यदि कविता 'मास्को मुक्त' राष्ट्रीय चिंतन की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई तो भारतीय जनता के हृदय में साम्यवाद तथा मार्क्स के सिद्धान्त अपनी जड़ें नहीं बसा सकेंगे। अतः उस बग ने कविता को प्रगतिवादी की गली में चलना सिखाना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु भारतीय साहित्यिकों के बचन और तर्जन ने इस घारा को आगे नहीं बढने दिया। तब परिणाम यह हुआ कि उसी बग ने कविता को 'प्रयोग' जैसा नाम दे दिया। हा, नाम के परिवर्तन के साथ साथ रूप परिवर्तन की महिमा भी सामने आई। इस बार नया शिल्प, नया शब्द, नई अभिव्यक्ति, नये उपमान आदि के नारे सुनाई दिये गए। कथन और कथ्य दोनों की नवीनता का प्रनिपादन किया गया। "कथ्य का आधुनिक होना तो आवश्यक है ही। बिना सबूत आधुनिक कथ्य के शैली की नवीनता मात्र विकसणता अथवा प्रयाग होकर रह जायेंगे।" ^१ नई कविता का आन्दोलन वैसे ही शक्ति ग्रहण करता गया, जैसे मिर्जा शिना का हिन्दू मुसलिम दो पृथक् राष्ट्रीयता सिद्धान्त। किंतु इसका कारण सिद्धान्त की अपनी शक्ति सम्पत्ति उतना नहीं था जितना भारतीय नेताओं द्वारा सिद्धान्त का विरोध। नई कविता की ऐसी कड़, गम्भीर एवं अनावश्यक भावना की गई कि इसके प्रति समाज का और भी आक्षेप बढ़ता गया। आक्षेप के लिए वस्तु का सुंदर होना आवश्यक नहीं, वस्तु की असामान्यता ही उसके आक्षेप का साधन बन जाती है। असामान्यता का पक्षी या विपक्षी, अनुकूल या प्रतिकूल या दोलन तथा प्रचार उसके आक्षेप में चार चाँद लगा देता है। नई कविता के साथ यही हुआ। हमारा विश्वास है कि यदि हमारे समालोचक इसकी उपेक्षा कर जाते तो शायद नई कविता का यह अनिवार्य रूप सामने न आता जो आलोचना की प्रतिक्रिया के रूप में आया है तथा विरोध में संतुलन नहीं रहता। यही कारण है कि जिस प्रकार छायावादी काव्य के प्रति यह उपालम्भ निरंतर चलता रहा कि छायावादी काव्य में और कुछ भी हो, छायावाद से तो उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही 'नई कविता' के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसमें 'नया' कुछ भी हो 'कविता' तो नहीं है। छायावाद कविता तथा नई कविता में हमें एक विशिष्ट साम्य देखने को मिलता है। वैसे छायावादी कविता एक ओर तो ब्रिटिश प्रभाव के भारत में अंग्रेजी साहित्य की नवजात चेतनाओं से प्रभावित हुई, दूसरी ओर रीतिशालीन काव्य की स्थूल ऐंद्रिकता तथा शैली की रूढ़ियों से ऊपरकर सूक्ष्मता और स्वाच्छंदता की ओर वेग से मुड़ गई, उसी प्रकार नई कविता भी एक ओर अंग्रेजी की यथार्थवादी घारा से प्रभावित हुई, दूसरी ओर उस पर विज्ञान का बढ़ता हुआ बुद्धिवादी घटाटोप छा गया।

नई कविता के कथारों ने अंग्रेजी समालोचकों की भाँति ही स्वच्छंदवादी तथा छायावादी घाराओं को मृत एवं यतीत मानने में ही नई कविता का गौरव समझा। "यह दूसरी बात है कि पुरानी कविता शनैः शनैः सामान्य बौद्धिक जाने की तैयारी में लगी हुई है और

१ 'नई कविता' निबन्ध, 'कल्पना', जनवरी २६, संस्करण श्री आनंदकृष्ण राव।

नई कविता घर नशा रहो है।^१ अथवा “इस समय जो जहाँ तक और नई कविता की प्रभाव किरणें चित्तों की आलोकित करने लगी हैं, वहाँ आकाश और पृथ्वी पर गत निशा की गन्धरात्रिर्वा अथ भी दिग्दिशाही सुस्फूर्ता दीप्त पड़ती हैं। सन्नाह के समय किसी का पत्रापिपर नहीं होता और यह समय सन्नाह का ही है।”^२ भी रात्र के इस वक्तव्य में हमें अभी कभी सन्नाह रात्र में प्रम होने लगता है, क्योंकि सन्नाह तो सन्नाह में भी होती है, उस समय भी नक्षत्रों का प्रकाश दृष्टिगोचर होता है, उस समय तो गत निशा नहीं आगत निशा की सूचना मिलती है, क्योंकि नई कविता बिना दृश्य की अनुपस्थिति कर रही है उससे तो प्रभाव के आगमन का संशय न मिचकर किसी कविता की दीर्घायुमिनी का ही आभास मिलता है। रोमांटिक काल के उत्तर में भी सन्नाह के कविताप्रदियों की सी बात यहाँ के लोगों ने भी कही है।^३

नई कविता के शिल्प विमान, भावमि यन्त्र तथा सूक्ष्म समीक्षमयता की वेलकर तो भी प्रभाव रात्र के स्वर्ण में “सहसा यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी का कवि क्या कहते हैं ? उनका अध्ययन किन्ना महत्ता है, किन्ना भावार्थों का है ? किन्ने विषयों का है, बाह्यवर्णन का उनके निकट क्या शून्य है ? क्या समीक्ष की शब्दावली से वे अस्मृत्त मानते हैं ? उनमें अनुभूति की मजह किन्ना है ? आलोचकों की कविता की महत्ता का विश्वास विपक्षों की हताही जवही क्यों है ? उन पर प्रभाव किन्ने हैं, किन्ने हैं, कैसे हैं ? आधुनिक कविता में गूँथ किन्ना है, अनुगूँथ किन्ना है ?”^४ यद्यपि भी माचवे ने यह प्रश्न हमारे आशय से भिन्न दृष्टी संगति में प्रस्तुत किया है, किन्तु नई कविता की वर्तमान दशा देखकर ऐसा लगता है कि भी माचवे ने हमारे गुँथ से मजबूत छीन लिया है। ये प्रश्न नई कविता के समर्थन में उठाये गए हैं, किन्तु यदि हम उनके निरोध में इन प्रश्नों की संबोधित करें तो एक एक प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है—“हिन्दी के नये कवि टी० प्र० इलियट का वेस्ट लैंड, फायर का काम सिद्धान्त, भी अंग्रेज के निरोध ही पड़ते हैं। उनका अध्ययन भा हर्ष, माघ, कालिदास, भगवत, सुकती, एर, देव, विहारी, मरद, पत का पूछ बाह्यपर वरके दाह्यमैव एकरा वाक्य, टी० प्र० इलियट, होन, रो आदि की रचनाओं के अनुशीलन तक सीमित है, किन्ना गद्दा है यह वाक है। मत्पात्रों में तो ठीक ठीक हिन्दी भाषा का भी ज्ञान नहीं है, किन्ना में ‘विषय’ वाक्य का है। बाह्यवर्णन का मूल्य नये कवियों के निकट कुछ भी नहीं है। गणीत तो उनके छन्दों और शब्दों में क्या, एक एक वच और मात्रा में है। तब सम्पूर्ण अस्मृत्त का प्रश्न ही नहीं उठता। महत्ता का विश्वास विपक्षों की हताही क्या है इतना ज्ञान तो भी अंग्रेज ही दे सकते हैं। इन नये कवियों पर प्रभाव इलियट, फायर, एडगर यु ग के हैं, प्रभाव बहुत हैं, सुरे हैं। आधुनिक

१ ‘कल्पना’ पृष्ठ ३, जनवरी १९२६, ‘नई कविता’ खे० भी माचवेण रात्र ।

२ ‘कल्पना’, जनवरी २६, पृष्ठ ३ ।

३ Literature and Psychology, p. 130, by F. L. Lucas, “Romanticism like many Romantics died comparatively young. That was natural. Neo Classicism in decline became a bore but bores can live long.”

४ जनवरी १९२६ का टी० प्र० इलियट और का आलोचन शीपक निचय से, भी प्रभाव कर माचवे । कृपया यह उत्तर दिये गए प्रश्नों के क्रम से पढ़िए ।

५ एषमा इन उत्तरों की प्रश्नों के क्रम से पढ़िए ।

कविता में यूँ ज कुछ भी नहीं है, अनर्थ ही है ।

अब आइये, नई कविता के शिल्प विधान पर एक दृष्टि डालें । नई कविता में छन्द और तुक के सम्बन्ध में कोई ऐसा कठोर नियम अथवा सिद्धान्त तो नहीं है, किन्तु नये कवियों के कुछ आपसी सवसम्पन्न विचार अथ अन्तर्ग्रन्थ गार पड़ते हैं, जिनका पालन परस्पर प्रायः सभी नई कविता का होनहार पीष करता है । उदाहरणार्थ नई कविता की यह एक प्राञ्जन शक्त है कि वह धेनुकी हो, छद्महीन हो, सगीमयता से मुक्त हो, माया सरल हो, किन्तु शब्दों के नये प्रयोग हों, पार पाटक के लिए वह फिर एक बार 'वेशव की कविताई' क्यों न बन जाय । परन्तु नई कविता के परवर्तमान हमारे इस कथन से सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि वे नई कविता के प्रत्येक चरण में एक नया तुक, नया छन्द, नई भाषा, नवीन लय प्राप्ति करते हैं । हमारे विचार से इस प्रकार के विचार को अग्रजों का नई कविता के काव्यशास्त्र स प्रेरणा मिला होगी, क्योंकि यहाँ का कवि यति (Stress) को ही तुक (Rhythm) मानने लगा ।¹ यहाँ यति ही कविता का लय और तुक बन गया । अग्रजों के ध्वनि सिद्धांत (Phonetic) तथा हिन्दी अथवा संस्कृत के ध्वनि सिद्धांत में मौलिक अन्तर है, यह तो सभी भाषामाया जानते हैं । अग्रजों की कविता के लिए यति की ही तुक, लय और सगीत मान लेना भले ही सज्जत हो, किन्तु हिन्दी के लिए तो यह बनी धेनुकी बात होगी, क्योंकि हमारे काव्य, उच्चारण, माया, शब्द, वगैरह के पाछे एक गम्भीर वैज्ञानिकता है, जबकि अग्रजों में हमारे दृष्टिकोण से पहले तो कोई सज्जित अथवा लय या तुक है नहीं, यदि है भी तो वह हमारा भाषा के अनुरूप नहीं । फिर अग्रजों की यति प्रणाली अथवा छन्द विधान हमारी कविता में किस प्रकार बिटाया जा सकता है ? यदि ऐसा करने का प्रयास किया भी जाय जैसा कि नई कविता के प्राण्यताओं द्वारा किया जा रहा है, तो वह वैसा ही होगा जैसे मोतियों के डेर में धाँपे मिलाकर दोनों को एक ही दान में बेचने का प्रयास करना । मोती और धाँपा एक में नहीं मिल सकते । मिश्रण तो सजातीय द्रव्यों का ही हो सकता है । अग्रजों की कविता की रचना प्रणालियाँ के अजातीय द्रव्यों की मिलावट तो दोनों के वस्तु रूपा को नष्ट कर देगी । इन तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए चाहिए या हिन्दी की नई कविता के उदाहरण प्रस्तुत करना, किन्तु स्थानाभाववशात् यहाँ यह सम्भव न हो सका । नई शब्द याचना, असामान्य उपमान विधान के लिए नया कवि विकल रहता है । नये नये चित्र (images), नई नई उपमाएँ नई कविताओं का जीवन छीनते हैं और नये कवि की आस्था अमर, कमल, मकरन्द, निम्फ, स्वप्न, सुरभि से हटकर गधा, कुत्ता, सड़क, कीड़ा, पत्तीना, मृत आदि में हो गई है । नये कवि के यही पूर्य उपमान और उपमेय बन गए हैं । नये कवियों के यही उपमान साधारणकरण की निषा में सफल हो पाए हैं, जैसा कि श्री अश्वेय का कहना था है—² "जब कम कारिक अथ मर जाता है और अनिषेध बन जाता है, तब उस शब्द की रामोन्नेजक शक्ति भी छीन जा जाती है । उस अर्थ से रामात्मक सम्बन्ध नहीं हो पाता । कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है, जिससे पुन

1 Key to Modern English Poetry 1948 Edition P 33 By Martin Gilkes
Gerard Manley Hopkins in ant rhythm in which one does not count by syllables but by stresses (a stress being either one word or group of words upon which the emphasis of the voice falls) So many stresses go to make one line and it does not matter in the least provided the requisite stresses are all present and correct how long or short the line may be

राग का संचार हो, पुनः समात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। साधारणीकरण का यही अर्थ है।^१ सायद नये कवियों की इसीलिए मर २० के स्थान पर पड़ीना और मृत तथा मृग और उठकी चंचलता के स्थान पर सधा और उठका बुद्धपन साधारणीकरण का अपेक्षित माध्यम प्रतीत होने लगा है। परन्तु हमारे विचार से साधारणीकरण का मर्म यह नहीं है। यह तो धारणा की चरम विकृति है, इसीलिए तो डॉ० नगेन्द्र को सम्मत्तर कहना पड़ा—“प्रयोगवादी कवि बुद्धि व्यर्थ साबित है, अपनी अनुभूति पर इसे विश्वास नहीं है। परिणामतः वह सहानुभूति में अममर्थ रहता है, अर्थात् अपने संवेद्य को विश्वास रूप में न तो वह ग्रहण कर सकता है और न प्रस्तुत भी कर सकता है और इसका निम्ना का य रचना सम्भव नहीं है।^२ परन्तु कविता के प्रवर्तकों के लिए यह सब जाय है, क्योंकि वे न रस की यद्धति पर वैसी आस्था रखते हैं और न प्राचीन काव्यशास्त्र की वैज्ञानिकता उनकी प्रिय है। उनके लिए तो सत्कार का सभी कुछ कूट हो गया है। उनमें तो स० के, भाषा के अपने नवीन ‘वैज्ञानिक प्रयोग’ हैं। किसी भी सख्या में पक्षितया निपटार से कवि कविता लिख देने तथा एक से लेकर किसी भी सख्या के शब्दों द्वारा एक पक्षित अथवा वस्तु बना देने का अच्छा अभ्यास कर चुकें हैं। नई कविता के आचार्यों ने भी नई कविता की रचना के लिए उसी प्रकार के नियम प्रचलित कर दिए, जिस प्रकार सन् १९५६ में एक० एम० फिलिड और एच० वाइल्ट ने ‘अमेरिकन पाइन्स’ नामक पत्रिका में कुछ विद्वान् नई कविता के लिए निर्धारित कर दिए थे।^३ यदि भी डॉ० आर्यभट्ट ने स्पष्ट कहा तो धारा की य—“रोमांचिक कवि अब एक बार अपना गठन बना देता या शब्दका स्रोत बना अपना रूपकों को अनुस्यूत कर देता है तो वह यह नहीं समझता कि वह किसको या य शक्ति निगमित कर रहा है। प्राचीन चारों का कवि कम से कम पितृता निगमित करता है उस पर नियंत्रण रचना की आशा तो रखता है।^४ तो नई कविता के इस असंतुलित रचना विषय पर कहा जा सकता है कि क्या फिर वह एक बार अपने नवप्रयोगों का नया पीला देता है तो उसे वह ध्यान नहीं रहता कि जो भाव-अनुभव काव्य पिपासु को दे रहा है वह बल शक्ति भी सृष्टिकारी है और उसे वह भी जान रहा रहता कि इस प्रकार न बल की प्रभुता मात्रा पिपासु के कबडोच्छ्वसन का कारण तो नहीं बन सकती। नई कविता के पोषक काव्य सदा के वातावरणों को उ मुक्त कर देने का आग्रह करते हैं, वह इसलिए कि बाहर का सृष्टि बना विशेष या उनके बिना वे उह नहीं निरूप करते कि कभी कभी वातावरणों के विलकुल पाल देने पर बाहर की दुर्गति, धूप, शीत, आदि के प्रति हो जाने का भय रहता है, अतः चारों ओर देखकर ही वातावरणों को खोलना चाहिये। सृष्टि-दत्ता और स्व-व्रता में अंतर है। स्वतन्त्रता के अनुशासन और स्वयं का सौम्य मिश्रित रहता है। हमारे विचार से कवि को स्वतन्त्र तो होना

१ ‘दूसरा सत्य’ की भूमिका, लेखक भी अज्ञेय।

२ ‘आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ’, पृष्ठ १२३, ले० डॉ० नगेन्द्र।

३ The Background of Modern English Poetry, p. 34 by T. Isaacs

(1) Direct treatment of thing whether subjective or objective

(2) To use Absolutely no word that did not contribute to the presentation

(3) As regarding rhythm to compose in sequence of musical phrase, not in sequence of in tritone

४ The Background of Modern English Poetry के पृष्ठ २३ से सेरे द्वारा अनुवृत्ति एक लयबद्ध।

वादिए, कि तु स्वच्छ द नहीं। स्वच्छ दता तो विशुद्ध का ही लक्षण है। श्री एफ० एल० ल्यूकन का यह विचार इस प्रसंग में अत्यंत सगत प्रतीत होता है—“साहित्य स्वतः की सम्पत्ति है, कि तु अनुत्तरदायी की नहीं।”^१ इतना ही नहीं, नये कवियों की एक और दुबलता लक्षित होती है, वह यह कि वे जनप्रिय बनने के लिए अभि यक्ति के अत्यंत अछड़त एवं सुद घरातलों पर उतर आते हैं। ‘पापुलस्टी’ पाने की आकांक्षा नये कवियों को सब कुछ करने के लिए विवश कर देती है। श्री ल्यूकन ने इस सम्भव में भी अपने मूल्यवान विचार प्रर वि्ये हैं, उनर अनुसार कवि को ‘पापुलस्टी’ प्राप्ति मात्र के लिए नहीं लिखना चाहिए।^२

नई कविता के एक बह में सचलाइट फेंकना अभी शेष है। वह है उसकी प्रायद के काम सिद्धांत की उपासना। नई कवितावादियों के अनुसार छायावादी कवियों का यह भी एक अपराध था कि वे दमित वासनाओं का अभि यक्ति में संकोच करते थे, वे जोरादश का लाक्षण अपनी दुबलताओं को प्रतीकों और दुरुह रूपकों के यात्र से व्यक्त करते थे। परिणाम होता था कि कविता का दुरुह हा जाग, लोकमानस की तुष्ट करने में उसका असमय हो जाना। इसीलिए नये कवियों ने भद्रता, आदश, शिष्टाचार, शील, सौंदर्य सबको एक साथ तिगाजति देकर उन दमित वासनाओं को अपनी कविता में मा यम में डटकर डमारा। उनको मनुष्य के अवचेतन का प्रथियों को लोलने में अधिक आनंद मिला। नई कविता के बहूत से कवियों को प्रायद के न तो प्लेचर प्रिणसिपल का ज्ञान है और न सेक्स इन्स्टिंक का। केवल के इतना जानते हैं कि मानव के प्रत्येक काय के पीछे काम वासना छिपी है, यदि काम वासना को काम प्रेरणा भी कह लें तो अपना जानकारी के साथ वे किसी सीमा तक यात्र कर सकते हैं। हीगेल, प्लैगे और अरिस्तॉटिल के तैतिरतावाद एवं आदर्शवाद को चुनौती देने में नई कविता के प्रहरी प्रायद से भी आगे र गए। ‘मन की मुक्ति’ नये कवि का आशेष बन गई।^३ नैसर्गिक सत्य के यात्र से आचरण की उच्छुद्धलता का पोषण किया गया। मन का निग्रह एवं अंत करण के समय की पुग पुग की पुनीत साधना पद्धति को लात मारकर मन की उद्दाम वासना तथा दृष्टियों के निरकुश स्त्रलनों को प्रथय दिया गया। इसलिए नई कविता एकाग हो गई। हमन नहों नई कविता की कुछ दुर्बलताओं की ओर संकेत किया है, यहीं गद भी स्पष्ट कर दें कि सब ‘नये’ से हमारा विराग नहीं तथा सब ‘पुराने’ से राग नहीं। छ हा हो कि पुराना कुछ नया बनकर आये और नया कुछ पुराना बनकर आये। हमें अतीतवादी होकर वर्तमान के सम्पूर्ण का त्याग प्रिय नहीं और न नवीनतावादी बनकर अतीत के सम्पूर्ण के ग्रहण को ही हम अपेक्षित मानते हैं। हमें कोई आपत्ति न होनी चाहिए, यदि किसी भीपक्ष नाद के लिए हम का विस्फोट,

१ Literature belongs to the free, but not to the irresponsible

२ देखिए उद्दी, पृ. ३२३।

३ श्री गिरिजाकुमार की खत’ वाली कविता से उद्धृत

हैं यहाँ आजाद सभी विचार

मन भी मुक्त

मन की रचना भी मुक्त

यही है सत्य नैसर्गिक

यही आसक्ति मन की

रेल के इंजन की वाष्प फूटकार उपमान के रूप में आये, किंतु हमें मेरों के गजन और रात के भैरवता को संयथा निरमृत नहीं कर देना चाहिये।

नये कवियों की ‘मूढ़’ की अवतारणा देखकर तो कभी कभी बड़ी गिरावट होती है। कहीं-कहीं क्या, प्रायः इन निराला का कुछ अर्थ भी नहीं बैठता है। मुझे तो भी अंग्रेज के दूसरे ‘तार सप्तक’ में एक बड़ा भ्रम हो गया। मैं भ्रम के दोनों स्वरूप को उद्धृत कर देना चाहता हूँ।

हामवत
मौनक्षम वसाव को
दलता यह अक्षु कठिन
जब उदास,
अंतर प्रकाश वा
तर चुलता
पाहन मजिन

विषय
दो पहरी
ये हरे वृष
सुनसान सादी
दुखी रात गये
केशर रंग रवे चागन
पूर्वमासी रात भर
जान पृथकर नहीं जानती
हर लगता है
जिन्दगी का बोझ
लोहर का निर्माता
साज्जा पानी

यहाँ आप देखें तो आकार और रूप में दोनों एक प्रयोगशाली अवकाश कविताएँ तो दीखते हैं। किंतु आप आश्चर्य करेंगे यह जानकर कि पहला पद्य भी रामेश्वर महादुरसिंह की ‘हास्य’ शीघ्र कविता है और दूसरा भीमती शकुंतला माधु की रचनाओं का सूचीपत्र है। यह प्रयोगशाली रचना पद्धति की विशेषता ही मानिए कि उसकी शैली और छवता में एक एकलपक्ष छाप पिया जाय तो वह कविता ही बन जायगा।

विषय महत्त्व तथा उसकी गति गति का नये कवि बड़ा धर्म भरते हैं। हम एक ही विषय पर दो रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं। दोनों के उपमा विधान पर विचार कीजिए और देखिए कि सौंदर्य किसमें है। वैराग्य मटाप पाणिनि एक नायिका के सौन्दर्यातिरेक का वर्णन करते हैं—

निरीध विरुन्धनै पयोदा सुख निशायाभितारिकाया ।

धारा निपाते सह किन्तु रात्र्यन्ध्रोपमित्यावतर ररास ॥^१

बागल अपनी बिजली की आँखों से रात्रि में अभितारिका ने सुख को देखकर इस भ्रम में पड़ गई कि उनका अत्यन्त तो यथा का धारा के साथ नीचे नहीं चला गया। ऐसा सोचकर य आर्तव होकर निशाय करने लगे।^२ अभितारिका के सोई की बैसी पुष्ट अभिव्यक्ति है। हम

१ महर्षि पाणिनि निरचित ‘जाम्बवती विजय भाटक’ नामक अष्टाध्यायी वृत्ति सः ।

२ हिन्दी अनुवाद—अध न खड़ित नयन से देव

निगा में अभितारिका सुख-द्र

गिरा शक्ति जब वर्षा की जान

सिसकवा सरल्य रंग में मद् ।

पूछेंगे, इस उक्ति में कौनसे शब्द गिने गए हैं ? इसमें प्रयोग की किस विशेषता का अभाव है ? श्रीमती शकुन्तला के 'मुहाग वेला' गीत के इस खण्ड में कौनसा नया प्रयोग है ?

बली आई वेला मुहागिन पायल पहन

बाणविद्ध हरिणी सी

बौहों में मिमट जान की

उलझने को, झिपट जान की

मोती की लड़ी समान

इन पक्तियों में मुहागवेला के आगमन का चित्र खींचा गया है, किंतु बाणविद्ध हरिणी का उपमान प्रस्तुत करने का भी भंग कर दिया गया है। शृंगार में बध्ना की योजना की गड़ है।

छायावाङ्मय मरघट पर नई कविता की मेंहदी रचाने वाले महाशयों का धारणा है कि नई कविता का अर्थ न उन्मूलन है, क्योंकि वह नई है, कविता न भी हो तो क्या ? किन्तु नई कविता के पादका पद विशेषियों दोनों को सम्प्राप्तापूनाक सोचना होगा तथा रुढ़ि और नवानता दोनों के बीच एक संचि विन्दु योजना होगा। रुढ़ि का पूरा बहिष्कार तो श्री अनेय भी नहीं स्वीकार करते, प्रस्तुत वे रुढ़ि ही साधना को अनिश्चय मानते हैं।^१ नये कान्यों की एक और विशेषता यह है कि वे नई कविता पर आये दिन प्रचार गीत लिखते हैं। नई कविता उनका रचना का आलम्बन बन गई है यह भा कविता के हित में नहीं है। काय प्रतिभा न होने पर भी कुछ तर्क, जब कहीं कविता नहीं छुपती या प्रकाशित होती तो वे उसी अक्षय्य रचना को, कहना चाहिये जो रचना ही नहीं है, निम्नी प्रयोगवाणी सफलता में प्रकाशित करा देते हैं क्योंकि अमी प्रयोगवाणी किले में मैन पावर का बन्ग महत्त्व है, जितने ही रसकट बग बायें धा-टा है। मैंने तो कुछ किशोर कवियों की प्रयोगवाणी रचनाएँ लिखने का कारण यही जाना है कि उनकी यही प्रतिष्ठा है, सम्मान है, कि क रूप में आदर होता है। अप्रयोगवाणी क्षेत्र में उनको फोड़ कि ही नहीं मानता। अपने एक निबंध में डॉ० जगदीश गुप्त, जो प्रयोगवाङ्मय का हिमायती हैं, का निरास है कि जिस प्रकार छायावाङ्मय का प्रारम्भ में उसका बड़ा विरोध हुआ किन्तु अततोपरान्त उसने अपनी बटें जमा ही लीं,^२ उसी प्रकार नई कविता के प्रारम्भ में उठने वाले विवाद एक दिन क्षीय हो जायेंगे और नई कविता 'यावक प्रतिष्ठा की अधिकारिणी हो सकेगी। यह तर्क तो नई कविता के जन्म के पूर्व ही उसकी मृत्यु की सूचना देता है। प्रयोगवाणी हा यह भी मानते हैं कि छायावाद को अपनी कुछ विवृतियों के कारण अविश्वसित ही मर जाना पड़ा, तो १९२

१ 'त्रिशङ्खु' पृष्ठ ३१ लेखक श्री अनेय—

'हमें किंचित् यह विस्मयकारी तथ्य स्वीकार करना होगा कि परम्परा स्वयं लेखक पर हावी नहीं होती, बल्कि लेखक चाहे वो परिश्रम से उसे प्राप्त कर सकता है। लेखक की साधना ही ही रुढ़ि बनती और मिलती है और हम सिद्ध करेंगे कि रुढ़ि की साधना साहित्यकार के लिए नाजनीय ही नहीं, साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य भी है।'

२ नयी कविता गया सन्तुलन' निबंध लेखक डॉ० जगदीश गुप्त—“कटु आरोपों और अनगण्य आलोचनाओं के विरुद्ध उस समय का विद्रोह नवजीव नहीं हुआ, आज भी नहीं होगा।'

‘नई कविता’—दो समीक्षार्थे

जगदीश का यह तर्क क्या नई कविता के सम्बन्ध में पूरा का पूरा स्वीकार कर लिया है। यदि नहीं तो छायावाद की अकाल मृत्यु नई कविता के सम्बन्ध में भी है। नई कविता चाहे अ न नाम में नई कविता बनी रहे, किन्तु अपने प्रभाव और शुरुओं में यदि केवल कविता ही बनी रही तो वह साहित्य की विस्तृत परम्परा को अपने पुष्ट योग द्वारा आगामी युग तक बचा देगी, अथवा नई कविता की वर्तमान गतिविधि तो परम्परा की उस धारा को विच्छिन्न कर देगी ऐसा प्रतीत होता है। यदि नई कविता के शिल्प की पाकशाला में स्वास्त्ववर्द्धक सुस्वादु व्यञ्जनों का अभाव है तो विदेशी मंत्रियों के उन्मिष्ट प्रवाद के बल पर उसका जीवन कितने दिन चलेगा।

२

श्री० प्रतापसिंह चौहान

हिंदी की नई कविता को लेकर विद्वानों तथा आलोचकों में विवाद हुए हैं। इस नये काव्य के समर्थन में प्रायः दो ही व्यक्ति हैं जो इसके छात्र हैं। आलोचकों के दोनों वर्गों—विज्जुनी पीढ़ी के आलोचकों तथा नये प्रगतिशील आलोचकों—ने इसका स्वागत नहीं किया, उल्टा मतलब ही की है। नई कविता के समर्थकों ने कुछ तर्कों द्वारा अपने मत की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। ये विवाद प्रायः रूपाकार (कर्म) तथा वस्तु को लेकर हुए हैं। हिंदी की काव्य परम्परा को देखते हुए निम्न-देह नई काव्य शैली विवादग्रस्त तथा विचारणीय है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अति प्राचीन काल से ‘पद्य’ तथा ‘गद्य’ की भाषा में अपेक्षाकृत अन्तर रहा है। भाव व्यञ्जना की दृष्टि से दोनों शैलियों में जहाँ गद्य ‘पद्य’ पद्धति को अपनाता है, वहीं पद्य समास पद्धति को। गद्य में जहाँ विवेचना तथा तर्क की अधिक क्षमता होती है वहीं पद्य में लय के साथ भाव प्रकट बिना अधिक स्पष्ट तथा हृदयप्राही होते हैं। अतएव काव्य में से जब लय को निकाल दिया जाता है तो भावामिष्यक्ति बुद्धिपरक हो जाती है और हम उसे गद्य ही कह सकते हैं। मैं यह नहीं कहता कि क्या काव्य अपनी अभिव्यञ्जना में अपने पुरुषार्थों को ही परिधान ही स्वीकार करे, किन्तु मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि चिन्तना तथा भावामिष्यञ्जना की भाषा में अन्तर हो। लयहीन काव्य भाषा में निश्चय ही काव्यत्व का पूर्ण पोषण नहीं हो सकता। इसका प्रमुख कारण यह है कि भावानुभूति की दृष्टि में हृदय के सामान्य स्पर्शनों में ताम्रता आ जाती है। अतएव मन की उस असाधारण मादुरतापूर्ण स्थिति में भाषा तथा भावों में अतिशय सम्योक्तता आ बैठती है। अस्तु, उन क्षणों में अद्भुत क्षमता होगी। उसे पद्य ही मन मावाचित हो उठेगा। भाषा में अत्यन्त प्रभविष्णुता होगी। वह भाषा हृदय की होगी, आत्मा की होगी। किन्तु भावानुभूति के क्षणों के अतिरिक्त समय में भाषा विचार प्रदान होगी। और इसीलिए मैं हृदय की भाषा तथा मस्तिष्क की भाषा के अन्तर को आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी समझता हूँ।

आज मैं कवि अपने काव्य में संगीत को नियोजन भी नहीं पसंद करता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य में संगीत उसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है, जहाँ तक काव्य की महिमा अङ्गुष्ठा पर है। यदि ओता का मन काव्य में वक्षित वस्तु की अपेक्षा संगीत की तानों और

अलाप में अधिक रमता है तो कवि निःसंदेह हा अपनी सीमा के बाहर चला जाता है। किंतु शब्दों के समुचित प्रयोग तथा स्रुत योजना में भी एक प्रकार का संगीत रहता है। उसकी पहचान यदि कवि को नहीं है, तो उसका काव्य उस अभिव्यक्ति को नहीं दे सकता जो उस भाव योजना के लिए आवश्यक है। इस प्रकार के शब्द संगीत की आवश्यकता तो प्रायः सभी प्रकार के काव्य में रहती है, किंतु 'सौरिक' या गीति-काव्य में तो संगीत पर ही विशेष प्रकाश होता है। यदि 'गीत' से गेय स्वर निकाल दिया जाय तो वह केवल मात्र तुक ही रह जायगा। आधुनिक काल में संगीत और काव्य कला के दो भिन्न विभाजन माने जाने लगे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन शास्त्रियों ने भी कला के वर्गीकरण में गीत और काव्य की पृथक् रचना स्वीकार की है। शानों, आलापों, तरंगों, धामों और गमकों में बँधा हुआ संगीत निरस-देह ही अपने आप में पृथक् है, किंतु उसे हम केवल संगीत ही कह सकते हैं। कबीर, तुलसी, सूर तथा मारा के पद जितना कवियों को मानाविष्ट करते हैं, उससे कम वे संगीत और गायक के मन को रसित नहीं करते। वे कवि से अधिक उन पर अपना अधिकार समझते हैं। अतएव यदि नया कवि (प्रयोगवादी कवि) अपने काव्य में संगीत की इसी प्रकार अवहेलना करता जायगा, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि संगीत के भावमय से समाज और राष्ट्र में जिस चेतना को जन्म दिया जा सकता है, वह सम्भव न हो सकेगी। अपने गेयत्व के अभाव में काव्य भी लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सकेगा और कदाचित् इस कारण अपने अन्तर्गत सामाजिक तत्त्वों को लिये हुए भी यह समाज का न हो सकेगा तथा इसी कारण उसे अधिक ठिंकाऊ होने का भी अधिक अवसर नहीं प्राप्त होगा।

रूपाकार (कर्म) को लेकर मुझे केवल एक बात और कहनी है। वह बात है शब्द प्रयोग की। आज का प्रयोगवादी कवि शब्दों के अवाधुनिक प्रयोग करता जा रहा है। शब्दों को तोड़ मरोड़कर उनको अपने काव्य में बिठाना जहाँ एक ओर मन को तृप्ति से भर देता है, वही शब्द सामान्य को भी क्रोधित कर देता है। एक कवि ने जिह्वा की शब्द के स्थान पर 'जिह्व' की प्रयोग द्वारा 'यक्ष्मा' में मिठास लाने के लिए शब्द की शक्ति पर जो आघात किया है, उसे जिह्वा तथा जिह्व' की अर्थ प्राप्ति की जानकारी रखने वाले सभी विद्वान् जानते हैं। पर इससे अधिक चिन्तन बात है, यादरू को लेकर भाषा के प्रयोग। १९५४ की कविताओं का एक प्रतिनिधि संकलन 'कविताएँ १९५४' के नाम से श्री अश्वि कुमार तथा देवीश्वर अवस्थी के संयुक्त सम्पादन में निराला है। इस संग्रह को मैं सन् १९५४ का प्रतिनिधि संग्रह इसलिए कहता हूँ, क्योंकि इसमें सन् १९५४ के प्रायः सभी प्राचीन नवीन कवियों की काव्य तथा काव्य की प्रत्येक धारा की स्थान प्राप्त हुआ है। सम्पादक द्वय का यह कार्य वास्तव में तृप्त है। इस संग्रह के एक कवि हैं श्री कुँवर नाथयण। उनकी कविता का शीर्षक है 'पर मरे'। इस कविता का कुछ पंक्तियाँ निम्न हैं—

पर मरे

तू कुली हर घर

नभ कवल प्रतीचा।

तू उमड़ घड़ वरु में अपने गगन को घेर।

इस कविता में जरा 'क्व' शब्द के प्रयोग को देखिये, आदि आदि। 'क्व' शब्द हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता आया है, किंतु यहाँ पर कवि ने

प्रयोग के चक्कर में शब्द के रूप में इसे रखा है। कवि के मन में अंग्रेजी का ‘नव’ शब्द रहा है और सम्मान यह बतलती इसी कारण हुई है। चाहे जो कुछ हो, ऐसे प्रयोग भाषा तथा व्याकरण का हाथ में अत्यन्त चिन्तनीय हैं। अतएव जिन्हें ‘व्याकरण का शत्रु’ है उन्हें शब्दों और व्याकरण के साथ यह उल्लंघन सह्य न होगा, क्योंकि शब्द का अपना सामर्थ्य होता है, अपनी अर्थ-शक्ति होता है। अतएव जब तक प्रयोगवाजियों का अपना एक सर्वसम्मत व्याकरण नहीं बन जाता तब तक उन्हें कविवादियों के व्याकरण का ही आश्रय लेना चाहिए और व्याकरण तथा शब्दों के साथ सम्माना अन्वयाचार न करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक शब्द के साथ एक इतिहास जुड़ा है, उसकी सामर्थ्य की शक्ति है। ‘नव’ के ‘न’ तक पहुँचने तक ही प्रक्रिया में समय लगा है। एक क्षण में ही बिना सोचे समझे यह सब सम्भव नहीं हुआ है। फिर भी दोनों के अर्थों में महान् अंतर है। एक सरल विलक्षण की क्रिया का शीतक रुठ रहा है तो दूसरा प्रणति के भाव की शक्ति करता है। शब्दों के प्रयोग के नियम में दूसरी बात है अर्थ-भाषाओं के शब्दों के ग्रहण के नियमों में। अर्थ-भाषाओं के शब्दों को अपने काल के अंतर्गत अपने-पने में प्रयोगवादी कवि ने आश्चर्यचकितता से अधिक उदात्तता दिखाई है। छायावादी कवियों के पास है—विशेषकर पन्त और बिराला के पास—वर्तमान उच्च शब्दों का प्रयोग इन तन दृष्टिगोचर होता है, किन्तु उन्होंने अपनी काल-भाषा के लिए प्रयुक्त रूप से संस्कृत से ही प्रेरणा ली है। बिरालाजी के काल में भारतीय भाषा-बंगला का प्रभाव प्रयुक्त माना में अत्यन्त मिल सकता है। किन्तु बंगला अपने शब्दों के निमाण में संस्कृत से ही आश्रय लेती आई है, इसलिए वे शब्द बंगला से गृहीत होने पर भी संस्कृत के ही हैं। किन्तु प्रयोगवादी कवि न उर्दू और अंग्रेजी शब्दों के मोह में संस्कृत से प्रेरणा लेना लगभग न दृष्टिगोचर है। ‘नई कविता’ प्रयोग का दूसरा अर्थ मेरे हाथ में है। इनमें प्रकाशित अधिकांश कविताओं की भाषा या तो उर्दू है या फिर अंग्रेजी। संस्कृत तत्काल कदापि एक नई कविताओं का स्रोतक और नहीं दिखाई देती। कुछ कविताओं के शायक भी अंग्रेजी में दिए गए हैं। उदाहरणार्थ श्री सर्वेश्वरदास लक्ष्मीनारायण की कविताओं के ‘पोन्टर और आदमी’ तथा ‘पीस और पैगोडा’ शीर्षक रखे जा सकते हैं। उर्दू भाषा के शब्दों की छाना तो प्रायः प्रत्येक कविता में प्रतिपादित माना में मिल सकती है। कुछ कवियों ‘पीस और पैगोडा’ शीर्षक कविता से उद्धृत कर रहा हूँ, पहिए और भय के प्रश्न पर विचार कीजिए—

“एक लारा खड़ी करके दूसरी लारा उसके सर पर लिटा दी गई है,
साकि उसकी छाँह तन
ठपड़क से घुँसे हुए
दो बेहोश जहरीले साँपों के कन
एक ही कमल की पत्तरी पर
सुनाप ना सके।
क्या कमाल है मेरे दोस्त।”

उपरोक्त उद्धरण की भाषा प्रायः सभी उर्दू है, किन्तु यदि और अधिक उदात्तता की जाय तो इंग्लिश शब्दों में लिखकर उर्दू के ही हैं। इसी अर्थ की एक दूसरी कविता का भी नमूना देखिए। इसका रचयिता है श्री राजेन्द्र माधुर। उनकी हिन्दी कविता का उर्दू शीर्षक है, ‘सुद

परस्ता'। यह तो लिफाफा है, अब 'मामून' की भी कुछ पक्तियों देखिए—

‘ किया गया तलब

कहा गया चलो कलब

सवाल जवाब से तुम्हें मतलब ?

जुम्हिलाने से लब

मये कुछ दब

टपकने लगे नैनो क टब

जमाना न हुआ सस्ता

हालत अलबत्ता हो गई सस्ता ।

अब नहीं हूँ दली रस्ता ।

तुम परस्ता ।’

इस कविता के भी प्रायः सभी शब्द उर्दू के हैं। पर कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिन्हें संस्कृत या संस्कृत के माध्यम से हिंदी जानने वाले पक्तियों के लिए तो उर्दू या फारसी कोष का आश्रय लेना पड़ेगा। 'कलब' और 'टब' अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग का कब भी दर्शनाम है। 'नयनों' का उर्दू संस्करण 'नैनो' देखने योग्य है। अब प्रश्न यह है कि क्या अपने काव्य की उर्दू या अंग्रेजी के शब्दों द्वारा इस प्रकार भर लेना हमारी भाषा के लिए श्रेयस्कर होगा? इस प्रकार के लिचड़ी प्रयोगों द्वारा हिंदी भाषा का रूप कभी भी स्थिर न हो सकेगा। हिंदी भाषा ने सदैव से ही संस्कृत से अपने निमाण में सहायता ली है। इस देश की संस्कृति और सम्पत्ता के निमाण में संस्कृत भाषा का जो अनुदान रहा है उससे सभी परिचित हैं, इसलिए यह स्वामा विक ही या कि हिंदी भाषा भी देश और राष्ट्र के लिए संस्कृति और सम्पत्ता की रक्षा, संस्कृत भाषा से प्रेरणा लेकर करे। यदि शब्दों के निमाण के विस्तार में जाया जाय तो इस बात का पता चलेगा कि प्रत्येक शब्द अपनी शक्ति के बल में अपने देश की कितनी आध्यात्मिक शक्ति, धार्मिक भावना तथा सांस्कृतिक चेतना धरे हुए है। 'सिक्का' और 'दण्डवत्' अथवा 'नमस्ते' और 'आनामज' या 'सलावालेकुम' समानार्थी प्रतीत होते हुए भी न तो समानार्थी ही हैं और न इनके उच्चारण से मन पर एक ही प्रतिक्रिया ही होती है। एक के उच्चारण से बहोत मन में गम्भीरता और पूजा के भाव जागते हैं, तो दूसरे के उच्चारण द्वारा मन में एक विशेष प्रकार की तुहल की प्रतिक्रिया होती है जो इसकी तलहटी में छिपे हुए अन्ध भाव को उभरने की नहीं देती। इस प्रकार की प्रतिक्रिया इसलिए सम्भव हुई है क्योंकि इन दोनों मन्त्रों के शब्दों के निमाण में अपने अपने देश की भौतिक स्थिति, परम्परा, संस्कृति, सम्पत्ता, आध्यात्म और धार्मिक भावनाओं का गृह्य रूप में प्रभाव पड़ा है। अतः आज के कवि को यह निश्चय करना होगा कि क्या वह अपनी संस्कृति, आध्यात्म तथा सम्पत्ता के आधार पर अपने समाज और राष्ट्र का निमाण करना चाहता है या फिर अथ देशों को आदर्श मानकर राष्ट्र का निमाण करना चाहता है या फिर अथ देशों को आदर्श मानकर उनकी सांस्कृतिक आस्था का अनुकरण करना चाहता है? यदि हाँ तो उसे अपने देश की भाषा का ही आश्रय लेना पड़ेगा, यदि नहीं तो क्या उसने मनी मौंति सोच लिया है कि वह देश को पथभ्रष्ट नहीं कर रहा है?

नयी कविता के रूपाकार (फार्म) के विषय में उपर्युक्त विचारणा के पश्चात् अथ में उसकी वस्तु का परीक्षण करूँगा। वस्तु परीक्षण में मैं नये काव्य की सामाजिकता, दृशन तथा उस रस का क्रम से विवेचन करने का प्रयत्न करूँगा। मेरी यह दृढ धारणा है कि किसी अच्छे काव्य का अग्र्य तर इसी तीन तत्वों से निर्मित होना चाहिये। इन्हीं तत्वों के आधार पर वह चिरस्थायी होता है तथा उसके लोक भगल की सर्वाधिक समता होती है।

किस काव्य में सामाजिक तत्त्व नहीं हैं, वह अथ काव्य तत्वों से मुक्त होते हुए भी निरर्थक है। वह उस मान के समान है जो गायक के मन प्राणों में पुष्कल भरने के लिए चाहे गलम हो, कि तु सर्वसाधारण को उल्लास या मान के एक मी कण का दान करने में सवगा असमर्थ है। यह तभी सम्भव है जब वह समाज को अधिक से अधिक प्रभावित करती हो, तबमें अधिक से अधिक उन्नत चेतना के मान भरती हो। जब तक कलाकार या कवि अपने ‘अह’ की व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र या समाज तक नहीं कर लेता तब तक उसकी कला व्यर्थ है, काव्य स्वायत्तपूर्ण और अपने अह की हो छुट्टि करने वाला है।

ज्ञान का प्रयोगवादी कवि अपनी भाषा, अलंकार तथा छन्दों के प्रयोगों में इतना व्यास है कि उसे अपने बाहर की दुनिया की कुछ भी परवाह नहीं है, वह प्राण शरीर की ही आत्मा मान बैठता है। अतएव उसकी इस प्रकार की घोर वैयक्तिक तथा समाज निरपेक्ष रच नाश्री का मलिन्य कितना उज्ज्वल है। अधिक सोचने सम्भन्धे की बात नहीं है। एक व्यक्ति परक रचना की कुछ पक्षियों देखिये। रचयिता हैं श्री अनंतकुमार ‘पापाय’। कविता का शीर्षक है ‘बन्धन का कलक’।

“मेरे मन की छँपिमारी कोठरी में

अमृत आकाश की बेरवा गुरी तरह जल रही है

मैं रात की धुकरस मन मन से पहराता हूँ

हरा भीत नाकर दर्द—

पास पर आये

छो दिन भर का थका निया मचल मचल जाये।”

उपर्युक्त पक्षियों में कवि की सुसूक्ष्म वैयक्तिक अभिव्यक्ति न तो कवि को ही कोई लाभ पहुँचा सकती है और समाज निरपेक्ष होने के कारण समाज के लिए उसकी उपयोगिता की बात सोचना ही व्यर्थ है।

तर्क किया जा सकता है कि छायावाद का सम्पूर्ण मीति काव्य अधिकांश रूप में घोर यक्तिवादी होते हुए भी अधिक लोकप्रिय रहा है। उत्तर में कहा जा सकता है कि निस्संदेह छायावादी कवियों ने अपने मीतों में मानस के अतर्द्वों के चित्र दिये हैं, किन्तु उनके काव्य में एक बड़ा प्रबल सामाजिक तत्त्व समीत का रहा है और इसी समीत के आवेक्षण ॥ कवि के अपने ही मानस सवेदन समाज सवेदन हो गए हैं। उस बाल का कवि अपनी बात कहता कहता अपना नहीं रह गया है, बल्कि सम्पूर्ण विश्व का हो गया है।

आज के विद्युत् न जाने कब मिलेंगे।

या फिर

सौंफ होये हो न जाने जा गई कैसी उदासी !

क्या किसी की याद आई ऐ विरह व्याकुल प्रवासी ॥

क्या किसी की याद आई ए विरह व्याकुल प्रवासी ॥

ऐसी परिस्थिति में कवि की अपनी प्रिया से 'विह्वलन' सम्पूर्ण प्रेमियों की अपनी प्रिया से 'विह्वलन' बन गई है तथा उसकी उदासी सपूर्ण प्रवासियों की उदासी हो गई है। किंतु छायावादी कवियों ने प्रायः अपने काव्य में उर्दी माना की अभिव्यक्ति की है जो सवकालीन हैं, नित्य एतल हैं और इसी कारण वे सामाजिक हैं तथा प्रयोगवादी काव्य की वैयक्तिकता से वृथक् हैं।

काव्य का दूसरा प्रमाणशाली तत्त्व है उसका दार्शनिक पीठिका। 'दर्शन' से मेरा तात्पर्य उस लोक मंगलकारी चिंतना से है जिसकी आधारशिला पर समस्त समाज की नींव रखी जाती है। आज़िकाल से ही कवि ने सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक सुव्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा का आश्रय लिया है। जितने भी महाकाव्यों की रचना हुई है, उनमें युगातुल्य दार्शनिक चिंतनाओं को यथोचित स्थान मिला है। उदाहरणार्थ गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' रखा जा सकता है। गोस्वामीजी यद्यपि सिद्धांत रूप से विशिष्टाद्वैत के अनुयायी थे, किंतु उनके मानस में द्वैत, अद्वैत आदि सभी दार्शनिक सिद्धांतों का भी यथोचित निरूपण हुआ है। कवि की दृष्टि सामाजिक हित के लिए राजनीति, धर्म और दर्शन सभी की ओर रही है। तत्कालीन कवियों ने भी अपने काव्य में किसी न किसी दार्शनिक सिद्धांत की नियोजना की है। उनके इस प्रकार के फलस्वरूप निश्चय ही समाज के सवाङ्गाण हित की उदात्त विचारणा रही है। छायावादी युग के प्रमुख महाकाव्य 'कामायनी' में भी शैवाद्वैत दर्शन उपनिषदों के अद्वैत दर्शन के साथ साथ 'प्रसाद' द्वारा निरूपित 'ज्ञान द्वाद' सिद्धान्त का तो निरूपण मिलता ही है, साथ ही आज के बुद्धिवादी दर्शन के आधार पर चलने वाली समाज की कुर्दशा का भी पूर्ण रूप उदात्त सगम माना होता है। छायावादी इतर कवि भी जीवन के प्रति आस्थावान हैं और इसी कारण उनके काव्य में समाज के सचप में द्वाय उनके 'यक्तियों के लिए साहस की महती प्रेरणा मिलती है, पपस्त जीवन के लिए ज्ञान और उल्लास की सुदृढ़ व्यवस्था मिलती है, ऐसा इसलिए सम्भव हुआ है क्योंकि कवि समाज की इकाई के रूप में अपने उत्तरदायित्व को सँभालता आया है। उसे अपने और अपने काव्य के ऊपर पूर्ण आस्था है तथा उसे काव्य की क्षमता की भी पूर्ण पहचान है।

किंतु आज के प्रयोगवादी कवि के समस्त कोई भी दार्शनिक चिंतना नहीं है। वह कोई भी ऐसी बात नहीं कहता जिसमें सामाजिक जीवन के लिए ज्ञान, उल्लास तथा उत्साह का उत्तर मिल सके। वैयक्तिक होने के कारण प्रथम तो उसका काव्य अपने ही दर्शन, न दर्शन तथा कुपडाआ तक सीमित है, किन्तु जो इतर काव्य भा है उसमें भी जीवन को जोखला निजित करने के प्रयत्न के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। यह सही है कि जीवन में कुरूपता है, दुःख है, भय है, अम और आशंका भी है, किंतु यही तो समस्त जीवन की परिभाषा नहीं है और इन भावों के काव्य चित्रा द्वारा तो समाज में भयंकर निराशा तथा अनास्था भर जायगी, जिससे सामाजिक जीवन दुर्बल हो जायगा। अतः आज के प्रयोगवादी कवि को आस्थावान होना चाहिये, ताकि वह अपने काव्य द्वारा अपने 'स्व' और उसके ऊपर समाज तथा राष्ट्र का हित कर सके और इस आस्था के लिए उसे किसी न किसी सुव्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा का आश्रय लेना पड़ेगा।

अन्तिम तथा सबसे प्रमुख बात है प्रयोगवादी का य में रस समझा की । का यशास्त्र के अनुसार कोइ भी रचना रखरहित होने पर का य के अत्यंत स्वीकार नहीं का जा सकती । काव्य शास्त्रों में कविता का उद्भव हृदय तथा उसके ऊपर आत्मा द्वारा स्वीकार किया गया है । ‘*Vivere est Creare*’ नामक पुस्तक के नवें पृष्ठ पर एक आर० लिचिस वास्तविक (Genuine) कविता और पद्यबद्ध रचना व विषय में लिखता है—

‘The difference between genuine poetry and the poetry of Dryden, Pope and all their schools, is briefly this their poetry is conceived and composed in their wits genuine poetry is conceived and composed in the soul’

ड्रायडन, पोप तथा उसके उर्ग के का य कवियों की कविताएँ तथा वास्तविक काय में सत्य है यह अतः है कि दूसरी कविता मस्तिष्क (wit) में हा छोची तथा रचा जाती है, जबकि वास्तविक काय आत्मप्रसूत । लाचिस ने उल्लेख में का य की सुंदर परिभाषा कर दी है । यह परिभाषा हमारे काव्य शास्त्रियों की कविता सम्बन्धी बिचारधाराओं से पूर्णतया मिलती जुलती है । प्रायः सभी देशों के काव्य शास्त्रियों ने का य में किसी न किसी प्रकार रस की सत्ता स्वीकार की है । अपने का य में हृदय अनुभूति को ही का यामा य रूप में स्वीकार किया है ।

किन्तु आज के प्रयोगवादी का य को, जोकि सत प्रतिशत मस्तिष्क की हा उपज है, किस रस के अंतर्गत स्वीकार किया जाय ? का य शास्त्रियों द्वारा वर्णित गरमा की परंपरा के अंतर्गत यह का य तो समा नहीं जाता, क्योंकि अपने रसों की निष्पत्ति हृदय की अनुभूति तथा रसदलों के आधार पर स्वीकार की गई है । बुद्धिपरक चिन्तना को य होने काय नहीं माना । प्रयोगवादी कवि भी काव्य के अनुसार अपने काय को रस के ऊपर ही आधारित मानता है । किन्तु इसको यह भली भाँति ज्ञात है कि उसका काव्य नगरसन्तुल्य नहीं जाता, इसलिए इसर कुछ दिनों से उसने एक नये रस की खोज कर डाली है । उसने इसे ‘बुद्धिरस’ की सजा दी है । उसका यह कहना है कि का य में नगरों की सृष्टि इसलिए हुई क्योंकि एक ही रस सम्पूर्ण मान-व्यवस्थाओं से प्रकाशन में अवसर था और इन नगरों के पश्चात् वास्तव्य भाव को प्रकट करने के लिए वास्तव्य रस की कल्पना की गई । आज फिर आवश्यकता है कि इस नूतन प्रयोगवादी काव्य के लिए, जो हृदयपरक न होकर मस्तिष्कपरक है, ‘बुद्धिरस’ की सजना की जाय । किन्तु बुद्धि को रस मानने में सबसे बड़ा रोका हमारा प्राचीन से लेकर आज तक का मनोविज्ञान है । बुद्धितत्त्व को सदा से ही विवेचना के क्षेत्र के अंतर्गत माना गया है, अर्थात् जिस बात को पृथक् या सुनकर मन आविष्ट होने के बादवृद्ध सोचने के लिए विवश हो, बुद्धितत्त्व का विषय है, तथा जिसके पढ़ने या सुनने से हृदय विमोह होकर उसी में रस काय, मस्तिष्क में ‘ताना’ में उपज न हो वह हृदय तत्त्व से सम्बन्धित है और आज तक हृदय की इसी विमोहता तथा रमणीयता को लेकर रस की सजा स्वीकार की गई है । अतः समझ में नहीं आता कि ‘बुद्धिरस’ का स्वप्न देखने वाले कवि किस प्रकार रसों की पंक्ति में इस नूतन रस की प्राप्ति कर लेंगे, क्योंकि वैज्ञानिक प्रयोगों, रसायन विज्ञान तथा गणित को लेकर मन के रमने में और एक ‘का य कृति’ के अध्ययन द्वारा मन के रमने तथा आनंद के आत्मा में मौलिक अंतर है । एक चिन्तापरक है और उसका पश्चात् प्रभावचिन्तन के लिए ही विवश करता है दूसरा हृदयपरक है और वह मन को चिरकाल के लिए आविष्ट किये रहता है, आनन्द के कण बिखेरता रहता है । एक आनंद

की खोज में है, दूसरा आल द का खोज है ।

अतः मैं केवल इतना ही कहूँगा कि आज के प्रयोगशील कवि को अपने काव्य को लोकप्रिय तथा सामाजिक बनाने के लिए भाषा को सँवारना होगा, छन्द का आश्रय लेना होगा, हृदय की अनुभूति को प्राथमिकता देनी होगी, और अपने काव्य को स्थायित्व देने के लिए एक निरवस्थित आस्थापूज्य दार्शनिक पीठिका को भी स्थान देना होगा ।



मूल्यांकन

रामविलास शर्मा

बूँद और समुद्र • आस्था की समस्या

'बूँद और समुद्र' अमृतलाल नागर का नया और महान् उप यास है—महान्, आकार की दृष्टि से और विषयवस्तु की दृष्टि से भी। अमृतलाल नागर ने लगभग बीस वर्ष पहले तत्कालीन लखनवी के नाम से लखनऊ के पिछड़े नवाबों, उनके साथ संबंधों द्वारा मुसाहबों के बीच खोंखर प्रसिद्ध प्राप्त की थी। स्वर्गाय बलनद्व दीक्षित 'पदीष' के कविता संग्रह 'चक्रलस' के नाम पर उ होने हास्यरस का अमृतपूर्व साप्ताहिक 'चक्रलस' निकाला था। उद्यम 'नवाबी मसनद' नाम के स्तम्भ में साप्ताहिक रूप से नवाब साहब और उनके आसपास के लोगों के सजीव रेखाचित्र निकलते रहते थे। इन रेखाचित्रों में नागर ने लखनऊ के चौक मुहल्ले अर्थात् पुराने लखनऊ के साधारण जनो की बोली बानी का ऐसा यथार्थ और रोचक उपयोग किया था जैसा 'फणन ए आकाश' व अतिरिक्त हिंदी उर्दू में अथ दुर्लभ था। आगे चलकर उन्होंने आगरा के यापारियों की बोली की आधार बनाकर सेठ बंनेमल का चित्रण किया और एक नष्ट होती हुई पीढ़ी और उनकी संस्कृति का अपने साहित्य से धारण कर दिया। उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें 'मरघट के कुते' और 'गोरागंधा' विशेष उल्लेखनीय हैं। जीवन के सबसे निचले स्तर तक पहुँचने और अभ्युत्थित बीमत्सवा का उद्घाटन करने में वह अद्वितीय हैं। साथ ही वह हास्यरस के जाने माने खेपक हैं। हास्य के लिए वे आसपास के सामाजिक जीवन से आलम्बन ही नहीं चुनते, बौराधिक मायाओं और भ्रष्टाचारियों के किरसे कहानियों का भी सहारा लेते हैं। आत्मी हिम्मत के हैं, निष्ठा से सामाजिक समस्याओं पर लिखते हैं। 'आदमी, नहीं! नहीं!!', 'पंचिका दस्ता' और 'भोलवलकर, दोलवलकर, पोलवलकर' उनकी ऐसी ही सोदृश्य रचनाएँ हैं। इस सभने साथ ही उन्हें पुण्यतत्त्व और प्राचीन सांस्कृतिक रहस्य से भी बहुत दिलचस्पी है। लखनऊ के लक्ष्मण लैले की खुदाई बचाने के लिए उन्होंने जमीन आसमान एक कर दिया है। कला—विशेषकर चित्रकला—से उन्हें प्रेम है और उनके अग्रज मदनलाल नागर हमारे प्रदेश के सुविख्यात चित्रकार हैं। 'बिराला', 'प्रसाद', 'पन्त', शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय, 'पदीष' आदि रयातनामा साहित्यकारों के साथ रहकर उ होने सात्विक और नाना प्रकार के संस्कार अर्जित किये हैं। कुछ वर्ष तक रेडियो में काम किया है। रेडियो

के लिए नाटक लिखे हैं। 'महाकाल' नाम से बंगाल के अकाल पर उप यास लिखा है। जन गान्य सघ के साथ लखनऊ में नाट्य का निर्देशन कर चुके हैं। बहुत स लेखों के साथ चैनोर, मोपासा, फन्नेयर आदि की रचनाओं के अनुवाद भी किये हैं। इन सबने अति रिक्त उदा के शब्दों में ३८ फिटमा की मेहनत रेत पर खींची गई खकोरों की तरह मिट गई।" विचारधारा में वह गांधीवादी हैं अथवा यों कहें कि वह गांधीजी के भक्त हैं, लेकिन आदमा वह पास चौक लखनऊ के हैं। नागर की कला और यकित्व के ये सभी उपकरण 'बूँद और समुद्र' में एक साथ लहसला उठे हैं।

लेखक ने कथा क्षेत्र के लिए लखनऊ चुना है और उसमें भी विशेष रूप से चौक के गली बूँचों को। कुछ समय के लिए वह मयुरा वृंदावन की सैर भी करता है। चौक के बाहर के स्थान गौण हैं, मुख्यतः चित्रण चौक का है। यह मुहल्ला एक बूँद की तरह है जिसमें समुद्र की तरह विशाल भारतीय जीवन का दर्शन हात है। शहर के विभिन्न स्तरों का वादन देता है, इसका पता तो उप यास से लगता है, गाँवों में भी जनता के रुझान बेटे हैं, इसका परिचय बहुत कुछ इस कथा से मिल जाता है। उप यास के नाम की यही साधकता है, एक मुहल्ले के चित्र में लेखक ने भारतीय समाज का बहुत से रूपों के दर्शन करा दिए हैं। जैसे तो भारतीय समाज हिंदमहासागर है और उसका चित्रण करने के लिए यह समुद्र भी छोटा है।

'बूँद और समुद्र' पुरानी समाज व्यवस्था के बनते शिगड़ते और बदलते हुए भारतीय परिवार का महाकाव्य है। इस परिवार की धुरा है माँ। कितनी तरह की देवियों हैं इस उप यास में ! ताई, जिसे पति ने छोड़ दिया है, बाबू दोनों में विश्वास करने वाली, मुहल्ले भर के लड़कों और बड़े बूँचों के भी कौतुक का वर, कृष्ण की अनपेक्षित मक्, हिंसा और मानव प्रेम (अथवा जीवमात्र से प्रेम) का अद्भुत समिन्धन, न दो, जो घर में ही जुड़ना का काम करता है अतुल्य प्रेम से पीड़ित 'बच्चा', नये फैशन और नई शिक्षा में दीक्षित पत्नियाँ, दमन की शिकार हिस्टीरिया से पीड़ित युवतियाँ, पुष्पे चाल की निष्ठावान किन्तु क्रांतिवादी कल्याणी, मुहल्ले की गंदगी में सबरे का हवा के झारे जैसी स्वावलम्बनी बनक या। वहीं लाले की घरवाली घटम बम की तरह बीच चौक में फूटकर भग्न होती है घर की हिरोशिमा बना देती है, वहीं न दो 'एण्डेन में आकर गांधीजी' टकारती है। सितमा जाती हुए दोषियों, किस का कोट किस फैशन का है, इस पर टीका टिप्पणी करती हैं और 'बेधुमार हतभागिने किस सन् के चलन का कोट नहीं पहन थी।' बनक या की माँ और ताई में सीत का रिश्ता चलता है। उसकी माँ 'पड़' है, 'प्रकृति का एक मज्जाक'। एसी औरत जाहिर में औरत लगकर भी असल में चेमानी हाथी है।" वहीं गमगती विधवा शरीर में आग लगाकर जल मरती है। एक जगह सुनी की लाश को कुत्ते घसीटते हुए दिखाई देते हैं। मंदिर के अंदर अच्छे खाते मद दवियों का अभिनय करते हैं। इन सबकी बोनी बानी अलग, सबकी परिणत शैली अलग। इनके साथ पुरुषों का वग अपनी विशिष्ट मर्दानगी ॥ सृष्टि के साथ चित्रित किया गया है। पीपल के नीचे का चबूतरा, हुक्के, नीम की दातुनें, अखबार, गजक और मूँफली बेचने वाले, मक्खन की तारीफ, कोन पर पॉव पॉव रुपये रस दो और भाग ॥ दने, कुल्फी की तारीफ, गोल दवाले में खरीगो और रानो बटरे ॥ जाकर छात्रों और तारीफ ये कि जरा भी न गले, तीतरों को जुगाता हुआ घरसोतम, सेन्टेटेरियट ने बाबू गुलाबचंद, लखनऊ की खास

गाली को उपनाम की तरह अपने वाक्यों में बटने वाले लाला मुकुंदीपल, मुहल्ले से लेकर मिशन तक की समस्याओं पर बाद बिना, कथा वाक्ये हुए पाण्डित्यी, राधा, डॉक्टर, लेखक, चित्रकार, साधू, मुण्डे—उपनाम में ऐसी समृद्धि है जैसी प्रेमचंद के बाद हिंदी के उस उपनामों में न मिलेगी।

ऐसाचित्रों की समृद्धता अपने आप एक बहुत बड़ा आकर्षण है। पुराने युगानी विचारक कहते थे कि मला का घम जीवन का अनुकरण अथवा उसकी प्रति-छवि आना है। चित्रकला में पशु, मानव, वनस्पति या निर्धारित वस्तुओं की समीप छवि देकर हम मुग्ध हो जाते हैं। समीप अनुकरण सरल होता ही है, फिर वस्तुओं के नयन में लेखक अपने उद्देश्य और रस का परिचय भी देता है। पात्रों की वस्त्रा, उनकी शिक्षता, अनुकरण अथवा प्रति-छवि की समीपता से विचार से अमृतलाल नागर हमें ऐसी चीजें मागते और बोलादलमय तथार में ला जाते हैं जिसकी समृद्धि की तुलना बाल्याक की रचनाओं से ही हो सकती है। लेखक के पास ऐसी ही ऐसी भोली है। जहाँ पात्रों की सेवका मृतिपा मरी हुई है और वह सतलन का भी विचार न करके डूब साक एक के बाद एक निरासता पला जाता है, फिर भी भोली खाली नहीं होती। पात्र अज्ञेय नहीं आते, वे अपने साथ अपना रूप वातावरण लाते हैं—पुरानी हड्डी, पीपल के नीचे का चबूतरा, नदी का किनारा, इत्यादि। अनेक स्थानों के यथन में कृति सुनम सरलता है। “कदी पट्टी पनगा, मरकी क जाका, घोंमछों, चिडियों, गिज़हरियों और पीपली के दानों से सजा, अमगनिस इसाला के बचक सब समूह सा हरहराता हुआ घना पीपल कड़ लड़ियों से मुहल्ले का साथी है। छात्र के बड़े बूँदों के बचपन तक यह पेड़ गले भूरिये के भाव का पीपल कहलाता था। मगर वह दीवार, जो किसी समय किसी गले भूरिये का वैभव थी, अब बाबू देदालाल इन्फोर्स कोलेज की मिश्रिकत है। इमुनिसि पैजिटी के रजिस्टर के अनुसार उस मकान का नम्बर इस समय ४२० है जो सही तौर पर बाबू देदालाल की रचाति में बार बार जगाना है।” कतारण के छोड़ बड़े तथ्य, जो मनुष्य का दुःख या मनोरम स्थिति की ओर खिंचते हैं, लेखक की निगाह से बच नहीं पाते। वह साक्षर में पाठ के सभी दूनों का बचि है।

यह इन गली दूनों में बरती रहा और घूमा है। उमने जारा ओर के जीवन को देखा ही नहीं, उसका रंग निरगा बोलादल सुखा भी है। यहाँ एक ठोली और एक व्याकरण का प्रयोग करने वाले यात्र नहीं हैं, माय जितने पात्र हैं, उनका तरह की शैलियों और उनके अपने अपने पाकरण हैं। लखनक म विभिन्न जनकों से सिमटकर जनता एकन होती रही है। अपने अपनी जानी जानी एक नद तक सुरक्षित रखी है, एक इद तक दूसरा की भाषा से, यहाँ तक कि अज्ञेयों से भी, प्रभावित भी हुई है। अमृतलाल नागर दाप किया हुआ एक मुहल्ले का यह ‘लिमिस्टिक सर्वे’ माया विज्ञान का सामग्री का अद्भुत पिढारा है। अभी तक किसी भी देशा सिद्धी भाषा में एक नगर की इतनी बोली टोलियों का निदर्शन करने वाला उपवास मेरे देखने में नया आया। इन शैलियों में मापात्रा और समाज का इतिहास बोलता है। इसके अतिरिक्त कथा की दृष्टि से प्रक्ति का चरित्र कम से कम पत्रास फीसदी उसकी शैली से प्रकट होता है। जहाँ तक दारपण का सम्बन्ध है—केवल शुद्ध हास्य नहीं, विनोद, मनोरंजन, वक्रोक्ति, व्यंग्य, सभी कुछ—उसकी निष्पत्ति ही फीसदी इस बोली ठोली और शैली पर निर्भर है।

पुरानी चान की मानाजी की आँखें आँखें मिथिल रानी बोली—“जो जिसकी जिसकी समझ में आठ है वही करत है। कल की हमारे शहर एमे पास करके अपसर होयेंगे, वनकी बहुरिया पुरानी चाल से चले तो फिरिकरी न होय ?” हाथरत की ताई की ब्रज का पुत्र लिये हुए लखी बोली—“निगोड़ी सबकी सब मेरी छाती पे ही भूँग दखने आमें हेंगे। सात जलम की तुस्मन मरी, गली गली घूमकर मेरे घर बच्चे पटकने आइ रही। मेरे तन-तन में कीड़े पड़ेंगे, सरदी की रात में दीड़ा मारा।” लखनक के पुलेसमैन की अमेजी अक्की मिथित हिट्स्टानी—“कोतवाली को बैरखस कर दिया हुजूर। मिरजाजी अटपट कर रहे थे हुजूर, तीन ब-होने मिलेज दिया कि अस्पताल की गाड़ी भिजवाते हैं हुजूर।” जगह जगह घूमे हुए अवध के साउ की हिंदी—“एव आधम में हम मोटर मिर्कनिक रह। अ-त में मालिक की कारोरी मे छूटकर बिधाचक में रम गए। त्रिहुनी में एवान साधा, निरंज, निराहार रहे—जाने क्या क्या अष्ट सष्ट किया। वहाँ एक महात्मा के दशन हुए। तीन ब-होने कहा कि छूटी बजाना छोड़कर यहाँ का ठोंग करता है—आ साधा कर। फिर हम क्या करते रामजी? जिनको गुए माना उसकी आशा भी तो माननी पड़ेगी। हा कहने का सारास यह है कि अपनी छूटी का पायबंद हुए बिना कोई अपना स्वामी बन ही नहीं सकता।” क्या बौने वाले पण्डितजी की भाषा—“धुतजी बोलस कि हे निजमान सुनी, एक समय जो है सो गारदजी बैकुण्ठ लोक क बीच में लक्ष्मीपति बिन्दू लक्ष्मण क पास जाय के कहत भएस कि ।” इस तरह की दो बार नहीं बीसों भाषा शैलियों हैं जिनके अत्यन्त रोचक उदाहरण ‘बूँद और समुद्र’ में मिलेंगे। सरसता की कितनी सामग्री हमारे चारों ओर बिखरी पड़ी है और भाषा शैली का इस विविधता से जनसाधारण भी अपना मनोरंजन करते हैं। अमृतलाल नागर के हाथरत का टा आधार यही यथाय जीवन है। उनके मनोरंजक संवाद हास्य की सृष्टि करने के अतिरिक्त चित्रण की सजीवता की छाप मन पर छोटत है।

यह सम्भवतः कठिन नहीं है कि इस उपयास में लेखक के कथों के सामाजिक अनुभव का समग्र है। इस तरह के समग्र भाव के लिए ही सुधाच साधना और परिधम अपेक्षित हैं। कला प्रेमियों के अलावा भाषा मिथान और समाज शास्त्र के पण्डितों के लिए भी यहाँ सुलभ सामग्री एकत्र की गई है। उपयास में स्त्रियों के दो गीत दिये गए हैं, वे अपने में अलग सांस्कृतिक इतिहास की महत्त्वपूर्ण निधि हैं। “कलजुग तो आशा बड़ी भूम स, बहुई हो गई दूधिया सास, राजा गुम गए कंजिल पदने मेरी कमर गुजर गई पीहर में”, “जब से चला द कलिय लगाना, कदर बेदी की गई मेरी जान” आदि लखी बोली के गीत मापी एमाक की वह झोंकी बजे हैं जो अपिवाश उप यातकारा के बलपना राजत चित्रों से विलकुल भिन्न है।

उपयास की धुरी है ताई। लखनक की एक रूढ़ि की छोड़ी हुई पहली पत्नी हैं। जीवन की परिस्थितियों ने उनके मन में विचित्र ग्रन्थियाँ उत्पन्न कर दी हैं। अब वह बाबू टोने से मानव मात्र का हाँद करने पर तुली हुई सी दीपती हैं। मास्तीय समाज का सारा अधिनिवास और मनुष्य से भ्रष्टा करने वालों की साथी हिंसा मानो सिमरकर ताई में कीद्रत हो गई है। बच्चे, जूड़े, जवान, सब उन्हें चिढाते हैं और अब ताई के पास आशी वाद का एक शब्द भी नहीं रह गया, वह केवल कोठना जानती हैं। भारतीय समाज में

ग्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदांत आदि की चर्चा के साथ पल्लव की पाटी में से दूर मलने, तकिये में काला होरा घिरोकर सुदूर खोसने, आटे के पुतले बनाकर मारण्डम न चलाने आदि की जो क्रियाएँ होती रहीं हैं, उनकी समझार ताद है। उनकी हिंसा इतनी तीव्र है कि पति के अपराध के लिए वह जादू द्वारा उनके नाती के प्राण लेने का प्रयत्न करती हैं।

ताद के घर में एक दिन बिल्लियों का मुद्द होता है। लालन जनाकर देखती है कि बिल्ली का एक बच्चा बना हुआ है, जिसका खिर गायब है। वह तिरबटी लाश पड़ोस में गम्बरती तारा के दरवाजे पर रख आती है, इन शब्दों के साथ—“रॉड बहुत पेट छिपे घूमती है। पेसे ही कूँकर गिर पड़ेगा।” हिंसा की मूर्ति ताद बिल्ली के शीप तीन बच्चों की आँखों में डालकर साहर फेंकने जाती है। “डरक से सिपुके बन्द आँखों वाले तीन बच्चे आँखों में गहरी सो बनकर उनके पेट से जाम गए।” ताद को सहसा अपनी पिटिया की याद आई और वह बापस लौट आई। उस दिन से ताई के परिवार में वे बच्चे भी शामिल हो गए, अथवा या नहीं, उस दिन से ताई ने नये सिरे से पारिवारिक जीवन बिताना शुरू किया।

हिंसा और आप्रविष्टाव की पुनर्ता ताद में भी जैसे प्रेम का बीज मिलने से रह गया था। मानवैतर जोर के सत्परी से वह बीज सहसा अक्रुति हो उठा। इस बीज की मिलने में रहस्य पति और ताद के मुहल्ले पाली ने कुछ उठा न रखा था। मनुष्य ने उसे मिटाया, पशु जीवन ने उसे फिर अक्रुति कर दिया। इसका भेय पशु जीवन से अधिक ताद को है जो अपने अन्तस्त्व में कहा अब तक वह प्रेम का बीज लिगाये हुए थी।

एक भारतीय लेखक के लिए ताद में यह परिवर्तन देखना बहुत स्वाभाविक है। फिर देश के आदि बनि ने एक पक्षी के क्रन्दन से प्रवित होकर एक नया छुन ही रच डाला था, उसके आधुनिक लेखक के मन पर अब भी नेसे सत्कार बने हों तो आश्चर्य क्या? तब क्या वतमान युग में भारतीय लेखक के लिए आस्था का प्रश्न एसा कुछ उलझा हुआ है कि उसे हल करना बहुत ही कठिन हो गया है?

ताद की बिल्ली के बच्चे बहुत परेशान करते हैं, लेकिन ताद उनका मोह छोड़ नहीं सकती। एक बच्चे की आँखों में देखते हुए उन्हें लगता है कि भीतर से बालमुकुट भोंक रहे हैं। जब ताद में यह परिवर्तन होता है, सभी कुछ लोग आकर उनके मुँह में कपड़ा ठँस देते हैं, बिल्ली के बच्चों को डठाकर फेंक देते हैं, ताद के मुँह पर काबल और रिगदूर पोत देते हैं और रुपये लहर चल देते हैं। कलाकार सज्जन जब उन्हें देखता है तो उसे वह उन्चिन ही “आदिम समाज की पुरोहितानी” जैसी लगता है। ताद के बचन सुनते ही वह सबसे पहले बिल्ली के बच्चे के लिए दूध माँगवाती है। कलाकार “छत्रजन सोचने लगा, परधर भी पिघलना जानता है।” बिल्ली के बच्चों के बाद ताद को सज्जन से स्नेह है। “कनोपल के पाते” कदकद बर बड़े प्यार से उसे तुलाती है। लेकिन कलाकार सज्जन ऐसा उच्छकोटि का बुद्धिजीवी है कि पत्थर को पिघलता देखकर भी वह आस्था के प्रश्न से उलझा रहता है।

कलाकार का कोटपी पर मुहल्ले के लोग हमला करते हैं। मुहल्ले में यदि विरहेंद्र और ‘बडी’ के प्रेमकाण्ड के पट्टे जाने पर कटियादिशों ने मोघ उठारा सज्जन की कला पर। “उच्छोजित भीड़ ने कमरे का ताजा चोट डाला। सज्जन की बनाई तस्वीरें चिन्दी चिन्दी

कर डाली। रंगों के ट्यूब पेंके, जूते क नीचे दबाकर फश पर मसल दिए। स्त्रोव का सेल गटे और तक्रियों पर झिड़का। उनमें दियासलाह जगाई गई। सारा कमरा टूटे काँच, टूटे प्याले, फगी तस्वीरों और चादर को बि बि दफों स भर गया।" अहिंसावागी सभास का रुति याद कितना बर हो सक्ता है, उसका यह निरुशंन है। इन रुतिवागियों ने बड़ी को निममता से पिण्ते देखा था। पीटने वाला के प्रति उनकी सक्रिय सहानुभूति थी। वही लोग चरित्र और सस्कृति की रक्षा के लिए सज्जन के चिन्ता का नाश कर देते हैं। अवश्य ही वे बड़ी के वेश्यागामी पति से कुछ नहीं कहते। इस तरह के फासिस्ट आक्रमणों के पणन हमने विदेशी उपद्राओं में पडे हैं। भारतीय रुतिवाग के आधार पर यहाँ भी कला और कलाकारों पर फासिस्ट आक्रमण हो सकते हैं, इस उप यास से यह चेतावनी मिलनी है। एक तरह की रिमा यह है, दूसरा तरह की हिंसा उप यासकार महिपाल की है। अनहाय स्त्री को पिण्ते देनकर उसे शोध आ जाता है। यह बचाने जाना है तो वेश्यागामी पति उसे भी अपनी पत्नी का याद कहकर यास करता है। इस पर "महिपाल का वो कदाकेदार हाथ पड़ा कि गाल और कनपटी सुन्न हो गई।" इन दोनों तरह की हिंसा में कौनसी उचित है और कौनसी अनुचित, या दोनों ही उचित अथवा अनुचित हैं? साधारण पाठक की सहानुभूति महिपाल के प्रति होगी और निंद्य पति को दण्ड मिलना देखकर उसकी यास की आकांक्षा तुप्त होगी। हिंसा और अहिंसा के वैद्वान्तिक सधय की नास्तिकता क्या है, इसका उत्तर उपयुक्त पन्था से मिलता है।

सज्जन की कोठरा पर आक्रमण होने के बाद कला की रक्षा करने के लिए सबसे पहले ताइ आगे आती हैं। वह मत्र पत्र पर सब पर सिन्दूर फेंकना शुरू करती हैं। "बाहो दर में ताइ कायर भीड़ पर विजयिनी हुई।" चरित्र और सस्कृति की रक्षा के नाम पर चिन्ता में प्राग लगाने वाली भीड़ कायर हा होगी। इन कायरी से कला की रक्षा कौन करेगा? "उस दिन ताई उड़ी रात तक छातदन के उजाले में सज्जन—क मोमल के पात—की तस्वीरों के डुकड़े पार बगोरबर सहेजती रहीं।" कलाकार इसमें आस्था रते, इस प्रश्न का उत्तर फिर यहाँ मिलना है।

सज्जन के आक्रमण से गमगनी तारा अस्वस्थ हो जाती है। रात में मुहल्ले वाला का सहानुभूति लोवा हुआ उनका पात ताई को अँवर में प्रेत समझकर उहोरा हो जाता है। ताइ अपनी हिंसा भूलकर तारा को प्रव्रनन कराने में लग जाती हैं। यह उप यास का सबसे मार्मिक चित्र है। डॉल्फम ने 'अना करेनिना' में उस उद्विग्न पति का अचर खींचा है जो शीघ्र ही चिता बनने वाला है। यहाँ सारी उद्विग्नता ताइ में केद्रित है, जिसके मौं बनने का अव कोइ भी अवसर नहीं है। 'जरा सी हाँग दुखकर ताइ और कुँकलाइ आप सौरी में थी, इसलिए वमा को ही अपने घर के ममालेदान का पता बतलाया। अपने ठाकुरजी की काठरी में टोंड पर रते हुए कुंकरहद सकोरों का पता बतलाया, सुट्टी भर हाँग और एक सकोरा लाने की आज्ञा दी। ताई ने बच्चे की नाल गाड़ी और पलग के निकट आकर बच्चे का मुककर भर नज़र देखती रहीं।" यह चित्र आँकर अमृतलाल नागर ने हिंदी उप यास को उच्चतम स्तर तक उठाया है। जिने ताइ की इस निगाह में आस्था न मिले, उसे नमाध ही कहना चाहिए।

पुष्ट पत्रा में सज्जन और महिपाल दोनों कलाकार हैं। एक चित्रकार है और दूसरा

उप दासकार है। दोनों रईस घरानों के हैं। अंतर केवल इतना है कि सज्जन की सम्पत्ति बची हुई है और महिपाल अपने वग से अलग होकर एक इद तक मध्यवर्ग का सदस्य बन गया है। सज्जन की अरानी कोठी है, मुदहारा जीवन का अध्ययन करने के लिए वह ताड़ के पड़ोस में कोठरी लेकर रहता है। लेफ्ट ने दोनों का ही चित्रण बड़ी बारीकी से किया है। बुद्धि जीविया और मध्यवर्ग के शिक्षित वर्गों की अधिकांश समस्याएँ दोनों को परेशान करती हैं। दोनों में बहुत ही समानताएँ भी हैं। दोनों कलाकार होने के अलावा सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की समस्याओं से बहुत त्रिस्तरीय रहते हैं। दोनों का ही घरेलू जीवन अनिश्चितता है। शराब का प्रकाश दोनों को है। महिपाल विवाहित है, टंड अक्की बेलने वाली उसकी पत्नी कल्याणी मिथ्या की मूर्ति, पवित्रता देती है, रिपु अपने कलाकार पति का मूल्य बिलकुल नहीं पहचानती। उसके संस्कार बहुत ही रुढ़िवाणी हैं और ब्राह्मणों में छेद नाच का मेद भाव, कुलीनता अकुलीनता के विचार उसके संस्कारों की आचारशिला हैं, बिनने उबारकर उप दासकार के सारे प्रगतिशील विचार पापस लगे आते हैं। महिपाल का स्वभाव बहुत ही उग्र है। धीरता, दृढ़ इच्छाशक्ति, सहनशीलता आदि गुणों का उसमें अभाव है। यद्यपि वह शर्तें समाजवाद की करता है, फिर भी उसके संस्कार अराजकवादी के हैं। वह अपनी पत्नी के रुढ़िवाण से परेशान है, लेकिन 'इज्जत का खजाना' जितना उसे परेशान करता है, उतना कल्याणी को नहीं। कल्याणी ने अपने भाव से कुछ रुपये मँगाये थे। महिपाल के आदर का बरकरार रुढ़िवादी हुरत काग उठता है। "हरामज़ारी, तुने मेरी इज्जत फ़ास में मिला दी।" यह कलाकार की भाषा भी जो वह अपने उपयोगों में न लिखता था, लेकिन पानदानी इज्जत की रक्षा के लिए उसका उपयोग करने में न हिचकता था। इतना ही नहीं, 'बटी' के वेश्यागामी पति की तरह वह भी लात चुँसों और घण्टों के प्रयोग से काज नहीं आता। कमरे के आदर वह काएब होता है, बाहर उसकी लाटकी उभरी पानी सप मुनती है, "बकी बीछें, सलें घसीट घसीटकर रीता, पिता की अस्पष्ट शालिर्षी, घुक्किर्षी, घक्का झुक्की, पटककों, चुँसों के घमाके।" लाटकी के दरवाजा पीटने पर वह बाहर आता है और पत्नी के पैर छूकर और सरसे क्षमा माँगकर बाहर चला जाता है। आस्था की समस्या महिपाल के लिए उठ खड़ी होती है। "अपनी पत्नी को मारकर महिपाल आस्थाबिहीन हो गया है।" थियट्रे रड्ड महिपाल ने समाजवाद का चोगा ओढ़ रखा था, इज्जत का खजाना अपने पर वह एक ही झुके में नीचे गिर पड़ता है। सज्जन से उसे इर्ष्या भी होती है। अपने मित्र के विरुद्ध वह प्रचार करता है कि सज्जन छिपे छिपे सम्पत्तिगम कैसा रहा है। महिपाल की डोंग सुनकर उसका एक पूँजीपति मित्र यह रहस्य प्रकट कर देता है कि ननिहाल में डाका पहने पर महिपाल ने बहुत से घटने चुप लिये थे और कह दिया था कि उधे टाङ्क ले गए। चोरी पकड़े आने पर आत्म हत्या के सिवा उसे कोई मार्ग नहीं सूझता। एक पत्र में अपना कच्चा चिट्ठा लिपकर सत्तार से बिना हो जाता है। महिपाल की आत्म हत्या यह दिखलाती है कि उसके आगे बाढ़ रास्ता नहीं रह गया था। समाजवाद से उसे बौद्धिक सहायमूर्ति है, अपने जीवन में वह अस्तुतिगम अपराजकवादी है। वह अन्ध्रा पिता और पति नहा का पान। डॉ० खीला से उसे प्रेम है और खीला को छोड़ने के बाद वह भीतर से टूट जाता है। किंतु उसकी ट्रेजरी घरेलू जीवन तक सीमित नहीं है। शिवमक महिपाल समाज को बदलने का कोद रास्ता नहीं देखता। उसकी कहानी उस बुद्धिजीवी

की कहानी है जो समाज व्यवस्था से असंतुष्ट तो है, लेकिन उसने बदलने के लिए जन शक्ति को संगठित करने का धैर्य और दृढ़ मनोबल जिसमें नहीं है।

दूसरी ओर चित्रकार सज्जन है। रूढ़ियों के विरुद्ध है, लेकिन वृत्तान्त में जाकर रहस्यवादी बन जाता है। तेलीपैथी आदि चमत्कारों में उसे निरवास है। वृत्तान्त में वनक या के प्रति प्रेम निशानि करने के लिए लखनऊ आते ही अपनी प्रेमिका चित्रा राजगान के साथ सरस समय बिताता है। खूबी टाट में नौकरों पर हाथ भी चला देता है, उन्हें बर्खास्त कर देता है। वनक या से निगाह होने पर जहाँ काठी में उसके घाले सादृश्य आते हैं, उस पर इन्जन का भूत सवार होता है और उसे सबसे पहले यह भय होता है कि नौकरों ने देर लिया तो क्या कहेंगे। इन्धा का शिक्का यह भी है, लेकिन साधु की कृपा से उसकी मति बल जाती है और वह सम्पत्ति दान करने के लिए तैयार हो जाता है। महिपाल और सजन में महिपाल अधिक सजीन है। उसका मानसिक दृढ़ ज्ञान ठीका और नाटकीय है। अपनी कमचोरियों के बावजूद वह पाठक की ध्वजा अपनी ओर खींचता है। सजन की कठिनाइयों उसकी अपनी गनी हुई हैं, यह परिस्थितियों से महिपाल की तरह नहीं झुकता। उसका चित्रकार भी बहुत कमजोर है। चित्रकार से अधिक वह मुद्दले के पीछे का अध्ययन करने वाला समाज शास्त्री है और यहाँ उसका यक्षित उपयासरार महिपाल की ही प्रतिबिम्बित है। उसके सम्पत्ति दान में एसी गरिमा नहीं है जो पाठक को आदोलित करे। 'प्रेमाश्रम' और 'ब्रह्मा का पल्ली' के पारमार्थिक समाधान की छाप उपयोग को कमजोर बनाती है।

पुरुष पात्र में ताड़ से मित्रते जुगते पात्र हैं कमल और रामजी साधू। कमल उच्च मरग के दूकानदार हैं। अपने मित्रों में नगीनचंद जैन कमल नाम से विख्यात हैं। बुद्धि जीवियों की समस्याएँ उनकी समझ में नहीं आती लेकिन जहाँ भी मनुष्य पर विपत्ति पड़ती है, नगीनचंद उसकी सहायता को तुरंत पहुँच जाते हैं। वनक या का अपने अत्याचारी कुटुम्बियों के यहाँ जब आश्रय नहीं मिलता, तब नगीनचंद उन्हें अपने यहाँ बहन की तरह रखते हैं। इस मानव प्रेम के कारण उन्हें रूढ़िवाजियों का कोपमाजन बनना पड़ता है लेकिन वह चतुराई और दृढ़ता से उनका सामना करते हैं। कलाकार सजन को जब उसके वयस के रहस्य अपनी उँगलियों पर नचाते हैं तब नगीनचंद कलाकार की इमानदारी के लिए सबूत देते हैं। कलाकार सजन के लिए एक बार वह अपने सच्चे उत्सर्ग प्रकट करते हुए कहते हैं—“क्या बताऊँ मैं सजन ससरा इस वकत ऐसी लंबी निक्का कि।” सजन वास्तव में कायर है और कमठ पुरुष है नगीनचंद। रूढ़िवादियों और राजनीतिक दलों से अवगत होकर यह कहते हैं—“इनकी हर घाल पलंगर इस बार अपनी अलग पार्टी—हसानी दल कायम न किया तो कुछ काम न किया। अब हम एक नहीं सब पॉलिटिकल पार्टियों को जुगैती देकर फसौटी पर फसौते। हम जनता में रहेंगे। जनता के अधिकारों के साथ रहेंगे। अब चाहे सरकार हो, य वड़े बड़े कैपिटलिस्ट हों या पॉलिटिकल पार्टियाँ हों—हम ससस अपने अधिकारों के लिए सावधान रहेंगे।” यह उस नागरिक की आवाज़ है जिसे जनता से प्रेम है, जिसने दृष्ट्य का निस्वार्थ प्रेम उसके आये दिन के कार्यों से प्रकट होता रहता है, जो बाधाओं और दुष्टताओं से नस्त होकर मानसिक उठेह बुन का रॉय रचकर ‘हाथ आस्था, हाथ आस्था’ बहकर नहीं चिल्लाता। नगीनचंद का चरित्र यह प्रिखलाता है कि पुरानी व्यवस्था को बलन और रूढ़िवाद को निमूल

करने के लिए जिए निष्ठा और धैर्य की आवश्यकता है, वह समाज में विद्यमान है।

नगीनचंद से भी अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व रामजी बाबा का है। बुढ़ाने सन्तों की परम्परा से वह साकार चोवित रूप है। उपवास के अनेक पानों की तरह लेखक ने उन्हें यथार्थ जगत् से ही लिया है। सज्जन और महिपाल की तरह रामजी आत्मज्ञान के कुलावे में मिलाकर वह सेवा को कत य मानकर समाज के बहिष्कृत पागलों की सेवा करते हैं। उनकी सेवा भावना के आगे बुद्धिजीवियों की कुलटाग्रस्त शक्यों खड़े पतों की तरह उड़ जाती हैं। उनकी तुलना में सज्जन की अपनी कमजोरी का पता चलता है—“वह सेवा के आदेश को हृत् की तरह खूँध कर आत्मनिष्ठ भले ही हो खे।” वास्तविक सेवा से वह बहुत दूर है। जब महिपाल कहता है कि आज का मनुष्य जगली हो गया है, तब रामजी साधु कहते हैं—“मनुष्य इस समय अपने मन के महल की सफाई कर रहा है। जब पूरी हुई जायगी तब देखियेगा।” महिपाल केवल उपवासवादी है, इसीलिए उनके जीवन रामजी बाबा सेवा कार्य में युवकों को मग्न करते हैं। मनुष्य के भविष्य में उनकी यह सहज आदित्य आस्था उनके जगत् जीवन से उत्पन्न होती है। उसका आधार हवाइ उभेड नून नहीं है। वास्तव में साधु राम के प्रचलित धर्म में वह सारा योगी महात्मा हैं ही नहीं। वह आपार्थ रामचंद्र गुल्ल के उन भक्तों में से हैं जो हृत् गोचर जगत् में तदा ने दशन करके मनुष्य की सेवा करते हैं। शिक्षा ने इसकी प्रगति की है, क्या उससे मानवता का नाश न हो जायगा? बाबा रामजी की आस्था दिग्गज के पहले वैज्ञानिक प्रगति से और दृढ़ होती है। कहते हैं—“विज्ञान के जो अनुपम सब निकल रहे हैं, मानवता का वह व्यापक प्रचार हृद् के अंतर्गत का जो असूत निकलगा वह समस्त लोक को मिलेगा और जीन से स्वाध्यायता, अनाचार का कालकूट निकल रहा है। तीन नीलकण्ठ परम सेवक हैं जो अपनी खूबी बजाने से कभी नहीं थकते।” इस दृढ़ आस्था के सामने कुलटा की पीड़ा से कराहने वालों की शर्म जामी जाहिए।

जबकि अपने स्वार्थों और के वातावरण से तिलमिला उठती है, लेकिन महिपाल की तरह वह घुटने नहीं टेकती। सभी परिस्थितियों में धैर्य से काम लेते हुए वह कठिनाई से टक्कर लेती है और साथ ही अपने प्रेमी कलाकार सज्जन के कुलमुल मन की भी समझती है। नारी और विवाह के सम्बन्ध में सज्जन के विचार ‘नका स्तव’ और ‘मनुष्य के रूप’ के लेखक से मिलते-जुलते हैं। उनका या यिद्ध पर बेती है कि स्वच्छन्द प्रेम के ये विचार कान्तिकारी न होकर वास्तव में अमिषात वर्ग के संस्कार हैं। अनेकिकता के वातावरण में इस दृष्टि यदि वाली सम्मिश्रित जनकता पाठक की आस्था को दृढ़ करती है।

आस्था के इतने प्रतीकों के होते हुए भी उपवास के अंत में सज्जन को लगता है कि देश आत्महत्या कर रहा है। महिपाल की आत्महत्या के बाद उसे विरोध रूप से आस्था का प्रश्न चुन करता है। वह अपने लिए ठीक चोचता है कि महिपाल की सी परिस्थितियों में यदि उसका जीवन बीता होता तो शायद उसका भी अन्त यों ही हुआ होता। आखिर वह महिपाल के आत्मत्व का दूसरा पहलू ही तो है। वह आत्महत्या से कैसे बचता? लेकिन अपने विचार की सम्भावना में उसे देश मिटता गिरा दे रहा है। वह देश के बारे में सोचता है—“जिस देश में कर्मयोग का सिद्धांत है, वेद, उपनिषद्, साहित्य, शास्त्र हैं, ध्यास, प्राक्मीक जैसे युग प्रचलक महर्षि हैं, इक्ष्वा रसज्ञान है, अज्ञाता, पञ्जर, कोणार्क, दक्षिण भारत—सारे

भारत में स्थापित अनुपम शिक्षा दे, सुनीतियाँ हैं जिस देश का इतिहास इतना महिमामय है, वह देश जहाँ और व दगो में रहना पसंद करते हुए आज की भयंकर अगति के रूप में आत्महत्या क्यों कर रहा है ?”

संजन ने भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास में जो कुछ देखा, वह सब सत्य है। लेकिन सत्य उतना ही नहीं है। भारतीय जनता का इतिहास उसके सपनों का इतिहास भी है। उसकी संस्कृति जनता के इस सपनेमय इतिहास से दूर रखकर नहीं समझी जा सकती। संजन न तो पुराने इतिहास में और न वर्तमान काल में जनता को कहीं सघर्ष करते देखता है। स्वाधीनता प्राप्ति के लिए जनता ने जो सबक किया, उसकी छाप भी कहीं उसके मन पर पड़ती नहीं दिखाई देती। अपने चारों ओर आस्थावान पात्रों के होते हुए भी उसे लगता है कि देश आत्महत्या कर रहा है। इसका एक कारण यह है कि निष्ठावान पात्र अपने व्यक्तिगत जीवन में तो महान् हैं, किंतु लोक कल्याण के लिए उनमें सामूहिक प्रयत्न का अभाव है। स्वयं संजन ने सम्पत्ति दान किया है और अपने दग से समाज सेवा की ओर बग भी रहा है। स्पष्ट है कि इस सबसे उसे सतोष नहीं है। कुछ धनी व्यक्तियों का सम्पत्ति दान समाज की मूल समस्या हल नहीं कर सकता। आस्थावान पात्र सामूहिक प्रयत्न से दूर हैं, इसलिए उनका आस्था भी अधूरी है। स्वयं संजन व्यक्तिगत धर्म से भी दूर है, इसलिए वास्तव में वह महिपाल से भी अधिक आस्थाहीन है।

उपन्यास की भूमिका में लेखक ने “देश के मध्यवर्गीय नागरिक समाज का गुण दाप भरा चित्र” लीचने की बात कही है। उपवास में मध्यवर्गीय नागरिक भी हैं। फिर भी उपवास के मुख्य पात्र संजन, महिपाल, बनकदा, ताड़, कनक और शीला हैं। रामजी बाबा संजन से पूछते हैं कि वह कितना दान कर सकता है ? संजन उत्तर देता है—तीन लाख। वह लाखपती का बेग ही नहीं, स्वयं भी लाखपती है। भारत के मध्यम में तीन तीन लाख की सम्पत्ति का दान देने लायक संस्थ हो जायें तो कहना ही क्या ? ताड़ राधाकृष्ण का विवाह करती है। जिन्हें सुबह राम छेड़कर बच्चे, बूढ़े, जवान सभी सुख पाते हैं, वह ताड़ पचास हजार की सम्पत्ति लुटाकर बसव मना रही है।” महिपाल की प्रेमिका “शीला के पास लाख ढेड़ लाख रुपये हैं।” लाला नगीनचंद उर्फ बर्नल ‘लखनऊ की एक पुरानी और प्रसिद्ध अमोनी वधाओं की दुकान के मालिक हैं। सामाजिक कामों के लिए जो खोलकर बाँटा देने वालों में उनका नाम शहर के गिने खूने लोगों के साथ लिया जाता है। रह गए महिपाल और बनकदा। वे परिस्थितियों से झुकते हैं, लेकिन हैं वे भी रईस घराने के। महिपाल ननिहाल में पला था और ‘उसकी ननिहाल का घराना तारलुकदारों का था।’ वहाँ डाका पड़ा तो महिपाल के अनुसार ‘ढेड़ लाख रुपये की ज्वेलरी गई।’ आगे यह रहस्य खुलता है कि चोरी का जेवर डाकू को मारकर महिपाल ने स्वयं हड़प लिया था। सेठ रूपरत्न कहते हैं कि उन्होंने गहने विक्रवाने के नाम पर महिपाल के लिए चालीस हजार की रकम खड़ी कर दी। महिपाल उपवासकार है और अपनी पत्नी से उसे सबसे बड़ी शिकायत यह है कि वह उसके कलाकार का महत्त्व नहीं समझती। लेकिन ‘महीनों हो गए, उसने एक अक्षर नहीं लिखा, कबल अपने घर में, अपने चारों ओर हर तरफ लक्ष्मी का आहम्वर सजाने में ही उसके दिन अधिकतर चले जाते हैं।’ वह अपने मन में यका हुआ अनुभव करता है और ‘उस यकान में उसे धँक में जमा

अपने अक्षतीत हजार रुपये काद था।" "यह किसी हद तक विस्थापिता का शिखार है।" यह अपने अंतिम पत्र में लिखता है, "सांस्कृतिकदृष्टी वातावरण में पक्षपर भरे तस्कार भी राजसी हो गए थे।" ऐसा मिलते ही उसके राजसी तस्कार लहलहा उठते हैं। एक दिन भी बात है—“महिपाल आज पूर्ण विवासी भाव में था—बढ़िया पचपन, बड़ा सुन्दर भोती, रेशमी कुर्ती, रेशमी जवाहर जैकेट फावरसूबा की चूबी, शेणर्स की गुनहली बलम, हाथ में सुपरान की बँगड़ी।” परिस्थितियों से घुमने के अवजुद महिपाल मध्यम का प्रतिनिधि नागरिक नहीं माना जा सकता। वाक या भी एक तवाह खसत घराने की लक्ष्मी है। “रहस में बाधा परमाया भी थे।” य वा कहती है—“उाके निस्ते मैंने भी सुन है। वह बात मुमरी है कि अपने होश से ही मैंने अपने मापके में निजुल्लखी और वगाधी ही वरापर बसती देखी।” रहस या भिगड़े हुए खसत—उप याग के प्रमुख वाक इस तरह के हैं। इस तरह के लोगों का अपने वर्ग तस्कार छोड़ना और प्रसिद्ध जनता के सुख सुख में गुल मिल जाना एक बड़िया प्रकिया है। यदि वे सामूहिक प्रयत्न द्वारा समाज व्यवस्था को बदलने का रास्ता नहीं देख पाते तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सञ्जन की किसी भी राजनीतिक पार्टी में आस्था नहीं है। “सब अधिकार में एक है। एक बड़का पैरुमान, कुछ आकांक्षायों वाले, जाजसाज, दुम्मी और माहुरा द्वारा अनुशासित है। आदर्श और सिद्धांत तो महज शिखार रजन के लिए आक की उड़ियों हैं। इनकी आवश्यकता सधव अधिकतर व्यक्तिसंगत है।” यदि सञ्जन राजनीतिज्ञ बीदा में सक्रिय भाग लेकर इस परिणाम पर पहुँचता, यदि उप यातकार विविध पार्टियों की राजनीतिक कार्यवाही का सजीव चित्र देकर उपर की स्थापना हमारे सामने लाता तो वाक्यवर्म चिन्ता की बात होती और पाठक उन तक आते आते तिलमिला उठता। लेकिन उपयाग में क्षीण मनोबल वाले भिगड़े रहस या सन्पति दाग से भारत का उद्धार करने वाले कलाकार ऐसी बातें करें तो इसे उाई का वर्णगत दम्भ समझना चाहिए। जालसाजी बेरी वीक महिपाल के चरित्र में है, कुछ आकांक्षाओं की बसी सञ्जन में नहीं। फिर भी यह वर्मापदेशक वाकर कहता है—“आत्मविश्वास ही नये युग का धर्म है।” उसे “जनजीवन सम्बन्धितवासी और आतिथी त जकवा हुआ” दिमाक देता है। वास्तव में जिनने आत्मविश्वास और आतिथी सञ्जन में हैं, उतने आत्मविश्वास और आतिथी अतिरिक्त और निर्भय जनता में नहीं हैं। यह अपनी समझ में बड़ा मार्मिक प्रश्न करता है—“क्या किसीको भी आज अपने देश से प्यार नहीं है?” यदि सञ्जन की ओरों उसके वर्ग सहकारियों ने बट न बर दी होती तो यह समाज में अपने को अकेला देश भक्त न पाता। उसकी समझ में भारत का गुरुथ “अधिकांश में भारतीय नहीं, माय भी—?—नहीं।” अतः मैं, ‘दोनों पति पत्नी अपनी आस्था पर बट रहया’ इति, शांति, शांति, शांति, शांति।

क्या इस उपयाग में ही सञ्जन ने अधिक आस्थाग्रान व्यक्त नहीं हैं? क्या ताद द्वारा तारा के सञ्जन में सदायता, रामभी साधु द्वारा पागलों की सेवा, नगीनच द्वारा जनक या की गदायता, महिपाल द्वारा बड़ी से पति की पूजा, महिपाल के लिए शीला का प्रेम सञ्जन के चरित्र और उमर किसी भी कृत्य में अधिक गहन नहीं हैं। सञ्जन ने उप याग में वास्तव से क्या जगद बेरी दे। प्राद में वह उतनी जगद नहीं घेरता, जिलनी उच्छाद में। इसलिए उपयाग का उत्तरार्ध अपेक्षाकृत निर्बल हो गया है। विशेष रूप से उसका अन्त काफ़ी कमजोर

है। महिपाल की आत्म हत्या पाठक को यथिन अवश्य करती है, किन्तु वह दोम भी उत्पन्न करती है। किसी कारण दूसरों के मन की बात जानने वाले रामजी बाबा महिपाल के मन की बात बिलकुल नहीं जान पाते कि वह आत्महत्या करेगा। वह अपनी शक्ति से जितना सञ्जन की सहायता करते हैं, उसकी सहायता कृपा भी वह महिपाल पर नहीं करते। लेखक के साथ वह भी सञ्जन का पक्षपात करते हैं। लाला नगीनचन्द बहुत ही यथार्थकुशल व्यक्ति हैं, लेकिन मित्रों में वेद मुन जाने पर अपमानित होकर सब महिपाल घर में निकलकर चल पेटा है, तब भी वह उसके पीछे नहीं चलते, न उसकी खोज सखर लेते हैं। उपन्यास के उत्तरार्द्ध की यह सबसे महत्त्वपूर्ण घटना कलात्मक दृष्टि से सत्य नहीं उतरती।

कथावस्तु को कमजोर करने वाला एक दूसरा दोष आग्नि समाज का हवाला देने का रोग है। सञ्जन और महिपाल दोनों समाज शास्त्री हैं। कहीं मोहेंकोटो, कहीं वैज्ञिक सत्यता, कहीं प्रस्तर मूर्तिवाँ, कहीं आय अनाय सधर्ष और एक जगह नहीं पचीसों बार नाक में दम कर देते हैं। आधुनिक उपन्यासों के पात्रों को आत्मचिन्तन और आत्मविरलेपण का रोग होता ही है। पाने-के-पाने आत्मचिन्तन से रेंगे हुए हैं। इनसे कथावस्तु में शिथिलता अवश्य आती है, चरित्र की गहराई का पता तो दो वाक्यों से ही लग जाता है।

कथा कहने में एक तोष यह भी है कि बिन पात्रों से पाठक काफ़ी पहले परिचित हो चुका है, उनके विस्तृत रेखाचित्र अथवा सक्षिप्त जीवन चरित्र बाद में दिये गए हैं। इससे कथा प्रवाह में बार-बार टहराव पैदा हो जाता है। एकाध दोष असंगतता से उत्पन्न हो गया है। कल लाला की हिंदा बोल लेता है, लेकिन ६६वें अध्याय में उस पर 'है' की जगह 'हैगा' कहने का लम्ब सवार हो जाता है। उपन्यास में कुछ यथाथ जगत् का पान भी आते हैं, जैसे अमृतलाल नागर, यशपाल, शनैचन्द जैन, मयवतीचरण बसा इत्यादि। लेखक ने इनके रेखाचित्र भी नहीं दिए, उसने यह मान लिया है कि पाठक तो इन्हें जानता ही होगा। पाठक साहित्यकार के रूप में ठाँह जान भी सकता है, लेकिन साहित्यकार होने से ही कोई उपन्यास का पान नहीं हो जाता। लेखक इनमें पात्रता उत्पन्न नहीं कर पाया।

इन सब दोषों के होते हुए भी 'बूँद और समुद्र' एक सुन्दर उपन्यास है। भारतीय समाज के ऊपर से आत्मसन्तोष का पटा खींचकर लेखक ने उसके भीतर की बीमरता सबके सामने प्रकट कर ली है। नारी के साथ की पार्श्विक अत्याचार किए जाते हैं, उसके हृदयविचारक दृश्य उसने हमें दिखवाये हैं। समाज परिवारों में जो गुप्त रूप से व्यभिचार चलते हैं, उसकी नारकीयता से मुक्त करने के लिए उसने ललकारा है। 'याय, धर्म और कला' कि सतरह सर्पाक्ष शाली वगैरह हाथों बिकते हैं, इसके सबीब चित्र उसने आँक हैं। प्रेमचन्द के बाद किशाने याय यवसा की वास्तविकता पर ऐसा व्यंग्य नहीं किया जैसा अमृतलाल नागर ने। उपन्यास में सभी रस हैं। मयानक, अद्भुत और बीमर के चित्रण में नागर का सानी नहीं है। कल्याणी, वनक्या, बडी, महिपाल की यथा पात्रक को बुरी तरह झकझोरती है। चित्रण और सम्वाकों में हास्यरस का उद्रेक नागर की शैली की विशेषता है। चित्रा राबान और कवि विरहेश जैसे पात्र यादी देर के लिए भी उपन्यास में आते हैं तो पाठक को अपनी सहायता से मुग्ध कर देते हैं। लम्बनक के शरीर की बातचीत पढ़ते हुए कह बार लगा जैसे आगरा छोड़कर मैं फिर लम्बनक पहुँच गया हूँ। रामजी बाबा के पागलों का वणन विस्मय द्युगों की सम्भार मानवतावादी

क्षमता की याद दिलाता है। दुश्चरित्र पिता—महिपाल—अपने पाप से परिणित सन्तान का सामना करने में पितृ श्रममस्तानि का अनुभव करता है, उसका चित्रण लेखक ने अपूर्व तथ्यता से किया है। विभिन्न स्वभाव के पात्र, उनके स्वभावों की टक्कर, एक ही व्यक्तिकी प्रकृति में उत्पन्न पतन और नये मोड़, ऐसे पात्र जिनसे पाठक की बहद प्रेम हो जाता है और ऐसे पात्र जिन पर कभी दया आती है, कभी क्रोध आता है, सत्त्वित के निमित्त स्तर, समाजवादी चेतना, पुराने सत्तों का सेवाभाव, कृपाकार का अहंकार, जादू टोने की दुनिया, क्लिप और विटी में रमने वाला मन, सहज भावबोध और माद्वारा—इन सबके चित्र देखकर मन बह उठता है, कैसा विचित्र देश है अपना और यह प्रिय विचित्र देश अब करनाट बनकर उठ रहा है। कर्नल ही इतनी दल बनावकर जनता के अधिकारों के लिए लड़ने की बात नहीं सोचता। अशिक्षिता रेनिशों की अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो रही हैं। स्वाधीन भारत का पहला चुनाव है। “बूढ़े, बीमार, अशिक्षित तक वोट डालने का रहे थे। दिनों में तो अपार जोश था।” एक महाशय पत्नी से जनसंघ को वोट देने के लिए कहते हैं। पत्नी कांग्रेस को वोट देना चाहता है। पत्नी बोली, “दखो, आज हम जिन्दगी में पहली बार वोट डालने जाये हैंगे। जिसे हमारा मन जामेगा उस देंगे। और मुझे अब कमम रहे, हमारा मरा गूँ बेसी जो अब की टोकाकी करौ।” यदि यह क्रांति नहीं है तो क्रांति शब्द को निरर्थक ही समझना चाहिये।

अमृतलाल नागर के पास अपनी विभिन्न शैलियों में भाव विचार प्रकट करते हुए पात्रों का अल्प मण्डार है। उनकी कला में यह शक्ति है कि इन पात्रों को वह उनके सामाजिक परिवेश के साथ सजीव कर देते हैं। ऐसी सजीवनी कला बहुत कम लेखकों के पास है। उनसे बहुत कम पुरुषों वाली लेखक महान् कलानगर बन चुके हैं। ‘बूँट और ससुद्र’ में बिलसि सामाजिक अनुभव समित है, वह उसे अपने डम का विषयबोध बना देता है। उसे एक बार नहीं, बार बार पढ़ने की मन करेगा। कुछ स्थल ऐसे हैं जिन्हें बार बार पढ़ने पर भी मन न भरेगा। निस्संदेह स्वाधीन भारत का यह एक उत्तम उपन्यास है।



प्रकाशक प्र गुप्त

हार्थी के दाँत

‘हार्थी के दाँत’ श्री अमृतलाल नागर का दूसरा लघु उपन्यास है। इसके पूर्व आपका एक पुस्तक उपन्यास ‘बोझ’ और एक लघु उपन्यास ‘नागफली का देश’ प्रकाशित हो चुके हैं और इनकी काफी प्रशंसा भी हुई है। ‘हार्थी के दाँत’ ठाकुर परदुमनसिंह की कथा है, जो सन् १४७ के पूर्व ब्रिटिश शासन के समयक थे और अब कायसी एम० एल० ए०, उप मंत्री और मंत्री बनकर कांग्रेसी शासन तंत्र के अंग बन गए हैं। उन्होंने ओक स्त्रियों को बेव्यास किया है, अनेक कल किए हैं, जिनका रहस्य किसीसे छिपा नहीं है। मन्दर, माथी दोषी और देश

सेवा का ढांग केवल गिलावे के ढोंग हैं, सभी जानते हैं कि इस कांग्रेस रुपी हाथी क खाने के ढोंग और ही हैं।

‘हाथी के ढोंग’ मुख्यतः यन्मात्मक कथा है। यन्म की शैली में अमृतराय विशेष पढ़े हैं। आपकी भाषा में बड़ा प्रवाह है, आपकी शैली सरल, सुहावनेदार, ठकसाली शैली है। इस सफल शैली में आप अनेक व्यक्ति चित्र प्रस्तुत करते चले जाते हैं—ठाकुर परदुमन सिंह, चम्पाकली, रावल, चन्द्रिकाप्रसाद, पण्डित रमाविहारी चतुर्वेदी, रामसिंह, आत्मादबी, रत्ना। ये सभी पात्र बड़े सजीव और सफल हैं और मिलकर आज के भारतीय जीवन की एक विहगम मॉकी पाठक को देते हैं।

जब हम इस उपयास के कथानक में कोढ़ के द्रीय सूत्र खोजते हैं, तो कठिनाई होती है। उपयास की उठान बहुत अच्छी है। परदुमनसिंह और चम्पाकली के प्रेम-व्यापारों से कथा का आरम्भ होता है, किन्तु चन्द्रिकाप्रसाद की मृत्यु के उपरान्त कथा का यह महत्त्व सूत्र त्याग दिया जाता है। पाठक यह जानना चाहता है कि चम्पाकली का बाल स क्या हुआ। इसका हवाला उसे उपयास के अंत में एक वाक्य में मिलता है। हम समझते हैं कि उपयास का स्वभाविक विकास इसी के द्रीय कथा के साथ चलता रहता, तो उपयास अधिक सफल होता। अब यह अनेक कहानियों का संग्रह है, जिनमें परस्पर कोई विशेष तारतम्य नहीं है। उष्ण हरण के लिए, पण्डित रमाविहारी चतुर्वेदी स्वयं एक स्वतंत्र रोचक कहानी के पात्र हैं, किन्तु ठाकुर परदुमनसिंह की कहानी से आपका कोढ़ विशेष सम्बंध नहीं है। यही स्वामी परमानंद और आत्मादबी की कथा के सम्बंध में भी हम कह सकते हैं।

‘हाथी के ढोंग’ का कथानक कुछ बिलग होने पर भी हम कांग्रेसी भारत का अत्यन्त सजीव और प्रभावोत्पाक चित्र देता है। भी अमृतराय में सफल उपयासकार के अनेक गुण हम पाते हैं—रात्रों का हठ, सुस्पष्ट रेखाओं द्वारा अकन, भाषा की चित्रात्मकता, प्रवाह और वेग जीवन की विमोचिकाओं पर हँसने की क्षमता, यन्म के अस्त्र से उन पर तीव्रतम मम प्रहार कथा के तार को समर्थ प्रतिभा से उठाने की क्षमता। इन सब गुणों को देखते हुए आपसे पाठक अधिक गुँथे हुए उपयास की आशा कर सकता है।

अमृतराय प्रगतिशाल कथाकार हैं और उन्होंने जीवन के दुःखों को ही अपने उपयास का केन्द्र बिंदु बनाया है। आपने उन नेताओं की अनेक दुर्बलताओं का काफ़ी पदाकाश दिया है, जो कभी जनता के दुःख मुष की बात शायद सोचते रहे हों किन्तु जिनको अब अपने विलास वैश्व के क्षणों से ही अवकाश नहीं मिलता। ‘हाथी के ढोंग’ हमें भारत के सामन्ती शोषण की एक मूलक देता है। इन सामंतों का छिक्का स्वयं भारत में भी उसी शान से चलता है, जैसे वह ब्रिटिश शासन में चलता था। ‘हाथी के ढोंग’ में विधानसभा में कांग्रेसी सदस्यों के विभ्रम करने के भी बड़े सफल और सजीव चित्र हैं।

अमृतराय पुलिस के धोड़ों का वर्णन करते हैं—‘घुड़सवार दस्ते बढ़ी आन बान के साथ अपने दोवार जैसे ढँचे धोड़ों पर जतार बाँधे लड़े हैं। पुलिस ज़ादम के घाड़ों का कथा कहना।’ इसनी जॉफिशानी से वे दस्ते मजबूत हुए हैं और इतनी अच्छी उनकी झुर्रा है कि उनके जिस्म बिलकुल सॉचि में डले हुए नजर आते हैं।

“काश कि मुल्क के ह सानों को बड़ दल भाज, बड़ से लपक बड़ झुर्रा मिल

सकती जो हम घोड़ों को मिलती है ।

“मगर वह कैसे हो, किमर्थ से ? मुक्त के इन्सान को इन्सान को ताकत के समझे नहीं हैं और यही है । दोना में एक तो होगा हो । इन्सान की बात है ।”

भाग्य की सजीवता और सफलता का एक उदाहरण गाँव में गत का यण है—
“आम महमदाकर बारे हुए थे । हवा महपु और आसमञ्जरी की ग न स, अलसायी हुई थी । हलकी हलकी पुरलैया वह रही थी, निममें ऐत की पीली सरलौ किसी अलबेली नवेली के आँचल की तरह खहरा रही थी और लौक की बेली थी । पड़ों पर चिड़ियों वहक रही थीं, जैसे आम को घर खींचकर निहावल बेतली स यवने दिन भर के तलुर्ष बधान कर रही हों । लौकों के लुरमुट चापस में कनबलियाँ कर रह थे । गाँव चरागाहों से लौट लुकी थी और आमपय निजैम हा चला था ।”

परिच्छेदों के शीर्षक भी बड़े आकर्षक हैं—गढ़े सुने, इ दर उभा, अगर । फरीय बर ह्य वमान अस्त, वहले पर नदला, मृगलुलना, लुननामृम आदि । ये शीर्षक प्रमाण हैं कि लेखक न बड़ी गहरी अनुभूति से विषय को आत्मसात् किया है ।

प्रतिभा के इन लक्षणों का स्वागत करते हुए मविष्य में उनके अधिक सफल तम वग की आलोचक आशा करता है ।^३



प्रकाशचन्द्र गुप्त

राह बीती

‘राह बीती’ यशपाल की दूसरी यात्रा पुस्तक है । पहली पुस्तक ‘खोदे का दीवार के नीचे ओर’ दिल्ली पाठकी म काफी लोकप्रिय हो चुकी है । इस पुस्तक में यशपाल ने सोवियत जनता की समृद्धि की तुलना पश्चिमी यूरोप से की थी । ‘राह बीती’ में स्लोव्हाकिया, पूर्वी जर्मनी, रूमानिया और अफगानिस्तान की यात्रा ने रोचक वर्णन हैं । यशपाल खुदले यम्भ, विनोद और हास्य में घोलकर अपने वक्ता प्रस्तुत करते हैं । अपने प्रयत्नशील विचार दर्शन के कारण आप वस्तु स्थिति के मम तक आसानी से पहुँच जाते हैं और उतका यथार्थ मूल्यांकन कर सकते हैं । आप आन्तरिक जनवाँ के आचार—उत्की आर्थिक भूमि—की परीक्षा निरन्तर कर सकते हैं ।

यशपाल का यह तीसरा यूरोप यात्रा भी । इस बार आप स्लोव्हाकिया के लेखक सम्मेलन में शामिल होने आया गये थे । यही पूर्वी जर्मनी और रूमानिया जान का निमन्त्रण भी आपको मिला । बम्बई से आयातक दवाइ यात्राका बड़ा चित्रात्मक वर्णन यशपाल ने किया है । फिर पाठक यशपाल के साथ रोम का चक्कर काटता है, कौलीसियम के सड्डहरोँ में बैठता है और

१ पृ० ८६ ।

२ पृ० २६ ।

३ लेखक—प्रमुनराय, प्रकाशक—हय मकाश । दवाइयाइ मूख २४) ।

प्राचीन कला के नमूने देखा है।

चैकोस्लोवाकिया, पूर्वा जर्मनी और रूमानिया — तीनों ही पिछले महायुद्ध के विध्वंस में काफी नष्ट हुए थे। इन देशों में पुनर्निर्माण की गति से यशपाल काफी छत्रुप हैं। पूर्वी बर्लिन में श्राप एक गुप्त अमरीकी सुरग का अँकों देखा हाल लिखते हैं। यह सुरग अमरीकी साम्राज्यवादियों ने पूर्वी बर्लिन के टेलीफोन एक्सचेंज के नीचे बनाइ थी, ताकि वे पूर्वी जर्मनी के समाचार गुप्त रूप से जान सकें।

चैकोस्लोवाक लेखकों के सम्मेलन में बहस सम्भार और ऊँच स्तर की थी। य लेखक अपने साहित्य को जन हित की प्रेरणा से तो अनुप्राणित करना ही चाहते हैं, वे अपने साहित्य का स्तर भी निरंतर ऊँचा करना चाहते हैं। इस सम्मेलन की बहसों पर बीसवीं सोवियत कांग्रेस की विचार धाराओं का काफी प्रभाव था।

यशपाल इस सम्मेलन में हिन्दी में बोले थे। बाद में उनके वक्तव्य का अनुवाद चैक भाषा में सुनाया गया। यशपाल के अनुसार चैक लेखकों की आर्थिक हालत बहुत अच्छी है। उनमें विश्राम गृह और आरामोद स्थल सभी सुख सुविधाओं से परिपूर्ण हैं। अपनी यात्रा में यशपाल ने पूर्वी यूरोप के समाजवादी जीवन के अनेक अंगों का परिचय प्राप्त किया। नगर, उद्योग घाँघे, आरामोद स्थल, गाँव, सामूहिक कृषि शालाएँ आदि आपने देखे। यशपाल के अनुसार इस समाजवादी सभार में मनुष्य का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा उठ रहा है। यह देश प्रगति के पथ पर अग्रसर है। फिर भी वे अपना विजय यात्रा से सम्पूर्ण रूप से सतृप्त नहीं हैं। वे जानते हैं कि अभी उन्हें बहुत आगे जाना है। अपनी प्रगति के लिए वे शांति की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव करते हैं। पिछले महासमर में भारी हानि और बेगना भेगने के कारण वे युद्ध जनित सङ्कट के प्रति विशेष रूप से सतक हैं।

यशपाल की पुस्तक हिन्दी पाठक को समाजवादी यूरोप की परिस्थितियों से परिचित कराएगी। पाठक का ज्ञान बढन तो पुस्तक से होगा ही, साथ ही उसका मनोरञ्जन भी यथेष्ट मात्रा में होगा। असावधानी के कारण कहीं कहीं पाठ में भाषा की अशुद्धियाँ हैं, जिन्हें अगले संस्करण में दूर कर देना चाहिए।^१

शिवकुमार मिश्र

कौड़ियों का नाच

वर्तमान युग मय का, विशेषतः क्या कहानियाँ (उपन्यास व आख्यायिका) का युग है। हिन्दी का क्या साहित्य इस युग में जितनी प्रगति कर रहा है, जितनी शीघ्रता से आगे बढ़कर प्रगति की मजिल पर पहुँचने का उपक्रम कर रहा है, कदाचित् इससे पूर्व उसमें इतनी गति न थी और न ही वह आज के अर्थों में इतना सम्पन्न था। आज हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास व

१ खेचक — यशपाल, प्रकाशक — विह्वल कार्यालय, लखनऊ मूल्य ३॥)।

छोटी कहानियों की, जिनमें रेखाचित्र, व्यंग्य चित्र सभी शामिल हैं, एक बाठ सी आ गइ है। स्पष्ट है कि यह सारा साहित्य जेष्ठ, सुंदर और स्थायी नहीं है। कारण स्वाभाविक है कि जब बाद आयो तो चामाम ग दी, बिजली और ओछी वस्तुएँ भी उतरा आयेगी, पर इसके बावजूद भी इस बाठ ने हमें कतिपय सुंदर, खेद और स्थायी चीजें एवं प्रतिमावाचक लेखक भी दिये हैं, साथ ही कुछ ऐसे भी, जिनमें अभी कुछ परिपक्वता नहीं आई, पर जिनमें भविष्य की सुंदर सम्भावनाएँ निहित हैं। जेष्ठ व और प्रसाद की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले जिन पुद्गल और नये लेखकों ने क्या कहानियों के क्षेत्र को समृद्ध किया है, क्याकारों की उसी पंक्ति में हम प्रस्तुत कहानों समूह की लेखिका श्रीमती सूर्यकुमारी बरुआ को भी रखते हैं।

प्रस्तुत समूह में लेखिका की दस कहानियाँ सम्मिलित हैं—(१) दूटा हुआ निराग, (२) नया सिंह, (३) छुट्टे का टाउन, (४) प्लास्टिक की बुनिया, (५) निराली शान, (६) काश्मीरी सुइला, (७) तिललियों की सभा, (८) केशव की बुझदौड़, (९) इसाबयत का मकाब और (१०) कौटिल्यो का नाच। इसी अंतिम कहानी पर ही समूह का नामकरण हुआ है।

प्रस्तुत समूह लेखिका की कहानियों का प्रथम समूह है। इसीसे लेकर उलट हिंदी साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया है। स्पष्ट है कि इस समूह की सभी कहानियों लेखिका की सुंदर कृतियों नहीं हैं, पर कुछ कहानियों ऐसी प्रशंस्य हैं जो लेखिका के होनहार भविष्य की ओर संकेत करती हैं। इस समूह में मैं समूह की प्रथम कहानी 'दूटा हुआ निराग' का उल्लेख करना चाहूँगा। नया कहानियाँ, जिनमें कुछ चलती हुई भी हैं, एक महत्वपूर्ण विशेषता लिये हुए हैं और वह है उन कहानियों में व्यक्त लेखिका का मानवतावादी दृष्टिकोण, आज के समाजगत संकटपोरा, सुनसुकुत, सत्य एवं 'खोलले दिमाग' वाले मनुष्यों एवं महिलाओं का, इस पूरे से पूरे समाज का चित्रण और इस चित्रण में झगड़ती हुई लेखिका की अवसाधारण्य के प्रति असीम प्रेम और निष्ठा की भावना, उस संकटपोरा का प्रति विरोध। तथा मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति लेखिका की अडिग आस्था।

लेखिका ने कहानियाँ में समाज के इस संकटपोरा तब के व्यक्तियों के दिमाग और दिलों की तरह में उतरकर, उनके विचारों और भावनाओं, उनके लिये बलापूर्व, उनकी सभ्यता और आचारों के इतने स्पष्ट, यथार्थ और निखरे हुए चित्र खींचे हैं कि वह समाज अपनी सारी वास्तविकता के लिए इन कहानियों में प्रकट हो गया है और वह वास्तविकता है उसका खोदला पन, उसकी बाहरी चमक डमक, और इस चित्रण द्वारा लेखिका ने इस समाज की घुड़न का जो पर्दाफाश किया है उसके लिए वह बचाई की पात्र है।

लेखिका इस समाज के उदार बहादुरों, उसकी सौम्य, उसकी घटकों से पूर्णरूपेण परिचित प्रतीत होती है और यही कारण है कि वह उसका इतना यथार्थ और जीवन्त चित्र देने में समर्थ हुई है और इस समाज से इसकी गहवाई से सम्पर्क होने पर भी लेखिका का स्वयं का व्यक्तित्व उससे कितना आदर और अलग है, यह भी इन कहानियों से पता लग जाता है। उसने एक सतक आलोचक को भोति इस समाज का देखा परखा है और उसकी एक एक रेशा उमारी है।

'दूटा हुआ निराग'—समूह की प्रथम कहानी—वास्तव में समस्याएँ हैं और लेखिका का मानवतावादी दृष्टिकोण भी उसमें पूरी तरह उमर उठा है। इसमें लेखिका ने लाहौर में रहने

वाले एक लखनवा शायर मियों बमाल का चित्र खींचा है—बढ़ शायर जो अपनी निधनता का बाजूबद भी एक बड़ा इन्सान था और जिसके ऊपरी ढाँचे को देखकर लोग बिसस घृणा करते थे, उसने भीतर उसे भोज्यकर देखा एक छोटी सी बच्ची ने और उसने उस बूढ़े, फतकट, पड़े हल शायर का अपने दिल का दुनिया दे डाला। कहाना बड़ी सज्जा उतरा है, मर्मस्पर्शी और आनंदक।

‘प्लास्टिक की दुनिया’, ‘निराली शान’, ‘कैशन की मुहंठ’, ‘नितलियों का समा’, ‘कौटिल्यो का नाच’, ‘इसानियत का नकाश’, ‘लुगरे का दान’, ऐसी कहानियाँ हैं जिनके शीर्षक ही उनकी विषय वस्तु को स्पष्ट कर देते हैं। समाज के ठीकी बग का चित्रण, वहाँ नाच होता है, पार्श्वों होती हैं, शराब के दौर चलते हैं, कैशन की मांग गौड होती है, स्त्री पुरुष सब के सब वहाँ वहाँ पार्श्वों और नाचरंग की दुनिया में निमग्न रहते हैं, बाहर क्या हो रहा है, जीवन का वास्तविक रूप क्या है, उसने सघर्ष जितने भीषण हैं, इन बातों में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं रहता।

‘लुगरे का दान’ कहानी में सेठजी नारी कलत्र को बनी बटिनाइ स एक हजार रुपये का दान देते हैं, पर साथ ही सुनीम को आगे देते हैं कि कमचारियों के बतन से ५ पीसदी काट लिया जाय। सुन दा के प्रश्न करने पर दी दी करते हुए उत्तर देते हैं—“यह भी तो मेरा दी पैसा है। मैं इन लोगों का हर साल जो बड़ीसी देता हूँ सा? यह बड़ीसी मैं इनसे दान में लूच करवा लूँगा, नहीं तो यह उसे सिनेमा सिगरेट, ताकी, वगैरह में खच करेंगे। जी हाँ आप इन्हें जानती नहीं ये छाने आदमी बड़े मज्जे करते हैं कमबख्त, जिस दिन सनरवाह मिलती है। सा मेरा वज्र है कि मैं इनका पैसा उधम कारज में खनबाऊँ। आप फिर न करें।” और रात को सुन दा ने विस्तर पर पड़े पड़े एक अजीब दृश्य देखा—

एक ज़ाटी सी काठरी आधरी और ग दी। वहाँ पर चार पाँच बच्चे शोरगुल मचा रहे थे। एक अधमग्न बच्चा जमीन पर पड़े पड़े बिसर रहा था। इतन में ही दरवाज पर एक खट स आवाज हुई और एक अधेड़ मारी ने प्रवेश किया। उसके शरीर पर एक पट्टी हुई घोसी था, घाल बिसरे हुए थे। उसने सुनदा की ओर देखा और वाली दवर बोली तुम कोन हा मी, ओर या डाकू? गरीबों का घेठ काटकर समान लवा करोगी? हमारी खून पसीन की कमाई को छीनकर तुम सस्था बनाओगी जहाँ पाटियों हों, नाच गाना हा तुम्हारा लिक्खर हो, नाम हो। दे मेरे रुपये, खुदैंल कहीं की, बेईमान”

“ दूसरे दिन सुन-दा लव रूपवे सेठजी का मज पर पटक आई और सस्था को स्वागत दे दिया।”

‘प्लास्टिक की दुनिया’ में डाला (कहानी की नायिका) का चित्रण—“डाला समाज की प्रेमिका है। विशेषकर जब स डालोने अपने पति को ललाक द दिया है तब स ता वह बहुत प्रसिद्ध हो गई है। सुना है कि उहुत अमीर हैं और बड़े ठाठ स ज़िन्दगी बसर कर रही है। बगल्ला है माटर है बैरा है। उनकी चामदनी का जरिया क्या है यह किसीको मालूम नहीं। उसकी आँखें सुन्दर हैं होन्ल क साइन बोर्ड की तरह चमकदार, शरीर ज़रहरा अ धर कमर में गान क लिण नवी हुई साड़ी की तरह सुभावदार आवाज सुरीली जैसे शराबखाने के काउण्टर पर मिक्की की खनन-बनन”

'नरसी शान' में उषार मोंगकर अपना रोच बनाने वालों का चित्रण किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सारी कहानियों के पाछे लेखिका का एक उद्देश्य है और उस उद्देश्य की पूर्ति में वह पूर्यस्वेष सफल हुई है। वह उद्देश्य कौनसा है, इसे हम पीछे बता चुके हैं।

जहाँ तक कहानियों की कलात्मक मौल्यता का प्रश्न है 'दूटा हुआ निराग' को छोड़कर शेष कहानियों कला की कमौड़ी पर पूरी तरह पूरी नहीं उतरती। अविच्छाद कहानियों की विषय वस्तु समान होने के कारण उनमें समानता का असाध्य टीस पड़ने लगता है। कुछ कहानियों में शिथिलता और उलझापन भी स्पष्ट भ्रमकता है। 'काश्मीरी मुहल्ला' में कोढ़ जगा हो नहीं है, 'कैशन की पुख्वाड़', 'सितलियों की सभा' कहानियों भी शिथिल हैं। कुछ कहानियों में निरी बर्णन मात्र हैं। नास्त्य में लेखिका की लेखनी अभी पूरी तरह मेंव नहीं सकी, वह अभी विकास के रास्ते पर है, उसमें क्षमता है, यह बात भी इन कहानियों से प्रकट हो जाती है।

भाषा सम्य घी कुछ त्रुटियों भी हैं, व्याकरण सम्य घी अशुद्धियों भी हैं, पर कम। बाली का बिच लोचने समय, जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, भाषा में 'उ-होने', 'उनकी' आदि शब्दों का व्यवहार न होना चाहिए था, इनके स्मा पर 'उसने', 'उसकी' शब्दों को प्रयुक्त होना चाहिए था। इन छोटा मोटी कुछ त्रुटियों के अतिरिक्त, वैसे भाषा सरल, सतत प्रवाहमयी, सुभाषेय, स्पष्ट व सजीव है। ललनवीपन की छाप भी भाषा पर स्पष्ट भ्रमकती है। पात्रोन्नत भाषा का स्वरूप विशेष दर्शनीय है।

'कोड़ियों का नाच' लेखिका का प्रथम कहानी संग्रह है, इस कारण कहानियाँ में कुछ अपरिपक्वता होने पर भी लेखिका के प्रयत्न का स्वागत करना चाहिए, विशेषकर इसलिए कि लेखिका में भविष्य की सुंदर सम्भावनाएँ दृष्टिगत होती हैं। उसका यह संग्रह इस कथन का उदाहरण है। सुलत की छपाई, मकान, गेट अब आदि भी सुंदर व आकर्षक हैं। मूल्य भी उचित है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में लेखिका अधिक मौल्य और कलात्मक कहानियों के साथ अपनी सम्भावनाओं को उल्लेख करेगी।*



रामचंद्र तियासी

हिन्दी-रीति-साहित्य

हिन्दी का रीति साहित्य अध्ययन और मूल्यांकन की दृष्टि से प्रायः उपेक्षित ही रहा है। द्विवेदी युग की सुधारवादी प्रवृत्ति पर सजीव नैतिक दृष्टि न हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी की इसके अध्ययन से प्राप्त रहा। समाज यह मान लिया गया कि आधुनिक युग चेतना के विकास में यह अध्ययन अज्ञातकार होगा। समाज की दान रिपोर्टों तथा मिथवा-पुस्तों के वृद्ध

१ लेखिका—सरपंचकुमारी बसन्ती, प्रकाशक—रजना प्रकाशन, जलनक।

इतिहास के माध्यम से रातिकालीन प्रचुर साहित्य प्रकाश में तो आया, किन्तु सन्तुलित दृष्टि से उसका मूल्यांकन प्रायः नहीं हो हुआ। जाबू श्यामसुन्दरदास के उदार दृष्टिकोण तथा आचार्य शुक्ल की सामञ्जस्यमयी याथार्थिक दृष्टि ने इसके मूल्यांकन की परम्परा को आगे बढ़ाया। देव और विहार के भगदे ने भी रीति साहित्य का कम उपकार नहीं किया। कम से कम, लोगों का दृष्टि इस ओर मुड़ा और वे इसे क्षण भर रुककर देखने की विवश हुए। डॉ० नगेन्द्र द्वारा प्रस्तुत 'रीति-साहित्य की भूमिका' महाकवि देव की हाँ पृष्ठभूमि बनकर नहीं आई, उसने रीति-साहित्य के अध्ययन की विस्तृत पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत की। आचार्य विश्वनाथ मिश्र द्वारा प्रस्तुत धनानन्द, बिहारी तथा अन्य रीतियुक्त और रातियुक्त कवियों से सम्बद्ध मौलिक सामग्री ने इस साहित्य के प्रति हमारी उदासीनता दूर की। प० परशुराम चतुर्वेदी का 'नव निबन्ध' और डॉक्टर राजे श्वर चतुर्वेदी का 'भृगार रस विवेचन' तथा इस प्रकार के अन्य छोटे बड़े प्रयासों ने रीति साहित्य के अध्ययन को जागृत रखा है। लखनऊ विश्वविद्यालय से पीएच० डी० के लिए प्रस्तुत प० मन्नकिशोर मिश्र का 'रीतिशालीन अवध के कवि' शोध निबन्ध अभी प्रकाश में नहीं आया है। निश्चय ही यह अध्ययन इस युग के बहुत से कवियों तथा प्रधान प्रवृत्तियों के विषय में नवान सामग्री उपस्थित करेगा। डॉ० भगीरथ मिश्र का प्रस्तुत अध्ययन उपयुक्त समस्त सामग्री को आत्मसात् कर हिंदी रीति साहित्य के सन्तुलित मूल्यांकन का नवानतम सफल प्रयास है।

डॉ० मिश्र ने हिन्दी का यह शास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करते समय रीतिकालीन सम्बंधी साहित्य को अपनी आँखों पर रखा है। तब से बराबर इस सम्बंध में खोजने और अध्ययन को आगे बढ़ाने का अवसर उन्हें मिलता रहा है। प्रस्तुत अनुशीलन इसी चिंतन और अध्ययन का परिणाम है। इस दृष्टि में उनीस पृष्ठों की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत लोकमाया की परम्परा, रीति साहित्य के विकास के कारणों तथा राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों पर विचार किया गया है। परिस्थितियों के अध्ययन का विशेषता यह है कि उनका सीधा सम्बंध रीति साहित्य की प्रवृत्तियों से लिखा गया है। परिस्थितियों और प्रवृत्तियों एक दूसरे से विचि तनी नहीं हैं। इतिहास प्रयोगों से प्रमाण उपस्थित करते समय डॉ० इश्वरप्रसाद के इतिहास से हाँ बार बार उद्धरण देना मोड़ा लक्ष्यता है। इस सम्बंध में— *Life and Condition of the People of Hindustan*—कुँआर अशरफ की कृति का भा आधार लिया गया होता तो झ झ ही था। यद्यपि अशरफ महोदय का अध्ययन १५५६ ई० तक ही सीमित है, किन्तु जीवन प्रणाली का ज्ञात आगे भा लगभग ठसी स्थिति में रहता आया है। इसी पृष्ठभूमि के अन्तर्गत रीतिशालीन जीवन के ऐहिक पक्ष पर प्रस्तुत सामग्री रोचक और नवीन है।

इस अध्ययन का तीन अर्थ प्रमुख विशेषताएँ लाक्षण की जा सकती हैं—

(क) हिंदी रीति साहित्य में भी 'अलंकार', 'ध्वनि', 'रस' और 'रीति' सम्प्रदायों की स्थिति का प्रबलोकन।

(ख) पूर पम्परा के रूप में संस्कृत के उपर्युक्त सम्प्रदायों का सक्षिप्त किन्तु सचेष्ट परिचय।

(ग) अन्त में रीति का यह सग्रह के रूप में सुव्यवस्थित छन्दों का सग्रह।

हिन्दी में अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत लेखक ने 'नेशव', 'असवन्तविह', 'मतिराम', 'भूषण', 'गोप', 'सखि सुमति', 'गोविंद', 'दूलह', 'वैरीलाल', 'गोकुलनाथ', 'पद्माकर' आदि

आचार्यों को स्थान दिया है। आधुनिक युग के आलम्कारियों में लछिराम, कविराज मुरारीदास, क. हेमलाल पोद्दार, लाला भगवान्‌दास, रामशंकर शुक्ल 'रसाल', जगन्नाथ मोदवा और मिश्रकथुओं की कृतियों पर विचार किया गया है।

हिन्दी रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत सुन्दर कवि, चितामणि, तोष, भतिराम, कुमारमणि मट्ट, रमलीन, भिलारीनाथ, रूपसाहि, उजियारे, यशवन्तसिंह, रामसिंह, पद्मनाभ, रसिक गोविन्द, बेनी प्रवीन, शाल, लछिराम, प्रतापनारायणसिंह, हरिऔध और बिहारीलाल मट्ट आदि आचार्यों की कृतियों को स्थान दिया गया है।

ध्वनि-सम्प्रदाय के अन्तर्गत कुलपास मिश्र, देव, सुरति मिश्र, कुमारमणि मट्ट, धीपति, सोमनाथ, भिलारीनाथ, प्रतापसाहि, लछिराम, सेठ क. हेमलाल पोद्दार और पं० रामदहिन मिश्र की कृतियों को स्थान दिया गया है।

रीति सम्प्रदाय में रहीम, सेनापति, बिहारी, मविराम, देव, घनानन्द, भिलारीनाथ, रतलीन, बेनी प्रवीन, पद्मनाभ, आदि की गणना की गई है।

जहाँ तक नवीनता का प्रश्न है, निरुद्ध हिन्दी रीतिवालीन आचार्यों की मा'पताओं में संस्कृत साहित्य में प्रवर्तित विभिन्न सम्प्रदायों की छाया डूँकर डूँकर की शास्त्रीय सम्प्रदायिक बर्गीकरण हिन्दी साहित्य में पहली बार किया गया है, किंतु इसमें थोड़ी गड़बड़ी या अनुविषा मो (पाठकों का ध्यान में अधिक) सम्भावित है। निश्चित है कि हिन्दी-साहित्य के अधिकांश आचार्य न तो किसी विशेष शास्त्रीय सम्प्रदाय की स्थापना करना चाहते थे और न अपने को उस सीमा में बाँधना ही चाहते थे। अतः इस प्रकार की सम्प्रदाय स्थापना में एक ही आचार्य को दो या तीन सम्प्रदायों में समाहित करना पड़ा है।

इस अध्ययन में रीतिकालीन स्वच्छन्द कवियों के साथ भी थोड़ा अन्वय हुआ है। बना नटवी के जो कवि "सुच्छन्द सदा रहे" वे रीति की शृङ्खलाओं में बँधकर अपनी विवशता दिखा रहे हैं। यह ठीक है कि रीतिकालीन टीकाकारों ने उनके छन्दों में भी नायिकाओं को छुड़कर छोड़ा कर दिया है, किन्तु उनकी मूल प्रवृत्ति स्वच्छन्दता की ओर ही है। वैसे तो सभी युगों में कवि किसी न किसी रीति का अनुसरण करने को बाध्य होता है। छायावादी कवि भी तो एक विशेष प्रकार की परिपाटी में बँधे रहे हैं।

यह होने पर भी डॉ० मिश्र की प्रस्तुत कृति विप्लव, सतृप्ति, सचेष्ट और विरवाच पूरा मूलपाठन की परम्परा में एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकृत होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।



लक्ष्मीरमण बाख्येय

पद्मसिंह शर्मा के पत्र

विद्यार्थी जीवन में एक बार आत्माय प० पद्मसिंह शर्मा के दर्शन हुए थे। प० बनारसीगसजी जतुर्वेणी और प० हरिशंकरजी शर्मा द्वारा सम्पादित 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' १९४९ उनकी मृत किर सनीव हो उठी। यह इस पुस्तक की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

किसी लेखक या कवि की कृति का उसके यत्नित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। उसकी कला उसके यत्नित्व की प्रतिभूति होती है। इसीलिए उसकी रचनाओं का प्रलीर्भोति अध्ययन करने के लिए उनसे जीवन और उन अर्थों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है जिनसे उसके यत्नित्व का निर्माण होता है। उसकी प्रकाशित रचना से उसने यत्नित्व के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात होती अवश्य हैं, किन्तु उसके प्रकृत स्वरूप के जानने का अवसर प्राप्त नहीं होता। उसने जीवन और फलतः रचनाओं की छोटी बड़ी सभी सघियों जानने के लिए पत्र मूलाधार का काम देते हैं। इन्हीं सघियों पर उसका सामाजिक रूप आधारित रहता है। सामाजिक जीवन में कवि या लेखक को दुराव छिपाव भी करना पड़ता है, कहीं कहीं उसे गौन मी चारण करना पड़ता है। पत्रों में उसका वास्तविक यत्नित्व प्रकट होता है। इसलिए यदि किसी रचना का अध्ययन करने के लिए उसके रचयिता के जीवन का अध्ययन करना जरूरी है, तो जीवन को वास्तविक रूप में जानने के लिए कृपापात्रों, मित्रों, पाठकों, विश्वस्त यत्नियों आदि को लिखे गए पत्रों से उसने मन के कोने कोने में झोंकने का अवसर मिल जाता है। इससे साहित्य का अध्ययन यत्नित्व का अध्ययन के साथ साथ होता चलता है। साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से, फलतः, पत्रों का विशेष महत्त्व है।

ऐसे की बात है कि साहित्य के दृष्टने उपयोगी अंग की हिन्दी में उपेक्षा होती रही है। बीवनी-साहित्य और पत्र साहित्य का दृष्टि से हिन्दी भाषा आज भी बहुत समृद्ध नहीं बड़ी जा सकती। अनेक महापुरुषों की जीवन गाथाएँ तो विस्मृति के महा-चक्रार में विलान हो ही चुकी हैं। पत्रों को मुद्रित रूप में वाले लोगों का भी हमारे समाज में कुछ अभाव-सा मिलता है। जैसा कि प० बनारसीगसजी जतुर्वेणी ने अपनी सुंदर भूमिका में कहा है, 'पत्र लिखना भी एक कला है और पत्र समझ करना भी एक कला है। यह कला जितने अधिक लोगों में हो उतना ही अच्छा है।'

यूरोप में बीवनी लेखकों तथा साहित्य के विद्यार्थियों ने पत्रों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है और अनेक प्रसिद्ध साहित्यिकों तथा महापुरुषों के पत्र समग्र प्रकाशित हो चुके हैं। बायरन, बीट्स, मार्क्स, एंगल्स, स्टीवेंसन, तुगनेव, टॉल्स्टाय, बॉसन आदि महापुरुषों के विचारों का मूल तत्त्व समझने के लिए उनके पत्रों से विशेष सहायता मिलती है। पत्रों का अध्ययन करने से हम उनकी कला विभूति और आत्मा की महत्ता का पता लगाने में समर्थ होते हैं, उनके जीवन की अछादियों और कमजोरियों द्वारा उनका मानव रूप समझने में सहायता प्राप्त करते हैं। उद्गू और बगला में भी पत्र साहित्य का प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी में इस निशा में जितना कार्य होना चाहिए या उतना तो अभी नहीं हुआ, किन्तु यह संतोष की बात है कि अब कुछ महापुरुषों का ध्यान इस ओर गया है। आशा है उनसे

प्रेरणा प्रदत्त कर इस कार्य के बढाने में अत्यन्त सन्तुष्ट भी प्रकट होंगे। जिन थोड़े से महात्माओं का ध्यान इस ओर गया भी है उनके माग में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

हिन्दी में अभी तक जिन साहित्यिकों के पत्रों का सम्ग्रह करने की ओर सबसे अधिक प्रयत्न किया गया है और किया जा रहा है, उनमें स्वर्गीय आचार्य दिवेगीजी और आचार्य पद्मसिंहजी शर्मा प्रमुख हैं—यद्यपि प० बनारसीदासजी चतुर्वेदी तथा प० हरिश्चन्द्रजी शर्मा ने कुछ अल्प पत्र-संग्रहों का भी उल्लेख किया है। हाल ही में 'दिवेगी पत्रावली' शीघ्र ही अन्तर्गत उनके पत्रों का एक सम्ग्रह प्रकाशित हो चुका है। अस्तु 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' शीघ्र सम्ग्रह द्वारा महत्पूर्ण सम्ग्रह है। नास्त्य में शमाजी के पत्र बला की दृष्टि से अद्भुत पत्र हैं। उनका व्यक्तित्व विविधता सम्पन्न था। अपने समय के साहित्य निमाग में उनका पूरा योग था। उनके पत्र पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पद्मसिंहजी केवल प्रकाशक परिचित ही नहीं थे, वरन् उनमें व्यापक बुद्धि, साहस, निर्भीकता, विचारों की दृढ़ता और अभिमान था और, सर्वोपरि, उनका मनन रूप इन पत्रों से मनीषाति सिद्धि हो जाता है। भाषा, व्याकरण, रचनादृष्टि और साहित्यिक सूक्ष्म की दृष्टि से उनके पत्रों में उनकी सरल स्वाभाविक, किन्तु शक्ति सम्पन्न और घरेलू शैली के स्थान होते हैं। सम्ग्रह में सत्मा पारसनाथसिंह, विद्योनी हरि, हरिश्चन्द्र शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, हरिदत्त शास्त्री, बालाशक्त शर्मा, बालाशक्त शर्मा, मित्रि द, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीमतेन शर्मा, इयामसु दरदास ज्योति, मोहनलाल महतो 'विद्योनी', कुँवर सुरेशसिंह, आध्यात्म शर्मा 'शकर' आदि की मिले गए पत्र हैं। परिशिष्ट में प० श्रीराम शर्मा, प्रेमचन्द, अकबर इलाहाबादी और राजे द्रमसद द्वारा अन्त पद्मसिंहजी के सम्बन्ध में विचारों का सफल है। प० बनारसीदासजी चतुर्वेदी और प० हरिश्चन्द्रजी शर्मा का पद्मसिंहजी से घनिष्ठ सम्पर्क था। ऐसे उपयुक्त व्यक्ति द्वारा इस ग्रन्थ का सम्पादन होने से उसका मूल्य और भी अधिक हो गया है। कुछ पत्रों ने फोरो दे देने से प्रत्यक्ष हस्त लिपि विशारदों ने लिख भी उपयोगी बन गया है। यह निष्पत्तिमें देकर सम्पादक द्वय ने और भी अच्छा काम किया है।

लाभप्रद प्रत्येक पत्र से पद्मसिंहजी की विचारधारा तो स्पष्टता ही है, उनकी रचनाओं में सम्बन्ध में भी अनेक आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। पद्मसिंह शर्मा दाहप के लोग तो अनेक साहित्यिक क्षेत्र में मिलते नहीं। उनके पत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे आदर्शपूर्ण साहित्य रस में डूबे रहते थे। गाने उगाने या बीमापी की बात तक कहने में उद्यमान साहित्यिकता प्रशंसित की है। उनके इस पत्रों में वह सजीवता तथा शुद्ध हिन्दी के लिए वे साहित्य में प्रतिबद्ध हैं। प० बनारसीदासजी चतुर्वेदी की लिखते हुए एक पत्र में उद्यमान लिखा है—'दीने हममें कुछ पस खेचकों पर प्रकाश डाला है जो दलबन्दी की ओरों के कारण द्विप हुए हैं। जिन लोगों ने क-वेसिम, प्रोपेनेषदा या दलबन्दी के समय अपना लिखका बिदा रखा है उ-हीका गुणगान होता है। पुष्पाप काम करने वाला को कीद नहीं पड़ता। बात 'मनीषी चोखी' बावन सोके पाव रची—यानी बिबुध सही और सच है। फिर 'उद्युक्त की दृष्टि' भाषा का आनन्दान आनन्द की है। उस उद्युक्त की दृष्टि भाषा की बात को उस गुण गुण पोषे से लेकर पोषे वाले चोखों ने कद पुस्तकों को दोहराया है—'श्रमाक्ष रोद्धम म्याय' का परिचय दिया है—इसलिए इसको और भी जरूरत थी, आप ही कहिए, भी या मनी ? ई

तो समझता हूँ—थो, और जरूर थी, आपने ता प्रापगेरदा अद्वैत मॉन भूँजकर फिर मोथरा कर दिया, सोदावाटर का ठवाल धाकर रह गया, पर मैं इस अनथ और बायाचार को यों चुपचाप सह लेना नितांत अनुचित समझता हूँ। "इससे उनका अन्धारे के प्रति रोष, सचाइ और निर्भोक्ता का परिचय मिलता है। उनके सहानुभूतिपूर्ण हृदय का प्रमाण दमिए—' एसी घनाई बड़ी हृदय विदारक होती है। जीवन को भारभूत बना देती है। वदू क एक कवि ने सच ही कहा है—

हरनयन आह और अनफास पै जीने का मदार,
जिन्दगी आह-सुमलमब्द के सिवा कुछ भी नहीं।

नीना क्या है, दु खों का भार डोना है, जो डाला ही पड़ता है, खाचारी है। वदू हिन्दी के साहित्य सवियों की सच्ची चीवनी लिखी जाय, तो दु ख-गाथाओं का एक भारी पाधा बन जाय। गाझिब और अकबर यही रोना रोत रोत मर गए। शकरजी और द्विधोत्रा (स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी) का भी यही हाल है। कौटुम्बिक व्याधियों न दमिती है। भगवान् राम के आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं। पड़कर जी मर गया। साहित्य सवियों की जीवनी में दु ख-हो-दु ख भरा है। " पद्मविहारी के द्रवीभूत हृदय और उनकी मानसिक दशा बताने वाली ये पंक्तियाँ उनके मानव रूप की घोषणा करती हैं। ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण इस संग्रह से लिये जा सकते हैं का पद्मविहारी के पूर्ण व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं। उनकी साधनोद, शिलाय से प्रेरणा, दम्भ से अरुचि, आत्मगौरव, निर्भीकता, आत्मश्रम, साहित्य सेवा, बहुता, भाषाविचार आदि अनेक बातों का इन पत्रों से पता लगता है। उनके लिए यह कहा गया है कि सरस्वती की रक्षा के लिए तो वे 'बल्लना शमशेर' थे। प्रस्तुत पत्र-संग्रह से इस कथन का सायकता पूर्ण प्रमाणित होता है। उनका मानव रूप और साहित्यिक रूप दोनों ही उनके पत्रों में भनीभाति प्रतिबिम्बित हैं। इसीलिए यह पत्र संग्रह साधक, सकल और उपयोगी है। ऐसे सुन्दर ग्रन्थ के लिए सम्पादक-द्वय बचवाद के पात्र हैं।"

मोलानाथ निवारी

पुरानी राजस्थानी

इटली के सुप्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० एल० पी० लेस्सिगोरी का 'Notes on the Grammar of the old western Rajasthani with special reference to Apabhramsa and Gujarati and Marwari' शीर्षक प्रसिद्ध शोधपूर्ण निबन्ध 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी' में चार बार वहिक रूप से १९१४, १९१५ तथा १९१६ के कुछ अंकों में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत पुस्तक उसी निबन्ध का डॉ० नामचरविह द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद है। डॉ० लेस्सिगोरी के इस निबन्ध के महत्व के सबब मैं डॉ० मुनातिकुमार चाट्टाजी के कुछ वाक्य द्रष्टव्य हैं—

'राजस्थानीविद् स्व० एल० पी० लेस्सिगोरी ने 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी' पत्रिका के

१ सम्पादक—प० बनारसीदास चतुर्वेदी और प० हरीशकर शर्मा प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली—६ १९२६ मूल्य ६) ५० स० २२१।

के पूर्व या बाद में उन पर एकरूपता की दृष्टि नहीं टोड़ा गई है। यदि अनुवाद में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द पहले स्थिर कर लिये गए होते तो एक ही अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द के लिए वही किसी और वही हिंदी पारिभाषिक शब्द को प्रयुक्त करने की स्थिति भी सामान्य बनना पड़ता। इन नये नये प्रयुक्त शब्दों में कुछ शब्द (जैसे Illative के लिए 'पारिभाषिक' तथा 'निष्पद्यमाचक') प्रायः एकसे ही हैं, पर पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार के अंतर भी न रहने देना स्थिराकरण की दृष्टि से प्रायः अच्छा होता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, डॉ० सिंह ने कुछ अंग्रेजी शब्दों की हिंदी प्रतिरूप गढ़ लिये हैं, पर कई स्थलों पर समवत शब्दों को गढ़ने की कठिनाई का कारण ही उन्होंने अंग्रेजी शब्दों के ही प्रयोग कर लिए हैं। इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं—

१ स्वरों के बीच व्यंजन की शक्ति खो देता है और जैन प्राकृत की य भुक्ति की तरह Euphonic तत्त्व के रूप में प्रयुक्त होता है।^१

२ Precative बहुवचन के पदान्त में 'ज' विकल्प में सरल होकर य हो जाता है।^२

३ कुछ और अधिक खोर देने के लिए कर्णकारक सहायों में यौगिक appendage की तरह जोड़ दिया जाता है।^३

४ मारवाड़ी में हमें परो, बरो, रो विशेषणों का उपयोग करके एक प्रकार के Verbal intensives बनाने के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं।

५ ध्यान देने योग्य है कि कविता में एक प्रथमपुरुष सवनाम में सभी कारकों में मात्रा की दृष्टि से anacaps है।

६ यह क्रिया के पहले Proclitically रखा जाता है।

इतने परिश्रम से डॉ० सिंह ने इस पुस्तक का अनुवाद, संकलन अनुवाद, किया है और काफी शब्दों के पर्यायों का निमोष किया है। ऐसी स्थिति में यदि थोड़ा और अम और समय देकर इन अंग्रेजी शब्दों को भी, जो सच में एक दबन से अधिक नहीं हैं, हिंदी रूप दे दिया गया होता तो अनुवाद और भी पूर्ण हो जाता। यह रणरत्न समवत अलसी करने के कारण हो गया है, क्योंकि समवत इनमें से कुछ शब्दों के हिंदी पर्यायों का प्रयोग इसी अनुवाद में अवश्य हुआ है।

पुस्तक के अंत में इसमें आए राजस्थानी शब्दों की यदि एक अनुक्रमणी दे दी गई होती तो इसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती।

कहीं-कहीं प्रूप की कुछ साधारण अशुद्धियाँ हैं। पृष्ठ १६ १७ पर ६ पंक्तियों में बार छप गई हैं। पर ये सब नगण्य हैं।

ऊपर दिये गए सामान्य स्थलों के वास्तविक पुस्तक का अनुवाद सुंदर, प्रकाशन सुहाव, पूर्ण और छपाई सुंदर तथा शुद्ध है। अनुवाक तथा प्रकाशक दोनों हिंदी सत्कार का बधाई का पात्र हैं।^४

१ पृ० ३४ २ पृ० ४२ ३ पृ० ६६

४ 'पुरानी राजस्थानी', लेखक—डॉ० एल० पी० तल्लोरी, कलु०—मा० नामवरसिंह, प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

शिवकुमार मिश्र

वैकसी का मजार

‘वैकसी का मजार’ हिंदी के जाने माने कथाकार, ‘बंदा’, ‘विकास’, ‘मंगलीस’, ‘विश्व-न’ आदि उप-यासों के रचयिता, सुशील प्रतापनारायण श्रीवास्तव की ज्ञानतम कृति है। इस कृति में सुशील ने अपने अन्य उप-यासों से भिन्न एक ऐतिहासिक कथा-क को अपनी लेखनी का आधार बनाया है और वह कथा-क भी ऐसा जो अतीत का होते हुए भी, आज भी हमारे लिए उतना ही ताज़ा और मया है, जितना स्व-या—और वह ऐतिहासिक कथा-क है—भारत के प्रथम स्वातंत्रता संग्राम का कथा-क, सन् १८५७ की जन-क्रांति का कथा-क, एक ऐसे कथित से सम्बन्धित जो एक साथ बादशाह, दार्शनिक, बलि-समी-कुटुम्ब था, अपने प्रायों से भी अधिक धारे-धुरों-य-धुरों के बड़े हुए सिर को देखकर भी (निश्चय-पूर्वक ने उसके पास भेजा था) अत्यंत धैर्य और मुग पर अपूर्व शांति धारण कर बैठने केवल इतना ही कहा था—

“अबलाह मद-सिंहलाह” तैमूर की आलाह-पसी ही सुलक-होकर बाप-सामने लाया करती थी।”^१ हमारा हथारा मुगल-परा के आखिरी चिराग-महमूदशाह-शाह ‘अफर’ की ओर है, जो सन् १८५७ में अपनी घूमित किन्तु ऐसा-च्योति के लिए जल रहा था जिसने आगामी के बीजों से अगल-गतों को अपने ऊपर जलकर भस्म हो जाने के लिए प्रेरित किया और बाद को स्वयं भी बुझ गया, पर भारतीयों के हृदय में ऐसी यादगार छोक-र, ऐसी निष्ठा और कर्म-वता फूँ-पर, जिसका परिणाम १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत-वर्ष की पूर्ण-स्वाधीनता में मजद-हुआ।

ऐसे ही इतिहास-प्रसिद्ध-यति-ल और उससे सम्बन्धित सन् १८५७ की लोम-सर्प, मंगलना और अधिकांशतः सत्य-घटना-आ को लेकर उपरोक्त उप-यास की, जो हिमाई आकार के ५५२ पृष्ठों का है और अपने मूल्य के रूप में पूरे दस रुपये की माँग करता है (जो औसत पाठकों के लिए शायद बहुत अधिक है), स्व-या-हू है।

उससे पूर्व हम इस भ्रम को मिटा देना चाहते हैं कि जब उप-यास सन् १८५७ की घटनाओं से सम्बन्धित है तो उसका नाम ‘वैकसी का मजार’ क्या रखा गया ? इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन है कि सन् १८५७ की जन-क्रांति की ओर अत्यंत-एक-देखी का मजार ही कही जा सकती है, दूसरे ‘वैकसी का मजार’ शीर्षक महमूद-शाह की एक सुन्दर भूमि की अंतिम-पक्षियों से सम्बन्ध-रखता है जो अपने भावों में निरन्तरी सुन्दर है, महमूद-शाह ने तत्कालीन-व्यक्तियों को उभारने में भी उतनी ही सफल

१ His animal passions not satisfied, their heads were severed from their bodies and presented to Bahadurshah on which the aged Emperor with unimaginable calmness remarked —

Allah mad illah

* (History of Modern India—Dr Ishwari Prasad and S. K. Subedar, Page 262) उप-यासकार ने उप-यास में इस समय महमूद-शाह को अत्यंत हीना हुआ निर्यात है जो कदाचित् ठीक नहीं है।

पाह । बहादुरशाह 'जफर' की उस 'जम्' की आतिशी पत्नियाँ यों हैं—

कोई मुक्त पै पूछ चढ़ाय क्यों, कोई झाक समा जलाय क्यों,

काई मुक्त पै अरक बहाय क्यों, कि मैं बेकसी का मजार हूँ ।

उपवास का अन्त भी इन्हीं पंक्तियों से होता है, अतएव जहाँ तक उपवास का शीर्षक का औचित्य का प्रश्न है, हम उससे सहमत हैं ।

अब उपवास की क्यावस्तु को लीजिए, उपवास का लेखक जिस तथ्य को उपवास के अन्त मार तथ्यों से अधिष्ठान देता है । ५५२ पृष्ठों के इस वृहत् उपवास में कथानक का ढाँचा काफी वाचक घटनाओं का आधार पर निर्मित किया गया है । १८५७ का स्वाधीनता संग्राम जैसे ही अपने भातर अगणित घटनाओं को आत्मसात् किया है, उन घटनाओं का एक विरोध यन्त्रित का साथ तारतम्य जोड़कर, ऐसे कथानक का ढाँचा निर्मित करना जो एक साथ ही उक्त व्यक्ति का विषय में भी सब कुछ स्पष्ट कर दे, साथ ही स्वाधीनता संग्राम की भी 'वाचक' अलङ्कार प्रस्तुत करे और फिर आकषक का रोचक भा हो—काफी परिश्रम साध्य कार्य है । यह कारण है कि यद्यपि उपवासकार का मस्तिष्क में कथानक का ढाँचा निर्मित करने में पौंच छ घण्टा का समय लगा, फिर भी वह विभिन्न ऐतिहासिक व काल्पनिक घटनाओं की सुसंगठित व सम्यक् योजना करने में पूर्णरूप से सफल नहीं हो पाया, हाँ उसने इतनी सफलता अर्जित की है कि पाठक इस वृत्त उपवास का एकबारगी ही आतिर तक पढ़ जाता है । यह सफलता कुछ कम नहीं है । असफल उपवासकार इस अर्थ में दुःखी कि जिस महान् पूर्ण 'वक्ता' विशेष का उसने कथ वस्तु का प्रस्तुत करने का इच्छा की, उसका नाम तो चरित्र ही पूरी तरह उभर पाया है और न उससे सम्बंधित सारा घटनाएँ ही आसानी हैं, केवल उनकी अलङ्कार मात्र मिलती गई है जो कथानक में ही है । बहादुरशाह का स्थान पर उपवास का १८५७ की क्रांति की ही गाथा बन गया है । क्रांति की योजना किस प्रकार हुई, किस प्रकार वह प्रारम्भ होकर असफल हुई, उपवास में प्रस्तुत रूप से यही वास्तव है । क्रांति की घटनाओं ने बहादुरशाह से सम्बंधित घटनाओं को विरुद्ध दान दिया है । बहादुरशाह का भाग्य निम्न के परचात् की घटनाएँ अत्यन्त छोड़ दी गई हैं, पर इतने हमारे उपरोक्त कथन में कोई अन्तर नहीं आता । घटनाएँ अधिकांशतः देश भर की क्रांति से ही सम्बंधित हैं, न बहादुरशाह से और न दिल्ली से ही, जैसा कि उनकी होना चाहिए था । इस प्रसंग में हम भी वृद्धावनलाल घमा के 'भौंसी की रानी' उपवास की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिसमें सारा घटनाएँ रानी व प्रमुखतः भौंसी से सम्बंधित हैं और यही कारण है कि 'भौंसी की रानी' एक सफल कृति बन गयी, पर प्रस्तुत उपवास का विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता । कथानक का घटनाओं का दिल्ली से सम्बंध मूल जोड़ने वाला कथन एक व्यक्ति है—शाह इसन अस्फरी जो बहादुरशाह का निजी व विश्वासपात्र है, जो दश भर में घूम घूमकर क्रांति की आग मुलगाता है, देश भर का विद्रोही नेताओं को बहादुरशाह का भरोसा का नीचे एकत्र करता है, पर हमारे विचार से शाह इसन अस्फरी के ये कार्य भी हमारी पूर्ण कथित बात को नहीं मिटाते । हाँ, शाह इसन अस्फरी अपने इन कार्यों से स्वयं उपवास के सप्रमुख पुरुष-पात्र बन जाते हैं और इस प्रकार बहादुरशाह को पीछे धकेलकर स्वयं उपवास का नायक बनने का claim (हक) उपस्थित कर देते हैं और जो उचित भा है ।

इसके अतिरिक्त घटनाओं की अविश्वस्यता के कारण उनका तारतम्य भी अनेक स्थानों पर विच्छिन्नित हो गया है, जिसे संभालने के लिए उपपासकार को इतिहास से काफी मुद्द मोड़कर चलना पड़ा है जो एक ऐतिहासिक उपपास के निष्पत्ति, विशेषकर ऐसे ऐतिहासिक उपपास के लिए, जिसकी घटनाओं से घट अभी बहुत समय नहीं गुजरा, को आप भी उतनी ही जीवन्त हैं—उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, ऐतिहासिक और काल्पनिक घटनाओं की ऐतिहासिकता या काल्पनिकता भूलकर, उद्देश्य समझ रूप से देखने पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि उपपासकार का अपना उपपास का क्लेशवर देखते हुए पयास गठा हुआ है, कम से कम आप तक उसमें आकर्षण, मत्सर आकर्षण, दिश्यात हैं। पहली पंक्ति से जो कथा प्रारम्भ होती है वह अतिम पंक्ति तक पहुँचकर ही समाप्त होती है—भल ही उसे गतिशील रूपों के लिए, उसमें रचित स्थानों की पूर्ति के लिए कुछ आगम, मनमग्नत व अवधारणात्मिक घटनाओं का आश्रय लिया गया हो।

यहाँ 'अनमद', 'मनमग्नत', 'अवधारणात्मिक' घटनाओं की चला हो गई है, अतएव उसे हटा कर देना आवश्यक है। उपपासकार ने कथानक की योजना में ऐसी अनेक घटनाओं का आश्रय लिया है जो पूर्णतः उल्लिखित अथवा मनमग्नत हैं—शायद ऐसी घटनाएँ ऐतिहासिक घटनाओं के उदाहरण या उनसे प्यादा ही हों जैसा कि उपपासकार ने अवश्य रूप से अपने 'निवेदन' में स्वीकार भी किया है। यहाँ तक तो कोई बात नहीं, पर प्रश्न यह उठ खड़ा होता है जब हम उन उल्लिखित घटनाओं के बीच कतिपय ऐसी घटनाओं को देखते हैं जिनके कारण हमें तयरोज शब्द प्रयुक्त करने पड़े। वस्तुतः उपपास का क्लेशवर १५० पृष्ठों तक या उससे भी अधिक कम हो सकता था, यदि उपपासकार अनावश्यक चमत्कारिता के बरतें न पड़कर, 'ब्रह्मा' या 'भूतनाथ' सरीरे उपपासों के पाठकों के मनोरंजन का खयाल रख, घटनाओं की सृष्टि करता। पर उद्यते ऐश्वर्य कर सभी प्रकार की दृष्टि वाल पाठकों के लिए भौतिक भाषा का 'मार्ग मंगल' जुगुप्ते की कोविश्व की, परिणामस्वरूप ही उपरोक्त दोष पैदा हुआ। इस प्रकार की घटनाएँ तो अनेक हैं, पर यहाँ हम दो प्रश्न उठाएँ प्रमुख घटनाओं को लेते हैं जो या तो आवश्यक रूप से अतिरिक्त पृष्ठ घेरती हैं, याही उपपास में जिनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, या उपपास के तत्त्वा की गलत रूप से प्रभावित कर कथानक की सृष्टि में व्यापात उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार का घटनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) सादरशाह सादरजहाँ ने खुशिया खजाने से चमत्चित घटना—इस घटना ने उपपास के ४० पृष्ठ घेरे हैं तथा इस खजाने की प्राप्ति में 'ब्रह्मा' या 'भूतनाथ' सरीरे न जाने जितने 'तिलिस्म' दृष्टे हैं, सारसनीपज व भयानके दृश्य सामने आते हैं, कीदृश त भयमिहित उतावराण उत्पन्न होता है किन्तु इस घटना का उपपास के शेष कथानक में कोई सम्बन्ध नहीं है, न यह खजाना ही किसी काम आता है। इस घटना ने उपपास के अनेक पृष्ठ तो घेरे ही, आप के साहित्यिक उपपास में इस प्रकार की तिलिस्मी घटनाओं का कोई औचित्य भी नहीं है।

१ इसमें (उपपास में) कहानी को प्रभावता देकर इतिहास को मौल्य बनाया गया है और आप सभी ऐतिहासिक घटनाओं की पुनः सृष्टि में घिरोकर उन्हें कहानी का भाग बनाने की चेष्टा की गई है।

(२) अजीमुल्ला-गुलनार प्रेम प्रसंग—इस घटना के औचित्य पर हमें कोई शिकायत नहीं है, केवल इसके अनावश्यक विस्तार से हम सहमत नहीं हैं, कारण इस प्रेम प्रसंग का विशेष महत्व उपन्यास में नहीं दिखाई देता।

(३) गुल मुहम्मद व मातानदलसिंह की मृत्यु के पश्चात् का कथानक—वस्तुतः उपन्यास के इन दो पात्रों की मृत्यु के पश्चात् समाप्त हो जाना था, पर कथा को अनावश्यक रूप से, केवल कुछ कौतूहलजनक बातावरण उत्पन्न करने की इच्छा से, बढ़ाया गया है। इस विस्तार ने उपन्यास की ऐतिहासिकता पर भी आघात पहुँचाया है। लेखक ने अजीमुल्ला को उपन्यास के अन्त तक जीवित दिखाया है, जबकि इतिहासकारों के अनुसार वह लखनऊ के युद्ध में मारा गया था। हाँ, इतना अवश्य है कि अन्तिम दृश्य मार्मिक व प्रभावशाली बन गया है, जहाँ तो यह विस्तार बेहद लटकता।

(४) गुलशन का यौन परिवर्तन—चौथी घटना, जिस पर हमारी गम्भीर आपात् है और वस्तुतः जो ही कथानक की सारी अनगदता और कुरूपता का कारण है, गुलशन (बिगम जीनत महल की सहेली, उपन्यास की सर्वप्रमुख नारीपात्र, कान्ति में प्रपन्थी) का यौन परिवर्तन है। पता नहीं क्यों उपन्यासकार ने कथानक में ऐसी घटना को स्थान दिया। जिन जिन लोगों ने उपन्यास पढ़ा है, इसी घटना की कुरूपता पर इशारा किया है। आधे उपन्यास तक तो गुलशन रत्ना रहती है, उसका सु दरता व उसके आकर्षण का उपन्यासकार उल्लेख करता है, उसे उपन्यास की नायिका के रूप में आगे बढ़ाता है, पर आधे उपन्यास के पश्चात् यही गुलशन स्त्री न रहकर पुरुष बन जाती है और उसका नाम गुलमुहम्मद हो जाता है। अब यदि यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाय कि उपन्यास की नायिका कौन है, तो कोई रास्ता नहीं रह जाता। यह ठीक है कि उपन्यासकार काफ़ी पहले से गुलशन के भावी यौन परिवर्तन के संकेत देने आरम्भ कर देता है, जिससे अन्त तक पहुँचते पहुँचते यह घटना आकस्मिक नहीं लगती, पर मर्न यह उठता है कि उसने ऐसा क्यों किया, अपने कथानक के साथ इस प्रकार का बेजा खिन्नबाढ़ क्यों किया, किन आधारा पर किया, किस उद्देश्य से किया? एक ऐतिहासिक उपन्यास में यौन परिवर्तन की बात दिखाना, उपन्यास की सर्वप्रमुख नारी पात्र से उसका सम्बन्ध जोड़ना, घटनाओं के स्वाभाविक क्रम को कदापि नोक देना, कहाँ तक उचित और युक्तिगत है?

आज यदा-कदा यौन परिवर्तन सम्भव भी देश विदेश के कुछ किस्से समाचारपत्रों में देख पड़ते हैं, पर कबल इन किस्सों के आधार पर एक ऐतिहासिक कथानक में इस प्रकार का परिवर्तन हमारे विचार से कदाचित् उचित नहीं है। बातचीत के दौरान में उपन्यासकार ने इसे आधुनिक युग का प्रभाव स्वीकार किया है व यह तक भी दिया है कि आज इस प्रकार की घटनाएँ घटती हैं तो उस युग में भी घटती होंगी व छिपी रह जाती होंगी, पर केवल इस अनुमान पर ही उपन्यास में इतना महत्वपूर्ण परिवर्तन लाना हमारे विचार से बिल्कुल ठीक नहीं है। फिर यदि इस घटना की स्वाभाविकता अस्वाभाविकता का प्रश्न छोड़ भी दिया जाय और एक घड़ी के लिए उपन्यासकार की ही बात मान ला जाय, तब प्रश्न उठता है कि उपन्यासकार के इस यौन परिवर्तन से कौनसे उद्देश्य सिद्ध होते थे? प्रत्येक उपन्यासकार का अपने कथानक की छोटी से छोटी घटना की योजना करने में भी कोई न कोई उद्देश्य होता है, फिर किसी महत्व

पूरा घटना का व म तो निरुद्देश्य होता ही नहीं । यदि कोई उपवासकार महत्त्व नमस्कार लोभ से ऐसा करता है तो यह उसकी अरिपक्ष्यता ही समझी जायगी । उपवास की साहित्यिकता का गला चपकारिना से दबाने का प्रयत्न तिरला उपवासकार ही कर सकता है, जैसा कि मुशा प्रतापनारायण आयास्त्र ने किया है ।

उपवासकार ने इस घटना के शीघ्रित्व को लेकर जो तर्क मुझे दिये और जो वस्तुतः हो सकते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) माताबदल सिंह (दि दु) व गुलशन (मुखलमान) व वार्षिक विराह की समस्या को टालना ।

(२) बहादुरशाह के लड़कों के कातिल हाडसन को मारने की क्षमता का पुष्ट्य में ही होना जबकि गुलशन स्त्री थी ।

(३) मैनागती (नाका साइन की पालिता पुत्री) व गुलशन का प्रेम प्रसंग, जो गुलशन को पुष्ट्य बनाकर ही प्रदर्शित किया जा सकता था ।

हम उपरोक्त तीनों तर्कों का क्रमशः उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे ।

जहाँ तक पहले तर्क का प्रश्न है, हमारा इतना ही कहना है कि दर तो माताबदल सिंह व गुलशन का प्रेम एकजुट था, गुलशन माताबदलसिंह से प्रेम न करती थी वरन् उसे अपने प्रेम का मुलाका देकर उससे अपनी वायसिद्धि करना चाहती थी, जैसा कि उसके अनेक रूपों से प्रकट होता है ।^१ दूसरे माताबदलसिंह जिस हद तक गुलशन के बश में हो गया था और जिस प्रकार उसके विराह प्रभाव को समझा कुम्भार गुलशन ने आगे के लिए ढाल दिया था, उसी प्रकार गुलशन उसे अन्त तक सँभाले रख सकती थी और अन्त में इस समस्या के उठने का कोई प्रश्न ही नहीं था, कारण उपवासकार को द ह मारना ही था । फिर यदि विराह का प्रश्न भी उठता तो उसमें हिंदू मुसलिम प्रश्न को लेकर कोई बाधा न न लगी होती, काय गुलशन के विरादरी वालों ने यह जानकर भी इस बात को कोई महत्त्व न प्रदान किया था । शाह हसन अस्वरी, जो गुलशन के पिता के समान थे, स्वयं इस प्रश्न को लेकर गुलशन के साथ मचाक किया करते थे^२ व गुलशा की बहन गुलनार भी खूबदार माताबदलसिंह का नाम ले-लेकर गुलशा की बुढकियाँ लिया करती थी ।^३ अस्तु ।

उपवासकार का उपरोक्त तर्क बहुत हल्का है । अब दूसरे तर्क पर आइये । दूसरे तर्क के उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि हाडसन को मृत्यु किसी दूसरे क हाथ से भी दिखाई जा सकती थी और यदि उपवासकार इस कारण कि हाडसन ने पहले गुलशन की बेरुज्जती की थी, गुलशन के हाथों से ही उसे मरवाना चाहता था तो स्त्री रूप में ही गुलशन से यह काम कराने में क्या बाधा या अस्वाभाविकता थी ? वल्लि यह घटना तब और भी प्रभावशालिनी हो गई होती । यह बात मानने को जो जहाँ बरसा कि पुष्ट्य को मारने की क्षमता पुष्ट्य में ही हो सकती थी । उपवासकार ने प्रारम्भ से ही गुलशन को एक चीर रमणी

१ पृष्ठ २८, शाह हसन अस्वरी से बातचाह के दौरान में, पृष्ठ १२४ शाहमादन से ही पुन, कादि कादि ।

२ पृ० २८ ।

३ पृ० १२३ ।

के रूप में प्रस्तुत किया है और ऐसी दशा में यदि वह हाइमन को युद्ध में परास्त कर उसे मारती तो कोई अस्वाम्याधिकार उत्पन्न होती। भारतीय इतिहास इस प्रकार का नारियों से मरा पड़ा है, सन् १८५७ में ही रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों के छत्र छुड़ा दिए थे। क्या वह अस्वाम्याधिकार था? फिर यदि उपवासकार के कहने से यह मान भी लिया जाय कि यह कार्य अस्वाम्याधिकार लगता, तो यह अस्वाम्याधिकार हमें प्राप्त होती वरन् उस अस्वाम्याधिकार के उसने गुलशन का यौन परिवर्तन करके प्रदर्शित की है।

यहाँ तब सीम्मे तब का प्रश्न है, इतना ही निवेदन है कि आन्ध्र हम बात की और उसी आपर्ययता का पक्ष भी कि मैनावता की ओर किसी का आकर्षण आता था ही जाय। फिर यदि दिखाना ही था तो कोई अन्य पुरुष पात्र इस कार्य के लिए मिल सकता था, गुलशन ही इसके लिए क्यों चुनी गई? स्त्री, स्त्री से प्रेम नहीं कर सकती इस कारण गुलशन को पुरुष बनाने उसे मैनावती का प्रेमी बनाना—इस सारी रीतिरिवाज की क्या आवश्यकता थी? फिर ये सारी घटनाएँ, यहाँ तब कि माताबदलसिंह गुलशन, मैनावती आदि पात्र भी कल्पित थे, और जब उपवासकार आलामी से स्वाम्याधिकार माग का और घटनाओं का प्रभाव को मोड़ सकता था, उस पर कोई रोक न था, तब उसने क्या नक के साथ इतनी रचना स्वतंत्रता क्यों करती? गुलशन का यौन-परिवर्तन 'बेकली का मजार' की एक ऐसी घटना है जो उसकी आधा सुंदरता की हत्या कर देती है, उससे उपवासकार के किसी भी उद्देश्य की (केवल स्वाम्याधिकार को छोड़कर) पूर्ति नहीं होती, उन्हे अन्य घटनाओं पर उसका बुरा प्रभाव पड़ा है।

कथावस्तु में कतिपय छोटी मोटी अनुचित व अस्वाम्याधिकार घटनाएँ और भी हैं—उदाहरणार्थ शाह इसन अस्करी का गुलशन (जिसे वे पुत्री से भी अधिक मानते थे) को अपनी प्रेम-कहानी सुनाना और सुनाने सुनाते गिरकर रोने लगना, गुलशन से मृत्युदाता माताबदल सिंह का नाम लेकर मजाक करना, गुलशन का उन्हें अपने यौन परिवर्तन की बात पूर विस्तार से, अपने अंगों का इशारा देकर बतलाना, मैनावती का अपनी पुत्रा रानी लक्ष्मीबाई से गुलशन के अंगों की रावत बतलाना आदि आदि। कुछ अस्वाम्याधिकार बातें भी हैं, जैसे बैसनाब का माताबदलसिंह का 'आल्हा' से परिचित न होना और मृपिनाथ से पूछना कि 'आल्हा क्या है? मुझे नहीं मालूम' तथा बिटूर में गुलशन के अंगों का स्वीकृत होता और बिटूर से फलकता तक के मार्ग में अचानक पुरुषरूपेण पुरुषात् हो जाना आदि आदि।

कथावस्तु में जसा कहा गया है, ऐतिहासिक और काल्पनिक सभी प्रकार की घटनाएँ मिश्रित हैं। पर तु उपरोक्त दो तीन प्रमुख घटनाओं को छोड़कर लेखक की कल्पना ने कहीं भी सीमा का अतिक्रमण नहीं किया। काल्पनिक घटनाओं का समस्त इतिहास के सधम में कुशलता से पिठा दी गई है। ऐतिहासिक व काल्पनिक सभी घटनाएँ प्रभावशाली व मार्मिक हैं। अजीमुल्ला का इंग्लैण्ड जाना, वहाँ के भद्र रमणी समान में विरहाना होना, अनेक रमणियों का उन पर आकर्षित होना, इंग्लैंड से लौटत हुए इटली व रुम जाना तथा रुम के जार से मिलना, सब कुछ ऐतिहासिक है व रसेन की दायरी के आधार पर है। शाह इसन अस्करी का फारस के शाह को पत्र भिजाना आदि घटनाएँ भी सत्य हैं। मिना इलाहीमुख की गहारी भी इतिहास सिद्ध है, यद्यपि उपवासकार ने उसने रूप को अवश्य परिवर्तित कर

दिया है। ऐतिहासिक व काल्पनिक घटनाओं के इस योग ने कथावस्तु को पाठकों के लिए सहज ही प्राप्य बना दिया है। मातान्दलसिंह व गुलशन का प्रेम प्रसंग यदि बिगड़ा व जाकर स्वाभाविक गति में आये बढ़ावा जाता, तो शायद मैं देश की स्वाधीनता के लिए लड़ते हुए श्री अरुण प्रसाद की बलि देते हुए उन प्रेमियों का चित्र उपवास का अविस्मरणीय चित्र होता।

चरित्र ऐतिहासिक, अथ ऐतिहासिक, काल्पनिक, सभी प्रकार के हैं, पर उनमें कोई वैषम्य नहीं प्रतीत होता। काल्पनिक चरित्र ऐतिहासिक चरित्रों के साथ सुशक्ततापूर्वक गूँथ दिये गए हैं। प्रमुख पुरुष पात्रों में सम्राट् महाराजाधिराज, शाह हसन प्रसन्न, मौलवी अहमद शाह, मातान्दलसिंह, ताता साहब, अजीमुल्लाह, गुलमुहम्मद व हाडस हमार भ्यात आनंदित करत हैं, जिनमें गुलमुहम्मद व माताबदलसिंह को छोड़कर, जो पूर्णतः काल्पनिक हैं तथा हसन अहमद, जो अर्धे ऐतिहासिक हैं, शेष सभी अपने युग के प्रमुख ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं। महाराजाधिराज को छोड़कर शेष सभी पात्रों का चरित्रांकन सुशक्तता से हुआ है, उनके चरित्र की डेढ़ी सौधी सभी रचनाओं को उभासा गया है। मौल्य पुरुष पात्रों में अली, अलिनाथ, तात्या, बल्लभ दाँ, इलाहीशाह व फुल्ल अमेज अफसर हमारे सम्मुख आते हैं, जिनमें अली व बल्लभ दाँ सबसे अधिक प्रभावशाली प्रतीत होते हैं। यही बात नारी पात्रों के विषय में भी कही जा सकती है। नेमम जीतत महल, नेमम हजरत महल (ऐतिहासिक), गुलशन व गुलनार (काल्पनिक) उपवास की प्रमुख पात्रियाँ हैं और सरके नाथ अपूर्व क्षिति से क्षिति हैं तथा उन हमें प्रभावित करती हैं। मैनावती व लक्ष्मीबाई मौल्य नारी पात्र हैं, पर मैनावती की कलक मान, उसका उल्लेख हमारे नेत्रों के सम्मुख अविस्मरणीय बनकर बसक उठता है। अमेज पात्रों की विशिष्टताएँ व सुशक्तताएँ भी सावधानी व सुशक्ततापूर्वक, पक्षपातरहित दृष्टिकोण से प्रदर्शित की गई हैं।

भाषा के क्षेत्र में उपवासकार को आशासीत सफलता प्राप्त हुई है। उपवासकार की भाषा पानानुबल अपना रूप परिवर्तित करते हुए आगे जाती है। सुसलमा पात्र उर्दू पारसी शब्द बहुल भाषा का प्रयोग करते हैं, पर ऐसी नहीं, गठी और बोधगम्य कि पढ़ते ही उन्ता है, नकि हिंदू पात्र उर्दूत तत्तम प्रभाष भाषा ही अधिनतर बोलते हैं। उर्दू पारसी शब्द प्रधान भाषा की प्रभावशालिता ने उर्दू के प्रसिद्ध लेखक स्व० रवाजा हसन निजामी तन को नेहद आनंदित किया था। अपनी सहजगति व प्रभावशालिता के कारण उपवास की भाषा उत्तम पदार्थ निशिष्टता बनकर रह गई है।

यहाँ पर टीप का भी उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है जो आज के अधिकांश ऐतिहासिक उपवासी में देय पड़ता है, यह यह कि उपवासकार यह मूलकर कि वह एक ऐतिहासिक उपवास लिख रहा है, भाषावेश में कथानक के सुख का अतिप्रमत्त कर आज तक की चचा करने लगता है। प्रस्तुत उपवास में भी यह दोष बर रचनाओं पर देय पड़ता है जो चित्त है और कम से कम सुखीनी जैसे औद लेखन से यह मलती व होनी चाहिए थी। इस प्रकार के उदाहरण पृष्ठ १८४ के अंतिम पैराग्राफ, पृष्ठ ५०६ के पहले पैराग्राफ, व पृष्ठ ५३२ व ५३३ में स्पष्ट देखे जा सकते हैं, जहाँ उपवासकार ने मूल उपवास की धारा में १५ अगस्त १९४७ तक की चचा कर डाली है।

उपरोक्त कल्पित छोटी रङ्गी दुर्बलताओं को छोड़कर उपन्यासकार ने उपन्यास-लेखन में काफी सततता बरती है व काफी परिश्रम किया है। उस युग का ऐतिहासिक वातावरण उपन्यास में सजीवता से उभरा है। स्थान स्थान पर लेखक ने अपने प्रगतिशील विचारों का भी परिचय दिया है। राजा नवाबों से अधिक उसने जन माधारण का पक्ष लिया है। उपन्यास के अनेक स्थल इस कथन के प्रमाण हैं, जहाँ उपन्यासकार ने जनता के वास्तविक महत्त्व को, उसकी अनेक शक्ति को उभारकर दिखाया है।

उपन्यास का अंत पयाप्त मार्मिक है, विशेषकर शाहजादी द्वारा गाइ गइ बहादुरशाह का अमर नज़म 'न किस्सा की ओंस का नूर हूँ, न किसी के दिल का बरार हूँ' वातावरण को और भी मार्मिक व विषाद से युक्त बना देती है।

उपन्यास की छपाइ, सफाई, गेट अप आदि पयाप्त सुंदर है। मूल की अशुद्धियों पयाप्त मात्रा में हैं, आशा है व उपन्यास के अगले संस्करण में दूर हो जायेंगी।

मिश्र रूप से यही कहा जा सकता है कि कल्पित गहरी दुर्बलताओं के बावजूद भी 'बेकसी का मज़ार' सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम से प्रेरित होकर रचे गए साहित्य के बीच अपना विशिष्ट स्थान रखेगा। हाँ उपरोक्त दुर्बलताओं ने उसे प्रथम भोली की कृति नहीं बनने दिया, ऐसा हमारा निश्चित मत है।^१



सतीश चंद्र काला

कला दर्शन

राचाराना गुर्दा हिंदी की विचारशील लेखिका हैं। 'कला-दर्शन' पुस्तक उनके अथक परिश्रम और समालात्मक ऊहापोह का फल है। इस पुस्तक में १५ मुख्य अध्याय हैं— प्रागैतिहासिक कला, मिस्र की कला, चीन जापान की चित्रकला, यूनान की कला, इटालियन कला, स्पेन, फ्लाण्डर, जर्मनी, हालैंड की कला, फ्रांस की चित्रकला, ग्रीस और अमेरिका की कला, रूस की कला, आस्ट्रेलियन कला, अफ्रीका की कला, प्राचीन कलाएँ—मैसो पोटोमिया और मीट, अरब, पारस और मुस्लिम कला, भारतीय कला तथा विश्व की मूर्ति

• कला।

अतः में परिशिष्ट रूप में विश्व के प्रमुख कला-स्मारक, अंतराष्ट्रीय स्थापित कला कारों तथा कला मूर्तियों की सूची दी गई है।

भारतीय कला वाले अध्याय में सिंधुघाटी की सभ्यता के समय से लेकर आधुनिक समय तक की कला प्रवृत्तियों का क्रमानुसार विवेचन किया गया है। भारत का विदेशों के

१ 'बेकसी का मज़ार' (एक ऐतिहासिक उपन्यास) लेखक—मुन्शी प्रतापनारायण श्रीवास्तव प्रकाशक—भारती प्रविष्टान, पी रोड कानपुर, आकार डिमाइ, पृष्ठसंख्या २२२, मूल्य १०)।

साथ कला ने क्षेत्र में जो सम्बन्ध समय समय पर रहा है उसकी चर्चा भी की गई है।

विदेशी तथा देशी कला के बहुसंख्य चित्र पुस्तक में व्यवस्थान दिये गए हैं। इन चित्रों के सङ्कलन में कुछ अतिरिक्त कल्पना शक्ति एवं नीर धीर त्रिविक उपेक्षित था। चित्रकला के जो अनेक उदाहरण दिये गए हैं उनमें से कुछ चित्र रंगान होते तो अच्छा होता। यद्यपि इससे सुझाव 'यथ' अवश्य बढ़ जाता, परंतु पुस्तक अधिक कलापूर्ण होती। अजन्ता, कौमडा राज स्थान आदि के कई उत्कृष्ट चित्र सादे होने के कारण मद्धे लगते हैं और उनसे मौलिक चित्रों का ठीक बोध नहीं होता। कुछ रेखाचित्र भी दिये गए हैं, जो संतोषजनक नहीं कह जा सकते। अनेक चित्रों के विवरण भी अशुद्ध हैं। उदाहरण के लिए मथुरा से प्राप्त कुपाण कालीन बहिका-स्तम्भों की ई० पूर्वं द्वितीय शती का लिखा है। शुंग और कुपाण-काल की कद स्थानों पर एक ही समझने की जुड़े हुए हैं। पृष्ठ ३०६ के सामने जो रेखाचित्र प्रकाशित किया गया है वह अत्यंत ही ह्रस्व प्रतिकृति न होकर उसका आधुनिक अनुकरण है। चित्रों के नीचे उनकी कम संख्या तथा आरम्भ में सूची देना आवश्यक है।

पुस्तक में कुछ स्थानों पर विवरण सम्बन्धी त्रुटियाँ भी आ गई हैं। पृष्ठ ३२५ पर लिखा है कि "मथुरा और अमरावती की गहरी प्रतिमाएँ उत्तमो चित्ती वाले लाल रवादार पत्थरों पर कोरी गई हैं।" मथुरा की मूर्तियाँ निम्न देह लाल बलुए पत्थर की बनी हैं, पर अमरावती वाला पत्थर हल्का सफेद समरमर है, न कि लाल रवादार। मूर्त की अशुद्धियाँ भी कुछ स्थानों पर रह गई हैं।

द्वितीय अंग में इस ग्रन्थ का प्रकाशन स्वागत योग्य है। जैसा कि श्री बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर ने ग्रन्थ के आशुत में लिखा है, "विदेशी कलाकारों के सम्बन्ध में हमारे यहाँ कोई अच्छा प्रकाशन नहीं था। इस कमी की पूर्ति प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा की गई है।"

देश विदेश में विभिन्न युगों में जो कलात्मक प्रवृत्तियाँ कार्य करती रहीं, उनका निहगा बलोकन इस ग्रन्थ में मिलेगा। इस कृति के लिए लेखिका का भव्य निरस-देह सराहनीय है। यह और भी प्रसन्नता की बात है कि उनकी दूसरी पुस्तक 'भारतीय कलाकार' का प्रकाशन शीघ्र होने वाला है।^१



इच्छादत्त वाजपेयी

प्रतिमा-विज्ञान

भारतीय शास्त्र शास्त्र पर डॉ० दिवेन्द्रनाथ शुक्ल ने पाँच ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना बनाई है। पहला ग्रन्थ 'वास्तु विद्या एवं पुराविशेष' प्रकाशित हो चुका है। प्रतिमा विज्ञान पर यह दूसरा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, जो लेखक की पञ्चपुराणिका माला का चौथा पुष्प है। उत्तर प्रदेश राज्य की आर्थिक सहायता से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमाला प्रकाशित

१ 'कला दर्शन', खलिका—शबरीरानी शुद्ध, एम० ए०, प्रकाशक—साहनी प्रकाशन, २७, एम्प्लोयेड राड, दिल्ली प्रथम संस्करण, १९२६, मूल्य २० रुपये।

हो गयी है।

प्रस्तुत ॥ य 'प्रतिमा विज्ञान' वास्तु शास्त्र के दो प्राचीन ग्रंथों—'समरागण स्रधार' तथा 'अपराजित पृच्छा'—के अध्ययन पर आधारित है। ग्रंथ में पूर्व पीठिका तथा उत्तर पीठिका शीर्षक दो खण्ड हैं। पूर्व पीठिका में भारतीय प्रतिमा विज्ञान का पृष्ठभूमि दर्शाया है। इसमें ये अध्याय हैं—विषय प्रवेश, पूजा परम्परा, प्रतिमा पूजा की प्राचीनता (साहित्य एवं पुरातत्वात्मक प्रामाण्य), अर्चा, अर्थ एवं अर्चक (वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन धर्म आदि), अर्चा पद्धति तथा अर्चाग्रह। उत्तर पीठिका में चार अध्याय हैं—विषय प्रवेश, प्रतिमा निमाण परम्परा, प्रतिमा वर्गीकरण, प्रतिमा द्वय, प्रतिमा विधान, प्रतिमा रूप सहाय, प्रतिमा मुद्रा, प्रतिमा लक्षण, बौद्ध प्रतिमा लक्षण, जैन प्रतिमा लक्षण और उपसंहार। पुस्तक के अन्त में तीन परिशिष्ट दिये हुए हैं। आरम्भ में पचप्यानी मुद्रा लक्षण की एक तालिका भी दी गई है।

हिंदी में अपने विषय का यह पहला बड़ा ग्रंथ है, जिसमें मूर्ति विज्ञान का सामोपयोग विवेचन उपदिष्ट करने का प्रयास किया गया है। भारतीय स्थापत्य, मूर्तिकला, अभिलेख, मुद्रा आदि के अध्ययन के साथ उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य एवं धार्मिक साहित्य का भी अलोकन किया गया है। विभिन्न मतों में प्रतिमा पूजन के स्वरूप तथा उसके क्रमिक विकास पर लेखक ने प्राचीन साहित्यिक उद्धरण देते हुए निष्कर्षपूर्ण प्रकाश डाला है। ग्रंथ की उत्तर पीठिका में प्रतिमा विज्ञान का शास्त्रीय सिद्धांत विस्तार से दिया गया है, जो बहुत उपयोगी है।

प्रस्तुत ग्रंथ के कई स्थलों पर लेखक ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते। पृष्ठ ६१ पर लिखा है—“महाकवि कालिदास का काल ईशवीय पूर्व प्रथम शताब्दी प्रमाणित हो चुका है। जब ईसा से बहुत पूर्व शिव का अघनारोहण रूप प्रसिद्ध था।” कुछ विद्वानों ने कालिदास को ई० पूर्व प्रथम शती का लेखक सिद्ध करने की चेष्टा की है, परंतु यह मत अब समीचीन नहीं माना जाता। कालिदास गुप्तकाल में हुए, यही विचार अब प्रायः मान्य है। अर्द्धनागेश्वर रूप में शिव की प्रतिमाएँ भी ईसवी चौथी शती से मिलती हैं। पूर्व पीठिका के अध्याय ४ (प्रतिमा पूजा की प्राचीनता) और १० (अर्चाग्रह) तथा उत्तर-पीठिका का अध्याय ६ (प्रतिमा लक्षण) अनेक स्थानों पर सशोधन की अपेक्षा रखते हैं। वज्रयान के देवदूतों का जो विश्वास सारनाथ और नालंदा में हुआ उसका कुछ विवरण प्रतिमा लक्षण अध्याय में देना आवश्यक था। पुराणादि साहित्य के साथ पुरातत्वीय प्रमाणों को जोड़ने का प्रयास कई जगह बहुत खलर है।

पुस्तक में नामों की अधिक अशुद्धियाँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ, 'वक्त्र' को 'वक्त्र' (पृ० ४), 'पवाया' को 'पावय' (पृ० ५०), 'परस्म' को 'पारस्म' (पृ० ५१), 'भरहुत' को 'वरहुत' (पृ० ५१), 'हेलियोदोरस' या 'हेलियोदोर' को 'हेलिदोरस' (पृ० ५२), 'पचाल' को 'पाचाल' (पृ० ५६) 'गोविन्ददेव' को 'गोविन्ददेव' (पृ० १६८), 'माला' को 'कली' (पृ० १६६) लिखा गया है। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ प० माधवरूप चतुर्वेदी के लिए 'वाटस' शब्द बहुत खटकता है। श्रृंगियम के लिए 'स्मारक' शब्द (पृ० ५४) ठीक नहीं। संग्रहालय, कलाभवन आदि प्रचलित शब्दों में से कोई लिया जा सकता था।

लेखक की शैली स्थान स्थान पर बाणभट्ट और दही की शैली से टक्कर लेती हुई

दिखाइ पड़ती है। "उनमें घर्षाश्रयता प्रमुख ही नहीं वह सर्वोत्कर्षण विराजमाना दृष्टिगोचर हो रही है।" इस वाक्य को इतने से भी व्यक्त किया जा सकता था—“उनमें धार्मिकता (या धार्मिक सरसों) की प्रमुखता है।”

पुस्तक में मूर्तियों के चित्रों का अभाव भी सत्यता है। ऐसे उपयोगी ग्रन्थ में कुछ मुख्य मूर्तियों के फोटो तथा रेखाचित्र अवश्य दिये जाने चाहिए थे। डॉ० शुक्ल हिन्दी में इस ग्रन्थ को लिखने के लिए बंधाई के पात्र हैं। उन्होंने हिन्दी को निरस्त देह एक बहुमूल्य कृति प्रदान की है। अगले संस्करण में उपर्युक्त कुछ कमियाँ दूर हो सकेंगी, इसकी हमें पूरी आशा है।^१



मनोहर वर्मा

अन्धा युग

‘अथा युग’ पाँच अङ्कों में समाप्त होने वाला गीति नाट्य है, जिसमें महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं की घृणभूमि पर आज के नये विकलाम कुलप युग की हाथी युल सत्कृति का चित्र खींचा गया है। दो महायुद्धों का जो विनाशकारी प्रभाव विश्व के आंतरिक एवं बाह्य जीवन पर पड़ा, उसी आत्मश्रय प्रदीकात्मक अभिगति ‘अथा युग’ में दूर है।

उद्घापान देने योग्य बात है कि युद्धकाल की अवस्था युद्धोत्तर काव्य अधिक सज्जन और प्रभावशाली रहा है। युद्ध सम्पत्ता की वैज्ञानिक परीक्षा के लिए स्पान और फाल की दूरी का ‘संश्लिष्ट’ मिलना आश्चर्य है। यही कारण है कि अधिकांश श्रेष्ठ युद्ध कृतियाँ (पथ महायुद्ध के पश्चात्) अमेरिका कवियों द्वारा लिखी गईं। फ्रांस की राष्ट्रकान्ति के लक्ष्मण गायक श्रिने ने उक्त किया। रिक्टर स्केल का नेरोलिशन पर लिखा गई कविताएँ पढ़ना ने बहुत सदा में छुटा हुआ है। युद्ध के भीषण अनुभव की मानसिक पाचन मिलना आवश्यक है। श्रेष्ठ युद्ध काल के लिए यह आश्चर्य नहीं कि वह उन्हीं के द्वारा लिखा जाय जो उक्त प्रत्यक्ष सम्पर्क में आते हैं। फ्रांसिस स्काफ ने ‘ग्रैंडेन प्रसन्न मास्टर’ (१९३०-४१) लिखा है—

The best war poetry is necessarily written not by those who see war but by those who feel it most intensely.^२

इस प्रकार स्थान और काल की दूरी के ‘पक्षपातित्व’ भारत की पूरे पूरे मिल हैं और इसीलिए उनकी युद्ध सम्पत्ता से आलोचना में अति माधुर्यता, तीव्र धृष्टता, व्यंग्य पातक शोक एवं अमवाहित रोष से उमादपूर्ण प्रतिक्रिया नहीं है। दूरी के दृष्टिकोण ने उनकी लोचनी

१ ‘प्रतिमा विज्ञान’, लखनऊ—डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, प्राध्यापक, मस्त्रुति विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रकाशक—वारतु वाङ्मय प्रकाशन बाला, शुक्ल कुटी, कैलाश बादराड, लखनऊ अगस्त १९६६, मूल्य १२ रुपये।

२ पृ० १७४।

को कलात्मक सयन प्रकाशन का अवसर दिया है। आलोचकों ने 'अथा युग' को 'उत्पीड़ित विवेक का विस्फोट' कहा है, किंतु कोई भी यथोचित पाठक इस बात से मग्नत नहीं होगा कि उसमें कवि का दृष्टिकोण 'यूरोपिक' है। उत्पीड़ित अवस्था में लेखनी तीक्ष्ण, व्यापारिक, कठोर और विक्षिप्त साहित्य का सृजन करती है किंतु भारती के काव्य में गिरी हुई सस्कृतिक स्वभावों के प्रति किछो यथ, कठोरता या विक्षिप्तता का दृष्टिकोण नहीं मिलता। 'अथा युग' के चरित्र निश्चित ही अथ और कुण्डलाग्रस्त हैं किंतु उनको एक सूत्र में बाँधकर चलाने वाली कविता लेखनी में एक सयन मयादा, नैतिकता का आग्रह और आशावाद मानवता की भाँकी मिलता है। विक्षिप्त एवं उत्पीड़ित जलाकार आशा, सयन, विश्वास जैसी शक्त, मनन भावनाओं का सारा नहीं लेता। वह अपनी प्रतिक्रिया के भावनात्मक भौक में अतिवादी छोरों का आग्रह करने लगता है। भारती ने 'अथा युग' में शुष्क बौद्धिक यथ्य और घोर ग्लानि पश्चात्ताप से भरी मातृक प्रलाप शैली दोनों से बचने की कोशिश की है। अति बौद्धिकता एवं अति मातृकता के दोनों अतिवादी छोरों से अलग भारती की स्थिति मध्य में है, यहाँ सस्कृति का मनन, जजरित रूप उई मानवता के आशामय भविष्य का संदेश देता है। मानव की मानवता पर से उनका निश्वास घटा नहीं है और यही इस बात का सूचक है कि भारती का 'अथा युग' 'उत्पीड़ित विवेक का विस्फोट' नहीं है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि भारती ने युद्ध के औचित्य या अनौचित्य अथवा युद्ध की समस्याओं का कोई दार्शनिक हल नहीं निज़ाला है। भारती ने युद्ध सभ्यता की आलोचना त्रैदिक मस्तिष्क की सपनात्मक विचारधारा का परिणाम है, जो युग के जर्जरित, शीमता से बदलत हुए मूल्यों को कोई सु-आधार नहीं दे सका है। इस दृष्टि से 'अथा युग' निश्चय ही 'कामायनी' जैसी रचना से बहुत पीछे है, किंतु यह तो स्पष्ट ही है कि 'अथा युग' में दादाइज्म या सुररिगलिज्म की भाँति युद्धोत्तर-यूरोपिक प्रतिक्रिया नहीं है। वह सममित, मयादित एवं सन्तुलित सवेदना शाल काव्य है। यह मानना पड़ेगा कि 'अथा युग' के पात्रों का सशयासु, प्रश्नवाचक व्यक्तित्व इतना अधिक उभार ले गया है कि उसका प्रभाव पाठकों पर आवश्यकता से अधिक पड़ता है और भारती के मानवतावादी आशामय का स्वर कुछ दूर तक जाता है।

'अथा युग' के पाँच अंक निम्नलिखित शीर्षकों से लिखे गए हैं—

(स्थापना—अथा युग)

पहला अंक—वीरव नगरी

दूसरा अंक—पशु का उदय

तीसरा अंक—अस्पृत्यामा का अघसत्य

(अंतराल—पक्ष, पक्षि और पक्षियों)

चौथा अंक—गांधारी का शाप

पाँचवाँ अंक—विनय एक द्रमिक आत्महत्या

(समापन—प्रभु की मृत्यु)

'अथा युग' में चरित्र चित्रण वैचारिक कोटि का है। चरित्र मानवीय अस्तित्व की अपेक्षा विशेष विचारधारा अथवा विशेष कुण्डलाग्रों के प्रतीक अधिक हैं। बीसवीं सदी की पात्रों मुन्नी सस्कृति के प्रतिनिधि यहाँ उपस्थित हैं। युधिष्ठिर एवं धृतराष्ट्र नेतृत्व की अधी

शक्ति उपासना, सम्पूर्ण विश्व पर एकाधिकार की स्थापना वासना के प्रतीक हैं। एक विजयी वर्ग का है, एक विजित वर्ग का। किंतु दोनों ही अशुभ हैं, क्योंकि विजय के पश्चात् आने वाली विषम परिस्थितियों, युद्ध के राद का विप्लव वातावरण विजयी-वर्ग को विजित वर्ग से वहीं अधिक सन्तुष्ट बना देता है। गांधारी मानवता का वह धराया दुश्मन वर्ग है, जो युग के परंपर पशुत्व, अप्रसन्न नैतिक्ता और जीवन के द्रुममय विरोधभासी सरकार के कारण प्रतिक्रियास्वरूप 'कटु निगाशा की उद्वत अनास्था' का मार्ग पकड़ लेती है। अश्वत्थामा, प्रतिहिंसक पशुत्व और एक यूरोपिक युद्धलिपि के अर्धसत्य का पोषक है। वह उसकी 'नीति' नहीं, मनोप्रिय है। उसका अमानुषिक अर्धसत्य धृष्टा के तर्क पर जीवित है। अश्वत्थामा को यह से मानविक सद्बुद्धि मिलती है, मौसमियों का सनाथ खुल जाता है, उसकी यूरोपिक मनोप्रियतां तुल्य हो जाती हैं। अश्वत्थामा उस वर्ग का सनेत देता है, जिस पर महायुद्ध का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। वे सैनिक वा उस स्थान के प्रसन्न लोग, जहाँ महायुद्ध हुए, इसी घातक प्रतिक्रिया के शिकार हुए। उनके उपचेतन भक्ति के युद्ध के भस्कर अश्वत्थामा का तत्त्व इतने पैर से भर गया कि उस उन्मादपूर्ण अवस्था का सनाथ ढीला करने के लिए उनका रक्त प्यासे पशु की मौति घूमना अनिवार्य हो गया। महायुद्ध के सीधे प्रभाव में आने वाले राष्ट्रों के मानसिक अवस्थान की यह विक्षिप्त-वस्था अश्वत्थामा के रूप में स्पष्ट रूप से सामने आती दिखाई देती है। यह वर्ग एक ऐसी 'गरवस टेशन' की स्थिति में रहा है और है, जिसकी मानसिक कुण्ठाओं की वृत्ति के लिए युद्ध एक आवश्यक पदार्थ है। अश्वत्थामा के ब्रह्मसूत्र प्रयोग में अशु विस्फीट का संकेत है।

कृष्ण ज्योति प्रतीक मानवता है, जो महाभारत युद्ध में स्त्रीकीं गर जीवन और मृत्यु को प्राप्त हुए हैं—जो अश्वत्थामा के वर्ग पर पशुत्व की क्रीडा से पीड़ित हैं—जिन पर युग की विकृति, आत्मघाती, गिराव, तटस्थ सत्य की कुरूप काली छाया डोल रही है। ज्योति पर अवधार का दृढ़ उनके जीवन है, किंतु वे प्रभु हैं दृढ़ से परे। मृत्यु की हत्या व्याप के शायी होती है। प्रभु की मृत्यु का उल्लेख प्रायः सभी धर्मों की पौराणिक गाथाओं में मिलता है। इस विषय पर धर्मग्रन्थों का पुनर्जन्म का सिद्धांत एक वर्गवाय धरातल पर उपस्थित मिलता है। तुमारिवन मेरोलोनिपन ईश्वर 'लमूज', कोनोशियन ग्रीक एडोनिस्, फ्राजियन एडिस और इजिप्शियन ओसिरिस आदिम वरपना प्रसूत देवता हैं, जो जीवन पर मृत्युओं को भौति शाखा करक और फिर मृत्यु की शक्ति के सामने मुक्त जाते थे, किन्तु यह मृत्यु शारवत नहीं थी, उसमें पुनर्जन्म के बीज रहते थे। 'अंधा युग' में कृष्ण का अन्तिम संदेश महत्वपूर्ण है। व्याप प्रभु की मृत्यु की सूचना देता हुआ कहता है कि सृष्टि के प्राणियों का समस्त दायित्व अपने ऊपर लिये हुए थे और अब अपना दायित्व हम सब पर छोड़ गए हैं। उनका एक अश्व निषिद्ध आत्मघाती और विगलित रहेगा, किंतु शेष व्यक्तियों में उनका दायित्व प्रेरणा रूप में रहेगा जोकि स्वयं को निमाण की चुनौती मानेंगे और हर विकृत, अर्ध-वर्त, आत्मघाती, अनास्थागत व्यक्ति जीवन की सार्थकता या नायगा। समाप्त में भारती ने लिखा है—

“हम सबके मन में गहरा डतर गया है युग
अंधियारा है अश्वत्थामा है सत्य है

है दास वृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की
 अथ सशय है लज्जाजनक पराजय है
 पर एक सख है बोरूप स्थित मन में
 साहस में स्वतंत्रता में नूतन सज्जन में
 वह है निरपेक्ष उत्तरता है पर जीवन में
 दायित्व युक्त मर्वादित युक्त आचरण में
 उत्तना जो अश हमारे मन का है
 वह अध सख स प्रज्ञास्थों के मय स
 मानव भविष्य को हरदम रहे यथाता
 अथे सशय दासता पराजय से ।"

यही भारती का आशावादी भविष्य स्वप्न है। मानव की मानवता पर विश्वास रखने वाले इस कवि की आस्था की सराहना करनी होगी। इस अंतिम आशावादी भावना का स्वरूप मानववादी कहा जा सकता है। सैद्धान्तिक एवं राजनैतिक न होने के कारण हाशिये कुछ लोगों को 'अथा युग' में समाजशास्त्रीय वैशानिकता का अभाव दिखाने देता है। इसकी अवश्य ही स्वीकार किया जायगा कि भारती ने युद्ध सम्बन्धी समस्याओं का कोई हल हमें नहीं दिया है, किन्तु नया समाजशास्त्रीय वैशानिकता हल निकालने तक ही सीमित है।

'अथा युग' के अर्थ पाना में युयुत्सु, सजय और विदुर महत्त्वपूर्ण हैं। सजय आस्था अनास्था के द्वन्द्व में उत्तम, सशयालु, आत्मघाती चरित्र है। आस्था उसकी दृष्टि में एक विसा हुआ सिकका है, सजय निष्प्रियता और निरपेक्ष सत्य का प्रतीक है। विदुर के मन में अतद्बन्ध है, जिसे अपनी मायताओं के सहार से दनात हैं। वृद्ध याचक हालयट के 'वेस्टलैंड' की मेडम सोसोस्ट्रिस का स्मरण दिलाता है। दोनों प्रहरी दास्य प्रवृत्ति के प्रतिनिधि हैं।

'अथा युग' का विचार-क्षेत्र यही है जो इलियट के 'मडर इन दि कैथेड्रल', 'हालोमैन' और 'वेस्टलैंड' का। 'मडर इन दि कैथेड्रल' में आज की विषमता की उपयुक्त पृष्ठभूमि देने के लिए इलियट ने ऐतिहासिकता का सहारा लिया है। 'हालोमैन' का निष्क्रिय नपुंसक पग चित्र 'वेस्टलैंड' की ही छाया है। 'वेस्टलैंड' और 'अथा युग' दोनों बहुत कुछ समान भूमि पर हैं, किन्तु फिर भी दोनों में बहुत अंतर है। 'वेस्टलैंड' में मिस वेस्टन के 'रिचुअल टू रोमांस' और फ्रेजर के 'गोल्डन बो' की अनुप्रेरणा है। फाएटेमपेरेनिटी एण्ड एस्टिविटी, (प्राचीनता और सामयिकता) पगनिज्म एण्ड क्रिश्चियनिटी की द्वैतात्मक पृष्ठभूमि पर युद्धोत्तर पतनोन्मुखी सस्कृति को दर्शाया गया है। 'वेस्टलैंड' में अंधी, निर्मल, खण्डित, आस्थाहीन मानव सम्यता की आलोचना है। इलियट ने हज़किल पैराडाइज़ लास्ट लिंक इस कैथोस इनपरनो एपिप्रेस एण्ड रिसेलिटी उपनिषद् आदि महत्त्वपूर्ण कृतियों के सदस्यों द्वारा मानवीय सम्यता के समस्त प्राचीन विश्वासों एवं नैतिक निम्नियों को, शान की विरासत को, एक 'विश्वमानव' की भाँति अतीत को सशरीर वर्तमान के 'कण्ट्रास्ट' पर लाकर गढ़ा किया है। भारती ने अपनी प्रतीक पद्धति द्वारा काव्य को यापक कलात्मक स्वर देने की चेष्टा की है, किन्तु जहाँ इलियट के काव्य में यह गुण स्पष्ट है वहीं वह भारती के काव्य में

विवादमत्त प्रश्न बन गया है। इलियट ने 'ग्रेट लीजेण्ड' के आधार पर पुनर्जन्म का आश्वायाद व्यक्त किया है। यह मानता है कि अनुभव का सत्य शाश्वत है और उस पर आस्थाहीन सशकालता ही खण्डित विश्वास और धर्म के ऋणों को पनपा देती है। जीवन और मृत्यु के निरिन्धत रहस्यों का प्राचीन दृष्टिकोण आज की भीतिवत्ता और विश्वास ने तट पर दिया है। भारती की विचारधारा बहुत कुछ ऐसी ही है, यद्यपि दोनों के काव्य निष्कर्षों में बड़ी अन्तर है जो दो विभिन्न पौराणिक प्रेरणा-स्रोतों को उपयोग में लाने पर होगा चाहे। मान्यता के काय में आशा है, कामना है और स्वेतावनी है, बोकि महामारत की पृष्ठभूमि पर साफ़ खतरी है। इलियट के 'वेस्टलैंड' में व्यंग्य है, विश्वास है और सांस्कृतिक एतत्ता का प्रभावशाली चित्रण है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर दोनों काव्य ग्रंथों के पात्र बहुत कुछ एक से हैं, यद्यपि उनमें अन्तर्गत वैयक्तिक पर कथा सम्बन्धी विशेष व्यक्तित्व तो है ही।

'अंधा युग' हिंदी-काव्य में अपने ढंग की पहली कृति है। 'अंधा युग' द्वारा आज के सांस्कृतिक हास की स्थिति और परचाचाप के यथार्थ चित्रों के साथ एक आश्वायादी भविष्य का संदेश भी मिलता है। आज क्योंकि हिंदी काव्य प्रयोगवाद, प्रभाववाद, प्रतीकवाद आदि पौष्टिक खेदाओं द्वारा काव्य को दुन्दुभ और क्लिष्ट अलवरण दे रहा है, भारती का यह प्रयास प्रशंसनीय है। उन्होंने बाह्य की सीमा में अपने काव्य व्यक्तित्व को नहीं आने दिया है, जिसके लिए ये रपाए के पात्र हैं। 'अंधा युग' द्वारा हमारे हिन्दी साहित्य के एक आवश्यक अंग की पूर्ति हुई है और हमें भारती की लेखनी की सम्भावनाएँ स्पष्ट दिखने लगी हैं।



१ 'अंधा युग', लेखक—यमवीर भारती, प्रकाशक—किताब महल, इन्साहाबाद, १९२९, मूल्य २॥१)।